Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Arya Samaj Foundation Chennai ar

विज्ञान-सृजन

Vol. 9 2012 No.3 Vol. 14 20[illegible] No. 2-3

lic Domain. Gurukul Kangri Collecti

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

132298
Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

Stock Verification-2011

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

मूल्य : 20 रुपये

ISSN 0973-1490

वर्ष-9 अंक-3 Vol: 14, 2016 No. 2-3 जनवरी-मार्च 2012

चिन्तन-सृजन

www.asthabharati.org

त्रैमासिक

पुस्तकालय 132298 गुरुकुल कांगड़ी विश्वविद्यालय

आस्था भारती, दिल्ली

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

चिन्तन-सृजन

त्रैमासिक

जनवरी-मार्च 2012

पुस्तकालय
132248
गुरुकुल कांगडी विश्वविद्यालय

सम्पादकीय परामर्शदात्री समिति

लोकेश चन्द्र

यशदेव शल्य

जे.एन.राय

रमेशचन्द्र शाह

Central Library
Gurukul Kangri University
Hardwar-249404 (U.A.)

सम्पादक

बी. बी. कुमार

सह–सम्पादक

शंकर शरण

आस्था भारती

दिल्ली

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

वार्षिक मूल्य :

व्यक्तियों के लिए	60.00 रुपये
संस्थाओं और पुस्तकालयों के लिए	150.00 रुपये
विदेशों में	$ 15

एक प्रति का मूल्य

व्यक्तियों के लिए	20. 00 रुपये
संस्थाओं के लिए	40.00 रुपये
विदेशों में	$ 4

विज्ञापन दरें :

बाहरी कवर	10,000.00 रुपये
अन्दर कवर	7,500.00 रुपये
अन्दर पूरा पृष्ठ	5,000.00 रुपये
अन्दर का आधा पृष्ठ	3000.00 रुपये

प्रकाशन के लिए भारतीय सामाजिक विज्ञान अनुसंधान परिषद द्वारा आंशिक आर्थिक सहायता प्राप्त

आस्था भारती
रजिस्टर्ड कार्यालय :
27/201 ईस्ट एंड अपार्टमेण्ट
मयूर विहार फेस-1 विस्तार
दिल्ली-110 096

कार्य-संचालन कार्यालय :
23/203 ईस्ट एंड अपार्टमेण्ट
मयूर विहार फेस-1 विस्तार
दिल्ली-110 096
से आस्था भारती के लिए राजेश भार्गव, कार्यकारी सचिव द्वारा प्रकाशित तथा विकास कम्प्यूटर एण्ड प्रिण्टर्स, 1/10753, सुभाष पार्क, नवीन शाहदरा, दिल्ली-32 द्वारा मुद्रित। फोन : 011-22712454

ई.मेल : asthabharati@yahoo.com
वेब साइट : asthabharati.org

चिन्तन-सृजन में प्रकाशित सामग्री में दृष्टि, विचार और अभिमत लेखकों के हैं। सम्पादक की सहमति अनिवार्य नहीं है।

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

विषय-क्रम

सम्पादकीय परिप्रेक्ष्य 5

1. हिंदी साहित्य में सांस्कृतिक स्वाधीनता की चुनौती 9
रमेश चंद्र शाह

2. डॉ. कुमार विमल : अमरत्व का वरण! 20
पांडेय शशिभूषण 'शीतांशु'

3. कला 26
शंकर पुणतांबेकर

4. वेदान्त विमर्श 33
डॉ. एस.पी. दुबे

5. दरकती धरती पर चिंतन-बीज-मंत्र : अज्ञेय 38
श्रीराम परिहार

6. परमहंस की तपस्थली में 45
डॉ. भुवनेश्वर प्रसाद गुरुमैता

7. सांप्रदायिकता बनाम भारतीयता 53
के. मोहनन पिल्लै

8. सप्तकों की भूमिकाएँ 58
नित्यानंद श्रीवास्तव

9. बदलते परिवेश में शिक्षा की चुनौतियाँ 68
दिनेश मणि

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

10. पूर्वोत्तर के असम में हिंदी भाषा—साहित्य के विकास का परिदृश्य 73
दिनेश कुमार चौबे

11. आदर्श पत्रकारिता के विविध आयाम 98
शशि कांत राय

12. पुस्तक-समीक्षा
संत की स्नेहसिक्त मधुमय वाणी : 'संत रविदास की राम कहानी' 106
समीक्षकः घनश्याम मैथिल 'अमृत'

13. पुस्तक-चर्चा
बारामासी : सत्तर के दशक की जीवंत मानसिकता
के दर्शन गाँव-कस्बों के संदर्भ में 114
सुधीर ओखदे

14. पुस्तक-समीक्षा
अश्रांत पथों पर चलते संकल्पबद्ध चरण 118
नंदलाल मेहता 'वागीश'

15. पुस्तक समीक्षा
अनुभूति के पल 122
रंजना शर्मा

पाठकीय प्रतिक्रिया 124

प्राप्ति-स्वीकार 126

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

सम्पादकीय परिप्रेक्ष्य

भारतीय बौद्धिक परिवेश

मेरे सामने तीन पुस्तकें पड़ी हैं। पहली पुस्तक राजीव मलहोत्रा एवं अरविन्दन नीलकान्दन की 'ब्रेकिंग इण्डिया' वेस्टर्न इन्टरवेंशन्स इन द्राविडियन एण्ड दलित फॉल्टलाइन्स (Breaking India : Western Interventions in Dravidian and Dalit Faultlines) है। पुस्तक भारतीय राष्ट्र एवं समाज की अखंडता को क्षति पहुँचाने वाले कारकों, विदेशी व्यक्तियों, संस्थानों, उनके भारतीय एजेंटों, उनकी गतिविधियों, आन्दोलनों, जैसे द्रविडियन क्रिश्चियन मुव्हमेंट, नस्लवादी उपनिवेशी सिद्धात्तों आदि की विस्तृत विद्वतापूर्ण जानकारी देती है। इस भारत-विरोधी खेल में असैद्धान्तिक गठजोड़ से परहेज नहीं। इसमें मार्क्सवादियों एवं दक्षिण-पंथी युरो-अमेरिकियों की, नक्सलियों एवं ईसाई चर्च की सहभागिता के प्रमाण हैं; इसमें दिए गये विदेशी सरकार एवं आर्थिक मदद देनेवाली एजेंसियों, चर्च से जुड़े संगठनों/संस्थानों, सूचना-तंत्र, मानव अधिकार संगठनों एवं विदेशी अकादमिक वर्ग की सहभागिता रही है। इसमें भारतीय बौद्धिकों की भूमिका पिछलग्गू एजेंटों की रही है।

भारत-विषयक् पश्चिमी अकादमिक्र विमर्शों में, जैसा कि अमेरिका के मेडिसन स्थित विस्कोन्सिन विश्वविद्यालय के पिछलें पैंत्रीस वर्षों में हुए दक्षिण-एशिया-सबंधी वार्षिक सम्मेलनों के कार्यवाहियों एवं सार-संक्षिप्त विवरणों के अवलोकन से पता चलता है, भारत को अतीत एवं दरिद्रता की जकड़न से अवरुद्ध प्रगति-विरोधी; जाति-प्रथा, सति, दहेज, भ्रूण-हत्या, अस्पृस्यता, आदि रोगों से ग्रस्त; एक जारज, बनावटी, काल्पनिक एवं बीमार राष्ट्र के रूप में एवं पश्चिम को वैद्य की भूमिका में दिखाने की रही है। भारत पर हो रहे अकादमिक शोध मुख्यतः जाति, अल्पसंख्यक वर्ग एवं स्त्री वर्ग केन्द्रित हो रहे हैं; शोध की कार्यप्रणाली यह रही है कि इन वर्गों को उत्पीड़ित के रूप में दिखाकर भारतीय सभ्यतागत दोषों को उनका कारक बताया जा सके। पश्चिम की भारत-विषयक ऐसी अवधारणा एकतरफ तो धर्म-निरपेक्ष शोध दृष्टि—मानव विज्ञान, सामाजिक सिद्धान्त, इतिहास एवं स्त्रीवादी अध्ययन—से छन करआ रही है, दूसरी तरफ ऐसा ही बाइबिल/ईसाई अध्ययन स्रोतों से भी। भारत के अध्ययन के क्षेत्र में पश्चिमी देशों का संस्थागत एवं अकादमिक हस्तक्षेप बहु-आयामी एवं बहुतरफा है। यही बात भारत पर लागू नहीं होती। भारतीय प्रभावी वर्ग इस मायने में आत्म-तोष का शिकार है; वह हस्तक्षेप नहीं करता। जबकि चीन की सरकार, उद्योगजगत एवं वौद्धिक-वर्ग अपने देश के अध्ययन में रूचि लेता है, भारत में इस

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

बात का तुलनात्मक रूप से अभाव है। एक बात और! भारत में उत्तर-आधुनिक विमर्श को अकादमिक/बौद्धिक वर्ग में सम्मान प्राप्त है। पश्चिमी देश एवं उसके अकादमिक इस प्रक्रिया को विकाशशील देशों में बढ़ावा देते हैं। उत्तर-आधुनिक विमर्श से प्राप्त सम्मान के चलते भारतीय बौद्धिकों की एक पीढ़ी अपनी राष्ट्रीयता एवं सभ्यता के विसंरचनात्मक (deconstructive) अध्ययन की तरफ प्रेरित हुई है। इस आत्म-कशाघाती प्रक्रिया को युरोप एवं अमेरिका में रहनेवाले सम्मान प्राप्त 'सफल' भारतवंशी विद्वानों की संगति से बढ़ावा मिला है। वैसे पश्चिम ऐसे विद्वानों को अर्थ लाभ पहुँचाकर तथा पदोन्नति के अवसर देकर बढ़ावा देता रहा है। लेखन, सामाजिक कार्य एवं मानवाधिकार के पुरस्कार भी पश्चिम द्वारा सदा अच्छे उद्देश्यों से ही नहीं दिए जाते। विसंरचनात्मक बिमर्श भारत में उपराष्ट्रियताओं को मान्यता देता है, विखण्डित राष्ट्र एवं विखंडित समाज को मान्य बनाता है। ऐसा अध्ययन देश में उत्पीड़ित होने का भाव (victimhood) पैदा करता है; आन्तरिक नृशंसता के साहित्य (Atrocity literature) एवं प्रतिवादी साहित्य (Protest literature) को बढ़ावा देता है। ऐसा नहीं है कि अमेरिका जैसे देश में अपने देश का विसंरचात्मक अध्ययन नहीं होता। होता है, किन्तु वहाँ ऐसा करनेवाले विद्धानों को ऐसे भारतीय विद्धानों की तरह केन्द्रीयता एवं सम्मान प्राप्त नहीं है। वे सत्ता-केन्द्रों, मिडिया आदि से दूर हासिए पर होने से वैसी क्षति पहुँचाने में अक्षम हैं। ध्यातव्य है कि पश्चिमी संस्थान तथा-कथित अकादमिक शोधों मानव अधिकार मोर्चों एवं अलगाववादी शक्तियों को सहायता देकर भारत संबंधी विमर्श को नियंत्रित करते हैं। भारत विरोधी शक्तियों के गठबंधन का साथ देनेवाले भारतीयों की भी कमी नहीं है। वैसे में राष्ट्रीय पहचान के बोध का कमजोर होना स्वाभाविक है, जबकि अमेरिका, चीन एवं जापान में वह लगातार प्रबल होता जा रहा है; युरोपीय संघ शक्तिशाली सुपर-राष्ट्र के रूप में उभर रहा है।

अन्य दो पुस्तकें जो मेरे सामने पड़ी हैं उनमें एक सृजनात्मक लेखन की एक विद्या, कहानी से जुड़ी, प्रोफेसर पुष्पपाल सिंह की *समकालीन कहानीः नया परिप्रेक्ष्य* तथा दूसरी प्रोफेसर पाण्डेय शशिभूषण 'शीतांशु' की *उत्तर-आधुनिकता : बहु-आयासी संदर्भ* है। यहाँ मैं इन पुस्तकों की समीक्षा न करके इनसे प्राप्त जानकारी को आधार बनाकर कुछ बातें कहना चाहूँगा। इन दोनो पुस्तकों को पढ़ने से एक चौंकानेवाली बात सामने आती है कि कहानी लेखन के समस्त आन्दोलनों की सैद्धान्तिक जड़ें विदेशों में रही हैं। फिर समीक्षा के नवीनतम औजार – विसंरचनावाद/उत्तर आधुनिक विमर्श–के विकाश में भी किसी भारतीय लेखक/समीक्षक/बौद्धिक का कोई योगदान नहीं रहा। उनकी भूमिका विचारों के उपभोक्ता की रही है, विचारों के उत्पादक की नहीं।

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

पुष्पपाल सिंह की पुस्तक में विवेचित कहानियों पर सांस्कृतिक दृष्टि से विचार करें तो निराशाजनक परिदृश्य सामने आता है। सांख्यिकीय दृष्टि से देखें तो फार्मूलाबद्ध ढंग से लिखी कहानियों की भरमार है। सामाजिक परिदृश्य में अर्थाभाव, शिक्षित बेरोजगारी, अकाल, सूखा, बाढ़ आदि त्रासद स्थितियों, आर्थिक दबाबों के चलते संबंधों में आए बिखराव, मूल्य ह्रास, मूल्यों की टूटन से उत्पन्न पीड़ा एवं देश की स्थिति से घबड़ाकर विदेश-पलायन एवं उससे जुड़ी समस्याएँ, विवाह एवं प्रेम संबंधी परिवर्तित दृष्टि, स्वतंत्रचेता, संघर्षशीला नौकरीपेशा नारी और उसकी उन्मुक्त दृष्टि आदि सब कुछ है। इसके अतिरिक्त इन कहानियों में नगर/महानगर केन्द्रित संवेदना, वहाँ के जीवन से जुड़ी समस्त विषमताएँ एवं विभीषिकाएँ, खुलकर आयी हैं। राजनीति के सदर्भ में लिखी कहानियों में व्यवस्थागत भ्रष्टाचार, सिद्धान्तहीनता आदि सब कुछ है। कहानी लेखन के इस दौर ने जहाँ एक ओर नयाी भाषायी भंगिमा, अभिव्यक्ति में अपूर्व ताजगी, लोच तथा सहज प्रवाह आये, वहीं भाषायी बनावटीपन, शब्द एवं व्याकरण के स्तर पर अराजक प्रयोगभी सामने आये। भाषायी सहजता का एक सीमा तक लोप हुआ। यहाँ इस बात का उल्लेख आवश्यक है कि समकालीन दौर में लिखी सभी कहानियाँ इस ढाँचे में नहीं समाती, किंतु साख्यिकीय दृष्टि से कहानी लेखन का कमोवेश यही परिदृश्य सामने आता है।

उल्लिखित बातों से स्पष्टतः कहानी लेखन के संबंध में, और यदि कहानी लेखन की प्रवृत्ति या झुकाव को सामान्य सर्जनात्मक लेखन की प्रवृत्ति (Trend) मानें तो उसके विषय में भी, ऐसा कहा जा सकता है कि यह विखण्डन की प्रक्रिया को बहुत आगे ले जा रही है। भारत संबंधी सामाजिक विमर्श की तोड़क भूमिका जहाँ समाज और देश तक पहुँचती है, वहीं हमारा आज का सृजनात्मक साहित्य संस्कृति, मूल्य-बोध एवं परिवार को तोड़ने का कारक ही नहीं बनता, बल्कि अन्ततः निहायत असहाय अवस्था में लाकर उससे उसका आत्म-विश्वास छीनकर, व्यक्ति को भी भीतर तक तोड़ता है। वे सारे विमर्श, जिन्हें युरो-अमेरिकन बौद्धिक वर्ग भारत को कमजोर करने के लिए चला रहे हैं, उसे आगे बढ़ाने में हमारा साहित्य-सर्जक वर्ग बढ़चढ़ कर भाग ले रहा है। इसमें अधिकांश वामपंथी हैं जो दु:सग्रही हैं कुछ भोलेभाले छपास-पीड़ित मूर्ख हैं, जो इतना तो जानते ही हैं कि क्या लिखकर कहाँ छपा जा सकता है। उन्हें देश और समाज की समझ नहीं और छपने के लिए इतने व्यग्र हैं कि उसके लिए कुछ भी लिख सकते हैं। फिर कुछ लेखक बौद्धिक आतंकवादियों से त्रस्त तथा अन्य 'पॉलिटिकली करेक्ट' बाते लिखकर लाभ लेनेवाले भी हैं। फिर पश्चिम से आयातित वादों/सिद्धान्तों/विचारों का भारत जैसे गुलाम रहे देश में अपनाने, उसे बिना पचाए उगलने का फैशन तो रहा ही है। मैने उत्तर-आधुनिकता पर दिल्ली के किसी कालेज

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

के एक प्रवाचक की आधी अधूरी समझ से लिखी किताब पढ़ी थी। उसने देरिदा के किसी भाषण का उल्लेख बड़ी आत्म-विमुग्धता से किया था। विडम्बना है कि विषय-वस्तु को नहीं समझने पर तथा-कथित भारतीय विद्धानों की आत्म-विमुग्धता बढ़ जाती है, जैसे मार्क्स के 'कैपिटल' के विषय में भारतीय कम्युनिस्टों की।

अंग्रेजी राज भारत में गरीबी एवं अशिक्षा फैलाने का सबसे बड़ा कारक रहा है, लेकिन उसने अपने कुकृत्यों के लिए भारत में झूठे आन्तरिक कारण खोजे। हमारा बौद्धिक वर्ग उन्ही की बातों को लगातार कह कर देश को कमजोर करता रहता है। आवश्यकता है, भारतीय बौद्धिक परिवेश में बदलाव लाने की।

—बी.बी. कुमार

श्रद्धांजलि

सहसा विश्वास नहीं होता कि डॉ. कुमार विमल नहीं रहे। उस दिन जब वे अस्पताल जा रहे थे तो फोन पर उनसे बात हुई थी। वे हमारे आग्रह पर सदा चिन्तन-सृजन एवं डॉयलाग में लिखते रहते थे। उनसे हमें मार्ग-दर्शन तो मिलता ही था। उन्हें हमारी विनम्र श्रद्धांजलि। – सम्पादक

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

हिंदी साहित्य में सांस्कृतिक स्वाधीनता की चुनौती

रमेश चंद्र शाह*

1. पाश्चात्य प्रभाव ग्रहण करना हमारी निरुपायता ही नहीं, अनिवार्यता भी है। किंतु इस सचेतनता के फलस्वरूप हम अपनी सुरुचि की ओर प्रत्यावर्तन क्यों न करें? हमारे मौलिक ज्ञान-प्रतीक दुर्बल तो नहीं हैं।

—प्रसाद

2. ...हमें परखने और मुकाबले करने की शक्ति को संगठित करना होगा। हमें एक आलोचक राष्ट्र का निर्माण करना होगा।

—अज्ञेय (त्रिशंकु)

3. आज विश्व मानस के सम्मुख सबसे गहरा प्रश्न : कैसे त्रासजनित विवेक को पावनताजनित विवेक दिया जाए?

—विजयदेव नारायण साही

हिंदी साहित्य में सांस्कृतिक स्वाधीनता की चुनौती बहुत पहले से—भक्ति आंदोलन के जमाने से ही महसूस की जाती रही है। चाहे निर्गुण और सगुण के बीच 'उभय प्रबोधक चतुर दुभाषी' की तरह अपने 'नामनिरूपण-नाम-जतन' रूपी कविकर्म को पहचानने वाले तुलसी हों, चाहे 'नाम अमल' वाले कबीर हों, सभी जगह हम एक सुदृढ़ व्यवसायात्मिका बुद्धि को, सात्त्विक कठोरता को सक्रिय पाते हैं। दो बातें इस भक्तिकाव्य की सांस्कृतिक स्वाधीनता के बारे में स्पष्ट उजागर होती हैं : एक तो यह कि उसमें रहस्यानुभूति का समावेश तो निस्संदेह है किंतु उसे सीधे सपाट ढंग से यूरोपीय 'मिस्टिसिज्म' से समीकृत नहीं किया जा सकता; दूसरी ओर इस भक्तिकाव्य की जो लोकमंगलविधायिनी शक्ति है, वह स्पष्ट ही उसकी परंपरागत लोकोत्तर अभीप्सा से ही प्रेरित-परिभाषित होती है। तथाकथित प्रगतिवादी-मार्क्सवादी

*रमेश चन्द्र शाह, एम-4 निरालानगर, भदभदा रोड, भोपाल—462003

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

उसे अपने काम का बनाने के लिए उसकी जो एकांगी-लोकायतिक व्याख्या करते हैं, वह अपव्याख्या ही है। उससे न केवल भक्ति के स्वरूप का घोर अज्ञान प्रकट होता है, बल्कि उसके अनर्थपूर्ण दुरुपयोग को भी बढ़ावा मिलता है। अपनी ही परंपरा से ऐसा परतंत्र परजीवी संबंध बनाने की अपेक्षा तो बेहतर यही है कि हम उससे विद्रोह करके ही अपने रचनात्मक उन्मोचन की राह निकालें। क्या हम नहीं देखते कि हिंदी साहित्य के आधुनिक दौर में खरे संदेह और खरे विद्रोह से आरंभ करने वाला अज्ञेय जैसा कवि आगे चलकर अपने स्वाधीन सांस्कृतिक विवेक के बूते ही परंपरा को अनुभूति के स्तर पर स्वायत्त करता है, रास्ते की सारी भटकनों के बावजूद, निर्जल नकारों के उमड़ते पारावार का सामना करने के आंतरिक साहस के फलस्वरूप ही उस जगह पहुँच पाता है, जहाँ उसे 'नर की अनझिप आँखों में नारायण की व्यथा' दिखाई दे जाती है? क्या यहाँ वह अपने अनजाने ही अपने अग्रज कवि की उस मर्मानुभूति से नहीं जुड़ जाता जो चौरासी लाख योनियों में विस्तृत जीव-सृष्टि को सियाराममय देखती थी? उसी तरह जब वह भीड़ों में जब-तब किसी से आँखें मिल जाने पर उसे 'अंगार-सा, भगवान-सा अकेला' देख लेता है, तब क्या उसकी इस अनुभूति का कबीर के 'पावक रूपी साँइया' से कोई संबंध नहीं, जो 'सब घट में समाया हुआ है'?

कबीर की ही उक्ति है कि 'हीरा वही सराहिए, जो सहै घनन की चोट'। प्रख्यात आधुनिक अंग्रेजी कवि डब्ल्यू. एच. ऑडेन की कही बात यहाँ अनायास याद आ रही है कि कविता अकसर अपमान और दलन में से जन्म लेती है। एक विजातीय सभ्यता के आक्रमण से मिला मर्माघात किस तरह एक समूची संस्कृति की आच्छतप्राय आत्म-प्रत्याभिज्ञा को उकसाने-जमाने का निमित्त बन जाता है, भक्ति आंदोलन इसका जीता-जागता उदाहरण है। वह सच्चे अर्थों में एक देशव्यापी पुनर्जागरण था, जिसकी अनिवार्य शर्त थी—एकदम नीचे से, लोकजीवन और लोकभाषाओं के भीतर से—संस्कृति के आत्म-नवीकरण को संभव करने वाला आन्दोलन। यह अकारण नहीं था कि भक्त कवि को न केवल प्राकृत जन के गुणगान से ग्लानि में पड़ी गिरा का उल्लेख करने की जरूरत पड़ी, बल्कि पाखंड विवाद के करण लुप्त हो गए सद्ग्रंथों का भी। कबीर के मुहावरे में कहें तो 'आत्म खबरि न जाना' की उस काल का कटु यथार्थ था, जैसे कि एक दूसरे स्तर पर आज भी है। ऐसे में सामान्यजन और समाज के जाग्रत आत्म केंद्रों के बीच फिर से विद्युत्तरंग प्रवाहित करने की—जीवंत संबंध स्थापित करने की जरूरत थी, टूटते-बिखरते समाज को भावात्मक एकता के सूत्र में जोड़ने वाली संजीवनी शक्ति की आवश्यकता थी। इस आवश्यकता की पुकार के प्रत्युत्तर में ही भक्ति आंदोलन का अभूतपूर्व विस्फोट और विस्तार हुआ। निराला की प्रसिद्ध कविता 'तुलसीदास' के शब्दों में कहें तो भक्ति वह 'अकल कला' साबित हुई जो 'एकल छिन्न' को गहती और जोड़ती है।

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

हो गए आज जो खिन्न-खिन्न
छुट-छुटकर दल से भिन्न-भिन्न
वह अक्ल कला गह एकल छिन्न जोड़ेगी।

जायसी भी अपनी काव्य-कथा के सूत्रों को 'अपने हृदय के रक्त की लेई' से ही जोड़ने की बात करते हैं। जहाँ तक समता-समदर्शिता का प्रश्न है, वह एक समूचे तत्त्व-ज्ञान-प्रेरित-दर्शन का सत्य है; दो आयामों में सिकुड़ी तथाकथित सामाजिकता मात्र का नहीं। संत या भक्ति कवि किसी वर्ग के प्रतिनिधि और पैरोकार नहीं हुआ करते। मानवीय अवस्थिति की—उसके बंधन और संकट की उनकी समझ बहुत गहरी होती है। किंतु सामयिक आग्रहों के चलते भक्तों-संतों की कविता भी दुर्व्याख्या विषमूर्च्छिता प्रतीत होने लगे तो कुछ अजब नहीं।

ध्यान देने की बात यह भी है कि भक्तकवि—तुलसीदास तो विशेषकर—एक दोहरी धर्मग्लानि के साक्षी-उद्घाटक हैं। सर्वोच्च चित्तमूति पर जिस दिव्य अनुभूति का साक्षात्कार किया गया था, उस वस्तुतः आध्यात्मिक और नव-नवोन्मेषशाली पथ को छोड़कर जो 'कपट-कलेवर' में लिपटे, 'कलिमल' में आपादमस्तक सने हुए लोग परम सत्ता के संदेशवाहक बने पृथ्वी को आतंकित करते फिर रहे हैं, वे परद्रोही तो वंचकों की श्रेणी में आएँगे ही, किंतु भीतर वालों ने भी अपने प्रमाद के चलते इस वंचना और 'कलिमल' को बढ़ाने में कोई कसर छोड़ी है। कवि तुलसीदास को अपने से भिन्न उपासना-पद्धतियों को सम्मान-स्वीकृति देने में भला क्या परेशानी है! परेशानी जो है, वह अपने ही मार्ग को एकमात्र मार्ग मानने और बाकी सारी सारे मानव-समुदायों को जाहिल और घृणित मान बैठने और उसी मुताबिक बरतने वाले खरदूषणों से है। कपटमुनि के रचे प्रपंच के वशीभूत होकर प्रतापभानु कालांतर में अपने समाज-सहित जिस निशाचर कोटि में जनमता है उसके लिए कवि ने 'कृपारहित', 'हिंसक' और 'विश्व-परितापी' जैसे विशेषणों का प्रयोग यूँही नहीं कर दिया। अपनी ओर से उसने एक नए असत् (ईविल) और अंधकार को पहचानने और उसे उसके सही नाम से पुकारने में कोई भूल नहीं की है। "अतिसय देखि धरम कै ग्लानी/परम सभीत धरा अकुलानी/गिरि सरि सिंधु भए नहिं मोही/जस मोहि गरुअ एक परद्रोही"—यह और किसी से नहीं, स्वयं पृथ्वी से ही कहलवाया है कवि ने। पृथ्वी जो रावण से अकुलाई हुई है। निश्चय ही 'आनृशंस्य' को सर्वोच्च मूल्य की तरह स्थापित करने वाला 'महाभारत' का कवि भी 'ईविल' से न केवल अपरिचित नहीं था, बल्कि उससे सीधे आँख मिला सकता था। किंतु वह एक दूसरे युग का 'असत्' या अंधकार था। जबकि तुलसी के युग का 'कलिमल' एक दूसरा और अप्रत्याशित रूप धारण कर चुका है। 'मानस' के कवि को इस दूसरे अँधेरे का इलाज ढूँढ़ना और पाना है और अपनी सांस्कृतिक जड़ों के भीतर से ही। उसकी समस्या वाल्मीकि और व्यास से भिन्न है।

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

वाल्मीकि के सामने जो प्रश्न था वह था 'कोऽन्वास्मेन्सांपूतं' लोके?' 'मानस' के कवि के सामने जो प्रश्न है, वह यह है कि त्राणकर्त्ता है कहाँ? किसी को प्रभु का अता-पता मालूम नहीं है। 'विश्वातीत विश्वात्मा' को, 'अगजगमय सब रहित विरागी' को कहाँ पकड़ा जाए?' प्रेम से" शंकर कहते हैं : 'प्रेम ते"–प्रभु प्रगटइ जिमि आगी।' क्या यह इलाज भी उस रोग की तरह ही 'नया' नहीं है।

'खल-वंदना' की जरूरत भी इस कवि को क्योंकर पड़ी? ऐसा भी नहीं है कि इस तरह के खलों के हृदय-परिवर्तन की वे भावुक उम्मीद जता रहे थे। "बायस पलिहहिं अति अनुरागा/होहिं निरामिष कबहूँ कि कागा..." लगता है अपने जीवन में कवि को कई तरह के खलों से पाला पड़ा होगा, तभी न वे कह गए कि 'खल सम कलह न भल, नहिं प्रीती'। ठीक है कि 'खलउ करहिं भल पाई सुसंगु...किंतु उसी साँस में वे यह भी जतला ही देते हैं कि 'मिटइ न मलिन प्रभाव अभंगू'। क्या मानस का उद्देश्य मिल्टन के महाकाव्य की तरह केवल *टू जस्टिफाइ द वेज ऑव गौड टु मैन* ही है? एक व्याख्या खलत्व की यही मानकर चलती है कि बुरा हमेशा 'दूसरा' है। ('द अदर इज माई हैल'—दूसरे ही मेरा नरक हैं)। दूसरा, यानी वह भी, जो हमारी तरह नहीं है; हमारे गिरोह या मत का नहीं है। अब इस लौकिक पूर्वग्रह की पारलौकिक प्रतिच्छवि भी होगी ही। परम सत्ता को यदि सृष्टिकर्ता, परम दयालु, परम न्यायी मानना है तो फिर यह भी मानना होगा कि असत् और अघ का स्रोत कोई दूसरी ही समानांतर सत्ता है जो परमपिता का प्रतिलोम और सनातन वैरी 'शैतान' है। मानव भी शैतान की तरह इसीलिए न स्वर्ग से निर्वासित—च्युत हुआ कि उसने शैतान के प्रलोभन में पड़कर ईश्वरादेश का उल्लंघन किया? तब सवाल उठता है कि इस च्युतावस्था से उसका उद्धार कैसे हो? तब आती है एकमात्र मसीहा-त्राता की परिकल्पना, जो स्वयं परमपिता का पुत्र है। अंग्रेजी के प्रख्यात कवि-आलोचक विलियम एम्पसन ने इसी धर्मबीज और मिथक पर शंका उठाते हुए प्रश्न किया है कि "यह कैसा परमपिता है जो अपने एकमात्र पुत्र की बलि से ही तुष्ट हो सकता है?"

इसमें संदेह नहीं कि 'अवतार' और 'मसीहा' की अवधारणाओं के बीच गहरा और गुणात्मक अंतर है : वैसे ही, जैसे पैगन (बहुदेववादी) मानसिकता के साथ—बिना उसे विस्थापित करने की जरा भी जरूरत महसूस किए—बखूबी निभाने वाले अद्वैत दर्शन तथा एकेश्वरवाद के बीच है। प्रस्तुत विषय के प्रसंग में ही क्या यह प्रश्न यहाँ उठाया जाना समीचीन नहीं है, कि क्या सहस्राब्दियों से फलती फूलती चली आई उक्त विश्व-व्यापी और चराचरनिष्ठ पैगन मानसिकता एवं ऐतिहासिक थियोलॉजिकल साम्राज्यवाद द्वारा बलात् विस्थापन और विध्वंस ही मनुष्य-जाति के इतिहास का सर्वाधिक दारुण व्यंग्य-विपर्यय नहीं था? और क्या जिसे हम यहाँ 'सांस्कृतिक स्वाधीनता की चुनौती' करके अभिहित कर रहे हैं, उसके लिए भी सबसे बड़ा और गहरा शक्ति-स्रोत हमारी संस्कृति की जड़ों में ही निहित और समूचे भारती वाङ्मय में

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

निरंतर प्रतिफलित यह चराचरवादी अद्वैत दृष्टि ही नहीं है? मसीही और ऐतिहासिक धर्मदृष्टि के लिए बेशक इसे पचाना असंभव नहीं तो दुष्कर अवश्य है। उनकी समझ में नहीं आता कि यह कैसा परमेश्वर है जो अवतार लेने के लिए सृष्टि की मुकुटमणिस्वरूप मनुष्य योनि को ही नहीं, शुकर और कच्छप और मत्स्य सरीखी अधम योनियों को भी मजे से अपना ले सकता है? भारतीय संस्कृति चूँकि शैतान को जरूरी नहीं समझती, इसलिए एकमात्र मसीहा और एकमात्र मार्ग की अनिवार्यता को—धर्म विश्वासी और इनफिडेल (काफिर) के बीच मानव-जाति के बँटवारे को भी—स्वीकार नहीं करती। इसीलिए वह पौराणिक होते हुए भी आधुनिक वैज्ञानिक बुद्धि के तर्कों से नहीं कटती, बल्कि इसके ठीक उलट ऐतिहासिक धर्मों की तुलना में उनसे सीधे समर्थित और पुष्ट ही होती है। ऐसा न होता तो बनारस का पंडित डार्विन के ग्रंथ का संस्कृत में अनुवाद कर डालने को क्यों उत्साहित हो उठता? सच पूछें तो हिंदी साहित्य में ही क्यों, समूचे भारतीय जीवन-बोध और विश्वबोध को सबसे बड़ी चुनौती जो फिलवक्त उपस्थित है, वह उक्त साम्राज्यवादी और विभाजनमूलक, प्रकृतिद्रोही आइडियोलॉजी से ही है। और बिना उससे सीधे टकराए बिना स्वयं उसी को चुनौती दिए हम अपनी सांस्कृतिक स्वाधीनता की रक्षा में समर्थ न होंगे। यह भी, कि यह संकट समूचे विश्व का है और इसके प्रतिकार की भारतीय सामर्थ्य का उभरकर सामने आना समूचे विश्व के संदर्भ में अर्थ रखता है।

मुझे भक्तिकाव्य और उसमें भी तुलसीदास के कृतित्व को आरंभ में ही रेखांकित करना इसलिए आवश्यक लगा कि एक तो भक्तिकाल उचित ही हिंदी साहित्य का स्वर्णयुग माना जाता रहा है; और दूसरे इसलिए भी कि आधुनिक दौर में उससे जो विचलन अनिवार्य-सा हो गया था अथवा मान लिया गया था, उसके चलते निराला सरीखे एकाध अपवाद की बात जाने दें, तो भक्तिकाल से हमारा सर्जनात्मक संबंध भी गड़बड़ा गया जिसे ठीक करने की—पुनर्मूल्यांकनात्मक अध्यवसाय द्वारा आवश्यक संतुलन फिर से लौटा लेने की जरूरत पिछले दिनों महसूस की जाने लगी है। हिंदी आलोचना के सबसे समर्थ अधारस्तंभ आचार्य रामचंद्र शुक्ल ने जो तुलसीदास को अपने साहित्य विवेचन में इतना महत्त्वपूर्ण केंद्रीय स्थान दिया, वह हिंदी साहित्य में सांस्कृतिक स्वाधीनता की उनकी अपनी समझ और दृष्टि के अनुरूप ही था। यह अकारण नहीं था कि शुक्लजी समेत हिंदी के कई अग्रगामी लेखक वैज्ञानिक चिंतन के प्रति आकर्षित हुए। परंपरा इसमें रोड़ा नहीं बन सकती थी क्योंकि वह जूडियो-क्रिश्चियन धर्मदृष्टि की तरह विज्ञान से बेमेल नहीं थी। बेमेल जो हो सकता था, वह था इस वैज्ञानिक संस्कृति का प्रकृति के साथ विशुद्ध विजिगीक्षा वाला संबंध और पश्चिम की काल-दृष्टि। यहाँ हम याद कर सकते हैं कि तुलसीदास को अपनी

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

साहित्य दृष्टि के केंद्र में रखनेवाले आचार्य शुक्ल ने जहाँ एक ओर 'रिड्ल ऑव द यूनिवर्स' को हिंदी में ले आने की जरूरत समझी, वहीं उसी प्रयत्न की भूमिका में शामी और पैगंबरी धर्मों की भेद-दृष्टि का प्रत्याख्यान करने की भी। काव्य-तत्त्व का सैद्धांतिक विवेचन करते हुए और यूरोपीय आलोचना का वाजिब प्रभाव ग्रहण करते हुए भी उन्होंने ठेठ हिंदुस्तानी दार्शनिक शब्दावली का आश्रय लेते हुए सभ्यता के 'आवरण और कविता' की बात की; 'प्रकृत रुप के प्रत्यक्षीकरण' की बात की। कहा, कि..."इस प्रच्छन्नता का उद्‌घाटन कवि का पहला काम होगा। ज्यों-ज्यों सभ्यता बढ़ेगी, यह काम भी बढ़ता जाएगा। मनुष्य की रागात्मिका वृत्ति से सीधा संबंध रखनेवाले रूपों को सामने लाने के लिए उसे बहुत से आवरणों को हटाना पड़ेगा।" . ..ध्यान देने की बात यह है कि यह कोई महज रोमानी या मनमाने सोच वाली प्रतिक्रिया नहीं है, बल्कि आधुनिक सभ्यता के संकट के यथातथ्य बोध से उपजी हुई अग्रगामी आलोचना-दृष्टि है।

मैथ्यू आर्नोल्ड ने कहा था कि "आने वाले युगों में कविता को धर्म के रिक्त स्थान की पूर्ति करनी होगी।" किंतु हमारे यहाँ तो धर्म और कविता के बीच उस तरह का न केवल कभी कोई तनाव नहीं रहा, बल्कि, अक्सर, धर्म-संस्थापन का कार्य भी कवित्व-शक्ति के माध्यम से ही संपन्न होता रहा है। शुक्ल जी के परवर्ती आलोचक लीविस ने कहा था कि जैसे-जैसे सांस्कृतिक परंपराएँ और सामाजिक संरचनाएँ विघटित हो रही हैं, वैसे-वैसे अपनी साहित्यिक परंपरा को विघटन से बचाना अधिकाधिक अनिवार्य कर्त्तव्य बनता जा रहा है।" शुक्ल जी और उनके परवर्ती लेखक आलोचक भी अपनी सांस्कृतिक परंपरा और उसकी शब्दावली के जरिए बदलती हुई जगत्-गति को परखते हुए साहित्य की इसी बढ़ी हुई जिम्मेदारी को रेखांकित करते हैं। 'कविता से मनुष्य-भाव की रक्षा होती है'—कहने वाले शुक्ल जी को 'स्थूलीकृत वैज्ञानिक दृष्टिकोण' के बढ़ते दबदबे की वैसी चिंता क्यों नहीं सताती जैसी लीविस को सताती थी : क्योंकि स्वभावतः उनके समय में अभी विज्ञान का धनात्मक पक्ष ही उनके सामने था। किंतु जब वे कहते हैं कि, "कविता वह साधन है, जिसके द्वारा मानवेतर सृष्टि-के साथ मनुष्य के रागात्मक संबंध की रक्षा और निर्वाह होता है," तो वे प्रकारांतर से न कवेल स्थूल वैज्ञानिक दृष्टिकोण की, बल्कि उसकी जड़ में जो प्रकृति-विरोधी और आत्मोन्मुखी के उलट वस्तून्मुखि मैटाफिजिकल तर्क-पद्धति की प्रधानता रही, उसका भी अनजाने ही सचोट प्रत्याख्यान कर जाते हैं।

इसी सिलसिले में जयशंकर प्रसाद का उल्लेख भी आवश्यक है। परवर्ती लेखक-विचारक अज्ञेय ने 'त्रिशंकु' में उनके इतिहास-बोध को उचित ही महत्त्व दिया था। उन्होंने माना और नाटकों में ही नहीं, 'काव्य और कला' में संकलित निबंधों में भी आधुनिक

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

मानववाद के उस स्वाधीन भारतीय स्वरूप की भी रेखाएँ कुछ और स्पष्ट होकर उभरती हैं जिसका पहला खाका मैथिलीशरण गुप्त और आचार्य शुक्ल ने खींचा था और जिसमें बाद में अज्ञेय ने भी रंग भरे। कोई भी देख सकता है कि प्रसाद का (और उनके बाद अज्ञेय और साही सरीखे साहित्यकारों का) संस्कृति-चिंतन तत्कालिन प्रतिभा के आधुनिक लेखकों के तुलना में कहीं अधिक भविष्योन्मुखी और प्रगतिशील है। ब्राह्मणत्व की 'शाश्वत सार्वभौम बुद्धिवैभव' के रूप में व्याख्या करने वाला हिंदी का यह कवि-चिंतक नए बुद्धिवादी युग की चुनौतियों का पर्याप्त प्रत्युत्तर दे सकने वाले भारतीय बुद्धिजीवन की सही और ठोस बुनियाद रखने के लिए प्रयत्नशील है। और उसी सिलसिले में कहता है कि "हमें नई चेतना और आधुनिक समय को स्वायत्त करना होगा।"...यह भी कि "पाश्चात्य प्रभाव ग्रहण करना हमारी केवल निरुपायता ही नहीं अनिवार्यता भी है।"...किंतु साथ में वह यह जोड़ना भी नहीं भूलता कि..."इस सचेतनता के फलस्वरूप हम अपनी सुरुचि की ओर प्रत्यावर्त्तन क्यों न करें? हमारे मौलिक ज्ञान-प्रतीक दुर्बल तो नहीं हैं।"

यह मानी हुई बात है कि युग अपनी परंपरा भी आपको यूँ ही सेंत-मेंत में नहीं मिल जाती। उसे स्वायत्त करने के लिए भी लंबा और गहरा अध्यवसाय चाहिए। यह अध्यवसाय हमें प्रसाद जी के कृतित्व में सबसे साफ तौर पर महसूस होता है हालाँकि उनसे पूर्व बालमुकुंद गुप्त सरीखे अनूठे निबंधकार-पत्रकार के यहाँ, और कई अन्य पूर्ववर्त्ती लेखकों में भी अपेक्षाकृत हल्के-फुल्के स्तरों पर इस तरह का अर्जित आत्मविश्वास सक्रिय देखा जा सकता है। प्रसाद जी के यहाँ तो, क्या रचना, क्या चिंतन, दोनों ही स्तरों पर उस इतिहास-बोध का अंतर्साक्ष्य बोलता है जिसमें टी.एस. एलियट की प्रसिद्ध उक्ति के अनुसार, "न केवल अतीत के अतीतपन का विवेक निहित है, बल्कि उसकी वर्तमानता का अनुभव भी।" निश्चय ही, इतिहास और परंपरा एक नहीं हैं; और जैसा कि हिंदी के आधुनिकता वाले दौर के सर्वाधिक यशस्वी साहित्यकार अज्ञेय ने एक जगह लिखा है—"इतिहास से मुक्ति हमारी परंपरा की सबसे बड़ी देन है।" किंतु अज्ञेय ने इसके साथ ही साथ यह भी कहा है कि "अवस्थिति का अद्वितीय बोध भारतीय चरित्र की बहुत बड़ी विशेषता हैं और यह बहुत हद तक उस कमी को पूरा कर देता है जिसका आरोप हम पर लगाया जाता रहा है—इतिहास-बोध की कमी का।" अज्ञेय ही आगे तत्कालीन परिवेश में प्रचारित एक आत्म-द्रोही और बेहद रपटीली प्रवृत्ति को भी लक्षित करते हुए हमें उससे सावधान करते हैं कि "हमें निरंतर इतिहास-बोध की दीक्षा दी जा रही है और अवस्थिति-बोध का संस्कार मिटाया जा रहा है।" यह भी ध्यान देने योग्य बात है कि प्रकृति के साथ अज्ञेय का संबंध बहुत गहरा और जैविक है जो कि एलियट बात भले होकर के भी अपनी अस्थि-मज्जा में होने की करे, प्राक्-ईसाई पैगन प्रकृति-संवेदन उसकी कृतियों में कहीं नहीं बोलता। इसी तरह विज्ञान के प्रति भी अज्ञेय का दृष्टिकोण सकारात्मक है। एलिएट ने मानववादी दृष्टि

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

का प्रत्याख्यान किया था और धार्मिक दृष्टि—यानी, ईसाई दृष्टि को अधिक संगत और यथार्थपरक माना था। अज्ञेय की निष्ठा मानवेंद्रनाथ राय के रेडीकल ह्यूमनिज्य से प्रभावित अवश्य हुई किंतु उस दृष्टि में उत्तरोत्तर गुणात्मक उत्कर्ष देखा जा सकता है, जो भारतीय परंपरा से उन्हें जोड़े बिना नहीं रहता। तभी तो वे सवाल उठाते हैं कि 'क्या मानव-केंद्रित आध्यात्मिकता संभव है?' तभी तो 'सत्य, ऋत, तप और आवर्त्ती काल' को वे मानव जीवन के बुनियादी मूल्य मानते हैं और कहते हैं कि "ये सनातन मूल्य हैं और वस्तुतः सनातन धर्म कोई है तो इन्हीं पर आधारित है।"

इसी क्रम में अज्ञेय के बाद विजयदेव नारायण साही का उल्लेख भी प्रासंगिक होगा। मनुष्य की जीवनानुभूति के धार्मिक आयाम के प्रति साहीजी में एक ऐसा संवेदनशील खुलापन मिलता है जैसा कम ही लेखकों में मिलेगा। मगर इस मामले में अपने दार्शनिक पक्ष को वे निर्णायक रूप से तय करके नहीं बताते। जहाँ उन्हीं के समकालीन कवि कुँवरनारायण समकालीन चिंतन में धार्मिक शब्दावली की वापसी पर ध्यान देते हैं और जानना चाहते हैं कि यह प्रवृत्ति प्रत्यासन्न संकट से एक तरह का पलायन सूचित करती है या कि अमानवीयता के खिलाफ एक नैतिक मोर्चे का आश्वासन देती है, वहाँ साहीजी प्रेम-तत्त्व को बुनियादी महत्त्व देते हुए इतिहास-तत्त्व को कभी आँखों से ओझल नहीं करते। वे कबीर के प्रशंसक हैं पर कबीर से उनकी मुश्किल हल नहीं होती क्योंकि उन्हीं के कथनानुसार, "कबीरदास की निचोड़ धर्म के पावन तत्त्व को मनुष्य की सहज आंतरिकता में सीमित कर देती है; बाहर की बातें इस पावनता के घेरे से बाहर हो जाती हैं।" जबकि साहीजी बाहर और भीतर, इतिहास और मिथक दोनों को समेटने वाली संवेदना और शक्ति चाहते हैं, नैतिक और शाक्त के द्वंद्व का एक अधिक संतोषदायी हल माँगते हैं। अंततः जायसी में उन्हें इस बाहर और भीतर दोनों को सहेज सकने वाली शक्ति और संवेदना के दर्शन होते हैं। वे 'पद्मावत' में सत्य के दोनों स्तरों की बेलाग मुठभेड़ देखते-दिखाते हैं और पाते हैं कि जायसी न प्रेम के मामले में समझौता करते हैं, न इतिहास के मामले में। साहीजी के ही शब्दों में, "जायसी कहीं लीपा-पोती नहीं करते... बैकुंठी प्रेम का प्रतीक विचारा चित्तौड़ दिल्ली के प्रबल प्रताप के सामने कहाँ ठहरता?" रतन सेन—पद्मावती का वह सारा मायालोक अलाउद्दीन की जीत की घड़ी आते ही जलकर खाक हो जाता है। लेकिन सतही इस्लाम की जीत की वह घड़ी, उसकी नितांत निरर्थकता की घड़ी बन जाती है। यह पद्मावती की निष्कलंक लपेटों के आगे उसकी समूची हार की भी घड़ी है।..."

जायसी की खोज से पूर्व हिंदुस्तानी जीवन की जिस 'आंतरिक लय' को अपनी सारी मूल्यचिंता के संदर्भ-ग्रंथ की तरह साहीजी बार-बार उलटते-पुलटते हैं, उसे वे

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

कहाँ पाते हैं? वेद, पुराण एवं उपनिषदों में? नहीं, वे उसे पाते हैं—कालिदास में। कालिदास साहीजी के लिए दर्शन और अनुभूति के विशिष्ट अद्वैत को चरितार्थ करने वाले कवि हैं। कवि येट्स ने कहीं 'पूरब के देशों के निर्दोष इतिहास' की बात की है, सवाल उठाया है कि "जब यह निर्दोष पूरब जागकर पश्चिम के पापों के खिलाफ उठकर खड़ा हो जाएगा तब यह दर्पभरा मदमाता पश्चिम कैसे उसका सामना करेगा?" अपने उस प्रसिद्ध लघुमानव वाले लेख में साहीजी साम्राज्यवादी यूरोप के साहित्य में व्याप्त अपराध-भावना का उल्लेख करते हैं और इस तथ्य को रेखांकित करते हैं कि हमारे साहित्य में वैसी अपराध-भावना नहीं है। तब फिर, साहीजी की सोच के मुताबिक क्यों न भारत का साहित्य और भारत का समाजवाद एक ऐसे विशिष्ट अद्वैत की ओर बढ़ें, जो गाँधी के तत्कथित 'सरल' चिंतन और नेहरू की तथाकथित द्वंद्वात्मकता दोनों को आत्मविश्वासपूर्वक अपने जीवन-बोध की आंतरिक लय से भेदता हुआ एक नया संतुलन निकाले, जो सत्याग्रह-युग से भी अलग अपनी पहचान स्थापित करे और बाद की सारी नाटकीयता से भी। अपने उसी लेख में साही जी यह घोषणा करते हैं कि "...भारतेंदु हरिश्चंद्र के जमाने से आज तक मनुष्य को उसकी चिरंतन परिवर्तनशीलता में समझने का जिम्मा हिंदी साहित्य ने उठा लिया है। किंतु कठिनाई यह है कि साहीजी जहाँ एक ओर गांधी से अभिभूत और अनुप्राणित दिखते हैं, वहीं दूसरी ओर, उन्हें नीत्शे का 'ईश्वर मर चुका है' वाला निहिलिस्ट विषाद भी व्याकुल किए हुए है। साथ ही, यूनानी ट्रैजिक दृष्टि से भी उन्हें खासा गहरा लगाव है। जहाँ एक में उन्हें 'अपराजेय संकल्प' दिखाई देता है, वहीं दूसरे में अपराजेय विवशता का भास। दोनों साहीजी की नजर में ठेठ बीसवीं सदी की ही लाक्षणिक अभिव्यक्तियाँ हैं। तो, अगर सत्याग्रह-युग स्वयं साहीजी के मुताबिक नैतिकता में शक्ति के विलयन' की कथा है तो क्या आज युग उसे उलटकर शक्ति में नैतिकता के विलयन की कथा बनाने जा रहा है? साहीजी यह प्रश्न इस तरह नहीं पूछते। यह आकस्मिक संयोग भर नहीं है कि 'मछलीघर' की पहली ही कविता के आरंभ में जहाँ हल्की टंकार के साथ एक तीर सामने अंतरिक्ष की ओर छूटता दिखाई देता है, वहीं एक 'मरा हुआ पक्षी' और पीछे एक 'काली चट्टान' भी दीखती है जिस पर 'बेतहाशा धारा अपना सिर पटक रही है।' यह भी उल्लेखनीय है कि आगे धर्मनिरपेक्षता के सिलसिले में घुलावटी रसायन की खोज में साहीजी कालिदासीय लय की चिंता को लाँघकर जायसी में डूबते हैं, इतिहास में डूबकर ही इतिहास से उबारने का अर्थ पाने के लिए। पर दोनों ही चिंताएँ दरअसल उनकी उस असली और जीवनव्यापी चिंता का ही अंग हैं जो उन्हें हिंदी साहित्य में सांस्कृतिक स्वाधीनता की चुनौती को गहराई से महसूस करने वाले और उस चुनौती का अपने ही ढंग से प्रत्युत्तर भी खोजने वाले एक महत्त्वपूर्ण लेखक के रूप में स्थापित करती है। वह जीवनव्यापी चिंता वही है जिसे हमने इस लेख के आरंभ में उद्धरण की तरह टाँका है : 'त्रासजनित विवेक को पावनताजनित विवेक में

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

बदलने की चिंता' जो वास्तव में भारतीय जीवन की आंतरिक (कह लीजिए, कालिदासीय) लय है और साथ ही, आज के विश्व-मानस के सम्मुख मँडराता हुआ सबसे गहरा प्रश्न भी।

यहाँ हम याद करें कि अपनी 'सहज साधना' नामक पुस्तक का उपसंहार करते हुए आचार्य हजारीप्रसाद द्विवेदी ने कहा था कि "आज मशीन केवल स्थूल रूप में ही हमारी सभ्यता को यंत्रचालित नहीं बना रही है, बल्कि हमारे सामाजिक संघटन एवं बौद्धिक विवेचन भी यांत्रिकता का रूप ग्रहण करते जा रहे हैं। यह बात ठेठ आज के हमारे साहित्यिक-बौद्धिक परिवेश को देखते हुए हमारे सिर पर चढ़कर बोलती प्रतीत होने लगी है। एक तो वैसे ही दार्शनिक, वैज्ञानिक और साहित्यिक बुद्धिजीवियों के बीच संवाद का अभाव है, दूसरे हमारे बीच जो भी ऐसी गिनती की साहित्यिक प्रतिभाएँ सक्रिय रही भी हैं जिन्होंने वर्तमान भारतीय समाज और राजनीतिक परिदृश्य में घर करती जा रही मूल्यमूढ़ता और वैचारिक आत्महीनता को अपनी उत्तरदायी और प्रखर विचार-संवेदना की सामर्थ्य से दूर करने का उद्यम किया है—निर्मल वर्मा की तरह, मसलन—उसे सरासर अनदेखा किया जाता है; उसकी जैसी प्रतिध्वनि सुनाई देनी चाहिए, नहीं सुनाई पड़ती। ऐसा कदापि नहीं है कि 'वैचारिक स्वराज' की खोज साहित्य और साहित्येतर विद्वत्ता के क्षेत्रों में एकदम बुझ ही गई हो—वैसी तेजस्विता के उदाहरण भी हमारे सामने हैं; किंतु वह सब हमारे युवा लेखकों के लिए जैसे कोई महत्त्व ही नहीं रखता। न सांस्कृतिक स्वाधीनता की चुनौती—जो उपर्युक्त साहित्यकारों के लिए इस कदर प्रखर और प्रासंगिक थी—और जिसे हम अभी तक निर्मल वर्मा के निबंधों तक में निरंतर सक्रिय देखते हैं—वही जैसे हमारी युवतर पीढ़ी के लिए अप्रासंगिक और अर्थहीन हो गई है। ऐसा क्यों है, इस पर गंभीरता से विचार अपेक्षित है।

आचार्य द्विवेदी ने सिर्फ मानवतावाद को एक अस्पष्ट और लक्ष्णहीन तत्त्ववाद' बताया था और कहा था कि 'त्रिन्मुखी मानवता का सिद्धांत स्पष्ट और सोद्देश्य विचारवाद है।' यह भी, कि 'समस्त मानवीय प्रयत्नों को यह विचारधारा एक स्पष्ट, सुनिश्चित तत्त्ववाद देने में समर्थ है। यदि ऐसा है कि तो वह तत्त्ववाद कहाँ है? समसामयिक साहित्यिक-परिदृश्य में उसकी कहीं भी कोई गूंज क्यों नहीं सुनाई देती? दूसरी ओर पं. विद्यानिवास मिश्र का विचार है कि "भारत की सामासिक संस्कृति के नाम पर भारत की मुख्यधारा है, उसी को उपेक्षणीय मान लिया गया है और यही हमारे आधुनिक जीवन की ट्रैजेडी है।' हम इस बारे में क्या सोचते हैं? अभी हाल में अमर्त्य सेन का *'द आर्ग्युमैन्टेटिव इंडियन'* पढ़ रहा था, जिसमें लेखक ने अपने नाना आचार्य क्षितिमोहन सेन का हवाला टाँकते हुए अपने सेक्युलरिस्ट पीठ स्वयं को लोकायतिक

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

संप्रदाय से जोड़ते हुए कुछ इस अंदाज में थपथपाई है जैसे वही मुख्यधारा या मुख्यधारा के समकक्ष हो। आज का युवा हिंदी लेखक इस बारे में क्या सोचता है?—कुछ सोचता भी है कि नहीं? आधुनिक सभ्यता का संकट विश्वव्यापी है, किंतु यह संकट जिन्होंने उत्पन्न किया है, वे अपनी परंपरा और अपने इतिहास के बारे में हमारी अपेक्षा निश्चय ही अधिक आलोचात्मक जागरुकता के धनी हैं। अतः वे अपने वर्तमान और भविष्य की भी चिंता इनसे कहीं ज्यादा जिम्मेदार ढंग से करने में सक्षम दीखते हैं। इस मामले में हमारी वस्तुस्थिति क्या है, इसका बोध ही कम-से-कम हिंदी के युवा लेखक और आलोचक जगा सकें तो अच्छा हो। अंत में मैं—भारत की स्वाधीनता की देहरी पर ही 'आलोचक राष्ट्र के निर्माण' का सपना देखने-दिखाने वाले हिंदी के अप्रतिम कवि अज्ञेय की तबसे चालीस बरस बाद की गई निम्नलिखित टिप्पणी उद्धृत करते हुए इस लेख का समापन करना चाहूँगा। वह टिप्पणी यों है :

"पश्चिम को अपने प्रबल अहं के बावजूद ऐसा विश्वास नहीं है कि उनका चिंतन, उनका दर्शन वगैरह सब पूर्व की अपेक्षा अच्छा है। उनमें जिज्ञासा है, आगे के रास्ते की चिंता है, क्लेश है। उनका साहित्य इस दृष्टि से खरा है। हमारे साहित्य में हमें न तो अपनी अनास्था दीखती है, न अपनी आस्था दीखती है, न अपनी चिंता दीखती है। हमारी क्या चिंता होनी चाहिए, इसकी भी चिंता नहीं है।"

उक्त टिप्पणी से हम सहमत हों, चाहे असहमत, इसका महत्त्व नहीं है। प्रश्न जो उठता है, वह यह है कि सन् 1945 में 'आलोचक राष्ट्र के निर्माण' के संकल्प के साथ जिस लेखक ने अपनी रचना-यात्रा आरंभ की थी, वह लेखक यात्रा के दूसरे छोर पर पहुँचकर उक्त टिप्पणी करने को क्यों प्रेरित हुआ? जाहिर है कि उक्त टिप्पणी ठेठ आज के साहित्यिक-सांस्कृतिक परिदृश्य से ही ताल्लुक रखती है।

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

डॉ. कुमार विमल : अमरत्व का वरण!

पांडेय शशिभूषण 'शीतांशु'*

वेद में एक पंक्ति आती है—"देवा रूपाणि चक्रे वयं नामानि कियसि।" सो इस पंक्ति के अनुरूप कुमार विमल के नाम से ही मैं पहले परिचित हुआ, प्रत्यक्षतः उनके रूप से बाद में। आज फिर कुमार विमल का नाम ही हमारे पास रह गया है। अपने अभिधेयार्थ और लक्ष्यार्थ—दोनों में! और रूप विधाता या निर्माता देव के पास पहुँच गया है।

जहाँ तक मैंने उन्हें जाना, वे अपने छात्र-जीवन से ही विद्या-व्यसनी थे। उनके लिए आचार्य नलिन विलोचन शर्मा द्वारा प्रयुक्त एक विशेषण पद का प्रयोग करूँ तो वह युवावस्था में ही *'विद्या-वृद्ध'* हो गए थे। हाँ, जब कभी मैं कुमार विमल से उनकी और अपनी वृद्धता की बात दूरभाष पर करता था, तब वह प्रायः यह कहने लगते थे कि आप वृद्धता की बात क्यों करते हैं? हम लोग वृद्ध नहीं, *'वरिष्ठ नागरिक'* हैं। यदि इस दृष्टि से सोचूँ, तो वह अपनी युवावस्था में ही वैदुष्यपूर्ण अकादमिक क्षेत्र के 'वरिष्ठ नागरिक' हो चुके थे। उन्होंने 2008 में अपने श्रेष्ठ आलोचन-कर्म को चुनकर उसका संकलन 'चिंतन, मनन और विवेचन' प्रकाशित किया, तो मुझे उसे डाक से भेजा और उसके अंदर पहले पृष्ठ पर अपने हाथ से लिखा—"अधीती और विद्या-विशिष्ट प्रो. पांडेय शशिभूषण 'शीतांशु' के योग्य।" फिर फोन करके मुझसे पूछा कि वह पुस्तक मुझे मिली या नहीं। मैंने उन पर कुछ ही दिनों बाद एक आलेख लिखा और उन्हें भेज दिया। फिर उनका फोन आया। वह मेरे उस आलेख को पढ़कर बहुत प्रसन्न थे। इसी वर्ष भारत सरकार के स्व. इंदिरा जी के मंत्रिमंडल के पूर्व शिक्षा-मंत्री प्रो. डी. पी. यादव ने मुझे दिल्ली में बताया कि पिछली यात्रा में जब वे पटना गए थे तब वे कुमार विमल से मिलने गए थे और विमल जी ने उनसे मेरी चर्चा की थी। वे मेरा सौहार्द-स्मरण कर रहे थे।

---

* पांडेय शशिभूषण शीतांशु, प्रसिद्ध सैद्धांतिक एवं सर्जनात्मक आलोचक तथा भाषाविज्ञानी,—'साईकृपा', 58 लाल एवेन्यू, डाकघर-रेयॉन ऐंड सिल्क मिल अमृतसर-143005 (पंजाब)।

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

इसी 28 नवम्बर को दोपहर की डाक से 'पूर्वग्रह' (भोपाल) का अंक आया था। इसमें अज्ञेय जी पर मेरा आलेख छपा था, जो उनकी 'असाध्य वीणा' की साभिप्रायता पर था। इसी अंक में उनका आलेख भी प्रकाशित हुआ, जो अज्ञेय की काल-चेतना पर था। मैंने उनके लेख को पढ़ने के तत्काल बाद उनसे बात करने के लिए उनके मोबाइल पर संपर्क किया और पूछा—"क्या डॉ. कुमार विमल बोल रहे हैं?" उत्तर आया—"आप कौन बोल रहे हैं?" मैं थोड़ा अचम्भित हुआ। यह उनकी आवाज नहीं थी, फिर मैं बोला, "मैं डॉ. शीतांशु, अमृतसर से बोल रहा हूँ।" तब उन्होंने कहा कि डॉ. साहिब (डॉ. कुमार विमल) अब नहीं रहे। हृदयगति रुकने से उनका निधन हो गया है। मैं उनका बड़ा दामाद बोल रहा हूँ। मैं स्तब्ध रह गया! पूछा—"यह अघटनीय कब घटा?" उन्होंने कहा—"छब्बीस की रात में।" मैंने अपनी शोक-संवेदना व्यक्त की और मोबाइल बंद कर उनके चले जाने से हिन्दी आलोचना को हुई अपूरणीय क्षति और डॉ. कुमार विमल के आकस्मिक निधन के बारे में सोचने लगा—"निर्मोह काल के काले पट पर/कुछ अस्फुट रेखा/सब लिखी पड़ी रह जाती/ सुख-दुःखमय जीवन रेखा।"

पुस्तकालय
132248
गुरुकुल कांगड़ी विश्वविद्यालय

कुमार विमल का व्यक्तित्व बहुत ही सौम्य और आकर्षक था। मैंने पहली बार उन्हें अपने गुरुवर आचार्य देवेन्द्र नाथ शर्मा के पटना के आवास पर देखा था। 1965 में बिहार लोकसेवा आयोग से भागलपुर विश्वविद्यालय सेवा में हिंदी के स्थायी प्राध्यापक पद पर मेरी नियुक्ति हुई थी। गुरुवर शर्मा जी चयन-समिति में एक विशेषज्ञ थे। पटना से लौटने के पहले मैं उस संध्या उनके आवास पर उनके दर्शनार्थ और उनका आशीः लेने पहुँचा था। वह अपने ड्राईंग रूम में किसी से बातचीत कर रहे थे। मुझे माता जी (श्रीमती शर्मा) ने बताया था कि वह डॉ. कुमार विमल से बात कर रहे थे और वह उन्हें मेरे आने की सूचना देने चली गई थीं। मैं स्वयं उनसे मिलने के लिए माता जी के पीछे-पीछे गया था। पर मेरे आने की सूचना मिलते ही शर्मा जी अपने ड्राईंग रूम से स्वयं बाहर आ गए थे। उस समय मैंने अंदर बैठे विमल जी को देखा था। बड़ी-बड़ी आँखें, घुँघराले बाल, तीखे नैन-नक्श, सौम्य, आकर्षक व्यक्तित्व और अपने द्वारा उनके देखे हुए चित्रों के आधार पर सहज ही मान लिया था कि ये ही डॉ. कुमार विमल हैं।

यह भी क्या संयोग था कि जुलाई, 1964 में भागलपुर विश्वविद्यालय में मेरी नियुक्ति उसी वर्ष विश्वविद्यालय की अंगीभूत इकाई बने आर.डी.ऐंड डी. जे. कॉलेज, मुंगेर के लिए हुई थी। कुलपति रामधारी सिंह दिनकर ने तदर्थ नियुक्ति के लिए मेरा चयन किया था और मुझे बुलाकर कहा था—"यही आपके प्राचार्य हैं, कपिल जी इन्हीं के कॉलेज में आपको पदभार ग्रहण करना है।" बाद में जिस दिन मैं अपना कार्यभार ग्रहण करने मुंगेर पहुँचा था और प्राचार्य से मिलने गया था, तो प्राचार्य ने बधाई देकर मुझसे पहला प्रश्न यही किया था कि आप जिस पद पर यहाँ आए हैं, उस पर आपसे पूर्व कभी कुमार विमल रहे थे। वे हमारे छात्र भी रह चुके थे। उसके बाद शैलेंद्र अग्रवाल आए थे। पर वे दोनों यहाँ रुके नहीं। कॉलेज छोड़ कर चले गए। आप भी

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

अवसर मिलते ही हमें छोड़कर चले तो नहीं जाएँगे? तब मैंने उन्हें कहा था कि मैं कम-से-कम पाँच वर्ष आपके यहाँ अवश्य रहूँगा। मैं आपको यह विश्वास दिलाता हूँ। उस दिन पहली बार कुमार विमल के नाम से मेरा नाता उसी पद पर कार्यभार ग्रहण करने के कारण बना था। उनकी एक पुस्तक 'मूल्य और मीमांसा' पहले ही देखी-पढ़ी थी। फिर कॉलेज में पढ़ाने के दिनों में मैंने उनकी 'महादेवी वर्मा : एक मूल्यांकन' पुस्तक पढ़ी और उससे बहुत प्रभावित भी हुआ। मैं उनसे हाल तक की बातचीत में यह कहा करता था कि "महादेवी पर अब तक लिखी आलोचनात्मक पुस्तकों में आपकी पुस्तक सर्वश्रेष्ठ है।" बाद में उन्होंने महादेवी पर एक और पुस्तक लिखी। मैं इस नई सदी में भी उनसे आग्रह करता रहा कि आप उसकी एक प्रति मुझे भेज दीजिए। मैं उस सन्दर्भ में आप पर अपने ढंग से कुछ लिखना चाहता हूँ। पर उन्होंने मुझे कहा कि उसकी एक प्रति भी मेरे पास अब उपलब्ध नहीं है, अन्यथा आपको उसकी छाया-प्रति अवश्य भेज देता। पर आश्वस्त भी किया कि मैं सिन्हा लाईब्रेरी से पुस्तक मँगवाकर उसकी एक छाया-प्रति आपको अवश्य भेजूँगा। पर कालचक्र में यह संभव नहीं हो पाया।

क्या संयोग है कि डॉ. कुमार विमल से आमने-सामने मेरी कभी बात नहीं हो पाई। जब भी बात हुई तो पत्र के द्वारा या दूरभाष के द्वारा। संभवतः 1984 का वर्ष रहा होगा। मैं दिल्ली के पुस्तक मेले में वाणी प्रकाशन के स्टॉल पर विद्यानिवास मिश्र और कुमार विमल को एक साथ देखा था। मिश्र जी से तो कुछ देर तक मेरी बातें होती रहीं, पर इस दौरान विमल जी पुस्तक देखने में तन्मय हो चुके थे। और इधर मैं मिश्र जी से बातें कर दूसरे स्टॉल पर चला गया था। 1985 में मैंने डॉ. कुमार विमल को अपने निर्देशन के शोध-छात्र एवं सहयोगी डॉ. ओम अवस्थी के शोध-प्रबंध का परीक्षक बनवाया था। पर ठीक मौखिकी के संभावित दिनों में वह विदेश-यात्रा पर चले गए। अतः मौखिकी के बहाने भी मैं चाहकर उन्हें अमृतसर नहीं बुलवा पाया, जिसका खेद मुझे वर्षों तक बना रहा।

डॉ. कुमार विमल कवि और आलोचक दोनों थे। उनमें कारयित्री और भावयित्री दोनों प्रतिभा थीं। बहुत अच्छी कविताएँ लिखने के बावजूद वह जितना डिजर्व करते थे उतनी ख्याति कवि रूप में नहीं प्राप्त कर सके। उनकी आलोचना ने ही उन्हें अधिक यशस्वी बनाया। अपने आलोचन-कर्म में उन्होंने सैद्धांतिक और व्यावहारिक दोनों प्रकार की आलोचना लिखी। उन्हें अपनी परंपरा का, भारतीय काव्यशास्त्रीय चिंतन का जितना ज्ञान और मान था, उतना ही बोध और ध्यान पश्चिमी साहित्य-चिंतन के प्रति भी था।

मैंने उनसे एक बार कहा था कि "आपके आलोचन-कर्म की एक बड़ी विशेषता उसका अनुसंधानात्मक होना है। आप हिंदी के *अनुसंधानात्मक आलोचक* हैं, क्योंकि आप जिस विषय पर भी लिखते हैं उसकी पूरी व्यापकता में उसे समेटते हैं। उस विषय

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

में उसके पूर्व और समानांतर जितना कुछ लिखा जा चुका है, उन सब का जब आप तथ्यपूर्ण नोटिस लेते हैं तब आप 'मैक्रो क्रिटिक' (Macro Critic) हो जाते हैं। पर जब आप विवेच्य की गहनता में उसकी तलस्पर्शिता में जाकर उसका विश्लेषण-विवेचन करते हैं तब आप 'माईक्रो क्रिटिक' (Macro Critic) हो जाते हैं। विषय चाहे जो भी हो, आप नए-नए अनुषंग खोजकर उस पर विचार करते हैं। आपकी आलोचना की यह मौलिकता और सार्थकता है। व्यापकता और तलस्पर्शिता ये दो ऐसे तत्त्व हैं, जो आपकी आलोचना को अनुसंधानात्मक बना देते हैं। शुक्ल जी की तरह आप सर्वथा नए-नए बीज-वाक्य उपस्थापित करते चलते हैं।" विमल जी ने कहा था—"आप इसे लिख डालिए।" पर मैं उनके जीते-जी इसे लिख तो नहीं सका, हाँ, डॉ. सपना शर्मा के द्वारा अपने लिए गए साक्षात्कार में इसका उल्लेख अवश्य किया। पर यह कैसा कुयोग रहा कि 'आलोचना के आर-पार' नामक वह पुस्तक वह देख नहीं पाए। कुमार विमल का कोई आलेख ऐसा नहीं है जिसमें पाद-टिप्पणी नहीं लगी हो। वह संदर्भ-ग्रंथों की पूरी सूचना दिया करते थे। मैंने एक बार उन्हें कहा भी था कि मैंने तो अब अपने आलेखों में पाद-टिप्पणी या संदर्भ-सूचना देना बंद कर दिया है, क्योंकि हिंदी में सीधे पाद-टिप्पणी को उठाकर लोग लेखक की कही गई बातों को अपनी बनाकर कहने लगते हैं। आजकल इसका खतरा शत-प्रति-शत हो गया है। पर कुमार विमल ने इसकी कभी चिंता नहीं की और वह अपने लेखन-धर्म के इस तकाजे को सदैव पूरा करते रहे।

मैं कुमार विमल को 'समीक्षकों का समीक्षक' मानता हूँ। पुस्तकें कैसे समीक्षित की जाती हैं, समीक्षकों को इसे कुमार विमल से सीखना चाहिए। इधर 'चिंतन-सृजन' के संपादक डॉ. बी.बी. कुमार ने उनसे मेरी पुस्तक 'उत्तर आधुनिकता : बहुआयामी संदर्भ' की समीक्षा लिखने का आग्रह किया था। उन्होंने यह दायित्व स्वीकार कर लिया था, पर दुर्योगवश वह समीक्षा पूरी नहीं हो पाई।

साहित्य में जब-जब पश्चिमी आंदोलन उभरा, तो उन्होंने न केवल उसका नोटिया लिया, बल्कि गहनता में जाकर उसका स्वरूपगत, अभिलाक्षणिक निरूपण तक किया, साथ ही उसकी मीमांसा भी की। चाहे आधुनिकता या अत्याधुनिकता के वादों का संदर्भ हो या दूसरे नव्य आंदोलन का, रचना-प्रक्रिया या सौंदर्य-शास्त्र की अभिग्रहणशीलता का संदर्भ हो, उन्होंने इन सब पर डूब कर लिखा। सौंदर्यशास्त्र के क्षेत्र में 'सौंदर्यशास्त्र के तत्त्व' नामक उनकी सैद्धांतिक पुस्तक और छायावाद के संदर्भ में उसका अनुप्रयोग उनका 'छायावाद का सौंदर्य-शास्त्रीय अध्ययन' हैं। ये दोनों उनकी 'मास्टर पीस' कृतियाँ हैं। दूरभाष के माध्यम से सौंदर्यशास्त्र के संदर्भ में बात करते हुए मैंने 2009 में उन्हें कहा था कि आपका यह कार्य अत्यंत सुचिंतित, श्रम-साध्य और मानक कार्य है, जो इस विषय पर आपकी विश्लेषण-क्षमता का प्रादर्श उपस्थित करता है। पर आपने सौंदर्य-शास्त्र के जो घटक-तत्त्व माने हैं, उनमें कल्पना,

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

सौंदर्य, बिंब और प्रतीक को लिया है। पर मुझे लगता है कि कल्पना तो सारे कलागत सौंदर्य की जननी है और 'सौंदर्य' घटक-तत्त्वों द्वारा, उसकी संघटना द्वारा पड़ने वाला प्रभाव। मैं आपके इन सारे विवेचन पर बहुत मुग्ध रहा हूँ। पिछले कुछ वर्षों में यह अनुभव कर रहा हूँ कि 'बिंब' और 'प्रतीक' के साथ 'मिथक' और 'फंतासी' का विवेचन भी किया जाना चाहिए। यदि आगामी नए संस्करण में संयोग बन पाए और आप इसे जोड़ सकें तो बहुत उत्तम होगा। तब उन्होंने मुझे कहा था कि देखिए, अब लिखने और जोड़ने की कितनी संभावना सार्थक हो पाती है! यदि समय मिल पाया, तो अवश्य करूँगा। पिछले कुछ वर्षों से मैंने सौंदर्य-शास्त्र के नए-नए प्रकारों पर उनके दो-तीन आलेख पढ़े थे और इसके तत्काल बाद मैंने उनसे यह आग्रह किया था कि यदि आप सौंदर्य-शास्त्र के प्रकारों पर ऐसे कुछ आलेख और लिखकर एक स्वतंत्र पुस्तक दे सकें, तो हिन्दी के प्रति आपका यह महत्त्वपूर्ण अवदान होगा। मेरे इस पत्र को पढ़कर भी उन्होंने यही कहा था कि यदि और कुछ आलेख लिख सका, तो ऐसा अवश्य करना चाहूँगा।

कुमार विमल प्रत्यालोचक (Meta-Critic) भी थे। पर उनकी प्रत्यालोचना सौम्य और संयत थी, उसमें रामविलास शर्मा की प्रखरता नहीं थी। उनकी आलोचना और प्रत्यालोचना किसी भी पाठक के लिए पूरी तरह संप्रेषणीय थी, जो सामान्य-से-सामान्य और विद्वान-से-विद्वान पाठकों से भी उनके पूर्ण अधीती व्यक्तित्व का लोहा मनवा लेती थी। पाठक को यह कहना ही पड़ता था कि इस आलोचक ने कितना पढ़ा है, कितना सोचा है और कितनी मौलिकता से लिखा है।

आज हिंदी आलोचना में मार्क्सवादी आलोचकों का राजतंत्र छाया हुआ है। वह साहित्य की केंद्रीय धारा में अपना प्रभुत्व बनाए हुए हैं। पर मैं विवेकपूर्ण रूप से यह कहना चाहूँगा कि संपूर्ण मार्क्सवादी शिविर में एक रामविलास शर्मा को छोड़कर कुमार विमल से बड़ा आलोचक कोई नहीं है। यह भी कहना चाहूँगा कि वह जितनी यशस्विता और लोकप्रियता के अधिकारी थे, इस शिविर ने उन्हें उतना यशस्वी और उतना लोकप्रिय नहीं होने दिया, न ही उन्हें इस शिविर ने पुरस्कारों और सम्मानों से नवाजने के योग्य ही समझा। वह रामस्वरूप चतुर्वेदी और परमानन्द श्रीवास्तव से काफी ऊँचे कद के आलोचक थे। कहते हैं, साहित्य की असली परख और पहचान काल-देवता के हाथों होती है। मुझे पूरा विश्वास है कि दशाब्दियों बाद शताब्दियों तक उनका साहित्य अमरता की अमरबेलि बनकर छाएगा और काल-देवता उनके आलोचकत्व को शिखर पर स्थापित करेंगे। उन्होंने अपने सर्वोत्तम लेखन को संकलित करते हुए उसके 'दो शब्द' में यह लिखा भी है कि "विभिन्न सवैधानिक और संविधिक पदों से जुड़ी हुई व्यस्तताओं के कारण मैं साहित्य-जगत के सम्मुख कोई विशद-विशाल त्रिपिटक प्रस्तुत नहीं कर सका, तो एक त्रिपटक ही सही, जिसका पहला पुटक आपके सुपुर्द है। आशा है, यह पुटक काल-देवता को भी अच्छा लगेगा।

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

उनकी मान्यता थी कि "मतवादी आग्रहों से मुक्त और महानगरों से बाहर या दूर रहकर भी जनहितकारी, दीर्घजीवी तथा विवेकशील साहित्य लिखा जा सकता है--ऐसा मेरा विश्वास है।" अपने इस कथन में संकेत से उन्होंने मतवादी शिविर और महानगरों की साहित्यिक राजनीति के विषय में सब-कुछ कह दिया है। पर इन सबसे सुविदित रहते हुए भी उन्हें इन सबकी कोई वेदना नहीं थी। वे साधक साहित्यकार थे और साहित्य को किसी आत्मीयवत् आजीवन जीते रहे। कहते हैं, वे अपने अंतिम दिनों में अस्पताल जाने के समय तक लिखते रहे थे। पुस्तकों से उनके अति विशिष्ट प्रेम का प्रमाण उनका निजी पुस्तकालय है, जिसमें साठ हजार के लगभग उनकी पुस्तकें सुरक्षित हैं।

अपनी श्रेष्ठ संकलनात्मक पुस्तक में उन्होंने अपनी गहन गवेषणात्मक क्षमता का प्रभाव छोड़ा है। इसमें 'राम की शक्ति-पूजा', 'लोकायतन', 'कामायनी', 'कनुप्रिया' आदि कृतियों पर उनकी व्यावहारिक आलोचना भी है।

डॉ. कुमार विमल आचार्य नलिन विलोचन शर्मा के निकाय के योग्यतम आलोचक सिद्ध हुए। नलिन जी की तरह ही उन्होंने साहित्य के अद्यतन अनुशीलन को कलाओं से जोड़ा और उसे पूरी निष्ठा से विकसित किया। उन्होंने सौंदर्य-शास्त्र के मूल को भारतीय परंपरा में रेखांकित-उद्घाटित किया। उन्होंने अपने लेखन में एक ओर पाठात्मक और पाठकीय आलोचना का विवेचन किया, तो दूसरी ओर अस्तित्ववादी सौंदर्यशास्त्र और अभिग्रहणशील (Receptive) सौंदर्यशास्त्र का विवेचन कर सौंदर्यशास्त्र के चिंतन को और व्यापकता तथा गहनता प्रदान की।

देरिदा ने अपनी विसंरचना (Deconstruction) में युग्म पदों में पहले पद की महत्त्वपूर्णता की गरिमामय स्थिति को उलट दिया है। उस दृष्टिकोण से पुरुष और स्त्री और प्रकृति और संस्कृति में संस्कृति अधिक महत्त्वपूर्ण है। इसी तरह सर्जक और आलोचक में आलोचक अधिक महत्त्वपूर्ण है। देरिदा कहता है मैं इस प्रतीपता का तभी तक पक्षधर हूँ जब तक दोनों को समानता के धरातल पर मानना आरंभ न हो जाए। इस समानता के अनुरूप कुमार विमल किसी महान् सर्जक के समकक्ष ही स्थान रखने वाले आलोचक थे। जैसे प्रसाद और निराला के समकक्ष रामचन्द्र शुक्ल हैं, उसी तरह महत्त्वपूर्ण सर्जकों के समकक्ष डॉ. कुमार विमल को भी यह श्रेय प्राप्त होगा।

उनकी सैद्धांतिक और सर्जनात्मक दोनों प्रकार की आलोचना से न केवल आलोचना के क्षेत्र में आने वाले प्रशिक्षुओं, बल्कि वर्षों से आलोचना के क्षेत्र में संलग्न रहने वाले आलोचक भी बहुत-कुछ सीख सकते हैं और इनकी सरणि पर चलकर अपने आप को और भी ऋद्ध-समृद्ध कर सकते हैं। आज हिंदी साहित्य के ऐसे सपूत के अवसान और उनके अवदान को सोचते हुए मेरी आँखें भर-भर आती हैं। वह चले गए हैं, पर उनका आलोचनात्मक लेखन उन्हें अमर कर गया है—"झरना/झरता पत्ता/हरी डाल से अटक गया।"

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

कला

शंकर पुणतांबेकर*

कला, धर्म, विज्ञान ये प्रकृति के ही भिन्न-भिन्न रूप हैं और मनुष्य के चेतन विकास के द्योतक हैं। प्रकृति की विभिन्न छटाओं से मनुष्य चमत्कृत था और उसका तन ही नहीं मन-मस्तिष्क भी उससे पोषित था। कमल, मोर, उषा, चाँद, बादल, नदी, पहाड़, जंगल उसके आह्लाद के विषय थे और उस आह्लाद में वह नाच उठता, गुनगुनाने लगता अथवा उसमें खो जाता।

अवश्य ही प्रकृति की सुंदरता कला की जननी है। सुंदर मोर को नाचते देख मनुष्य भी नाचा। भौंरा सुंदर नहीं था, पर उसकी गुनगुनाहट मधुर थी, सो उसे सुन मनुष्य भी गुनगुनाने लगा। प्रकृति की नाना छटाएँ, सो प्रतिक्रिया-स्वरूप मनुष्य की नाना कलाएँ।

किंतु कला केवल सुंदरता अथवा मधुरता की प्रतिक्रिया नहीं है। वह और भी कुछ है। जैसा कि कहा मनुष्य प्रकृति के आह्लाद में खो भी जाता है। यह खो जाना कला को सामान्य प्रतिक्रियाओं से बिलकुल अलग बना देता है, उसका मन-प्राण से संबंध जोड़ देता है। कहें कि उसे भव्य से दिव्य बना देता है।

यह भव्य से दिव्य क्या है? दर्शन या चिंतन की भाषा में कहें तो भव्य भौतिक है और दिव्य आध्यात्मिक। किंतु अनुभूति या कला की भाषा में मैं भव्य को सुंदर और दिव्य को कल्पना कहूँगा। कला केवल सुंदर या उसकी प्रतिक्रिया नहीं है वह कल्पना या उसकी प्रतिक्रिया भी है। इस तरह कला वह जो सुंदर भी कल्पना भी।

चंद्रमा कैसा प्यारा-प्यारा है। यह एक प्रतिक्रिया। चंद्रमा कैसा हँस रहा है। यह एक प्रतिक्रिया।

दूसरी प्रतिक्रिया में कल्पना है। हँसता तो मनुष्य है। इस तरह चंद्रमा मुख बन गया—सुंदर मुख जो मात्र-कल्पना है। प्यारा-प्यारा चंद्रमा हमारे मन-मस्तिष्क में ऐसी सघनता से बिंबित नहीं होता जैसा हँसता चंद्रमा कहने से होता है।

---

2 माया देवी नगर, जलगाँव-2, मो. 09403159031

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

तो क्या कला में सब-कुछ सुंदर और मधुर होता है जिसे बिंबित करने को कल्पना काम करती है? हाँ, जहाँ तक कला के उद्गम का प्रश्न है उसमें मूलतः सुंदर और मधुर ही रहे हैं। एक बात और। उद्गम की भाँति कला का लक्ष्य भी सुंदर और मधुर होता है।

सुंदर सापेक्ष शब्द है, इस तथ्य को अपनी जगह ठीक मानते हुए भी हम कहेंगे कि जो मोहक-आकर्षक है सो है। जैसे जो मानवीय मूल्य है सो हैं। अब जो सुंदर है वही कला का विषय नहीं होता। सुंदर को उभारने के लिए उसमें असुंदर का समावेश होता है। यही नहीं सुंदर को अपने अस्तित्व के लिए असुंदर का मुकाबला करना पड़ता है। जैसे राम को रावण का। प्रकाश को अँधेरे का। वृक्ष को शिशिर का।

जब हम कहते हैं सुंदर सापेक्ष शब्द है तो सुंदर की व्याप्ति घट-बढ़ जाती है। वह केवल दृष्टि का विषय नहीं रह जाता, रुचि-स्थल-काल भी उसमें समाविष्ट हो जाते हैं। एक छोटे-से उदाहरण से इसे समझा जा सकता है। भगवान सुंदर है मंदिर के गर्भ-गृह घर के गर्भ गृह में नहीं, इसी तरह पत्नी सुंदर है घर के गर्भ-गृह में मंदिर के गर्भ-गृह में नहीं।

सुंदर प्रथमतः 'आँख' का विषय हो—मोहक-आकर्षक, पर अंततः सुंदर तभी सुंदर है जब वह 'दृष्टि' का विषय बनता है। आँख संस्कार होती ही है ऐसा नहीं, दृष्टि संस्कार का ही दूसरा नाम है।

संस्कार रुचि का परिष्कार करता है और रुचि के इस परिष्कार में कला का भी सहयोग होता है। कला इसीलिए जहाँ सुंदर का आविष्कार है वहाँ रुचि का परिष्कार भी है। तभी ऊपर कहा है कि कला का उद्गम जहाँ सुंदर है वहाँ उसका लक्ष्य भी सुंदर है। कला की यात्रा ही सुंदर से सुंदर की ओर है।

हाँ, ऊपर मैं सुंदर के साथ कल्पना की बात भी कर रहा था। प्रकृति के सुंदर को देख उसमें खो जाने वाली बात और उसमें से कल्पना की बात। कल्पना ने प्रकृति के सुंदर को सजीव बनाया। पहले यह सजीव 'कौन हो तुम?' के रूप में गूढ़ था जिसमें से ईश्वर की उत्पत्ति हुई किंतु बाद में यह सजीव इस धरती का भी प्राणी बन गया। 'कौन हो तुम?' के गूढ़ में से ईश्वर की उत्पत्ति हुई हो, और वह धर्म का प्राणतत्व बन गया हो, तथापि यह कला का भी विषय था। भव्य में दिव्य।

ठीक है कि मनुष्य समाजशील प्राणी है, पर मनुष्य ही विश्व में एकमात्र प्राणी है जो कल्पनाशील है। रूढ़ भाषा में वह विचारशील है। कल्पनाशीलता में से ही मनुष्य विचारशील बना। कल्पना प्रथम चरण, आगे विकास के साथ विचार द्वितीय चरण। या कह सकते हैं कि कल्पना विचार की जननी है। 'कौन हो तुम?' प्रश्न का उत्तर 'ईश्वर' प्रथम कल्पना ही था और आगे वह विचार में रूढ़ हुआ।

पहाड़, नदी, जंगल, चंद्र, सूर्य, बादल, मोर, कोयल, हंस आदि से मनुष्य के मानस में नाना कल्पनाएँ उभरने लगीं। इंद्र, वरुण, वृहस्पति, बलि, गौतम, विश्वामित्र,

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

लक्ष्मी, सरस्वती, रति आदि की सृष्टि हुई। यहाँ मुझे कल्पना का क्रमगत इतिहास प्रस्तुत नहीं करना है और वह किया भी नहीं जा सकता। यहाँ मुझे केवल यह कहना है कि प्रकृति की चेतना और मनुष्य के मानस से सृष्टि को नया रंगरूप प्राप्त हुआ—और इसे हम कला कह सकते हैं।

'प्रकृति की चेतना' शब्द का प्रयोग यहाँ मैंने जानबूझकर किया है। प्रकृति की तरल नदी में या तालाब में थिरकते हंस में ही चेतना नहीं है उसके जड़ पहाड़ में या जंगल में, स्थिर खड़े वृक्ष में भी चेतना है। फिर प्रकृति की यह चेतना मानव-प्रदत्त चेतना है। चाँदनी में परी मानव-प्रदत्त ही तो है।

हाँ, 'चाँदनी में परी' जब कला बनी तो यही परावर्तित होकर अँधेरे मानस में परी की चाँदनी बनी। और यही कला का धर्म है।

मैं रेगिस्तान में से चला जा रहा हूँ। आगे-पीछे, दाएँ-बाएँ कुछ नहीं है सिवा बालू के।

बड़ी दूभर, अत्यंत रुक्ष, नितांत शून्य ऐसी है यह यात्रा। हाँ, एक साथी है इस यात्रा में। मेरे ही संग-संग चल रहा है। दोनों परस्पर हँस-बोल लेते हैं। उतनी ही राहत।

पर राहत की बजाय यात्रा का कष्ट बढ़ जाता है जब साथी ऐसी-वैसी बातें करने लगता है।

एक नमूना पेश है। यही है जिंदगी! चलते जाना-चलते जाना! रेगिस्तान में चल रहे हैं हम। तथापि हम जिंदगी को अपने ढंग से जी सकते हैं, जिंदगी का कोई लक्ष्य निर्धारित कर जी सकते हैं। हम अपने सुख-दुख की चिंता न कर ऐसे जी सकते हैं कि जिसकी अपनी महक हो जैसी चंदन की होती है, जिसमें विवेकशीलता और न्यायबुद्धि हो जैसी हंस की होती है और हमारा हृदय हो शांत सरोवर-सा जिसमें झाँककर हम अपने को नित्य परखते रहें कि मैं कहीं दैत्य तो नहीं हूँ। लेकिन होता यह है कि जो संपन्न होते हैं—धनसंपन्न अथवा सत्तासंपन्न वे इन बातों की चिंता नहीं करते, अपने ही अहं में जीते हैं।

मैं साथी की बात सुनते-सुनते सोचता हूँ उससे कहूँ, बस चुप करो। इसलिए कहना चाहता हूँ कि उसकी एक-एक बात के साथ बालू पर पड़ते मेरे कदम और भारी हो जाते हैं, सिर पर तप्ता सूरज और तेज।

वास्तव में वह जो कुछ सुना रहा था उसमें ऐसा-वैसा कुछ नहीं था। जिंदगी का सत्य का भरा हुआ था उसमें। इस सत्य से वह मुझे बता रहा था कि मैं रेगिस्तान को लेकर न रोऊँ। अपने लिए तो सभी जीते हैं, पर मैं सृष्टि के उस रूप को भी देखूँ जिसे अपनाकर मैं केवल मैं न रह जाऊँ। वह मुझे जीवन के अर्थ से अवगत करा रहा था।

मेरी हाँ-हूँ न पा साथी ही चुप हो जाता है। मैं राहत की साँस लेता हूँ।

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

इसके विपरीत कुछ देर बाद साथी कुछ और ही सुनाता है।

एक गुरु था। श्वेत वस्त्रधारी। कुटिया में रहता था। कुटिया छोटी थी, हाँ उसका आँगन बड़ा था जिसके पेड़ के नीचे वह बालकों को पढ़ाता था। गुरु कहीं आता-जाता नहीं था, अपनी कुटिया भली अपना काम भला। हाँ, तीज-त्योहार पर वह मंदिर अवश्य जाता।

एक बार वह मंदिर को चला तो क्या देखता है कुटिया से मंदिर तक पूरा रास्ता गुलाब की पंखड़ियों से भरा हुआ है। ये पंखड़ियाँ आकाश की परी ने बिछायी थीं।

तीज-त्योहार को राजा भी मंदिर जाता और गुरु की भाँति पैदल ही जाता। राजा ने जब गुरु के रास्ते के बारे में सुना तो वह जलभुन गया। अगली बार जब वह मंदिर को चला तो दरबारियों को आदेश दिया, मेरा रास्ता फूलों से बिछा दो।

कैसे बिछा दें! दरबारियों ने कहा, सारे फूल परी ने पहले ही गुरु के रास्ते पर बिछाने के लिए तोड़ लिए हैं।

सुनकर राजा क्रुद्ध हो गया। बोला, परी को मेरे मुकाबले—एक राजा के मुकाबले गुरु प्यारा हो गया! उसे मेरे सामने पेश करो और कहो कि वह गुरु का नहीं, मेरा रास्ता फूलों से भरे। लेकिन दरबारी परी को राजा के सामने हाजिर नहीं कर सके। वह उन्हें कहीं मिली ही नहीं। दरबारियों ने गुरु से उसका पता पूछा। गुरु ने कहा, मैं नहीं जानता वह कहाँ रहती है। यह भी नहीं जानता कि वह मेरा रास्ता फूलों से क्यों भर देती है।

आखिर एक बूढ़े ने परी का पता दिया। वह एक चंदन के वृक्ष में रहती है जो पूर्व दिशा के सरोवर के किनारे पर है। बूढ़े ने यह भी बताया कि परी राजा का रास्ता फूलों से नहीं भरेगी, क्योंकि महल के आँगन में बबूल के वृक्ष हैं। वह गुरु को इसलिए चाहती है कि गुरु अपने लिए कुछ नहीं चाहता, ज्ञान बच्चों को लुटा देता और अपने आँगन में जो आम का पेड़ है उसके सारे फल गरीबों में बाँट देता है। परी कहती है राजा तो लोगों को बबूल के काँटे बाँटता है सो वह गुरु-जैसा प्यारा-प्यारा कभी नहीं बन सकता।

राजा दरबारियों से खबर पाकर चंदन के वृक्ष के पास पहुँचा। परी ने चंदन में से ही राजा से कहा, चंदन बनो गुरु की भाँति। मैं तुम्हारा रास्ता भी फूलों से भर दूँगी।

राजा को यह सुन क्रोध आया और उसने चंदन वृक्ष कटवा फेंका। लेकिन अगले पर्व पर भी राजा ने देखा गुरु का रास्ता फूलों से बिछ गया है। परी चंदन से निकलकर सरोवर के हंस में जा बैठी थी। राजा ने हंस के पास जाकर कहा, तुम नहीं मानोगी? मेरा रास्ता फूलों से नहीं भरोगी?

हंस में से परी ने कहा, भरूँगी। हंस की तरह विवेकशील बनो, दूध-का-दूध और पानी-का-पानी करने वाले हंस की तरह जैसे कि गुरु हैं। राजा को फिर गुस्सा आया और हंस को मरवा दिया।

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

इस बार परी सरोवर में ही समा गई और गुरु का रास्ता फूलों से भरते परी बाज नहीं आ रही है यह देख राजा सरोवर पर पहुँचा। सरोवर में से परी ने कहा, मैं तुम्हारा रास्ता फूलों से भर सकती हूँ, तुम यदि एक बार, सिर्फ एक बार अपना चेहरा सरोवर में देख लो। सोने-चाँदी में अपना चेहरा देखते हो तो वह तुम्हें दैत्य से देव नजर आता है। सरोवर में देखोगे तो अपने को ठीक से पहचानोगे और महल के आँगन के बबूल के वृक्ष कटवा फेंकोगे।

स्पष्ट था, राजा अपनी प्रकृति के अनुरूप बराबर क्रुद्ध हुआ और उसने सरोवर को तोड़ देने का हुक्म जारी किया। और इसके बाद परी जानते हो कहाँ जा समायी? वह चाँद में, बादलों में जा बैठी जिन पर राजा का बस नहीं चला। और जा बैठी सरकंडे में जिसकी लेखनी बनती है। सरकंडे को राजा ने जितना मिटाया उतना ही वह बढ़ता गया।

साथी बोलता जा रहा था, बोलता जा रहा था और मैं उसमें डूबता चला गया। मैं भूल जाता हूँ कि मैं रेगिस्तान में चल रहा हूँ, पैर के नीचे बालू है और सिर पर सूरज। परी मुझे मोह लेती है। मुझ पर उस परी का जादू छा जाता है जो सर्वथा कल्पनालोक की है। साथी मुझे जब यथार्थ सुना रहा था—जिंदगी का सत्य वह मुझे नहीं भाया और मेरी यात्रा भारी हो गई। इसके विपरीत उसने मुझे सर्वथा कल्पना की बातें सुनाईं—सब-कुछ असत्य वे मुझे ऐसी भायीं कि मैं भूल गया कि भारी यात्रा कर रहा हूँ।

साथी की इस कथा में कला का मर्म निहित है। कथा कल्पित है, असत्य है। पर क्या वह कल्पित और असत्य में से जीवन का यथार्थ, जीवन का सत्य नहीं समेटे हुए है वही जो साथी ने सीधे-सीधे सुनाया था। परी कल्पित और असत्य हो जो कथा का मुख्य पात्र है पर गुरु और राजा तो यथार्थ और सत्य हैं। उनका चरित्र और आचरण। फिर परी भी कल्पना होते हुए कल्पना नहीं है, वह प्रतीक है मूल्य-दृष्टि का।

मूल्य-दृष्टि तटस्थ होकर केवल कला देती है। फिर वह कविता हो, चित्रकारी हो, शिल्प हो या संगीत। कभी मंदिर इन कलाओं का संगम था। दृश्य देखिए मेरी कन्या मीरा की कविता गा रही है, कृष्ण मूर्ति के सामने और इससे प्रभावित हो मेरा पड़ोसी मंदिर की भित्ति पर इस दृश्य का चित्र काढ़ता है उन श्रोताओं-सहित जो गीत से मंत्रमुग्ध हैं।

और क्या बताऊँ मैं। मैं जब भी मंदिर जाता हूँ, भित्ति पर मीरा के इस चित्र को देखकर मुझे प्रत्यक्ष में संगीत सुनाई देने लगता है। इसे देख-सुन मैं अपना दुखःदर्द भूल जाता हूँ।

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

मैं समझता हूँ, धर्म का भी यही मर्म है।

हम कहते हैं कला कल्पना है, उसका रंग, रूप, शब्द, स्वर सभी कल्पना। कल्पना जिसे हम असत्य मानते हैं। और विकास के साथ यथार्थ और यथार्थ होते जा रहे हम कल्पना को बेमानी समझने लगे हैं, तभी तो कला से दूर-दूर होते जा रहे हैं।

माना कि कल्पना असत्य है, पर वह बेमानी नहीं।

और कल्पना असत्य है तो किस कोटि की असत्य है इसका विचार यथार्थ और यथार्थ होते जा रहे मनुष्य ने कभी किया है? यह असत्य झूठ हो, किंतु यथार्थ का उलटा असत्य नहीं है। कला जब चाँदनी को परी कहती है तो वह चाँदनी को झुठलाती नहीं, उस दशा में भी नहीं जब वह सीधे-सीधे कहती है यह चाँदनी नहीं परी है। यह असत्य तो चाँदनी के सत्य को और महिमामय बना देता है।

मुख चंद्रमा है यह कितना आह्लाददायी असत्य है। और जो आह्लाददायी है, महिमामय है वह बेमानी कैसे हो सकता है! ऊपर दी गई परी-कथा बेमानी नहीं रह जाती, क्योंकि वह जिंदगी की रुक्षता को स्निग्धता से भर देती है। सीधा यथार्थ तो रुक्षता को और रुक्ष कर देता है।

मैं रेगिस्तान में से चला जा रहा हूँ। संग चल रहा मेरा साथी मुझसे कहता है—यही है जिंदगी! चलते जाना-चलते जाना। रेगिस्तान में चल रहे हैं हम। नहीं जानते हम कहाँ जा रहे हैं अथवा जहाँ भी जा रहे हैं वहाँ पहुँचेंगे भी या नहीं। पहुँचें-न-पहुँचें, हमें चलते जाना है। पैरों के नीचे बालू से जूझते और सिर के ऊपर सूरज को झेलते!

वह कहता ही जाता है, इस बालू पर क्या हमारा बस है! हमारा बस न बालू पर है, न सूरज पर जो हमको पूरी तरह जलाता है। कहीं विश्राम करें, ऐसा स्थल भी तो नहीं है। भाई, यही है जिंदगी—चलते जाना-चलते जाना। जलते जाना-जलते जाना।

यह सत्य है, सूरज-जैसा सत्य। सूरज-जैसा जलता सत्य। और क्या यह सत्य जलते को और नहीं जलाता है? और फिर यह तटस्थ सत्य नहीं है।

यह तटस्थ सत्य इसलिए नहीं है कि कोई बालू पर चल रहा है, कोई हरियाली पर चल रहा है, कोई फूलों पर चल रहा है। ऊपर तपता सूरज भी नहीं है। क़िसान बालू पर चलता है महाजन तो नहीं।

ऐसे अतटस्थ सत्य से तटस्थ असत्य भला। साथी की परीकथा असत्य है। बालू पर चल रहे के लिए, हरियाली पर चल रहे के लिए, फूलों पर चल रहे के लिए। तात्पर्य सभी के लिए।

इंद्र, रति, बृहस्पति, कामदेव, अहल्या ये सभी तटस्थ असत्य हैं, सभी के लिए समान रूप से प्रिय-अप्रिय! समान रूप से जीवन का श्वेत-अश्वेत दिखाने वाले। स्वर्ग-नरक का संकेत देने वाले जो अपने आप में कल्पना होते हुए अयथार्थ नहीं हैं—तटस्थ यथार्थ हैं।

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

ऊपर की परी कथा कला की भूमिका का भी संकेत कर देती है। हम यदि कथा में परी के स्थान पर कला शब्द को रख दें तो कला का लक्ष्य आप हमारे सामने आ जाएगा।

आज के संदर्भ में कला का विचार करें तो कह सकते हैं कि उसका विज्ञान से संघर्ष नहीं है। विज्ञान कला की उपेक्षा करता हो, कला विज्ञान की उपेक्षा नहीं करती, उलटे विज्ञान के अतटस्थ सत्य से दुनिया में दिनोदिन तीव्र से तीव्रतर होती जा रही विषमता से वह चिंतित है और इससे कैसे उबरा जाए इसके प्रति जागरूक। यही कला की भूमिका है। कला की भूमिका धर्म अथवा राजनीति की भाँति किसी प्रतिबद्धता से जकड़ी नहीं होती, उसकी भूमिका तो संवेदन की है, चेतना की। तटस्थ संवेदन, तटस्थ चेतना की जो या तो प्रकृति की होती है या संत-चिंतकों की।

कला की यदि विज्ञान से लड़ाई है तो वह उसके अतटस्थ सत्य से। उसके सत्य मानव जात के लिए नहीं होते, चुनिंदा मानवों के लिए होते हैं। कैंसर का इलाज गरीब तक नहीं पहुँचा है, विमान अमीरों की चीज है, कंप्यूटर जैसे उपकरण चोर-डकैतों को अधिक लाभ पहुँचा रहे हैं। विकास की इस पीड़ा से आज की कला पीड़ित है। धर्म, कला, विज्ञान—तीनों प्रकृति की ही देन हैं। पर आज स्थिति यह है कि धर्म गरीबों का, विज्ञान अमीरों का बना हुआ है और कला मात्र-बुद्धिजीवियों की।

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

वेदान्त विमर्श

डॉ. एस.पी. दुबे*

"वेदान्त" शब्द का प्रयोग जब हम करते हैं तो वाच्यार्थ से ऐसा ध्वनित होता है कि वेद के अंत के बारे में कुछ कहा जा रहा है। वस्तुतः परमूपरया वेद तो नित्य तथा शाश्वत माने गये हैं, अतः उनके अंत होने का प्रश्न ही नहीं उठता। 'वेद' शब्द का अर्थ ज्ञान होता है। वेदों में ज्ञान-राशि का समावेश है। इस दृष्टि से भी वेदों का अंत नहीं हो सकता। ज्ञान का अंत नहीं—यह अनन्त है। प्रायः 'वेदान्त' शब्द का अर्थ किया जाता है उपनिषद्, जिन्हें वैदिक वांग्मय के अंतिम अध्यायों के रूप में सामान्यतया पाया जाता है। परन्तु यहाँ भी एक भ्रान्ति है। सभी उपनिषद् वेदों के अंतिम अध्याय नहीं हैं। चारो वेदों के चारो भागों—संहिता, ब्राह्मण, आरण्यक तथा उपनिषद्—में ये उपलब्ध हैं। उदाहरणार्थ *ईशावास्य उपनिषद् यजुर्वेद संहिता* का भाग है। *मुण्डक उपनिषद् अथर्ववेद* की संहिता के अंतर्गत आता है। इसी प्रकार *छान्दोग्य* तथा *केन उपनिषद् सामवेद* के *तलवकार ब्राह्मण* के अंश हैं। *बृहदारण्यक उपनिषद्*, जैसा कि इसके नाम से ही स्पष्ट है, शुक्ल *यजुर्वेद* के आरण्यक भाग के अंतर्गत आता है। अन्य बहुत से उपनिषद् वेदों के अंतिम अध्यायों में पाये जाते हैं। अतः वेदान्त का अर्थ उपनिषद् माना जाता है। उपनिषदों की संख्या 100 से भी अधिक है। ये पद्य, गद्य तथा मिश्रित रूप में भी मिलते हैं। आदि शंकराचार्य के भाष्य 11 उपनिषदों पर मिलते हैं और इन्हें प्रमुख उपनिषद् माना जाता है, जो निम्नलिखित हैं—

1. *ईशावास्य,*	2. *कठ,*	3. *केन,*	4. *प्रश्न,*
5. *मुण्डक,*	6. *माण्डूक्य,*	7. *तैत्तिरीय,*	8. *ऐतरेय,*
9. *श्वेताश्वतर,*	10. *छान्दोग्य,*	11. *बृहदारयण्क*।	

इनमें से बृहदारण्यक तथा तैत्तिरीय उपनिषदों पर आचार्य के भाष्यों पर उनके शिष्य सुरेश्वराचार्य ने वार्तिक लिखा है। इस कारण ये दो उपनिषद् बहुत ही महत्त्वपूर्ण माने जाते हैं।

---

*डॉ. श्रीप्रकाश दुबे, पूर्व-आचार्य एवं विभागाध्यक्ष, दर्शन विभाग, जबलपुर विश्वविद्यालय एवं अध्यक्ष, अखिल भारतीय दर्शन परिषद्।

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

उपनिषदों पर आधारित दर्शन को वेदान्त दर्शन कहा जाता है। यह वैदिक दर्श के षट्दर्शनों में सर्वाधिक महत्त्वपूर्ण माना गया है। वैदिक दर्शनों में अन्य दार्शनिक सम्प्रदा के नाम हैं—सांख्य, योग, न्याय, वैशेषिक तथा पूर्व-मीमांसा। वेदान्त को उत्तर-मीमां भी कहा जाता है। पाराशर ऋषि के पुत्र बादरायण व्यास ने उपनिषदों को दृष्टि में रख वेदान्त-सूत्र की रचना की जिसमें 555 सूत्रों के माध्यम से वेदान्त-दर्शन का संक्षि परिचय मिलता है। भारतीय परंपरा में यह एक ऐसा युग था जब लगभग सभी सम्प्रदा ने अपने विपुल साहित्य को सूत्रों के रूप में प्रस्तुत किया। *वेदान्त-सूत्र* को *ब्रह्मसूत्र* त *शारीरकसूत्र* भी कहते हैं। ब्रह्मसूत्र इसलिए कहा जाता है कि वेदान्त का प्रमुख प्रतिपा ब्रह्म ही है और यह ग्रन्थ ब्रह्म की जिज्ञासा से प्रारम्भ होता है—अथातो ब्रह्म जिज्ञासा वेदान्त सूत्रों पर सर्वाधिक प्राचीन तथा उपलब्ध भाष्य आदि शंकराचार्य का ही है। स्व बादरायण अपने सूत्रों में अपने पूर्ववर्ती वेदान्त के सात आचार्यों का उल्लेख करते यथा, आत्रेय, आश्मरथ्य, औडुलोमि, कार्ष्णाजिनि, काशकृत्स्न, जैमिनि तथा बादरि। टं भर्तृप्रपंच, भर्तृमित्र, भर्तृहरि, ब्रह्मदत्त तथा बोधायन *ब्रह्म-सूत्र* के प्राचीन भाष्यकार हैं परन्तु इनके भाष्य उपलब्ध नहीं हैं। *वेदान्तसूत्र* के प्रमुख भाष्यकार शंकर, रामानु मध्य, निम्बार्क तथा वल्लभाचार्य हैं। रामानन्द, श्रीकण्ठ, विज्ञानभिक्षु तथा बलदेव भी इस पर भाष्य उपलब्ध हैं। डॉ. सर्वेपल्ली राधाकृष्णन् ने अंग्रेजी में *वेदान्त-सूत्र* भाष्य लिखा जो वर्ष 1960 में प्रकाशित हुआ। डॉ. भद्रेश दास ने स्वामिनारायण अक्षरध की परंपरा में *वेदान्त-सूत्र* पर संस्कृत में एक भाष्य लिखा है जिसे इस संस्थान ने 20 में प्रकाशित किया है। 21वीं शताब्दी का *वेदान्त-सूत्र* पर यह प्रथम भाष्य है।

उपनिषद् तथा *वेदान्त-सूत्र* वेदान्त दर्शन के प्रस्थान माने जाते हैं। उपनिषदों श्रुतिप्रस्थान या मूल-प्रस्थान कहा जाता है तथा *वेदान्त-सूत्र* को दर्शनप्रस्थान न्यायप्रस्थान माना गया है। वेदान्त दर्शन का एक तृतीय प्रस्थान भी है जिसे स्मृति-प्रस्थान कहते हैं। यह ग्रन्थ है *श्रीमद्भगवद्गीता* जो *महाभारत* महाकाव्य भीष्मपर्व का एक अंश है। इस प्रकार वेदान्त दर्शन की यह प्रस्थानत्रयी है। प्रा दार्शनिक सम्प्रदायों के प्रवर्त्तक आचार्य इन तीनों प्रस्थानों पर भाष्य लिखकर आचार्य प्राप्त करते हैं। कुछ सम्प्रदाय कुछ और ग्रन्थों को भी प्रस्थान मानते हैं। *श्रीमद्भागव* को भी एक प्रस्थान माना गया है जिसके कारण वेदान्त का एक सम्प्रदाय (शुद्धाद्वै प्रस्थान-चतुष्टय स्वीकार करता है।

वेदान्त दर्शन में अद्वैत वेदान्त सर्वाधिक प्रसिद्ध दार्शनिक सम्प्रदाय है। भा के बाहर इसी दर्शन को हमारे देश का प्रायः प्रतिनिधि चिन्तन माना जाता है। अद्वै वेदान्त आत्मा एवं परमात्मा अथवा जीव एवं ब्रह्म में भेद को आत्यंतिक नहीं मानत कहा गया है—जीवो ब्रह्मैव नापरः। *छान्दोग्य उपनिषद्* का तत्त्वमसि महावाक्य इस परिचायक है, जिसे आरुणि उद्दालक ने अपने पुत्र श्वेतकेतु को स्वर्ण-आभूषण त

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

मिट्टी के बर्तनों जैसे उदाहरण देकर समझाया था। *छान्दोग्य उपनिषद्* में इस वाक्य की नौ बार आवृत्ति हुई है। इसलिए महावाक्यों में इसे सर्वाधिक महत्त्व दिया जाता है। यों तो उपनिषदों में महावाक्य अनेक हैं परन्तु चार महावाक्य अधिक महत्त्व प्राप्त किये हैं। उनमें से प्रत्येक महावाक्य एक वेद का प्रतिनिधित्व करता है जिसे निम्नानुसार प्रदर्शित किया गया है–

1. तत्त्वमसि *(छान्दोग्य उपनिषद्) सामवेद*
2. अहं ब्रह्मास्मि *(बृहदारण्यक उपनिषद्) यजुर्वेद*
3. प्रज्ञानं ब्रह्म *(ऐतरेय उपनिषद्) ऋग्वेद*
4. अयमात्मा ब्रह्म *(माण्डूक्य उपनिषद्) अथर्ववेद*

शंकराचार्य भाग-त्याग अथवा जहत्-अजहत् लक्षणा के माध्यम से जीव तथा ब्रह्म में अभेद या अद्वैत सम्बन्ध स्थापित करते हैं। दोनों में ही चेतना उपस्थित है और यही चेतना अद्वैत का आधार है। यद्यपि परम चेतना या ब्रह्म को शब्दों अथवा भाषा के माध्यम से स्पष्ट नहीं किया जा सकता है। इसलिए इसे अनिर्वचनीय भी कहते हैं। इसका निषेधात्मक कथन *बृहदारण्यक उपनिषद्* के नेति-नेति में मिलता है। परन्तु परम तत्त्व का भावात्मक वर्णन करने का भी प्रयास किया गया है, यथा–सत्यं ज्ञानं अनन्तं ब्रह्म या प्रज्ञानं ब्रह्म। इसे ही सच्चिदानन्द कहा जाता है। परन्तु सच्चिदानन्द भी प्रकारान्तर से निषेधात्मक कथन ही है क्योंकि ब्रह्म असत् नहीं है इसलिए उसे सत् होना चाहिए, वह अचित् नहीं है इसलिए उसे चित् होना चाहिए तथा वह दुःखपूर्ण नहीं है इसलिए उसका स्वरूप आनन्दमय होना चाहिए। सच्चिदानन्द ब्रह्म का स्वरूप लक्षण है। ब्रह्म का एक तटस्थ लक्षण भी है जिसे *तैत्तिरीय उपनिषद्* में बताया गया है–"यतो वा इमानि भूतानि जायन्ते..."। ब्रह्म इस जगत् का सृष्टिकर्ता है, इसका पालनकर्ता है तथा इसका संहार भी करता है। इसे ही संक्षेप में 'तज्जलान्' कहा गया है। यह इसका तटस्थ लक्षण है। वस्तुतः परब्रह्म जब ऐसे कार्यों को सम्पादित करता है तो वह ईश्वर कहलाता है और माया के सहयोग से वह सृष्टि इत्यादि करता है। यह माया भी अनिर्वचनीय कहलाती है क्योंकि इसे न तो सत् कहा जा सकता है और न ही असत्। वेदान्त में सत् की परिभाषा है जो तीनों कालों में बाधित न हो–त्रिकालाबाधित्वं सत्। जीव को ब्रह्म का ज्ञान हो जाने पर इस माया का भी उसके लिए नाश हो जाता है। जो जगत् दिखाई पड़ रहा है वह भी ब्रह्मदर्शी के लिए मिथ्या हो जाता है। इसीलिए कहा गया है–ब्रह्म सत्यं जगत् मिथ्या।

उपनिषदों की धारणा है कि तत्वज्ञान की परिणति अनुभव में होती है। इसी अर्थ में 'वेदान्त' शब्द की भी सार्थकता है। वेद या ज्ञान का पर्यवसान अनुभूति में होता है–अनुभवावसानत्वात् ब्रह्मज्ञानस्य। ब्रह्मज्ञान की परिणति अनुभव में ही होनी चाहिए। वेद का अंत अथवा लक्ष्य ब्रह्मानुभूति है, यही मोक्ष है। हम माया अथवा अविद्या के कारण अपने वास्तविक स्वरूप को समझ नहीं पाते इसलिए अपने को ब्रह्म से भिन्न मानते हैं, वस्तुतः हम भिन्न नहीं हैं। इसे वेदान्त दर्शन में 'दशमस्त्वमसि' के

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

आख्यान से स्पष्ट करने का प्रयास किया गया है। किसी गुरुकुल के दस विद्यार्थी एक साथ कहीं पास के गाँव में भिक्षाटन के लिए जा रहे थे। प्रस्थान के समय गुरु ने उनको गिनकर भेजा। वे दस थे। रास्ते में एक नाला था जिसे वे पारकर अपने को पुनः गिनने लगे, इस आशंका का समाधान करने के लिए कि कहीं उनमें से कोई डूब तो नहीं गया। प्रत्येक अन्तेवासी अपने मित्रों को गिनता था और अपने को छोड़ देता था। सभी ने यही प्रक्रिया अपनायी और अंत में सब रोने लगे कि उनका एक मित्र नाले के प्रवाह में बह गया। उनका रोना देखकर पास से गुजरते हुए एक साधु ने उनसे रोने का कारण पूछा और तथ्य जान लिया। उसने सभी को एक पंक्ति में खड़ा किया और अपनी छड़ी से ठोंकता हुआ गिनती प्रारम्भ किया और दसवें स्नातक के पास जाकर के कहा : तुम दसवें हो—'दशमस्त्वमसि'। यही वेदान्त की आत्मानुभूति या प्रत्यभिज्ञान है। यह वस्तुतः किसी अप्राप्त वस्तु की प्राप्ति नहीं है, यह 'प्राप्तस्य प्राप्तिः' है।

शंकराचार्य अपने अद्वैत दर्शन को उपनिषद् के वाक्यों के संकलन द्वारा स्थापित करते हैं—वेदान्तवाक्य कुसुम ग्रथनार्थत्वात्। जैसे फूलों की माला बनाई जाती है उसी तरह से उपनिषद् के वाक्यों को वे चुनकर अद्वैत तत्त्व की स्थापना करते हैं। *वेदान्त-सूत्र* के समन्वयाधिकरण में वे यह भी दिखाते हैं कि वेदान्त वाक्यों गें वस्तुतः विरोध नहीं है, वास्तविकता में उनमें एकवाक्यता है। अपने सिद्धान्त को स्थापित करने के लिए आचार्य ने अन्य दार्शनिक सम्प्रदायों का खण्डन भी किया है जिनमें सांख्य दर्शन का द्वैतवाद प्रमुख है। सदानन्द रचित *वेदान्त-सार* अद्वैत वेदान्त को सरल एवं संक्षेप में प्रस्तुत करने का सुन्दर प्रयास है।

अद्वैत वेदान्त के अध्ययन के लिए आचार्य शंकर ने कुछ अपेक्षाएँ बताई हैं जिन्हें साधनचतुष्टय कहा जाता है। ये हैं—विवेक, वैराग्य, षट्सम्पत्ति एवं मुमुक्षत्व।

यों भी उपनिषद् दर्शन इतना मूल्यवान और महत्त्वपूर्ण है कि सभी को इसके अध्ययन की पात्रता नहीं होती। उपनिषद् की परंपरा में ज्येष्ठ पुत्र अथवा प्रिय शिष्य को ही यह ज्ञान प्रदान किया जाता है। इस ज्ञान की तुलना में विश्व की सारी सम्पत्ति निरर्थक है। आत्म-ज्ञान के लिए ही नचिकेता यमराज के सारे प्रलोभनों से रीझता नहीं है और उनसे आत्मा के स्वरूप को प्राप्त करता है। *कठोपनिषद्* का यह आख्यान *भगवद्गीता* में भी प्रकारान्तर से उपलब्ध है। श्रीकृष्ण अर्जुन को आत्मा के बारे में बताते हैं कि यह शस्त्रों से काटा नहीं जा सकता, इसे आग जला नहीं सकती, हवा इसको बहा नहीं सकती, इत्यादि। जैसे हम अपने वस्त्र बदलते हैं उसी प्रकार यह आत्मा शरीर बदलती है। इसी प्रकार *बृहदारण्यक उपनिषद्* में मैत्रेयी याज्ञवल्क्य की आधी सम्पत्ति लेना स्वीकार नहीं करती। वह तो अपने पति से उनके आत्मज्ञान की सम्पदा में से आधा पाना चाहती है जिसे पाकर व्यक्ति मृत्यु से परे हो जाता है, अमर हो जाता है। यही आत्मज्ञान पराविद्या है—विद्ययाऽमृतमश्नुते। यह विद्या आनुभूतिक

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

है, अनिर्वचनीय है। जो निर्वचन या व्याख्यान शास्त्रों में मिलता है वह तो वस्तुतः अविद्या है—वाचारम्भण विकार (*छान्दोग्य उपनिषद्*, VI.1.5) है, नामधेय है। परमतत्व तो मन और वाणी से परे है—यतो वाचो निवर्तन्ते अप्राप्य मनसा सह। हमारा शास्त्रीय ज्ञान सीमित है। नारद—सनत्कुमार आख्यान में *छान्दोग्य उपनिषद्* स्पष्ट रूप से कहता है कि जो कुछ भी दृश्य है वह अल्प है और जो भी अल्प है वह नाशवान है। सच्चा आनन्द तो अनन्त अथवा भूमा में ही है—यो वै भूमा तत्सुखम्।

अद्वैत दर्शन को सबसे पहले व्यवस्थित रूप शंकराचार्य के परम गुरु गौड़पाद ने दिया है। उन्होंने *माण्डूक्य उपनिषद्* को आधार बनाकर *आगमशास्त्र* या *माण्डूक्यकारिका* में चेतना के चार स्तरों की व्याख्या की है। ये चार स्तर हैं—जाग्रत, स्वप्न, सुषुप्ति तथा तुरीय। इनमें से प्रथम तीन स्तर एक दूसरे का परस्पर निषेध करते हैं। तुरीयावस्था का निषेध सम्भव नहीं। आचार्य शंकर ने *गौड़पादकारिका* पर स्वयं भाष्य लिखा है।

शंकरोत्तर अद्वैत वेदान्तियों में वाचस्पति मिश्र, सुरेश्वर, चित्सुख, मधुसूदन सरस्वती इत्यादि प्रमुख हैं। भारत के बाहर अद्वैत वेदान्त को भेजने का श्रेय मुगल शाहजादा दाराशिकोह को जाता है जिसके द्वारा फारसी भाषा में किये गये उपनिषदों के अनुवाद लैटिन में अनूदित हुए तथा यूरोप के लोग उनसे सुपरिचित हुए। स्वामी विवेकानन्द ने अमेरिका में वेदान्त दर्शन का बहुत ही सशक्त ढंग से प्रचार-प्रसार किया। इनकी मान्यता है कि वेदान्त में ही विश्वधर्म होने के सर्वाधिक गुण मिलते हैं। डॉ. राधाकृष्णन् ने 20वीं शताब्दी में अद्वैत वेदान्त के प्रचार-प्रसार में योगदान दिया। आज पूरे विश्व में वेदान्त दर्शन का प्रमुख स्थान है। इसको महत्त्व दिलाने में अमेरिका में हमारे मित्र डॉ. एस.एस. रामाराव पप्पू का भी योगदान है जो वेदान्त पर प्रतिवर्ष विश्व के विभिन्न देशों में परिषदों का आयोजन करते हैं। पिछले वर्ष जुलाई में उन्होंने 19वीं अन्तर्राष्ट्रीय वेदान्त महासभा का आयोजन मेसाचुसेट्स विश्वविद्यालय में किया था।

अद्वैत वेदान्त के अतिरिक्त, जैसा कि ऊपर कहा गया है, कुछ अन्य वेदान्त के सम्प्रदाय भी महत्त्वपूर्ण हैं। इनमें रामानुजाचार्य का विशिष्टाद्वैत वेदान्त बहुत ही श्रेष्ठ है। रामानुज ने *वेदान्त-सूत्र* पर जो भाष्य लिखा है उसे *श्रीभाष्य* कहते हैं। इसमें ब्रह्म को निर्गुण न मानकर सगुण माना गया है और जीव को उसका अंश। ब्रह्म और जीव में अंशी और अंश का सम्बन्ध है। ईश्वर की भक्ति से जीव को मोक्ष प्राप्त होता है। रामानुज के अनुसार जगत् भी मिथ्या नहीं है। उन्होंने आचार्य शंकर के मायावाद का खण्डन किया है। मध्वाचार्य का द्वैतवाद ब्रह्म और जीव में आत्यंतिक भेद मानता है। जीव और जगत् में भी भेद है। सभी जीव परस्पर भिन्न हैं। ईश्वर की कृपा से जीव को मोक्ष मिलता है। इसी प्रकार वेदान्त के अन्य सम्प्रदाय भी ईश्वर और जीव में भेद मानते हैं तथा जगत् की सत्ता स्वीकार करते हैं। उनके अनुसार भक्ति और प्रपत्ति मोक्ष के प्रमुख साधन हैं।

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

दरकती धरती पर चिंतन-बीज-मंत्र : अज्ञेय

श्रीराम परिहार*

सच्चिदानंद हीरानंद वात्स्यायन 'अज्ञेय' के साहित्य-व्यक्तित्व ने गहरा प्रभाव भारतीय साहित्य पर छोड़ा है। उनके साहित्य-चिंतन में संस्कृति, समाज, क्षणवाद, व्यक्तिवाद, प्रकृति, परंपरा और सौंदर्य के गाढ़े रूपावन हैं। अज्ञेय का कवि निश्चित रूप से बड़ा है, लेकिन उनका गद्यकार भी अपने विस्तार में उतना ही गहरा और टटका है। अज्ञेय का निबंध-साहित्य सर्जनात्मकता से जुड़ी परिधियों का नवीन क्षितिज खोजता है। वे साहित्य, संस्कृति और समाज की अंतः प्रकृति और परिवर्तन की मूल अंतः ऊर्जा पर नए संदर्भों के साथ बात करते हुए पाठक को अनेक संभ्रमों से मुक्त करते हैं। छायावाद के बाद भारतीय काल-चिंतन, रूढ़ि, परंपरा, सौंदर्य प्रतिमान, कला के उद्देश्य, मिथक-अस्तित्व, शब्द की केंद्रीय भूमिका पर भी अपनी जड़ों से उखड़े आलोचकों-चिंतकों-सर्जकों के बौद्धिक सर्कस से नवीन किंतु पोची अवधारणाओं के छाए कुहासे को अज्ञेय 'त्रिशंकु' के निबंधों में बहुत हद तक दूर करते हैं। उनके निबंधों में साहित्य-चिंतन के साथ गहरा आत्म-मंथन है। वे अपने चिंतन में प्रकृत-भावभूमि पर विचरण करते हुए व्यक्ति-जीवन और साहित्य के मूल प्रश्नों को पाश्चात्य प्रभाव से मुक्त करते हैं।

अज्ञेय की कृति 'शाश्वती' के एक कथन के माध्यम से ही विमर्श को आगे बढ़ाते हैं—"मानव जब अवधारणा शक्ति पाकर, भाषा पाकर, आत्मचेतन होकर अपूर्वानुमेय हो जाता है, तभी वह साथ-साथ सामाजिक भी हो जाता है। पूर्वानुमान से परे चले जाना स्वाधीन हो जाना है, पर उसी के साथ और उसी मात्रा में सामाजिक हो जाना भी है।"[1] अज्ञेय मानव के आत्मचेतन और सामाजिक को इस कथन में जोड़कर देखते हैं। मानव के आत्मचेतन का विस्तार शब्द की दुनिया में साहित्य की बस्तियाँ बसाता है। 'साहित्य का संस्कृति और समाज-परिवर्तन की प्रक्रिया में कोई योगदान होता है या नहीं?' वे इस प्रश्न को बहुत अलग किंतु प्रामाणिक ढंग से खोजते

---

*डॉ. श्रीराम परिहार प्राचार्य, पताः आजाद नगर, खंडवा-450001 (म.प्र.)

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

हैं। वे साहित्यकार की समाज परिवर्तन में 'एक्टिविस्ट' की भूमिका को सिरे से नकारते हैं—"आज साहित्यिक रचना और सामाजिक परिवर्तन में जैसा सीधा समीकरण बनाया जा रहा है, उसे मैं बिलकुल अस्वीकार करता हूँ। समझता हूँ कि पिछले लगभग पचास वर्षों से इस तरह का सीधा संबंध बनाने और सिद्ध करने का जो एक प्रयत्न होता रहा है, उसने साहित्य का बहुत अहित किया है।"[2] वे साहित्यकार की अपेक्षा साहित्य में अंतर्निहित मूल्यों की शक्ति को संस्कृति और समाज-परिवर्तन की प्रक्रिया में प्रमुख मानते हैं—"आधारभूत मूल्य तो वे हैं, जिन्हें सर्जक-साहित्यकार की अंतर्दृष्टि समय-समय पर या बार-बार देख लेती है, दिखा देती है; उसके आलोक में सारा परिदृश्य बदल जाता है और सारी व्यवस्थाएँ, सारा समाज, सारी बिरादरियाँ अपनी कर्म-प्रवृत्तियों को फिर से देखने को बाध्य हो जाती हैं।"[3] वे इस संबंध में अपनी स्थापना करते हुए कहते हैं—"कुछ साहित्य समाज को बदलने के काम आ सकता है, लेकिन श्रेष्ठ साहित्य समाज को बदलता नहीं, उसे मुक्त करता है। फिर उस मुक्ति में समाज के लिए—और हाँ, संस्कृति के लिए, मानव मात्र के लिए—बदलाव के सब रास्ते खुल जाते हैं।"[4]

डॉ. कृष्णदत्त पालीवाल द्वारा संपादित पुस्तक 'साहित्य-संस्कृति और समाज परिवर्तन की प्रक्रिया' का दूसरा निबंध है—'कला का स्वभाव और उद्देश्य'। इसमें कला को लेकर अज्ञेय का एकदम भिन्न दृष्टिकोण उजागर हुआ है। "कला सामाजिक अनुपयोगिता की अनुभूति के विरुद्ध अपने को प्रमाणित करने का प्रयत्न—अपर्याप्तता के विरुद्ध विद्रोह है।"[5] इसी परिभाषा में अज्ञेय का कला के प्रति एकदम नया सौंदर्यबोधी चिंतन जीवन के क्षेत्र-विस्तार के परिप्रेक्ष्य में विश्लेषित होता है। वे कहते हैं—"हमारे कल्पित 'कमजोर' प्राणी ने हमारे कल्पित समाज के जीवन में भाग लेना कठिन पाकर, अपनी अनुपयोगिता की अनुभूति से आहत होकर, अपने विद्रोह द्वारा उस जीवन का क्षेत्र विकसित कर दिया है—उसे एक नई उपयोगिता सिखाई है—सौंदर्य बोध। पहला कलाकार ऐसा ही प्राणी रहा होगा, पहली कलाचेष्टा ऐसा ही विद्रोह रही होगी, फिर चाहे वह रेखाओं द्वारा प्रकट हुआ हो, चाहे प्राणी द्वारा, चाहे ताल द्वारा, चाहे मिट्टी के लोंदों द्वारा।"[6] अज्ञेय के अनुसार कला के प्रस्फुटन के कारण—केंद्र में 'अपर्याप्तता' की भावना ही रहती है, जो व्यक्ति से विद्रोह करवाती है; यह विद्रोह ही कला-आयामों को उत्पन्न कर व्यक्ति की संपूर्णता की ओर ले जाता है। यह व्यक्ति की अपने को सिद्ध प्रमाणित करने की चेष्टा है। उसे अज्ञेय ने अंततः एक प्रकार का आत्मदान स्वीकार किया है। यहीं अज्ञेय कला के संदर्भ में उदात्त भाव का प्रतिपादन करते हुए आत्मदान, नैतिकता और स्वांतः सुखाय को सेतुबन्ध करते हैं।

'रूढ़ि और मौलिकता' पर अज्ञेय का चिंतन भारतीय धरातल पर खड़े होकर तर्कसम्मत ढंग से नई स्थापनाएँ करता है। जिस रूढ़ि और परंपरा को बिना गहराई

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

से समझे अस्वीकार किया जाता रहा है, उसे अज्ञेय कलाओं की सर्जन-प्रक्रिया और अनुभव-सिद्धि हेतु अनिवार्य मानते हैं। रूढि का उन्होंने उदार और विशालतर अर्थ लेते हुए उसकी साधना साहित्यकार के लिए वांछनीय ही नहीं; साहित्यिक प्रौढ़ता प्राप्त करने के लिए अनिवार्य भी सिद्ध की है। "साहित्यकार के लिए आवश्यक है कि साहित्य में और जीवन में 'आसीत' का और 'अस्ति' का, जो 'अचिर' हो गया है उसका और जो 'चिर' है उसका, और इन दोनों की परस्परता, अन्योन्याश्रयता का ज्ञान उसमें बना रहे।"[7] अज्ञेय प्रत्येक रचना और कलावस्तु में पूर्व परंपरा का सन्निवेश पाते हैं। प्रत्येक कवि और कलाकृति की पड़ताल करते समय उसके पूर्ववर्ती साहित्यकारों और कवियों-कलाकारों के संबंधों की जाँच करते हैं। "कोई भी कलावस्तु चाहे कितनी भी नई क्यों न हो, ऐसी वस्तु नहीं है, जो अकस्मात् अपने-आप घटित हो गई है; वह ऐसी वस्तु है, जो अपने-आप में नहीं, अपनी पूर्ववर्ती तमाम कला-वस्तुओं की परंपरा के साथ घटित हुई है।"[8] इस तरह वे साहित्य और कला के अनुभव-स्रोत में समय-समाज की क्रियात्मक गतिमानता को अवस्थित पाते हैं। इस निरंतरता में अंकन, मूल्यांकन के साथ नए का अंकुरण और विस्तार की प्रक्रिया में निरंतर रहती है। वे स्पष्ट कहते हैं—"प्रत्येक नई रचना के आते ही, पूर्ववर्ती परंपरा के साथ उसके संबंध, उनके परस्पर अनुपात और सापेक्ष मूल्य अथवा महत्त्व का फिर से अंकन हो जाता है; तथा 'पुरातन' और 'नूतन', 'रूढ़' और 'मौलिक', 'परंपरा' और 'प्रतिभा' में एक नया तारतम्य स्थापित हो जाता है।"[9] वे रूढ़ि और परंपरा के प्रति विद्रोह का सकारात्मक रूप इसमें पाते हैं कि हम अपने को परंपरा के आगे जोड़ दें। वे परंपरा की विकसित परिभाषा करते हैं—"वह वर्तमान के साथ अतीत की संबद्धता और तारतम्य का नाम है।"[10]

अज्ञेय भारतीय वाङ्मय और संस्कृति के अवधूत-अध्येता हैं। उनके अध्ययन की सरणियाँ प्रश्न-प्रति-प्रश्न में खुलती चलती हैं और बुद्धि तथा हृदय की आपसदारी के साक्ष्य में उत्तर को प्रस्तुत करती हैं। बातचीत की शैली में प्रश्न और परिस्थिति का परिचय होता है और समाधान की राह स्पष्ट होती जाती है। निबंध-शैली का इसे एक नयापन भी कहा जा सकता है। वे निबंधों में उन तत्त्वों को नए छोर से उठाते हैं, जिन्हें साहित्यिकों-आलोचकों ने नए-साहित्य की बिरादरी से बाहर ढकेलने की कोशिश की। 'सौंदर्य-बोध और शिवत्व-बोध' की विमर्श-परिधि में वे साहित्य में मूल्य, उक्ति वैचित्र्य, रूपवाद, शब्द की महत्ता और भाषा की उपादेयता के प्रश्नों से नए कोणों से टकराते हैं और परंपरा-प्रसूत किंतु संतुष्टिकारक समाधान खोजते हैं। इस रूप में एक तरह से वे भारतीय वाङ्मय की चिंतन-प्रक्रिया और साहित्य के कालजयी निकषों का समर्थन और पोषण करते हैं। "मूल्यों का प्रश्न केवल आचार्यों के लिए महत्त्व रखता हो, ऐसा नहीं; साहित्य के प्रत्येक अध्येता के लिए यह एक गुरुतर प्रश्न है और लेखक के लिए तो उसकी मौलिकता असंदिग्ध है, क्योंकि कृतिकार अपनी कृति का सबसे पहला और कदाचित् सबसे अधिक निर्मम परीक्षक है।"[11]

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

अज्ञेय ने सौंदर्य-बोध को बुद्धि का व्यापार माना है। बुद्धि ही सौंदर्य-तत्त्वों की पहचान करती है। उन तत्त्वों की कसौटी मानव का अनुभव है। अतः वे बुद्धि और अनुभव का एक रिश्ता उजागर करते हैं। एक पारस्परिकता रेखांकित करते हुए 'बुद्धि और हृदय' की विपरीतताओं पर केंद्रित बहस को निरस्त करते हैं तथा आचार्य रामचंद्र शुक्ल की अवधारणा 'यात्रा के लिए निकलती रही है बुद्धि किंतु हृदय साथ लेकर' का एक तरह से विस्तार करते हैं। नए आलोचकों ने साहित्य में उक्ति की वक्रता को रूपवाद से अभिहित करते हुए उसे छिछला साहित्यिक कर्म सिद्ध करने की 'चार्वाक कोशिश' की। अज्ञेय वक्रता के सौंदर्य को प्रकृति और जीवन की मूल लय अथवा रिद्म की संपृक्ति अनुभव करते हुए कहते हैं—"लयात्मकता कला का अथवा सुंदर का एक मूल गुण है, तो क्या यह अपने अनुभूत सत्य का निरूपण ही नहीं है? इसी प्रकार हम मानते हैं कि सीधी रेखा सुंदर नहीं होती, वक्र रेखाएँ सुंदर होती हैं; यहाँ क्या फिर हम अपना अनुभव नहीं दोहरा रहे हैं? हमारे अंगों का कोई भी सहज निक्षेप वक्रता या गोलाई के लिए होता है—अबोध शिशु भी जब हाथ-पैर पटकता है, तो मंडलाकार गति से—सहज गति सीधी रेखा में होती ही नहीं, और सीधी रेखा में अंग-संचालन अत्यन्त क्लेश-साध्य होता है। अतः वक्रता को कला गुण या सौंदर्य-तत्त्व मानने में हम फिर अपना अनुभव दोहरा रहे हैं। गोचर अनुभव का कार्य-कारण-ज्ञान के सहारे (बुद्धि द्वारा) प्राप्त किया हुआ निचोड़ ही हमारे सौंदर्य-बोध का आधार है और चित्र या मूर्ति में जो रेखा की वक्रता है, अर्थात् जो दृश्य, स्पृश्य अथवा स्थूल है, वही यदि काव्य में आकर उक्ति की वक्रता का परम सूक्ष्य रूप ले लेती है, तो क्या हमारी बुद्धि उसे पकड़ नहीं सकती? गोचर अनुभव से पाया हुआ सूक्ष्म बोध क्या वहाँ हमारा सहायक नहीं होता?"[12] यह कला के द्वारा आनंद प्राप्ति का और हमारे उन्नयन का सहज उपक्रम है। अनुभव, बुद्धि, विवेक निरंतर विकासशील हैं।

सच्चिदानंद हीरानंद वात्स्यायन 'अज्ञेय' अपनी निबंध-कृति 'आत्मनेपद' में संगृहीत 'भारतीयता' नामक निबंध में काल की अवधारणा के आलोक में बहुत महत्त्वपूर्ण बात कहते हैं—"भारतीयता का पहला लक्षण या गुण है सनातन की भावना, कला की भावना, काल के आदि-हीन, अंत-हीन प्रवाह की भावना—और काल केवल वैज्ञानिक दृष्टि से क्षणों की सरणी नहीं, काल हमसे, भारतीय जाति से, संबद्ध विशिष्ट और निजी क्षणों की सरणी के रूप में।"[13] अपनी इस सम्मति का विस्तार 'काल का डमरू-नाद' निबंध में वे करते हैं। देश और काल के बीच ही सारा सौंदर्य-विधान है। काल की लघुतम इकाई 'क्षण' की निरंतरता और अजस्र अनवरतता काल की अखंडता और अनंतता का मूलाधार है। 'क्षण' इसलिए महत्त्वपूर्ण है कि वह काल का अत्यल्प हिस्सा होते हुए भी काल के वैराट्य और निस्सीमता का बीज है। 'क्षण' काल का 'अणु' है। जिस 'क्षण' की महत्ता वात्स्यायन जी काल-प्रवाह और काल-सिंधु के लिए प्रदर्शित करते हैं, उसी क्षण को अनुभूति की सफलता और उपलब्धि के लिए भी

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

साहित्यायन में अनिवार्य आसन देते हैं। वे काल को डमरू के प्रतीक से व्याख्यायित करते हैं। डमरू का कटि-बिंदु वर्तमान है और उसके दोनों भाग अतीत-भविष्य। काल चक्राकार है। इसी बिंदु पर वे अपने चिंतन का विस्तार करते हैं। "काल का वृत्त भी और उस पर डमरू द्वारा प्रतीकित क्षण-चेतना भी जो अतीत-वर्तमान-भविष्यत् की नित्य-शृंखला स्वीकार करती हुई भी अपनी दृष्टि केंद्रित कर रही है उस क्षण पर ही जो यथाशक्य छायारहित क्षण है—स्मृति और आकांक्षा दोनों के संस्पर्श से यथासंभव मुक्त है। यह एक निरवधि, प्रवहमान अस्ति है—प्रत्यावर्ती सनातन काल के चक्र पर अविखंडनीय कालाणुओं का अजस्र क्रम।"[14] (देखिए संदर्भित ग्रंथ में चित्र क्र. 9)

अज्ञेय विज्ञान, पुराण और रचनाकर्म के अंतःसंबंधों और अंतःक्रियाओं के बारे में सुचिंतित विवेचन करते हैं। उनका निबंध 'वैज्ञानिक सत्ता, मिथकीय सत्ता और कवि' विज्ञान मिथक और रचना के वास्तविक और सही अर्थ का स्थापन करता है। वे चार बुनियादी प्रश्नों को उठाते हुए उनकी विश्लेषण परिधि में सनातन अवधारणाओं से लेकर वर्तमान एक की मनीषा-धरोहर को पाँखुरी-पाँखुरी खोलते हुए सँवारते हैं। वे प्रश्न हैं—सृष्टि कैसे हुई? पर्यावरण कैसे बना? समाज कैसे बना? मैं इसमें कहाँ हूँ—मैं कौन हूँ? ये चार बुनियादी प्रश्न हैं। मिथक इन प्रश्नों के उत्तर खोजता है और विज्ञान भी। लेकिन दोनों की समान प्रश्न-भूमि होने पर भी आगे चलकर दोनों के रास्ते भिन्न हो जाते हैं—"पुराण की यात्रा में एक यात्रान्त भी है, क्योंकि वह एक निश्चयात्मक प्रतीति चाहता है, एक ध्रुव विश्वास, जिसमें जिज्ञासा का शमन हो जाता है; दूसरी ओर विज्ञान का कोई यात्रान्त नहीं है, कोई मंजिल नहीं है बल्कि क्षितिजों का एक क्रम है। विज्ञान मूल प्रश्नों की ओर लौटता नहीं क्योंकि यात्रा के दौरान प्रश्न रूपान्तरित हो चुके होते हैं।"[15] मूल चार प्रश्नों का कर्त्ता मनुष्य ही है। वह उत्तर खोजी प्रक्रिया में कवि के रूप में जब प्रस्तुत होता है, तो विज्ञान और मिथक द्वारा प्रतिपादित तथ्यों, विश्वासों, अभिप्रायों से सम्पृक्त होता हुआ अपनी दृष्टि विकसित करता है। एक ऐसी सम्यक् दृष्टि जो दोनों को जोड़ सके।

अज्ञेय व्यक्ति की, रचनाकार की स्वाधीनता को उसके दृष्टि-विकास में आधारभूत कारक स्वीकार करते हैं। व्यक्ति या रचनाकार अपनी दृष्टि या किसी भी चीज के लिए उत्तरदायी तभी हो सकता है, जब वह स्वाधीन कर्मी हो। अज्ञेय स्पष्ट करते हैं कि यदि व्यक्ति स्वाधीन नहीं है, उसे किसी चीज के लिए उत्तरदायी नहीं ठहराया जा सकता। "सिर्फ स्वाधीन कर्मी होने के दावे के साथ ही मैं यह कह सकता हूँ कि यह मेरा 'कर्म' है। अगर मैं स्वाधीन नहीं हूँ, तो जो कुछ है वह मैंने नहीं किया है, चाहे वह मेरे ही निमित्त से हुआ; और जब मैंने नहीं किया, तो उसके लिए मैं उत्तरादायी नहीं हूँ। तो उत्तरदायी होने के पहली शर्त स्वाधीन होना है।"[16] अज्ञेय अपने निबंध—'आँखों देखी और कागद लेखी' में वे व्यक्ति की स्वाधीनता का धर्म के संदर्भ में विवेचन करते हैं। भारतीय धर्म ने स्वाधीनता का वातावरण दिया। भारतीय

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

धर्म का आधार किसी विश्वास की रूढ़ि नहीं; आचरण रहा है। लिखते हैं—"किसी मतवादी रूढ़ि से अलग धर्म की उद्‌भावना मैं संसार को भारतीय चिंतन की बहुत बड़ी देन मानता हूँ। संसार के किसी धर्म ने मनुष्य के मानस को उतनी स्वाधीनता का वातावरण नहीं दिया, जितना भारतीय धर्म ने; किसी ने स्वस्थ जीवन की उतनी गहरी नींव नहीं डाली, जितनी भारतीय धर्म ने। अवश्य ही इस समझ तक पहुँचने में मुझे समय लगा और यह भी नहीं है कि यात्रा में मैंने ठोकरें नहीं खाईं। लेकिन यहाँ तक पहुँचकर मुझे जो सुख मिला है, उसे वे ही लोग समझ सकते हैं जो निष्ठापूर्वक तीर्थयात्रा कर के घर लौटते हैं।"[17] सनातन धर्म सनातन मूल्यों पर आधारित है, जिसके सत्य, ऋत्, तप, दान आदि मूल तत्त्व हैं। भारतीय लोक जीवन में इसीलिए ऋतुओं और प्रकृति का अटल और सघन स्थान है।

अपने 'शब्द, मौन, अस्तित्व' निबंध में वे स्पष्ट कहते हैं—"मेरी खोज भाषा की खोज नहीं है, केवल शब्दों की खोज है। भाषा का उपयोग मैं करता हूँ, निस्संदेह; लेकिन कवि के नाते जो मैं कहता हूँ, वह भाषा के द्वारा नहीं, केवल शब्दों के द्वारा।"[18] वे विश्वस्त हैं कि 'केवल सही शब्द मिल जाएँ तो' भाषा का सही कलात्मक स्वरूप बनता है जो संप्रेषण में सहायक होकर आनंदानुभूति कराता है। 'जोग लिखी' संग्रह के 'उन्मेषशालिनी प्रतिभा' नामक निबंध में कवि प्रतिभा, ममेतर के संदर्भ में संप्रेषण का महत्त्व प्रतिपादित करते हुए वे कहते हैं—"मैं निरपवाद रूप से मानता हूँ कि समस्त रचनाकर्म में दूसरे तक पहुँचना एक अनिवार्य प्रेरणा है। रचना मात्र का लक्ष्य आनन्द है, और यह आनन्द अभिव्यक्ति का नहीं, संप्रेषण का है।"[19]

'नदी के द्वीप' कविता और उपन्यास के माध्यम से अज्ञेय का व्यक्तिवादी-सामाजिक चिंतन स्फुरित हुआ है। समाज-चिंतकों ने भी व्यक्ति को उसकी केंद्रापसारी शक्तियों के साथ ही सामाजिक दायित्वों के बीच खड़ा पाया है। व्यक्ति एक इकाई है, लेकिन सामाजिकता और सामूहिकता के सर्जन में एक-एक मिलकर दहाई बनने की शक्ति-गतिशीलता भी उसमें है। 'आत्मनेपद' में उनका वक्तव्य है—"व्यक्ति अपने सामाजिक संस्कारों का पुंज भी है, प्रतिबिम्ब भी, पुतला भी; इसी तरह वह अपनी जैविक परंपरा का भी प्रतिबिम्ब और पुतला है—जैविक सामाजिक के विरोध में नहीं।...वह निरा पुतला, निरा जीव नहीं, वह व्यक्ति है, बुद्धि विवेक संपन्न व्यक्ति।"[20]

वात्स्यायन जी के पास सौंदर्य की अखण्ड दृष्टि है। उनके अनुभूति की सघनता जितनी गहरी और प्रशान्त है, अभिव्यक्ति उतनी ही तीव्रतर और नव्यतर है। अणु-अणु, तृण-तृण, किरण-किरण, बिन्दु-बिन्दु में तरलायित और आलोड़ित सौंदर्य को निसर्ग और मनुष्य के भीतर स्थिर गतिमय सौंदर्य की अखण्डता में समर्पित उनकी 'असाध्य वीणा' बजती है।

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

'हरी घास पर क्षण भर' बिरमकर, बैठकर, समाधिस्थ होकर अज्ञेय का प्रज्ञा सृष्टि और मानव की अंतःप्रक्रियाओं और अनुभूति संज्ञान को साहित्य में प्रत्ययीभू कर सका है। यह चिंतन अंत में आर्ष अनुभव के क्षेत्र में प्रवेश कर जाता है।

घर के भीतर प्रकाश हो। इसकी मुझे चिंता नहीं;
प्रकाश के घेरे के भीतर। मेरा घर हो।
इसी की मुझे तलाश है।

(ऐसा कोई घर देखा है आपने

संदर्भ

1. *शाश्वती*—अज्ञेय, पृ. 38
2. *साहित्य, संस्कृति और समाज परिवर्तन की प्रक्रिया*—सं. कृष्णदत्त पालीवाल, पृ. 2
3. वही
4. वही, पृ. 41
5. *त्रिशंकु*—अज्ञेय—पृष्ठ—26
6. वही, पृ. 29
7. वही, पृ. 34
8. वही, पृ. 35
9. वही,
10. वही, पृ. 44
11. *साहित्य, संस्कृति और समाज परिवर्तन की प्रक्रिया*—सं. कृष्णदत्त पालीवाल—पृ. 6
12. वही, पृ. 63
13. *आत्मनेपद*—अज्ञेय—पृष्ठ 100
14. *साहित्य, संस्कृति और समाज परिवर्तन की प्रक्रिया*—सं. कृष्णदत्त पालीवाल—पृ. 7
15. वही, पृ. 83
16. *जोग लिखी*—अज्ञेय पृष्ठ 15
17. वही, पृ. 30
18. वही, पृ. 106
19. वही, पृ. 63
20. *आत्मनेपद*—अज्ञेय, पृ. 71

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

परमहंस की तपस्थली में

डॉ. भुवनेश्वर प्रसाद गुरुमैता

बाल्यावस्था से ही मुझे कलकत्ता की यात्रा की ललक थी। मेरे स्व. पिता जी ने वहीं के विद्यासागर कॉलेज से बी.ए. किया था। बाद में भी यदा-कदा कलकत्ता जाते रहते थे। मुझे भलीभाँति स्मरण है कि वे हर यात्रा के बाद वहाँ से खजूर का गुड़ तथा विवेकानंद, परमहंस रामकृष्ण और माँ काली के चित्र अवश्य लाते थे। उन्हें भेंट स्वरूप हमारे चाचावृंद को अर्पित करते थे। तबसे मैंने रामकृष्ण परमहंस की तपस्थली कलकत्ता नगरी के दर्शन का चाव मन में सँजोकर रखा था। तरुणाई में परमेश्वर ने ऐसे कई सुअवसर उपलब्ध करवा दिए। अपने शोधकार्य के सिलसिले में गुरुदेव आचार्य हजारी प्रसाद द्विवेदी ने मुझे वहीं की नेशनल लायब्रेरी से सामग्री जुटाने भेजा। साथ ही डॉ. कल्याणमल लोढ़ा के नाम से एक पत्र भी व्यवस्था के लिए लिख दिया था।

कलकत्ते में मैंने पहले आशुतोष मुखर्जी रोड और बाद में बांगड़ बिल्डिंग में अपना आवास बनाया। आरंभ में ही मैंने कालीघाट स्थित माँ काली, दक्षिणेश्वर में स्थित रामकृष्ण परमहंस द्वारा पूजित भवतारिणी काली और बेलूर मठ का दर्शन कर लिये थे। बाद में विश्वभारती में आयोजित भारतीय इतिहास अनुसंधान परिषद् के अधिवेशन के अवसर पर भी साल्ट लेक से बस से चलकर इन स्थानों का दर्शन किया था। तीसरी बार अपनी पोती कुमारी मीनाक्षी को जब मेडिकल की परीक्षा के लिए ले गया तो मुझे इन स्थानों को गौर से देखने और दिखाने का स्वर्गिक अवसर मिल गया।

परमहंस जी की पावन तपस्थली का विस्तृत विवरण इसी अवधि में प्राप्त कर सका। दक्षिणेश्वर की इस यात्रा में हुलसित मन से मेरा साथ निभाती है पोती मीनाक्षी। हावड़ा से हमलोग पहले हथरिक्शे से यात्रा प्रारंभ करके ऑटोरिक्शा को पकड़ते हैं। पुनश्च ऑटो हमें लेकर बसस्टैंड तक बढ़ता है। वहीं से पुराने ढंग की बस पकड़कर ऊबड़-खाबड़ मार्ग से पंद्रह-बीस किलोमीटर की यात्रा के बाद उस

*डॉ. भुवनेश्वर प्रसाद गुरुमैता, पो. मटियारी, जिला-सुपौल-854339 (विहार)

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

ऐतिहासिक पुण्यभूमि पर पहुँच जाते हैं। सर्वप्रथम हमलोग दुकान से माला-फू धूप-नैवेद्य आदि खरीदते हैं तथा घाट से गंगाजल लेकर मंदिर के मुख्य द्वारा पर पहुँ हैं। वहीं मैं अपनी पोती को कहता हूँ—'नमन करो इस द्वार की सीढ़ी को, ज भगवान रामकृष्ण, माँ शारदा और स्वामी विवेकानंद तथा जाने कितने ही असं महापुरुषों के चरण पड़े होंगे।' उन महापुरुषों के पदचिह्नों को ढूँढ़ना यद्यपि कठिन तथापि कल्पना तो कर ही रहा था।

काल के प्रवाह में ऐतिहासिक पावन चिह्न यद्यपि विलुप्त हो गए हैं, तथा भक्तों के श्रद्धालु मानसों में वज्रलिपि की तरह वे आज भी अंकित हैं। तभी तो इत श्रद्धा और विश्वास के साथ असंख्य दर्शकों की भीड़ यहाँ जमी रहती है। नाना प्रक के विचारों के ऊहापोह और अनंत भावनाओं की तरंगों में मेरा जिज्ञासु मन उद्वेलि हो रहा है। इस प्रधान द्वार पर ही मेरे पाँव ठमक जाते हैं। मंदिर के विशाल परि का अवलोकन करता हुआ खो जाता हूँ। अनुभूति को व्यक्त करने के लिए शब्द न मौन तोड़ता हूँ। तब अपनी पौत्री को इस विस्तृत परिवेश का प्रथम परिचय देता

दाईं ओर परमहंस का आवास। बाईं ओर माँ काली का यह विशाल मंदिर। ओर गंगा के घाटों के समानांतर बारह शिवलिंगों की लंबी कतार। तीनों लोकों सर्वथा न्यारा यह आवेष्टन।

अनयास मेरी दृष्टि द्वार पर अंकित दो महार्घ श्लोकों पर जाती है। दोनों महार्थक मंत्र श्वेताश्वर उपनिषद् के हैं। इनको उद्धृत करना उन लोगों के लिए अपना पावन कर्त्तव्य समझता हूँ, जिन्हें दक्षिणेश्वर की यात्रा का सुयोग न मिल पा हो। पहला मंत्र इस प्रकार है :

तमीश्वारानां परमं महेश्वरं तं देवतानां परमं च देवतम्।
पतिं पतीनां परमं परस्ताद् विदाम देवं परमीश मीड्यम् ॥(6.7)॥

ध्यान के द्वारा परमात्मा का प्रत्यक्ष करने वाले महात्मा कहते हैं कि वे परम पुरुषोत्तम समस्त ईश्वरों के—लोकपालों के भी शासक हैं। समस्त देवताओं के प आराध्य हैं। समस्त ब्रह्मांडों के स्वामी हैं। उन प्रकाश स्वरूप परमात्मा से श्रेष्ठ क नहीं है। वे ही इस जगत् के सर्वश्रेष्ठ कारण हैं और वे सर्वरूप होकर भी सबसे सर्व पृथक् हैं।

दूसरा मंत्र इस प्रकार है :

एको देवः सर्वभूतेषु गूढ़ः सर्वभूतान्तरात्मा।
कर्माध्यक्षः सर्वभूताधिवासः साक्षी चेता केवलो निर्गुणश्च ॥(6/11)

अर्थात् वे एक ही परमदेव परमेश्वर समस्त प्राणियों के हृदयरूप गुहा में छि हुए हैं, वे सर्वव्यापी और समस्त प्राणियों के अंतर्यामी परमात्मा हैं। वे सबके कर्मों अधिष्ठाता/ उनको कर्मानुसार फल देनेवाले और समस्त प्राणियों के निवास स्थान—आश्र

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

हैं। तथा वे ही सबके साक्षी-शुभाशुभ कर्म को देखनेवाले परम चेतनस्वरूप तथा सबको चेतना प्रदान करनेवाले, सर्वथा विशुद्ध अर्थात् निर्लेप और प्रकृति के गुणों से अतीत भी हैं।

इस द्वार से पावन परिवेष्टन में प्रवेश करते ही सामने बाईं ओर इस विशाल मंदिर का दर्शन होता है, जिसमें भवतारिणी माँ काली की प्रतिमा विराजती है। किंतु, दर्शनार्थियों की इतनी लंबी पंक्ति में खड़े होकर ऐसा प्रतीत होता है कि दर्शनस्थल तक पहुँचते हुए प्रायः घंटा भर समय लग जाएगा। क्योंकि, लोग भी चींटी की चाल में ही चल रहे थे। हमारी व्यग्रता देखकर सामने के एक भद्र बंगाली महोदय ने सुझाव दिया कि तब तक हम लोग बारहों शिवलिंगों के दर्शन करके आ जाएँ। तब वे विस्तारपूर्वक मंदिर का विवरण सुनाएँगे। मैंने भी इसे व्यावहारिक सुझाव समझा और हम देश के द्वादश ज्योतिर्लिंगों—सोमनाथ, मल्लिकार्जुन, महाकाल, ओंकारेश्वर, वैद्यनाथ, भीमशंकर, रामेश्वर, नागेश्वर, विश्वनाथ, त्र्यम्बकेश्वर, केदारनाथ तथा घुश्मेश्वर के नामों पर बने बारहों शिव-मंदिरों में जाकर पूजन-अर्चन कर पुनश्च वहीं लौट आते हैं। मुझे तो देश भर के बारहों ज्योतिर्लिंगों के दर्शन का सौभाग्य भी मिल चुका है, लेकिन यहाँ तो पोती को विशेष रूप से दिखलाना था। लौटकर आने पर उसी बंगाली सज्जन के साथ हमलोग पूर्ववत चल पड़े। उसी क्रम में टूटी-फूटी हिंदी में उन्होंने जो कुछ बताया और मैंने भी जो कुछ जानकारी प्राप्त की थी, तदनुसार मंदिरविषयक ऐतिहासिक विवरण इस प्रकार है—

देखते हैं, ऐसा भालो (सुंदर) मंदिर? डेढ़ सौ साल पहले यहाँ कुछ भी नहीं था। दक्षिणेश्वर नाम का एक छोटा-सा गाँव था। यहाँ की रानी रासमती विधवा थी। उनके एक दामाद मथुरा बाबू ही उनके राजकाज की व्यवस्था देखते थे। उन्हीं के सहयोग से रानी ने साठ बीघे के विशाल परिसर में इस भव्य मंदिर का निर्माण करवाया। सन् 1847 ई. में इसका बनना प्रारंभ हुआ और आठ साल में पूरा हुआ। इसके अंतर्गत राधाकांत मंदिर, द्वादश शिवलिंग मंदिर, सभामंडप, गंगाघाट, भोगघर, भंडार घर, नौबतखाना, अतिथिशाला और सुंदर पुष्पोद्यान का भी निर्माण किया गया। सन् 1855 ई. में काली की प्राण-प्रतिष्ठा करवाई गई। उसके प्रथम पुजारी राजकुमार चट्टोपाध्याय नियुक्त किए गए। वे रामकृष्ण परमहंस के अग्रज थे।

कालांतर में रामकृष्ण देव प्रधान पुजारी के पद पर प्रतिष्ठित हुए। उनके साथ ही उनकी धर्म पत्नी माँ शारदा भी सेवारत हुईं। माँ काली के परम भक्त के रूप में रामकृष्ण परमहंस की कीर्तिकौमुदी दिग्दिगन्त फैलती गई। वे काली माँ की प्रतिमा में साक्षात माँ का दर्शन करने लगे। यहाँ तक कि वे उनसे प्रत्यक्ष बातें भी करने लगे। यह उनकी कठिन तपस्या का ही फल था कि पाषाण की प्रतिमा उनके लिए प्राणवंत माँ काली के रूप में दृष्टिगोचर हुई। यह उन्हीं के वश की बात थी कि आधुनिक शिक्षा प्राप्त नरेंद्र जैसे युवा के मानस में माँ काली के प्रति अविरल भक्ति और

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

विश्वास का संचार हो गया और वे विवेकानंद के नाम से विश्व विख्यात हुए। इसी स्थान पर रामकृष्ण देव ने भक्ति और वेदांत की गंगा को अपने ब्रह्मकमंडल से प्रस्रवित किया। भगीरथसम विवेकानंद ने दिग्दिगंत देशाटन कर समग्र विश्व को उसका अमृतपान कराया; अंतर्राष्ट्रीय और मानवीय परिवेश पर भारतीय संस्कृति का वर्चस्व स्थापित किया।

नरेंद्रनाथ के दक्षिणेश्वर आने के पहले ही श्रीरामकृष्ण देव नरेंद्र के स्वरूप के संबंध में जान चुके थे कि वे सप्तर्षि मंडल के महर्षि हैं। एक दिन कलकत्ते में सुरेंद्रनाथ मित्र के मकान पर नरेंद्रनाथ ने जब भजन गया—'मन रे चल ओहि धामे' तो परमहंस की भावसमाधि लग गई। बाद में उन्हें दक्षिणेश्वर आने का निमंत्रण दिया, जिसे नरेंद्र अस्वीकार न कर सके। इस घटना के बाद नरेंद्र ने जब बी.ए. की परीक्षा पास की और विवाह के प्रति विद्रोह कर बैठे, तब उनके वैराग्यप्रवर मन को देखकर एक दिन डॉ. रामचंद्र दत्त ने उन्हें परमहंस रामकृष्ण देव के पास जाने की सलाह दी। उनसे प्रेरित हो वे दक्षिणेश्वर पहुँचे।

1818 ई. का दिसंबर मास था। नरेंद्रनाथ ने ज्योंही उनके कमरे में प्रवेश किया, ठाकुर प्रसन्नता से नाच उठे। इस बार भी उनके भजन के मधुर स्वर की झनकार पर अपने को सँभाल न सके तथा समाधि में लीन हो गए। दूसरे ही क्षण रोते हुए हाथ जोड़कर कहा—'मैं जानता हूँ प्रभु! तुम नर रूपी नारायण हो।' बातचीत के क्रम में नरेंद्र ने सीधा प्रश्न किया—'क्या आपने ईश्वर को देखा है?' परमहंस का उत्तर था—'हाँ, मैं ईश्वर को ठीक उसी प्रकार देखता हूँ, जैसे तुम्हें। लोग माँ की प्रतिमा में माँ का दर्शन करते हैं, मुझे माँ पहले दीखती है, प्रतिमा बाद में।' नरेंद्र नतमस्तक हो गए। गुरु के स्पर्श से उनकी सारी दुनिया बदल गई।

सन् 1884 ई. में नरेंद्र के पूज्य पिता का आश्रय सदा-सदा के लिए समाप्त होने पर सात व्यक्तियों के अन्न-वस्त्र का प्रश्न सम्मुख खड़ा हुआ। भूख-प्यास की ज्वाला में जलते परिवार के लिए तड़पते वे परमहंस के पास पहुँचे।

यंत्रणा के इन्हीं क्षणों में वे ठाकुर से बोले—"यदि आप अपनी 'माँ' से कहें तो वे मेरे सारे कष्टों का निवारण कर सकती हैं।" ठाकुर मंद स्वर में बोले—'जा, आज रात को तू माँ से जो कुछ माँगेगा, वह तुझे देगी।' रात को माँ काली की चैतन्य मूर्ति को देखकर आत्मविभोर हो वे अपना सारा दुःख भूल गए। नतमस्तक होकर बोले—'माँ मुझे विवेक दो, वैराग्य दो, ज्ञान और भक्ति दो, अपना साक्षात्कार होने दो।' लेकिन, बाहर आने पर वे माँ-बहनों के कष्ट भूल न पाए। ठाकुर के कहने पर दो बार पुनः गए। एक बार भी वे अपनी बात कह न सके। ठाकुर से बोले—'आपने ही मेरा मन पलट दिया। अब आपको ही कोई न कोई प्रबंध करना है।' ठाकुर बोले—'अच्छा जा! माँ से कहूँगा कि तेरे परिवार को अन्न-वस्त्र का अभाव न हो।' नरेंद्र को काली की प्रत्यक्ष महिमा अब समझ में आ गई थी।

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

ठाकुर के देहत्याग के समय नरेंद्र सर्वदा साथ रहते थे। एक दिन एक कागज पर लिखकर ठाकुर ने कहा—'नरेंद्र लोकशिक्षा देगा।' एक दिन संध्या समय उन्होंने नरेंद्र को बुलाया। दरवाजा बंद कर दिया। नरेंद्र की आँखों में एकटक देखते हुए समाधि में डूब गए। उसी समय उनके शरीर से एक ज्योतिपुंज निकला, जो नरेंद्र के शरीर में विलीन हो गया। फिर क्या था? वे ध्यानस्थ हो गए। चेतना में लौटने पर देखा कि आनंदविह्वल हो रामकृष्ण देव अश्रुधारा बहाते कह रहे थे—'आज मैं सर्वस्व तुझे देकर फकीर बन गया। तू इस शक्तिबल पर संसार में अनेक कार्य कर सकेगा और काम संपन्न कर लौट जाएगा।' यह सुनकर नरेंद्रनाथ बिलख पड़े। 16 अगस्त, 1886 को 10 बजकर 6 मिनट पर रात्रि की महानिशा में तीन बार 'काली' का नाम उच्चारण कर परमहंस महासमाधि में लीन हो गए। इस घटना के पश्चात् भी नरेंद्र अपने गुरु के आदेश से ही मानवता के कल्याण हेतु हिंदू धर्म का प्रसार और राष्ट्र चेतना के जागरण में संलग्न रहे। परमहंस की कृपा से ही उनकी आमोघवाणी 11 सितंबर, 1893 ई. को शिकागो की विश्व धर्मसभा के मंच से गूँजी और पाश्चात्य जगत् के यांत्रिक मानवों के अंतःकरण में क्षण भर के लिए प्रथम बार मानव जाति के एकत्व की अनुभूति उत्पन्न हुई। विवेकानंद की वेदांतभावित वाणी में मानवमात्र के प्रति संवेदना ही ध्वनित हो रही थी। विश्व प्रसिद्ध रोमा रोलाँ ने लिखा है—'यही श्री रामकृष्ण देव का निःश्वास था। उनके महान् शिष्य के भाषण में शाश्वत प्रेम की वाणी गूँज रही थी।'

मैं इस पुण्यस्थली की पृष्ठभूमि और बंगाली मोशाय के विवरण-कथन में बहुत तल्लीन हो जाता हूँ। तभी भक्तों की पंक्ति कुछ गतिशील होकर मंदिर के सन्निकट पहुँच जाती है और मैं भावविभोर हो सप्तश्लोकी दुर्गा, कचव, अर्गला और कुंजिका स्तोत्रों का क्रमशः पाठ करने लगता हूँ। अंततः अपने को माँ की प्रतिमा के सम्मुख पाकर रोमांचित हो जाता हूँ। कुछ क्षण के लिए ध्यानस्थ। पुजारी टोकते हैं। उधर मीनाक्षी फूल-माला, नैवेद्य-चंदन आदि अर्पित करती है, जिन्हें भोग लगाकर हमें प्रसाद के रूप में लौटाया जाता है। उस प्रसाद में माँ को मानो स्नेह चुपड़ा हुआ है। माँ की ममता को रेखांकित करना अपने बस की बात कहाँ?

एक ही साथ दो-दो संसारों का संयोग मिलता है। एक संसार है समागम का। दूसरा संसार है, बिछुड़ने का। वह उतना ही अधिक वेधक। दर्शन का सुख और उससे वंचित होने का दुख! मानो, हाथ में आकर कोई चीज वलात् चली गई हो! अंतरमन से माता की प्रतिमा में देवत्व स्थापित कर यहाँ के इतिहास में गोता खाने लगता हूँ कि यहीं पर परमहंस और नरेंद्र माँ काली से वार्तालाप किया करते रहे होंगे।

आँखों से माँ का स्वरूप पानकर चित्त में बैठा लेता हूँ—लपलपाती लाल जिह्वा वाली माँ अपनी श्याम प्रतिमा के गले में मुंडमाल धारण कर शिव की छाती पर दायाँ पाँव आगे और बायाँ पीछे की हुई खड़ी हैं। चतुर्भुजी माता अपने हाथों में खप्पर, काता

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

और नरमुंड धारण की हुई वरदहस्त से भक्तों को वरदान की वृष्टि कर रही हैं। अत्यं सौम्य और अत्यंत रौद्र उनकी मूर्ति भक्तों के लिए ममत्व और दुष्टों के लिए भय संचार कर रही है। भारी मन से आगे बढ़ने को मजबूर होता हूँ। समय इतना कम कि माता के सम्मुख एक ही स्तोत्र सुना पाता हूँ—

शरणागत दीनार्त्त परित्राण परायणे।
सर्व स्यार्त्ति हरे देवि नारायणि नमोऽस्तुते॥
सर्वाबाधा प्रशमनं त्रैलोकस्य अखिलेश्वरी।
एवमेव त्वया कार्यमस्मद्वैरि विनाशनम् ॥

यह स्थान छोड़ने का मन नहीं करता, लेकिन आधा-अधूरा स्तोत्र सुनाता कु भूला-सा, कुछ खोया-सा आगे बढ़ने को विवश होता हूँ। बंगाली मोशाय प्रदक्षिणा प बताते हैं। उस क्रम में दुर्गासप्तशती के अनेक मंत्रों को मंदिर की बाहरी भित्तियों लिपिबद्ध पाता हूँ:

देवि प्रपन्नार्तिहरे प्रसीद प्रसीद मातर्जगतोऽखिलस्य।
प्रसीद विश्वेश्वरी पाहि विश्वं त्वमीश्वरी देवि चराचरस्य॥

विश्वव्यापी विपत्तियों के नाश के लिए इसका हमलोग पाठ किया करते उसी प्रकार विश्व के पाप-ताप निवारण के लिए भी यह श्लोक मंदिर की बाहरी भि पर अंकित है :

देवि प्रसीद परिपालय नोऽरिभीतेर्नित्यं यथासुरवधान धुनैव सद्यः।
पापानि सर्वजगतां प्रशमं नयाशु उत्पादपाक जनितांश्च महोपसर्गान्

माँ के दर्शन के बाद हमलोग ठाकुर जी के निवास-स्थान पर पहुँचते हैं। उन प्रयोग की प्रत्येक वस्तु को इस कक्ष में रखकर एक पुनीत संग्रहालय का रूप प्र किया गया है। कुछ देर वहाँ बैठकर ध्यान करता हूँ और चित्त संसार को भूल भगवान रामकृष्ण के चरित में डूब जाता है। बाद में हमलोग गंगा के किनारे चल मंदिर के परिसर में ही पंचमुंडी आश्रम पहुँचते हैं। वहाँ परमहंस जी तांत्रिक साध किया करते थे। उसी क्रम में यहाँ पर साँप, कुत्ता, लोमड़ी, वृषभ और मनुष्य खोपड़ियाँ स्थापित थीं। इसी आश्रम के पास ठाकुर जी द्वारा जो वट, पीपल, अशो आँवला और बेल के पेड़ लगाए गए थे, वे पंचवटी के नाम से प्रसिद्ध है।

इस समय तो वर्तमान है, केवल पीपल का पेड़। ठाकुरजी की ध्यान-साधना केंद्रस्थली पंचवटी, आश्रम का एकमात्र अवशेष।

परमहंस जी रसिक साधक भी थे। इस रूप में वे अपने को राधा के रूप अंतर्भूत कर प्रियतम कृष्ण की अराधना किया करते थे। फलस्वरूप, उनका वक्षस

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

भी उमड़ पड़ा था और नारीसुलभ गुण भी। ऐसी साधना के काल में वे नारीवस्त्र ही धारण किया करते थे।

श्री रामकृष्ण की आध्यात्मिक साधना और सिद्धि में यह महासत्य जीवंत हो उठा कि जिस प्रकार भिन्न-भिन्न नदियाँ सरल या टेढ़े-मेढ़े रास्तों का अवलंबन कर अंत में महासागर में जाकर मिल जाती हैं, उसी प्रकार रुचि की विभिन्नता के कारण भिन्न-भिन्न मतों एवं पंथों का अवलंबन करने पर भी मानवगण अंत में अनंत सागरसदृश परमात्मरूपी श्री भगवान् को ही प्राप्त होते हैं। विश्वकवि रवींद्रनाथ भी उनके प्रति अर्घ्य-निवेदन करते हुए गाते हैं :

'बहु साधकेर बहु साधना धारा।
धेयाने तोमार मिलित होये धे तारा।'
तोमार जीवने असीमेर लीलापथे ॥

'अर्थात् विभिन्न साधकों की विभिन्न साधनाएँ तुम्हारे मधुर ध्यान में विभिन्नत्व खोकर मिल गईं।' पूत सलिला भागीरथी के पूर्वी तट पर अवस्थित यह दक्षिणेश्वर कला और संस्कृति का कैसा विहंगम संगम है? इस पवित्र धाम में प्रकृति, श्रद्धा, भक्ति, लोकविश्वास, वास्तुकला, पावनता और सुंदरता सब साकार और चरितार्थ होती दीखती है।

इस तीर्थ का प्रमुख आकर्षण है—भाल पर गाढ़े सिदूंर से मंडित नारियाँ। शालीन रंगीन साड़ियों में मधुर-सुरीला बंगला गीत गातीं बंगमाताएँ। पारंपारिक वेशभूषा में उनके हाथों में कुंकुम, चंदन, फूल-माला और नैवेद्य से भरी थालियाँ। पीले व वासंती रंगों में बंगाल की लोकपरंपरा की पृष्ठभूमि चित्रित करती हुई विशिष्ट वेश-भूषा, भाषा-साहित्य, कला और पूजा-पद्धति को प्रदर्शित करती दिव्य दृश्यावलियाँ।

दक्षिणेश्वर से बाहर निकलकर हमलोग गंगा के किनारे आते हैं। जानकारी मिलती है कि यहाँ से मात्र दो किलोमीटर दूर पर आद्यापीठ अवस्थित है। लेकिन, हमलोग वेलूरमठ के लिए लांचर पकड़ते हैं। गंगाजी के दूसरे किनारे पर 1898 ई. में स्वामी विवेकानंद ने वेलूरमठ को स्थापित किया है। गुलाबी पत्थरों से निर्मित इस मठ की स्थापत्यकला मन को मोह लेती है। पाषाण खंडों में कलात्मक ढंग से उत्कीर्ण षोडस पद्मपटल, कलशयुक्त स्तंभशिखर, कल्पवल्ली, स्वस्तिक आदि हिंदू कला के प्रतीक चिह्न बड़े ही आकर्षक लगते हैं।

मंदिर के प्रधान द्वार से ही भगवान रामकृष्ण परमहंस का दर्शन बड़ा ही प्रेरक लगता है। प्रतिमा इतनी सजीव है कि लगता है, अभी बोल पड़ेगी। भला परमहंस-सा व्यक्तित्व भी कभी मरता है? वे तो अमर हैं।

परमहंस की मुखाकृति पर छाई दिव्य आभा शांति और संयम का सद्भाव जगाती है। कुछ देर ध्यानस्थ होकर सम्मुख बैठ जाता हूँ। विनती करता हूँ—'प्रभो!

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

विवेकानंद को पुनः प्रकटाओ।' समग्र सभाकक्ष परम पावन, परम प्रेरक और मनोरम प्रतीत होता है। वहाँ से निकलकर धरातल पर मानो उतरता हूँ। तभी छोटे-छोटे मठ मंदिरों का दर्शन करता हुआ स्वामी विवेकानंद के आवास में प्रवेश करता हूँ। मठ के साथ ही इसका निर्माण भी सन् 1898 ई. में हुआ था। इसी स्थान पर सन् 1902 ई. में मात्र उनतालीस वर्ष की अवस्था में स्वामी विवेकानंद ने अपने पार्थिव देह का त्याग किया था। उनकी दैनिक प्रयोग की सभी वस्तुएँ इस संग्रहालय में संरक्षित हैं। यहाँ आने पर प्रतीत होता है कि स्वामी विवेकानंद प्रत्यक्ष बैठे हुए हैं और हमें प्रेरणा प्रदान कर रहे हैं। अनायास ध्यान में डूब जाता हूँ। प्रार्थना करने लगता हूँ : 'हे प्रभो! राष्ट्रधर्म का पथ आलोकित करने और हिंदू धर्म का शंखनाद कर मानवता का परित्राण करने हेतु तुम फिर आओ! जगज्जननी भारत माँ के वर्चस्व को सकल विश्व में स्थापित करो! नैतिकता और आध्यात्मिकता के आलोक में सकल विश्व का मंगल हो!'

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

सांप्रदायिकता बनाम भारतीयता

के. मोहनन पिल्लै*

वैश्वीकरण के पूर्व और बाद में भारत जैसे विकासशील देशों के हर क्षेत्र में ताकतवर साम्राज्यवादियों का हस्तक्षेप सर्वविदित है। इस संदर्भ में भारत की एक बड़ी भीषणता यह है कि यहाँ की धर्म निरपेक्षता पर देश की बाहरी एवं भीतरी शक्तियाँ दरारें पैदा कर रही हैं। नव औपनिवेशिक भारतीय संस्कृति के विभिन्न सांप्रदायिकवादों से बनाई गई कपट भारतीयता (Indianness) पर विचार करना लाजिमी है। बनावट हिंदुत्ववादों को भारतीयता कहकर प्रचार करनेवाले कपट हिंदुओं को पहचानने का अब सही संदर्भ है। सांप्रदायिकता बनाम भारतीयता का विकृत रूप भी यही है। भारत के भूतपूर्व प्रधानमंत्री श्री अटल बिहारी वाजपेयी ने सन् 2004 की लोकसभा के चुनाव के बाद 'भाजपा' की पराजय के संदर्भ में कहा कि हिंदुत्व और भारतीयता दोनों एक ही है। [www.expressindia.com and its allied websites]। इस पर देश-विदेश में बहुत बहसें हुईं।

सांप्रदायिकता बनाम भारतीयता की फरेबी बातें बहुचर्चित विषय हैं। इंडोलॉजी के विशेष-विश्लेषणात्मक अध्ययन से भारतीयता का असली रूप विदित होगा। तमाम भारतीय साहित्य में भारतीयता से संबंधित भिन्न-भिन्न विचार-विश्लेषण उपलब्ध हैं, जिनमें कुछ स्वयं लेखकीय भावनाएँ हैं, कुछ सामाजिक दायरे से इसको ग्रहण करने की रीतियाँ हैं और कुछ सैद्धांतिक एवं सांस्कृतिक अध्ययन की दिशाएँ हैं। और अब भारतीयता का ग्लोबीकृत कुरूपताएँ भी विमर्श-योग्य हैं। भारतीयता का सामान्य अर्थ है भारतीय जीवन-रीतियाँ, जिनमें भारत के वर्ग, वर्ण, भाषा, संपद्राय एवं सामाजिक परिस्थितियों की समग्र चेतना है। Indianess in nothing but depiction of Indian Culture. Thus, Indianess is the sum total of cultural patterns of Indian deep rooted ideas and ideals which form the mind of India.

*डॉ. के. मोहनन पिल्लै, असोसिएट प्रोफेसर, हिंदी विभाग, मार अनेषियस कॉलेज, कोतमंगलम, एरनाकुलम, केरल–686666; ई-मेल : pillai.kmohaan@gmail.com

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

भारतीयता का पूरा विश्लेषण करना है तो भारत के एक सौ दस करोड़ लोगों के जीवन के तमाम पक्षों का अध्ययन करना पड़ेगा। अतएव कुछ राजनीतिक दलों के अधिनायकत्व बन जाने का प्रभुसत्ता नहीं है भारतीयता। हिंदुओं के धर्मग्रंथ कहे जानेवाले वेद-वेदांतों में भी हिंदुत्व का उल्लेख नहीं है। आज से पाँच हजार साल पहले लिखे गए ऐसे वाङ्मयों को लेकर अब भी भारतीयता की नई-नई व्याख्याएँ देने का प्रयास व्यर्थ है। हिंदुत्व मंत्र से भारत देश के विकास का सपना देखना भारतीय राजनीति का अपचय है। इक्कीसवीं सदी के प्रथम दशक बीत जाते ही भारतीय नागरिकों को भारतीयता की ऐसी व्याख्या से बेवकूफ बनानेवाले सत्ताधारियों के खिलाफ विचार-विमर्श होना आवश्यक है। 'मेरा भारत महान' या 'मैं भारतीय हूँ' जैसे नारे लगाने से या माध्यमों में देश की भावात्मक एकता बढ़ाने के उद्देश्य से करोड़ों रुपए खर्च कर देनेवाले विज्ञापनों से क्या भारतीयता का भाव बढ़ेगा? बढ़ते रहे हैं भारत में क्षेत्रवाद, कौमवाद, जातिवाद, भाषावाद आदि। इसके साथ वैश्वीकरण से तथा नई औपनिवेशिक सभ्यता से सांस्कृतिक मूल्यों में यूरोपीयता और अमेरिकीयता ने कब्जा डाला है। भारत की तमाम भाषाओं एवं बोलियों से भारतीयता का भाव नष्ट हो रहा है। भारतीयता हमारे साहित्य, भाषा और दर्शनों में विलीन सौंदर्यशास्त्रीय संकल्प है। इसमें इस देश की जनसंस्कृति की रेखा, रंग स्वर एवं राग का तालमेल दर्शनीय है। भारतीयता में भारत के हजारों वर्षों के सांस्कृतिक परिदृश्य और यथार्थ भारतीय जीवन को परखना आवश्यक है। पूरी दुनिया में, विशेषतः पश्चिमी जगत में, समूचे स्तर पर च्युति होते समय में भी भारत की मूलभूत जीवनधाराएँ अपसंस्कृति एवं निरर्थकताबोध से दूर रही हैं। दुनिया में सब कहीं व्यवस्थाओं का सर्वनाश हो रहा है। इस अवसर पर भारत की जीवन-व्यवस्थाओं का बाहरी आक्रमण से ह्रास तो होता है फिर भी वैश्वीकृत सांस्कृतिक विस्फोट भयानक रूप से नहीं होता है।

दरअसल भारतीयता का मतलब भारतीयकरण है। भारतीयता हिंदुत्ववाद का विकल्प नहीं है। 'हिंद स्वराज' का अर्थ हिंदू स्वराज नहीं है। 'हिंद' से 'हिंदुस्तान' और संविधान में 'हिंदुस्तान' या 'हिंद' की बजाय 'भारत' शब्द स्वीकार किया गया। ऐसे भारत की देशीय चेतना की नई अवधारणा है भारतीयता। इस अवधारणा में विच्छिन्नता या विभेदकता देश की भीतरी शक्तियों से होना समन्वयवादिता नहीं है। यह धार्मिक एवं आध्यात्मिक विचारधाराओं का एकीकृत रूप है। इसलिए धर्मनिरपेक्ष समाज का नियंत्रण कुछ सामाजिक नीतियों के अनुसार चलता है। इन्हीं नीतियों तथा जीवन-सिद्धांतों का आविष्कार समय की आवश्यकता के अनुसार किया जाता है। भारत की कपट राजनीति यह है कि ऐसे सिद्धांतों की व्याख्या हर दल अपने-अपने स्वार्थ-सिद्धि के अनुसार करता है। भारतीयता सुनते ही एक वैचारिक दकियानूसी का संवेदनशील अभिप्राय उभर आना सहज है। क्योंकि बुद्ध, महावीर, शंकर आदि

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

स्वदेशी विद्वानों की विचारधाराएँ और यहाँ पर आए विदेशी सिद्धांत भारतीयता का हिस्सा बन चुके हैं। इसलिए भारतीयता हमारे देश का राष्ट्रीय दृष्टिकोण है। इसमें विभिन्न भाषाई संस्कृतियों और जीवन-रीतियों का सामंजस्य है। अतः भारतीयता को पहचानने का और एक आयाम है कि यहाँ की भाषाओं में अखिल भारत की बोलियों के शब्दों का आपसी उपयोग कराना। लिपि जो भी हो, भाषाओं के शब्द-भंडार में सभी भारतीय भाषाओं के शब्दों को ग्रहण करें, जैसे अंग्रेजी भाषा अब कर रही है। अंग्रेजी की तरह हिंदी फारसी, उर्दू, तुर्की आदि के शब्दों को अपनाती है, तो भी भारत की अन्य भाषाओं के शब्दों को हिंदी नहीं अपनाती है। हिंदी जब विशाल भाव से भारत की अन्य भाषाओं के शब्दों को स्वीकार करे तब यह भाषा भारतीयता के विकास में सहयोग देगी। इससे भारतीय भाषाओं के माध्यम से भारत के विभिन्न प्रांतों को आपस में जोड़ने की सुविधा मिलेगी। भाषा की सिकुड़ी हुई मानसिकता से बाहर आना ही भारतीयता को कायम रखने का पहला ध्येय है। आंचलिक भाषाओं और उनकी विभिन्न बोलियों को विकसित करना, उन्हें भी साहित्य की मुख्यधारा में प्रतिष्ठित करना तभी राष्ट्रीय दृष्टिकोण का विकास संभव होगा। उदाहरण के लिए मलयालम भाषा में हिंदुस्तानी भाषा के कई शब्द प्रचलित हैं। लेकिन हिंदी जैसी भाषाओं में दक्षिण के शब्दों का उपयोग बहुत कम है। अब भी आर्य-द्रविड़ परिवार जैसे भेद-भाव प्रबल रूप से प्रचलित है। यह भी नहीं, अब की हालत है कि भारतीय भाषाओं को पूर्ण रूप से छोड़कर विदेशी संस्कृति को कला एवं साहित्य में ठूँसने की प्रक्रिया जाने-अनजाने हो रही है। हिंदी प्रदेश में ही हिंदी के विरुद्ध आजकल आवाजें बुलंद हो रही हैं तो अखिल भारतीय दृष्टिकोण को बढ़ावा देना आसान कार्य नहीं है।

क्षेत्रवाद, जातिवाद भाषा की सनक आदि में स्वतंत्रता प्राप्ति के पहले की जनता क्या सोचती थी? वही उत्सर्ग और समर्पण का भाव बाद की जनता में क्यों नहीं होता है? इसको परखना भी भारतीयता की पहचान के लिए जरूरी है। पत्र-पत्रिकाएँ तथा इलेक्ट्रॉनिक माध्यम इसमें बहुत कार्य कर रहे हैं। भारतीयता को एक धर्म निरपेक्ष दायरे में संरक्षित रखने के लिए धार्मिक औपनिवेशिक दुर्मूर्तियों का उच्चाटन करना है। भारतीयता को बुलंद करने की आवश्यकता है; साम्राज्यवाद के विरोध में राष्ट्रवादी आंदोलनों को शक्ति देना है। पहले यह राष्ट्रीयता की भावना के रूप में पनपी तो अब वैश्वीकरण के विविध दबावों के सामने अखिल भारतीय अवधारणा होनी चाहिए, नहीं तो हमें एक नई सांस्कृतिक भूमि की तलाश करनी पड़ेगी। वैश्वीकरण के कारण स्वतंत्र भारत की भोगलिप्सा बढ़ गई। स्वतंत्र भारत भारतीयता को छोड़कर पाश्चात्य सभ्यता को स्वीकार करता है। फलतः एक भयभीत भारतीयता का भाव सब कहीं फैल रहा है। यूरोपीय आधुनिकता की नकल करनेवाली भौतिकवादी भारतीयता को भी देखा जा सकता है। वामपंथी विचारधाराओं को

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

धार्मिक निरपेक्षता के लिए अधिक उपयुक्त कराना है। सन् 1992 की बाबरी मस्जि की घटना एवं सन् 2002 की गुजरात की तथा 2008 की उड़िया की घटना य विचारणीय है।

भारतीयता का असली रूप भारत के नवोत्थान काल से शुरू हुआ। नवोत्था से जो परिवर्तन भारतीय जीवन में हुआ था वह भी वास्तविकता को छिपाकर देनेवा कुछ प्रचार मात्र था। स्वामी विवेकानंद, दयानंद सरस्वती, राजा राममोहन राय जै उच्चवर्ण के महारथियों के विचार भारतीयता को कायम रखने के लिए कहाँ तक मद देने लायक हैं, इस पर भी विचार-विमर्श आवश्यक है। हिंदुत्व या किसी सांप्रदायिक उपनिवेशों को रोकना संपूर्ण भारतीय जनता को सामान्य जीवन बिता की नीति प्राप्त कराना तभी भारतीयता की भावना दृढ़ बनी रहेगी। राजा राममोह राय ने वेदांत में प्रतिपादित जीवन-दर्शन के प्रचारणार्थ ब्रह्मसमाज की स्थापना की इसके जरिए उन्होंने आधुनिक भारत को जागरण का जो रास्ता दिखाया था वह मह अंग्रेजियत से रिहाई पाना नहीं था, प्रत्युत् भारत की भीतरी अपसंस्कृति को सुसंस्कृ बनाना था। लेकिन अब उनके विचार और ब्रह्मसमाज किसी-न-किसी विशेष सांप्रदायिक के नाम पर चिह्नित किए जा रहे हैं। रवीन्द्रनाथ ठाकुर, गाँधीजी, योगी अरविं परमहंस, विवेकानंद आदि के दर्शनों को भारतीयता के वास्ते लेना चाहिए न सांप्रदायिक हिंदुत्व के वास्ते। क्योंकि उन्होंने वेदांत से प्राप्त अंर्तदृष्टि से मानव-चेतन का संस्कार और परिष्कार करने का परिश्रम किया था। अतः कपट भारतीयता नाम पर इन्हीं विचारकों के प्राणवान सिद्धांतों पर कीचड़ डालना उचित कार्य नहीं है उन्होंने 'गीता' को जीवन का आदर्श बनाया था और अहिंसा को जीवन में मूर्तिमा किया था। लेकिन जनतंत्री देश में सन् 1992 से अब तक हुई घटनाएँ उत्तर आधुनि भारतीयता का काला मुख दिखाती हैं। जनतंत्र को सहमति-असहमति दोनों के संतुल से आगे ले जाने की पराजय ही ऐसी घटनाएँ दिखाती हैं। आजादी पाने के बाद अब तक हुए तमाम विकास के बावजूद ऐसा प्रतीत होता है कि देश में पर्याप्त विका कभी न होगा। शताब्दियों से भारत के सांस्कृतिक स्थलों पर रुग्ण मानसिकता पैठ रहं है। भारतीयता में भी एक आहत सभ्यता मंडरा रही है।

भारत को भारतीय बहुत कम जानते हैं। वैसे प्रवासी भारतीय भारतीयता प्रवासी होकर इज्जत पाते हैं। प्रवासी भारतीयों की भारतीयता पर विचार करने लिए भारतीय प्रवासी नई पीढ़ी को समझना आवश्यक है। वे भारतीयता को पुरस्का के रूप में देखना चाहते हैं। भारतीय उद्योग, व्यवसाय, विज्ञान, चिकित्सा आदि क्षे में यश और धन देकर वे भारत देश को दुनिया के शीर्षस्थ में रखना चाहते हैं।

भारतीयता को भी एक थोथा शब्द न बन चुकना है तो भारतीय मुहावरों सोचने की ताकत बढ़ाना चाहिए। समाजवादी समाज की कामना, जनतंत्र की स्वाय शासन-व्यवस्था का सदुपयोग, सेक्यूलरवाद की प्रतिबद्धता और मिश्रित अर्थ व्यवस्

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

को गति देना आदि इस वैश्वीकरण के समय, आर्थिक सुधार के समय, उदारवाद के अवसर पर भारतीयकरण को गति देनेवाली प्रक्रियाएँ हैं। ऐसे लक्ष्यों की प्राप्ति के लिए प्रयत्नशील भारतीयता की व्याख्या गलत रूप में हमारे बुजुर्ग राजनीतिक करते हैं तो यह उनके सांप्रदायिक संघर्ष पैदा करने का स्वार्थी लक्ष्य है। भारतीयता की मूल भावना सत्ता भोगने की स्वतंत्रता की कामना नहीं है वरन् आत्मा एवं आस्था में स्वतंत्रता पाना है जिसमें सांप्रदायिक संकीर्णता या जातीय कट्टरता नहीं है। महज यही भारतीयता का उद्देश्य है—

"हम कौन थे क्या हो गए हैं और क्या होंगे अभी
आओ विचारें आज मिलकर ये समस्याएँ सभी।"

('भारत-भारती'—मैथिलीशरण गुप्त)

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

सप्तकों की भूमिकाएँ

नित्यानंद श्रीवास्तव*

15 अगस्त, 1947 के तुरंत बाद से ही देश का संवेदनशील मन 'स्वतंत्रता' को नए सिरे से प्रश्नांकित करता रहा है। 'आधी-अधूरी आजादी' और 'सत्ता का हस्तांतरण' जैसे पद ज्ञान के लगभग सभी अनुशासनों में समान चिंता के साथ प्रयुक्त होते रहते हैं। कुछ विशिष्ट अवसरों पर यह चिंता उद्वेग के साथ प्रकट हुई है; जैसे यदि हम आपात्काल की बात करें या इधर अन्ना हजारे और स्वामी रामदेव के आंदोलनों को आत्मसात करें तो कई बार यह लगता है कि 15 अगस्त, 1947 को प्राप्त की गई वह उपलब्धि हमें एक छोटे बाड़े की कैद की तुलना में अपेक्षाकृत एक बड़े बाड़े की कैद में खुला छोड़ देने से अधिक कुछ भी नहीं थी। एक ऐसा बड़ा 'बाड़ा' जिसके मालिक 'इंडियन्स दैट इज भारतीय' होंगे पर जिसके कायदे-कानून यहाँ तक कि सारे 'तंत्र' औपनिवेशिक ढाँचे पर आधारित होंगे। दुर्भाग्य से यही अभिशप्त स्थिति विद्यमान है जिसमें हम जीने के लिए और आजादी की दूसरी लड़ाई लड़ने के लिए बाध्य हैं। जाहिर है, इस पर अनेक कोणों से चर्चा हो सकती है और खतरा यह है कि यदि चर्चा में गंभीरता कम हुई तो केंद्र में सिर्फ 'राजनीति' रह सकती है।

थोड़ी कम गंभीरता से ही शुरुआत करें तो 'राजनीति' एक अंतहीन जायकेदार बहस का दूसरा नाम है। सबके अपने-अपने स्वार्थ हैं और अपने-अपने चौखटे हैं। एक साहित्यकार, एक सृजनशील मन इस स्वार्थ और चौखटे के प्रभावी होने के बावजूद और कई बार उनके कारण भी 'स्वतंत्रता' के मूलभूत प्रश्न पर सोचता है। उसकी यह सोच ही उसे एक वृहत्तर परिप्रेक्ष्य से जोड़ती है जहाँ वह परंपरा और वर्तमान की चुनौतियों से एक साथ संघर्ष करता हुआ, सृजन-संदर्भों से जुड़ता है। आजादी के बाद आरंभिक दो-तीन दशकों में हिंदी के रचनाकारों में यह जद्दोजहद खूब दिखाई पड़ती है।

*प्रवक्ता हिंदी विभाग, सी.जी.एन. पी.जी. कॉलेज, गोला गोकर्णनाथ खीरी।

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

अज्ञेय ने चौथा सप्तक की भूमिका में इस द्वंद्व को रेखांकित किया है, कुछ जरूरी सवाल उठाए हैं और समाधान के सूत्रों को खोजने का प्रयास भी किया है। इनमें से कुछ सवाल तो आज भी प्रासंगिक हैं यद्यपि संभावना इस बात की भी है कि अनेक आग्रही रचनाकारों को ये सवाल, सवाल जैसे ही न लगें। वैसे, जागता तो दुखिया दास कबीर ही है, भले ही उसका जागना संसार को अपनी नींद में खलल जैसा लगे। बहरहाल अज्ञेय रेखांकित करते हैं, "...लेकिन जो बात चिंत्य है वह यह कि कवि की राजनीतिक चेतना के साथ राजनीतिक मतवाद का आरोप कहाँ तक उचित है? क्या कविता को अनिवार्यतया किसी राजनीतिक संदेश की वाहिका होना चाहिए? और जो कविता संकल्पपूर्वक किसी राजनीतिक मत का प्रतिपादन करने नहीं चलती वह क्या इसीलिए अनिवार्यतया घटिया हो जाएगी? क्या काव्य केवल एक साधन है?[1] ये सवाल जिन समय-संदर्भों में उठाए गए हैं, वे समय-संदर्भ गहरी पड़ताल की अपेक्षा रखते हैं।

राजनीतिक मतवाद का स्थानीय या वैश्विक आग्रह कवि-चेतना को बड़ी आसानी से अपनी गिरफ्त में ले लेता है। दक्षिण, वाम, तीसरी दुनिया, आधी दुनिया जैसे पद विशेष प्रकार के राजनीतिक एवं सामाजिक प्रत्ययों की देन हैं। इनके प्रक्षेपण केंद्रों की पहचान और उनसे सावधानी कविता और समालोचना की अनिवार्य आवश्यकता है। राजनीति और विचारधारा के नाम पर साहित्य के वर्गीकरण और वर्गांतरण के प्रयासों के खतरों और दुष्परिणामों का एक उदाहरण शुकदेव सिंह और अज्ञेय की इस बातचीत में देखें—"अज्ञेय जी ने एक बड़ी विचित्र बात बताई। कहा, जब मैं 'तार सप्तक' निकाल रहा था उस समय की और उसके बाद की कम्युनिष्ट पार्टी के हाई कमान की ओर से कुछ उभरते हुए साहित्यकारों को यह आदेश दिया गया था कि वे साहित्य में मुझे समाप्त करें।...मेरे निकट रहने वाले मित्रों में प्रभाकर माचवे, नेमिचंद जैन, मुक्तिबोध तमाम लोग प्रगतिशील विचारधारा के थे। उन सबसे ऊपर-ऊपर आत्मीयता भी थी लेकिन मेरा सबसे निकट का संबंध, सबसे घनिष्ठ और प्रिय भाव कवि भारतभूषण अग्रवाल के साथ था।...उन्होंने किसी सुंदर क्षण में सी.पी. आई. के इस संकल्प की बात मुझे बताई, रहस्य खोल दिया और यह भी बताया कि हमने पार्टी ऑफिस को यह रिपोर्ट भेज दी है कि हमने अज्ञेय को अकेला कर दिया है लेकिन खेद है कि हम साहित्य में उन्हें समाप्त नहीं कर पाए।"[2] प्रगतिशील लेखक संघ के गठन के बाद अगले बीस-पच्चीस वर्षों में मार्क्सवाद का वर्गवाद साहित्य में शत्रुतावाद की सीमा तक विस्तार पा गया। रचनाधर्मिता और समालोचना के इस दृष्टिबाधित दौर में अज्ञेय ने सप्तकों के प्रकाशन से साहित्य में सकारात्मक प्रवृत्तियों का प्रवर्तन किया। राजनीतिक चेतना में मतवाद के आरोपण को दरकिनार करते हुए उन्होंने 'स्वतंत्रता' के व्यापक मूल्य की पहचान बतायी और चौथा सप्तक की भूमिका

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

में लिखा, "...संकलित कवियों के राजनीतिक विचारों के होते हुए भी एक स्तर पर एक सामान्य अनुभव की बिरादरी में आ जाते हैं तो यह कथन अनुचित न होगा और वह सामान्य अनुभव है—एक स्वातंत्र्य का अनुभव।"[3]

मार्क्सवाद, राजनीतिवाद और प्रगतिशीलता आदिवादों के घालमेल का परिणाम एकतरफा नहीं रहा। शुरुआत के कुछ साथी तो अन्यमनस्क हो साथ छोड़ गए और कुछ घोषित तौर पर हटा दिए गए। रामविलास शर्मा और राहुल सांकृत्यायन जैसे कुछ बड़े नाम तो राह में पड़े रोड़े की तरह खटकने लगे और भारत भूषण अग्रवाल जैसे लोगों ने पार्टी की सदस्यता से ही इस्तीफा दे दिया। चौथा सप्तक की भूमिका में अज्ञेय ने लिखा, "...उसके बाद कैसे बढ़ती हुई वैचारिक संकीर्णता और असहिष्णुता के कारण प्रायः सभी बड़े साहित्यकार एक-एक करके निकाल दिए गए या स्वयं हट गए और इससे कैसे आंदोलन ही मृतप्रायः हो गया, ये बातें समकालीन साहित्य के इतिहास का अंग हो गई हैं।"[4] समकालीन साहित्य का इतिहास बहुत पुराना नहीं है और परिदृश्य से इतना तो स्पष्ट है कि मतवादी साहित्य और साहित्यकार की ताब चली गई है यद्यपि ऐंठन अभी थोड़ी बहुत बाकी है।

'निज कबित्त केहि लाग न नीका' की तर्ज पर तत्कालीन और समकालीन रचना और आलोचना में 'अहं' का विस्फोट 'ब्रह्म' की तरह व्याप्त है। बौद्धिकता बौद्धिक अराजकता के लिए घूँघट का काम कर रही थी। अज्ञेय ने टिप्पणी की, "आज की कविता का बहुत बड़ा और शायद सबसे बड़ा दोष यह है कि उस पर एक 'मैं' छा गया है, वह भी एक अपरीक्षित और अविसर्जित 'मैं'। आज की कविता बहुत बोलती है, जबकि कविता का काम बोलना है ही नहीं।"[5] इस समस्या का एक कारण तो यह है कि देश अभी हाल ही में स्वतंत्र हुआ था और देश के निवासियों को जिस बात की सबसे अधिक प्राप्ति हुई, वह थी 'अभिव्यक्ति की स्वतंत्रता'। इसी संदर्भ में दूसरी बात यह है कि नेहरू जी की शुरुआती सरकार बाईं ओर थोड़ा ज्यादा लड़खड़ा रही थी इसलिए अपने मतवादी साहित्यकार सिर के बल चलने के अभ्यासी बन रहे थे।

'अहं' सर्जकमन और भोक्तामन दोनों को विकृत करता है। यह बात इस समय के अधिकांश कवियों को छोड़कर हिंदी के प्रायः सभी कवियों को पता है। कबीर बड़ी विनम्रता से 'मसि कागद छूओ नहीं' की बात करते हैं तो तुलसी अपनी कविता को 'बाल-विनय' की संज्ञा देते हैं तथा अपने पूर्ववर्ती, वर्तमान के एवं भविष्य में होने वाले राम-कथा गायकों को सश्रद्ध प्रणाम करते हैं। रीतिकाल के कवियों को भी कवित्त और राधा-कृष्ण के सुमिरन में प्राथमिकता का बखूबी पता था। स्वातंत्र्य संघर्ष के दिनों में पूरे भारतवर्ष में एक तरफ तो बौद्धिक दासता से, हीनताबोध की ग्रंथि से एवं आयातित भाव-बोध से आक्रांत व्यक्तियों का वर्ग तेजी से उभर रहा था तो दूसरी ओर आर्य समाज एवं रामकृष्ण मिशन और इस तरह के अनेक स्वातंत्र्य प्रिय जनांदोलन भारतीय मेधा की अनेक आयामों में अभिव्यक्ति का संयोजन कर रहे थे। इस द्वंद्व को

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

भारतेंदु मंडल के लेखकों में रेखांकित किया जा सकता है। अपने समय, समाज एवं वैश्विक परिदृश्य के आत्मसातीकरण की प्रक्रिया का अनुभव इस दौर के साहित्यकारों में बहुत साफ है। फिर भी, कम-से-कम छायावाद तक सर्जक 'मैं' अपने ही साहित्य पर कम-से-कम छाया हावी है।

गोस्वामी तुलसीदास ने इस 'मैं' की खूब पहचान की है। रामचरितमानस का आरंभ में 'स्वांतःसुखाय' करते हैं और 'ग्रंथ की रचना करते हुए अंतिम श्लोकों में कहते हैं—

यत्पूर्वं प्रभुणा कृतं सुकविना श्रीशम्भुना दुर्गमं
श्रीमद्रामपदाब्जभक्तिमनिशं प्राप्त्यै तु रामायणम्।
मत्वा तद्रघुनाथनामनिरतं स्वान्तस्तमः शान्तये।
भाषाबद्धमिदंचकार तुलसी दासस्तथामानसम् ॥ उत्तरकांड ॥

(श्रेष्ठ कवि भगवान श्रीशंकर जी ने जिस दुर्गम मानस-रामायण की, श्रीराम जी के चरण कमलों में नित्य निरंतर (अनन्य) भक्ति प्राप्त होने के लिए रचना की थी, उस मानस रामायण को श्री रघुनाथजी के नाम में निरत मानकर अपने अंतःकरण के अंधकार को मिटाने के लिए तुलसीदास ने इस 'मानस' के रूप में भाषाबद्ध किया।[6]

'स्वांतः सुखाय' और 'स्वांतस्तमः शान्तये' ये दोनों पद रचनाकार के 'मैं' की तलाश के पद हैं। जिन्होंने रामचरितमानस ठीक से नहीं पढ़ी से 'स्वांतः सुखाय' के कारण गड़बड़ी कर जाते हैं। तार सप्तक में अपनी संकलित कविताओं के वक्तव्य में अज्ञेय ने इस 'स्वातःसुखाय' से संवाद में जल्दबाजी की है। वे लिखते हैं, "मैं स्वांतः सुखाय' नहीं लिखता। कोई भी कवि केवल 'स्वांतः सुखाय' लिखता है या लिख सकता है, यह स्वीकार करने में मैंने अपने को सदा असमर्थ पाया है। अन्य मानवों की भाँति अहं मुझमें भी मुखर है और आत्माभिव्यक्ति का महत्त्व मेरे लिए भी किसी से कम नहीं है पर क्या आत्माभिव्यक्ति अपने आप में संपूर्ण है। अपनी अभिव्यक्ति-किंतु किस पर अभिव्यक्ति। इसीलिए 'अभिव्यक्ति' में एक पाठक या श्रोता मैं अनिवार्य मानता हूँ और इसके परिणामस्वरूप जो दायित्व लेखक या कवि या कलाकार पर आता है उससे कोई निस्तार मुझे नहीं दीखा।"[7] यह जल्दबाजी अन्वेषण की है और कवि का, उसकी कविता का विकास होता रहता है। 'अपरीक्षित' और 'अविसर्जित' 'मैं' की पहचान अज्ञेय को स्वयं बाद में हुई, तभी 'असाध्यवीणा' जैसी श्रेष्ठ कविता हिंदी जगत को मिली। और रही बात पाठक और श्रोता की तो तुलसीदास ने अपने रामचरितमानस में वक्ता-श्रोता की खूब चर्चा की है।

आत्म, स्व, मैं, अहं ये सब एक ही अर्थ के पद हैं। इनसे 'निस्तार' पाना कवि के लिए भी कठिन है और उस पाठक या श्रोता के लिए भी जिसकी तलाश उस कवि को है। कवि की यह कठिनाई बदलते युग-संदर्भों के कारण बढ़ती जाती है। यानी

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

युग-संदर्भ जितनी तेजी से बदलते हैं उतनी ही तेजी से कवि की कठिनाई बढ़ती जा
है और तब पाठक या श्रोता और समीक्षक की भी।

इस 'मैं' के परीक्षण और विसर्जन की समस्या का एक हल 'साधारणीकर
है। लेकिन यह साधारणीकरण भी आज के कवि के लिए 'कठिन' है। प्रगति-प्रयोग-
आदि कवितावादियों के लिए 'कठिनाई' एक प्रचलित पद-विन्यास है। बहरहाल, य
कठिनाई क्यों है, इसे अज्ञेय से सुनिए, "आधुनिक ज्ञान-विज्ञान की समूची प्रगति औ
प्रवृत्ति विशेषीकरण की है, इस बात को पूरी तरह समझकर ही अनुभव किया
सकता है कि साधारणीकरण का काम कितना कठिनतर हो गया है—समूचे ज्ञान-विज्ञा
की विशेषीकरण की प्रवृत्ति को उलाँघकर, उससे ऊपर उठकर, कवि को विभाजि
सत्य को समूचा देखना और दिखाना है।"[8] साधारणीकरण में होने वाली मु
कठिनाई 'विशेषीकरण' और विभाजित सत्य को समूचा देखने दिखाने की है। पहले
कवियों के सामने अज्ञेय के हिसाब से यह कठिनाई नहीं थी। क्योंकि तब, "प्राचीनका
में जब ज्ञान का क्षेत्र सीमित था और अधिक संहत था, जब कवि, वैज्ञानि
साहित्यिक आदि अलग-अलग बिल्ले अनावश्यक थे और जो पंडित या शिक्षित
सभी ज्ञानों का पारंगत नहीं तो परिचित था ही, साधारणीकरण की समस्या दूसरे प्रक
की थी।"[9] यहाँ इस बात को रेखांकित करना जरूरी है कि प्राचीन काल का कवि ज्ञा
के क्षेत्र के सीमित और संहत होने के कारण उन सभी ज्ञानों से कम-से-कम परिचि
तो था ही।

अज्ञेय पर जिन विचारों का प्रभाव स्वीकार किया जाता है उसमें जैन संप्रदा
और तदनुसार बुद्ध के विचारों का योग महत्त्वपूर्ण है। गौतम बुद्ध ज्ञान को परिभाषि
करते हुए कहते हैं—"शील से प्रक्षालित है प्रज्ञा (ज्ञान)। प्रज्ञा से प्रक्षालित है शी
(आचार)। जहाँ शील है वहाँ प्रज्ञा है; जहाँ प्रज्ञा है, वहाँ शील है। शीलवान को प्रज्ञा
(होती है), प्रज्ञावान को शील। किंतु शील लोक में प्रज्ञाओं का अगुआ कहा जाता
..।[10] शब्द और कृति में अभेद शब्द में अर्थ की वास्तविक प्रतिपत्ति करता है। य
बात मर्मज्ञ साहित्यकार को पता है इसीलिए उसे सबसे पहले अपने अंदर का य
'अंधकार या अपरीक्षित और अविसर्जित 'मैं' चिंतित करता है, चिंतनशील बनाता है
कहीं ऐसा तो नहीं कि हमारे युग के आधुनिक, नए, प्रगतिवादी, उत्तर-आधुनि
आदि-आदि वादी 'ज्ञान' को 'सूचना-केंद्रों' से प्राप्त कर रहे हों।

अज्ञेय जिस 'विशेषीकरण' की बात कह रहे हैं उस पर थोड़ा धैर्य से सोचा जा
तो हर युग के कवि के सामने (ज्ञान-विज्ञान के उसके सीमित दायरे में ही सही) य
समस्या रही है। इस समस्या से जूझने और निस्तार पाने में जिस प्रणाली ने उन प्राची
कवियों की सहायता की है—उसी प्रणाली ने उन्हें अपने समय में और आज छह-सा
सौ वर्षों बाद भी प्रासंगिक और समकालीन बनाया है। वास्तव में समस्या यह है कि
ज्ञान-विज्ञान के विशेषीकृत सूचना-केंद्रों से सूचनाएँ (ज्ञान नहीं) बड़ी तेजी से निरं

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

बदलती और प्रसारित होती रहती हैं। हिंदी का बहुपठित और बहुश्रुत कवि और समालोचक उनसे उतनी ही तेजी से अपना 'तालमेल' बिठा लेता है—रागात्मक संबंधों को जोड़ने की नवीन प्रणालियों के आधार पर। लेकिन वह, उस अधिकांश 'मूढ़' जनता का क्या करे, जो पुराने पोथी-पतरों में ही उलझी रहती है।

लेकिन, अज्ञेय की चिंता अपनी जगह जायज है। विशेषीकरण की प्रवृत्ति से साधारणीकरण के लिए उन्होंने जो सिद्धांत दिया है, वह 'रागात्मक संबंधों को जोड़ने की नवीन प्रणाली है। इस नवीन प्रणाली की प्रक्रिया में कवि को साधारणीकरण के लिए 'विशेष' को उलाँघना होता है, उससे ऊपर उठना होता है तब वह विभाजित सत्य (विशेष) को समूचा देख पाता है और दिखा पाता है। यह तो हुई अज्ञेय की बात। हमारे सामने एक प्राचीन कवि हैं तुलसीदास। तुलसीदास ने रामचरितमानस में अनेक स्थानों पर साहित्यशास्त्रीय सिद्धांत दिए हैं। तुलसीदास के सामने उनके अपने ज्ञान-विज्ञान के सीमित दायरे में ही सही 'राम-कथा' के कई विशेषीकृत संदर्भ थे। तुलसी की साधारणीकरण की प्रक्रिया क्या है—इसे देखें—

मैं पुनिनिज गुर सन सुनी कथा सो सूकर खेत।
समुझी नहिं तसि बालपन तब अति रहेउँ अचेत ॥30 क॥
श्रोता बकता ज्ञान निधि कथा राम कै गूढ़।
किमि समुझौं मैं जीव जड़ कलिमल ग्रसित विमूढ़ ॥30 ख॥
तदपि कही गुर बारहिं बार। समुझि परी कछु मति अनुसारा।
भाषाबद्ध करवि मैं सोई। मोरे मन प्रबोध जेहिं होई ॥1॥
जस कछु बुधि बिबेक बल मेरे। तस कहि हउँ हरि के प्रेर।
निज संदेह मोह भ्रम हरनी। करउँ कथा भव सरिता तरनी ॥2॥0

रामचरितमानस : बालकांड

प्राचीन काल का कवि साधारणीकरण के लिए 'विशेष' को उलाँघने और उससे ऊपर उठने की बजाय बार-बार संवाद और आत्मसातीकरण पर जोर देता है। तब अपने विवेक और बुद्धि-बल में हृदय और हरि की प्रेरणा के संयोग से अभिव्यक्ति के लिए तत्पर होता है। अभिव्यक्ति भी इसीलिए कि उसके अपने संदेह, मोह और भ्रम का 'निस्तार' हो सके।

संवाद और आत्मसातीकरण के लिए एक बेहतर शब्द है—तादात्म्य। 'विशेष' से रागात्मक संबंध जोड़ने की नवीन प्रणाली में 'तादात्म्य' का अभाव है। यहाँ अज्ञेय से विनम्र असहमति प्रकट की जा सकती है। तादात्म्य के बिना 'अहं' का परीक्षण और विसर्जन संभव नहीं और तब साधारणीकरण की प्रक्रिया भी पूरी नहीं हो पाती। साधारणीकरण न हो पाने के कारण कवि की अनुभूति विशिष्ट ही बनी रह जाती है और विशिष्टता संप्रेषित नहीं हो पाती।

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

वास्तव में समस्या केवल भाव-ग्रहण की नहीं है। समस्या भाव के रूप-ग्रहण की भी है। जिन्हें 'भाव' शब्द पर आपत्ति हो वे उसकी जगह राग, वृत्ति, संवेदना और अनुभूति भी रख सकते हैं। कवियों और आलोचकों की ज्यादा चख-चख 'रूप-ग्रहण' की प्रक्रिया को लेकर है। अभिव्यक्ति की दशा में कविता 'रूप के शास्त्र' की प्रतीक्षा नहीं करती। महर्षि वाल्मीकि की शाप-वाणी वैदिक छंद-विधान से भिन्न सर्वथा नवीन छंद-विधान की सृष्टि है, यह तो स्वयं महर्षि वाल्मीकि को बाद में पता चला। जैसे कोई नदी पहली बार जल की तेज धारा के रूप में अपना रास्ता स्वयं बनाती चलती है—बाद में हम उसे 'नदी' की संज्ञा देते हैं वैसे ही भाव रूप-ग्रण करते रहते हैं। जलधारा की गति नदी के रूप-आकार का सृजन करती है—उसी तरह 'संगीत' और 'लय' कविता के प्राण-तत्त्व हैं जो कविता के रूप-निर्धारण की प्राथमिक शर्त है। छांदसिकता और मुक्त-छंद ये सब तो 'रूप' की द्वितीयक कसौटी हैं। 'लय' और 'संगीत' वे तत्त्व हैं जो कविता को अन्य विधाओं से अलग करते हैं।

निराला ने जब मुक्त-छंद का प्रवर्तन किया उस समय उन्होंने इसमें 'आर्ट ऑफ रीडिंग' की बात की। यह मुक्त छंद हिंदी के जातीय छंद 'कवित्त' से निकला है, इसलिए इसमें लयात्मकता है। पंत की स्थिति थोड़ी भिन्न है। अज्ञेय इस भिन्नता को सूत्रबद्ध करते हैं—"निस्संदेह सुमित्रानंदन पंत के साथ 'निराला' की तुलना से यह बात स्पष्ट हो जाएगी कि 'निराला' छंद की आधार-भित्ति हमेशा संगीत के सुर को ही मानते रहे और 'पंत' ने भाषा के स्वर को प्रधानता दी।"[11] छंद, संगीत का स्वर और लय ये तो कवियों के लिए परिचित संदर्भ है, लेकिन यह भाषा का स्वर क्या 'बला' है? लय, छंद और हिंदी भाषा से इसके रिश्तों पर बातचीत से पहले 'अज्ञेय' इससे क्या समझते हैं? यह देखिए, "बोलचाल की भाषा का आधार लेते हुए हम लोगों ने स्वभावतः बलाघात या स्वराघात का महत्त्व पहचाना जो कि लय का एक आधारभूत तत्त्व है। इससे पहले स्वर अथवा बलाघात की ऐसी चेतना नहीं थी, न शास्त्र में उसका विचार हुआ था।...श्रुति-संस्कार की विशेषताओं का उल्लेख मैं 'पंत' और 'निराला' के संदर्भ में कर चुका हूँ। यहाँ शायद यह जोड़ लेना भी उचित हो कि छायावाद के कवियों में 'पंत' ही अंग्रेजी रोमांटिक कविता से सबसे अधिक परिचित थे, उसकी विशेषताओं को भी उन्होंने बारीकी से पहचाना था और इससे स्वर की जो नई पहचान बनी थी उसका उन्होंने अपनी कविता में रचनात्मक उपयोग भी किया था। ...स्वर और बलाघात के क्षेत्र में अंग्रेजी में जो नया चिंतन और नए प्रयोग हुए उससे भी इन कवियों के कुछ संस्कार मिले। जो आलोचक इस नई स्वर-चेतना को नहीं समझते थे, अथवा जो विदेश के प्रभाव से विकसित होने वाली पहचान के भी विरोधी थे, उन्होंने इन सब नई प्रवृत्तियों को 'पश्चिम की नकल' कहकर उसकी खिल्ली उड़ाई। पर नकल अपनी जगह थी, दृष्टि का उन्मीलन अपनी जगह।"[12]

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

संगीत और भाषा-विज्ञान का साधारण विद्यार्थी यह बता सकता है कि 'लय' का आधारभूत तत्त्व 'संगीत' है न कि बलाघात। वास्तव में अज्ञेय के आँगन के पार का द्वार पश्चिम की तरफ खुलता है—तो, पश्चिमी शैली के भाषा-पंडितों ने एक सरलीकृत सिद्धांत प्रचलित किया कि वैदिक भाषा संगीतात्मक स्वर प्रधान है और हिंदी भाषा बलाघातात्मक स्वर प्रधान। ये निष्कर्ष गलत नहीं हैं लेकिन इस तथ्य की उपेक्षा कर जाते हैं कि हम जिसे 'हिंदी साहित्य' कहते हैं वह कई बोलियों/भाषाओं से रूपाकार ग्रहण करता है और जहाँ तक कविता की बात है तो उसमें 'लय' का आधारभूत तत्त्व संगीतात्मकता ही है। और जहाँ तक गद्य का सवाल है तो उसमें बलाघातात्मक स्वर की प्रधानता मानी जा सकती है। अज्ञेय यहाँ बोलचाल की भाषा के हवाले से बात तो करते हैं पर इस तथ्य की ओर ध्यान नहीं दे पाते कि अवधी, ब्रज, भोजपुरी, मैथिली, मगही आदि बोलियों/भाषाओं की मिठास और थोड़े आरोह-अवरोह वाली उच्चारण शैली का कारण बलाघांत नहीं बल्कि संगीतात्मकता कला का सहज संस्कार है। खड़ी बोली हिंदी का साहित्यिक स्वरूप इन्हीं बोलियों/भाषाओं से जीवनीशक्ति प्राप्त करता है।

'लय' का आधारभूत तत्त्व संगीत है और संगीत का संबंध 'नाद' से है। आचार्य शुक्ल ने एक रोचक टिप्पणी की है—"नाद-सौंदर्य से कविता की आयु बढ़ती है। ताल-पत्र, भोजपत्र, कागज आदि का आश्रय छूट जाने पर भी वह बहुत दिनों तक लोगों की जिह्वा पर नाचती रहती है। बहुत-सी उक्तियों को लोग उनके अर्थ की रमणीयता इत्यादि की ओर ध्यान ले जाने का कष्ट उठाए बिना ही प्रसन्नचित्त रहने पर गुनगुनाया करते हैं। अतः नाद-सौंदर्य का योग भी कविता का पूर्ण स्वरूप खड़ा करने के लिए कुछ-न-कुछ आवश्यक होता है। इसे हम बिलकुल हटा नहीं सकते। जो अंत्यानुप्रास को फालतू समझते हैं, वे छंद को पकड़े रहते हैं, जो छंद को भी फालतू समझते हैं, वे लय में लीन होने का प्रयास करते हैं। संस्कृत से संबंध रखने वाली बहुत-सी भाषाओं में नाद-सौंदर्य के समावेश के लिए बहुत अवकाश रहता है। अतः अंग्रेजी आदि अन्य भाषाओं की देखा-देखी, जिनमें इसके लिए कम जगह है, अपनी कविता को हम इस विशेषता से वंचित कैसे कर सकते है?"[13]

पचासोत्तरी से लेकर आज तक की मुक्तछंद छंदमुक्त और गद्य बनती हुई कविताएँ न केवल इस विशेषता से वंचित हैं बल्कि उस उन्मीलन से भी जो अज्ञेय को अभिप्रेत है। अज्ञेय के इस बलाघाती प्रयोग ने कवियों को 'निरा' गद्य लिखने को प्रेरित किया और समालोचकों को यह संबल दिया कि वे इस गद्य जैसी चीज को कविता कह सकें। इससे यह स्पष्ट हुआ कि दृष्टि का उन्मीलन हो जाने पर छंद की आधार-भित्ति के प्रश्न पर संगीत के स्वर और भाषा के स्वर में अंतर करने की योग्यता आ जाती है।

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

लेकिन दृष्टि का उन्मीलन तो पंत, अज्ञेय और ऐसे एकाध लोगों को छोड़ बाकी अभ्यासियों का हुआ नहीं। अज्ञेय अपने समय के बड़े विचारक थे, अंजाम अंदाजा उन्हें था, चौथा सप्तक की भूमिका में वे लिखते हैं "...इस लंबी अवधि में हि में कविता प्रचुर मात्रा में लिखी गई है। सब अच्छी नहीं है, यह कहना किसी रह का उद्घाटन करना नहीं है। और शायद अगर यह भी कहूँ कि प्रकाशित कविता अधिकांश घटिया रहा है तो उसे पाठक एक अनावश्यक स्पष्टोक्ति भले ही मान गलत नहीं कहेंगे। किसी भी युग के काव्य के बारे में ऐसा ही कहा जा सक है—अच्छा काव्य अनुपात की दृष्टि से थोड़ा ही रहता है।"[14]

अपने समय की कविता पर यह कठोर और निर्मम टिप्पणी है। बावजूद इस कि जब अज्ञेय अपने समय के कवि को यह सलाह दे चुके हों कि, "लेकिन फिर नई कविता अगर इस काल की प्रतिनिधि और उत्तरदायी रचना-प्रवृत्ति है, अ समकालीन वास्तविकता को ठीक-ठीक प्रतिबिंबित करना चाहती है, तो उसे स्व आगे बढ़कर यह त्रिगुण दायित्व ओढ़ लेना होगा। कृतिकार के रूप में नए कवि साथ-साथ वकील और जज दोनों होना होगा। (और संपादक होने पर साथ-सा अभियोक्ता भी!)"[15] अज्ञेय का यह सूत्र कवियों को खूब भाया। अनेक प्रतापी कवि ने 'त्रिगुण' में एक गुण और मिलाया। वह गुण था—एक अच्छे मैनेजर का गुण राजनीति के गुरु-घंटाल जिस प्रकार 'मैनेजमेंट गुरु' बन जाते हैं उसी प्रकार समर्थ अ उन्मीलित दृष्टि संपन्न समालोचकों की कमी अब नहीं रही। एक सफल मैनेजर सम आलोचकों के लिए छोटे-मोटे इंतजाम करके अपनी कविता की सीमा उलाँघते हु विश्व के महान कवियों की श्रेणी में खड़े होने का प्रमाण-पत्र पा जाता है। अज्ञेय सुझाव के साथ-साथ और उसके बाद हिंदी आलोचना की एक धारा नए प्रतिमानों क तलाशती हुई 'अहो रूपं अहो ध्वनिः' तक के गर्दभ-मर्दन स्वर तक जा पहुँची!

लेकिन इसमें दोष अज्ञेय का नहीं है। दोष उस दृष्टि और बोध का है जो संग्र और त्याग के प्रश्न पर बहुत असावधान है। 'आ नो भद्राः क्रतवो यन्तु विश्वतः' क बात को हम ठीक से नहीं समझ सके। यही कारण है कि छायावादोत्तर कविता औ आलोचना के अधिकांश बीज-शब्द 'पइया' (मृत) ही निकल गए। समस्या उच्च अध्ययन केंद्रों में ज्यादा है। तमाम शोध-कार्यक्रमों में आधुनिक, उत्तर-आधुनिक विरचना आदि-आदि अनेक शब्द बिना परीक्षण के हिंदी जमात में ठूँसे जाते रहे है अनुवादजीवी मानसिकता ने फैशन के तौर पर यह सब जो स्वीकार किया है, उसर दिमागी गुलामी का एक नया दौर शुरू हुआ है। जिस प्रकार देश को आज आजादी की दूसरी लड़ाई की जरूरत है उसी तरह हिंदी साहित्य को भी अपनी जकड़न से मुक्त होने की जरूरत है।

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

सप्तकों के प्रकाशन से 'अज्ञेय' ने अपने समय की एक खास किस्म की जड़ता तोड़ी। 'अज्ञेय' इसलिए भी महत्त्वपूर्ण हैं क्योंकि वे संवाद की, असहमति की और नए आयामों के उद्घाटन की संभावना बरतते हैं। उनकी भूमिकाओं को तमाम असहमतियों के बावजूद उम्मीद की एक 'लौ' के रूप में देखा जाना चाहिए जिसमें इस बात की स्वीकृति है कि कविता हर युग में मनुष्यता का जगाने का कार्य करती रही है और आगे भी करगी।[16]

संदर्भ

1. अज्ञेय; सप्तकों की भूमिकाएँ; आधुनिकता : संवेदना और संप्रेषण, संपादक कृष्णदत्त पालीवाल : वाणी प्रकाशन, संस्करण : 2010, पृष्ठ सं 114।
2. शुकदेव सिंह, आलोचना से हस्तक्षेप, पृ. सं. 6, विजय प्रकाशन मंदिर वाराणसी।
3. अज्ञेय, सप्तकों की भूमिकाएँ, वही पृष्ठ संख्या 142
4. अज्ञेय, वही
5. अज्ञेय, वही पृष्ठ संख्या 141
6. रामचरितमानस, उत्तरकांड, गीताप्रेस
7. अज्ञेय, तारसप्तक पृष्ठसंख्या 222-223, संस्करण 1995
8. अज्ञेय, सप्तकों की भूमिकाएँ, वही, पृष्ठसंख्या 130
9. वही, पृष्ठ संख्या 128
10. दीघनिकाय : सीलक्खन्धवग्गः सोणदण्डसुत्त, अनुवाद भिक्षु राहुल सांकृत्यायन एवं भिक्षु जगदीश कश्यप, संस्करण 1979 ईस्वी, पृष्ठ संख्या 45-46
11. अज्ञेय, छंदबोध, आधुनिक स्थितियाँ, पुस्तक आधुनिकताःसंवेदना और संप्रेषण, सं. कृष्णदत्त पालीवाल, वही, पृष्ठ संख्या 314
12. वही, पृष्ठ संख्या 315-316
13. आचार्य शुक्ल, कविता क्या है, चिंतामणि भाग एकः पृष्ठ संख्या 100, संस्करण 2000, प्रकाशक इंडियन प्रेस, इलाहाबाद।
14. अज्ञेय, सप्तकों की भूमिकाएँ, संकलन वही, पृष्ठ संख्या 137
15. वही, पृष्ठ संख्या 132
16. आचार्य शुक्ल, कविता क्या है, वही पृष्ठ संख्या 103

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

बदलते परिवेश में शिक्षा की चुनौतियाँ

दिनेश मणि*

मानवता आज अस्तित्व के संकट के दौर से गुजर रही है। सार्थक शिक्षा जीवन की एक अनिवार्यता बन गई है। विकासशील देशों के सामने विकास की जो अनेक उलझनभरी समस्याएँ हैं, वे भी प्रशिक्षित योग्यता की माँग करती हैं। उसके और विकसित देशों के बीच की दूरी कम करने के लिए शिक्षा के पुनर्नवीनीकरण की आवश्यकता है। समाज की आंतरिक असमानताओं और विसंगतियों को दूर करने के लिए भी शिक्षा की शक्ति उपयोगी हो सकती है।

शिक्षा केवल ऐसी एकतरफा व्यवस्था नहीं हो सकती जिसमें अध्यापक छात्र को पढ़ाए कि यह ठीक है तथा छात्र उसे समझे बगैर, मूल्यांकन किए बगैर परीक्षा में अध्यापक द्वारा पढ़ाए गए तथ्यों को लिखकर अच्छे अंक प्राप्त कर लें। इस तरह की शिक्षा कभी ऐसे व्यक्ति तैयार नहीं कर सकती जो कल के भारत की परिकल्पना कर सकें। जो यह सोच सके कि कैसे काम किया जाए। इससे मनुष्य का इस तरह से विकास होता है जो यंत्र की तरह काम करता है और हमें इस प्रवृत्ति को बदलने के प्रयास करने चाहिए।

किसी भी शिक्षक को यह महसूस नहीं होना चाहिए कि वह सब कुछ जानता है। सर्वश्रेष्ठ शिक्षक वह नहीं है जो बच्चे को कोई ज्ञान देता है बल्कि वास्तविक शिक्षक वही है जो बच्चों को ऐसी शिक्षा दे जिससे बच्चों का मस्तिष्क सक्रिय हो, उनमें जिज्ञासा की भावना पैदा हो। उनकी विचारने की शक्ति तेज हो ताकि बच्चे के सर्वोत्तम गुण उभरकर सामने आएँ और वह फूल की तरह विकसित हो। यह दुर्भाग्यपूर्ण है कि ऐसे अध्यापकों की संख्या, विशेषकर सरकारी स्कूलों में ज्यादा नहीं है।

हमारी शिक्षा नीति को बेहतर बनाने का कोई भी प्रयत्न तब तक सफल नहीं हो सकता जब तक कि शिक्षकों को, जो कि किसी भी शिक्षण प्रक्रिया की धुरी है

---

* दिनेश मणि डी.एस.सी., पूर्व संपादक, 'विज्ञान' मासिक, 35/3, जवाहर लाल नेहरू रोड, जार्ज टाउन, इलाहाबाद–211002

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

ऊपर उठाने के लिए हैं, उनकी बेहतरी की ओर ध्यान नहीं दिया जाता है, उनको प्रशिक्षण व उनके लिए समाज में यथोचित मान नहीं दिया जाता है। हमारा विकास कदाचित इस बात पर निर्भर करता है कि हम अपने समाज में शिक्षक को कितना मान-सम्मान देते हैं। सम्मान नहीं देंगे तो विकास भी नहीं होगा। हम अपने शिक्षकों को जिस स्तर तक सम्मान देंगे उसी स्तर तक हम ऊपर उठ पाएँगे। किंतु इसके साथ ही हम शिक्षकों से भी यह अपेक्षा करेंगे कि उनका दृष्टिकोण भी सही हो। शिक्षक जिन मूल्यों की शिक्षा दें, वे नैतिक मूल्य बदलती हुई परिस्थितियों के अनुरूप सही हों। प्रशिक्षण-प्रक्रिया में खोज व सृजनशीलता, शिक्षक का बुनियादी गुण होना चाहिए और यह तभी हो सकता है जब हम शिक्षक के प्रशिक्षण पर पूरा ध्यान दें तथा यह सुनिश्चित करें कि योग्यतम लोग शिक्षक बनें तथा ऐसा न हो कि हर जगह रोजगार तलाशने के बाद वे और कोई चारा न देखकर शिक्षक बनें।

औपचारिक शिक्षा द्वारा, व्यावसायिक शिक्षा द्वारा, गैर औपचारिक शिक्षा द्वारा, जहाँ तक पहुँच सके वहाँ तक प्रति व्यक्ति को शिक्षित करना है, तथा इसके साथ ही एक ऐसी प्रणाली भी चाहिए जिससे शिक्षा योग्य प्रत्येक व्यक्ति तक पहुँचा जा सके। इसके लिए हमें सभी उपलब्ध तरीके अपनाने होंगे। हमने कई क्षेत्रों में अपने चिंतन को सीमित कर दिया है। वास्तव में शिक्षा मूलतः ज्ञान के प्रसार का एक माध्यम है, चिंतन तथा दृष्टिकोण के प्रसार का एक तरीका है, एक पीढ़ी से दूसरी पीढ़ी तक जीवन के सही मूल्यों को पहुँचाना तथा भावी पीढ़ी को आने वाली चुनौतियों का सामना करने के लिए तैयार करना है। प्रसार की विधियों को अब से 40 या 50 वर्ष पहले उपयोग की जा रही विधियों तक ही सीमित नहीं रखा जा सकता। परंपरागत भारतीय शिक्षा प्रणाली व्यक्तिपरक थी, जिसमें गुरु और शिष्य के बीच निकट का व्यक्तिगत संपर्क रहता था। जबकि आज एक गुरु और कई शिष्य वाले युग में यह संबंध बिलकुल समाप्त हो गया है। एक अध्यापक और एक शिष्य अथवा एक अध्यापक और तीन या चार छात्र पर आधारित संप्रेषण प्रणाली तब मायने नहीं रखती जब हम एक अध्यापक और 100 छात्रों या 200 छात्रों की बात कर रहे हों। हमें हर प्रकार की उपलब्ध विधि का प्रयोग करना होगा और पश्चिमी देशों या अन्य देशों में प्रयोग की जा रही विधियों को अपनाने या उनकी नकल करने की बजाय उन विधियों का अपनी आवश्यकता के अनुसार ही प्रयोग करना चाहिए क्योंकि हम ऐसी युवा पीढ़ी तैयार नहीं करना चाहते जो किसी अन्य देश की युवा पीढ़ी की नकल हो। हम किसी अन्य युवा पीढ़ी की बजाय भारत की युवा पीढ़ी तैयार करना चाहते हैं। हर उपलब्ध विधि का उपयोग करके ही ऐसा किया जा सकता है।

शिक्षा की नीति ऐसी होनी चाहिए कि वे हमारी राष्ट्रीय समस्याओं को सुलझाने में मदद करें आज सबसे अधिक बल राष्ट्रीय एकता और अखंडता पर दिया जाना चाहिए। क्षेत्रीय विशेषताओं को समाप्त करना होगा कि क्षेत्रीयता की भावना इस तरह

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

न विकसित हो कि वह हमारी राष्ट्रीय पहचान को समाप्त या कमजोर कर दे। हमें यह सुनिश्चित करना है कि धार्मिक नवजागरणवाद हमारी शिक्षा प्रक्रिया की कट्टरवादिता का माध्यम न बने। हमें यह देखना होगा कि हमारी शिक्षा की प्रक्रिया से समाज में हिंसा कम हो। हमारे समाज में भौतिकवाद या उपभोक्तावाद की उस अवधारणा के लिए चुनौती पैदा हो जो प्रचार माध्यमों और हमारे आसपास की दुनिया द्वारा हम पर थोपी गई है। यह दबाव बहुत गंभीर है। शिक्षा प्रणाली द्वारा इसका सामना किया जाना है। हमारी शिक्षा प्रणामी धर्म-निरपेक्षता, समाजवाद, लोकतंत्र, राष्ट्रवाद को बढ़ावा देने तथा समुचित नैतिक मूल्यों को आगे बढ़ाने में सहायक होनी चाहिए। हमें ग्रामीण क्षेत्रों में रहने वाले लोगों की जरूरतें पूरी करने, उनके पोषाहार, स्वास्थ्य में सुधार लाने और सबसे बढ़कर उनके जीवन को बेहतर बनाने के अवसर देने के लिए शिक्षा और विज्ञान का इस्तेमाल करना है।

हमने यह भी देखा है कि शिक्षा का जितना भी प्रसार हुआ है, उससे परिवार के आकार को घटाने में सहायता मिली है और एक तरह से इसने उन दूसरे तरीकों की तुलना में, जिनका हम प्रचार करने की कोशिश में लगे हैं, जनसंख्या नियंत्रण का काम कहीं अच्छे ढंग से किया है। हमारे आर्थिक विकास की गति हमारी जनसंख्या में होने वाली वृद्धि की तुलना में अधिक होनी चाहिए। जनसंख्या पर काबू पाने का एक सबसे अच्छा तरीका लोगों को शिक्षित करना है, खासतौर से महिलाओं को शिक्षित करना।

हम अपनी शिक्षा प्रणाली को मात्र साक्षरता डिग्रियों और उच्च शिक्षा तक ही सीमित नहीं कर सकते। इसमें दैनिक जीवन के काम-काज से संबद्ध दक्षताओं के विकास के लिए व्यावसायिक प्रशिक्षण को समुचित स्थान दिया जाना चाहिए। व्यावसायिक प्रशिक्षण किस स्तर का होना चाहिए यह भी ध्यान रखना होगा। कुछ क्षेत्रों में यह एक बहुत ही साधारण प्रशिक्षण हो सकता है। हमारी प्रणाली इस प्रकार की होनी चाहिए जो लोगों को अपना रोजगार शुरू करने के लिए प्रेरित करे, जो उनमें अपनी सहायता स्वयं करने की भावना पैदा करें और वे सिर्फ दफ्तर के बाबू के रोजगार की तलाश न करें। भारत जैसे बड़े देश में आज ऐसी भावना की जरूरत है। यह काम मात्र परीक्षाओं के माध्यम से पूरा नहीं किया जा सकता। इसके लिए ऐसे तरीकों का पता लगाना होगा जिससे हम प्रत्येक बच्चे की योग्यता और प्रत्येक व्यक्ति की दक्षताओं का सही-सही पता लगा सकें। हमें यह सोचना होगा कि हम डिग्रियों की नौकरियों से अलग कैसे कर सकते हैं। सरकारी क्षेत्र में रोजगार संभवतः सबसे महत्त्वपूर्ण है। हमें इसी क्षेत्र के लिए एक विशेष योजना बनानी चाहिए जिससे डिग्रियों और नौकरियों को अलग किया जा सके, जिससे ऐसे कॉलेज खोलने के लिए दबाव कम हो जहाँ पर ली गई शिक्षा अथवा डिग्री का स्तर घटिया किस्म का होता है और जिसके माध्यम से सरकार में काम करने के लिए और देश की सेवा करने के लिए सर्वश्रेष्ठ लोग उपलब्ध हों।

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

हमारे यहाँ गैर औपचारिक या सुदूर शिक्षा प्रणाली का होना भी आवश्यक है। यह व्यावसायिक शिक्षा नहीं है। इस प्रणाली के अंतर्गत ऐसे लोगों को पढ़ाने का प्रयास किया जाएगा जो औपचारिक प्रणाली के अंतर्गत शिक्षा प्राप्त नहीं कर सके या औपचारिक शिक्षा के दौरान उनकी पढ़ाई बीच में रुक गई थी। इस प्रणाली से उन्हें अपनी छूटी हुई शिक्षा को फिर से आगे बढ़ाने का मौका मिलता है और वे अपने को औपचारिक शिक्षा प्रणाली के स्तर तक ला सकते हैं। यदि वे महसूस करते हैं कि वे सक्षम हैं या उन्होंने काफी शिक्षा प्राप्त कर ली है या वे चुनौती का सामना कर सकते हैं तो वे फिर से औपचारिक शिक्षा प्रणाली में शामिल हो सकते हैं।

हमें अपने समाज को एक ऐसा समाज बनाना होगा जहाँ शिक्षा के प्रति हमेशा रुझान बनी रहे। स्कूल या कॉलेज छोड़ने के साथ ही शिक्षा समाप्त नहीं हो जाती। यह तो एक ऐसी प्रक्रिया है जो जीवन भर चलती है और जब तक हमारे समाज में शिक्षा के प्रति सशक्त रुझान नहीं बनेगा तब तक हम वास्तव में विकसित नहीं हो सकेंगे और आने वाले वर्षों में भारत सम्मुख चुनौतियों का सामना नहीं कर सकेगा। हमारी शिक्षा प्रणाली ऐसी होनी चाहिए जिससे लोगों की क्षमताओं का विकास हो, उनके जीवन के माध्यम से हमारे समाज में उनका महत्त्वपूर्ण योगदान हो। यह सब करने के लिए हमें सभी के लिए एक बुनियादी शिक्षा उपलब्ध करानी होगी चाहे यह औपचारिक शिक्षा, गैर-औपचारिक शिक्षा, व्यावसायिक शिक्षा के माध्यम से हो या फिर खुले विश्वविद्यालयों जैसे अन्य संस्थानों, सुदूर शिक्षा प्रणाली या शिक्षा के अन्य माध्यमों से हो।

हमारे समाज के कुछ वर्ग ऐसे हैं जहाँ शिक्षा का प्रसार उतना नहीं हुआ जितना होना चाहिए था। अनुसूचित जातियाँ, अनुसूचित जनजातियाँ और कुछ दूसरे कमजोर वर्ग ऐसे ही उदाहरण हैं। लेकिन यदि हमें किसी ऐसे वर्ग का पता लगाना हो जो शिक्षा की दृष्टि से सबसे अधिक उपेक्षित रहा है तो वह वर्ग है महिलाओं का, लड़कियों का। चाहे उच्च वर्ग हो या मध्यम वर्ग, चाहे अनुसूचित जातियाँ हों या अनुसूचित जनजातियाँ, या पिछड़े वर्ग, चाहे अल्पसंख्यक हों, सभी वर्गों में लड़कियों को ही सबसे कम शिक्षा मिलती है, लड़कियों की ही पढ़ाई अधूरी रह जाती है। हमारे लिए यह विशेष चुनौती होनी चाहिए कि हम देखें कि हम स्कूलों में अधिक-से-अधिक संख्या में लड़कियों को कैसे शिक्षा दे सकते हैं। हमने लड़कियों के लिए माध्यमिक स्तर तक शिक्षा को निःशुल्क कर दिया है लेकिन इससे उनकी बीच में ही पढ़ाई छोड़ने की दर में कमी नहीं आई है। हमें ऐसे उपाय करने चाहिए जिससे लड़कियों को अपनी पढ़ाई जारी रखने की प्रेरणा मिले। यह प्रेरणा लड़कियों को ही नहीं बल्कि उनके माता-पिता और समाज को भी मिलनी चाहिए, विशेषकर ग्रामीण क्षेत्रों में लोग लड़कियों की पढ़ाई को महत्त्व दें।

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

गाँवों के परिवारों की कुछ ऐसी व्यावहारिक समस्याएँ होती हैं जो लड़कियों स्कूल जाने में बाधक होती हैं। इन समस्याओं को दूर किया जाना चाहिए जैसे कि से स्कूल काफी दूर पर होना, सह-शिक्षा की समस्या। लड़कियों को स्कूलों में भे और उनकी पढ़ाई को जारी रखने के लिए हमें समाज के नेताओं, स्वयंसेवी संस्था विशेषकर महिलाओं की संस्थाओं को सक्रिय करना होगा।

वास्तव में शिक्षा न तो अपने आप ही कोई क्रांति लाएगी और न ही नैति व्यवस्था में परिवर्तन करेगी। इसकी भूमिका तो अनिवार्य रूप से प्रारंभिक अं समर्थक होगी, लेकिन इसका महत्त्व भी इस दृष्टि से है कि यह हमें वैकल्पिक भवि की ओर अग्रसर होने में सहायता देती है। समय आ गया है कि अब हम उस भवि के बारे में गंभीरता से विचार करें और जीने के लिए एक नया अभिकल्प तैयार क भविष्य के समाज की बुनियाद निश्चित रूप से सेवा और बलिदान की भावना पर रखी जाएगी। वह उपभोग के महत्त्व को घटाएगी और सामाजिक सेवाओं पर ब देगी। हमें बहुत निष्ठा और स्पष्टता के साथ श्रम और सादगी की ओर जाना होग विकास पर पुनर्विचार करते हुए हमें जीवन के गुणात्मक आयामों पर भी विचार कर होगा और शिक्षा को नए सामाजिक लक्ष्यों के अनुकूल बनाना होगा।

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

पूर्वोत्तर के असम में हिंदी भाषा–साहित्य के विकास का परिदृश्य

दिनेश कुमार चौबे*

प्रारंभ में यह विश्वास ही नहीं होता था कि असम जैसे हिंदीतर राज्य ने हिंदी भाषा और साहित्य के विकास में किसी प्रकार का योगदान दिया होगा। पर न केवल इस भ्रम का निराकरण हुआ बल्कि ग्रियर्सन की उक्ति "हिंदी प्रारंभ से ही आंतर भाषा के रूप में विकसित हुई थी" की सच्चाई भी प्रकट हुई। हिंदी के व्यापक, संघीय और संश्लिष्ट रूप को आजकल कभी-कभी आँखों से ओझल कर दिए जाने के कारण ही खड़ी बोली और उसके साहित्य मात्र को हिंदी मानने की नासमझी की जाती है। व्याकरणिक भिन्नता और भाषा वैज्ञानिक साक्ष्यों के आधार पर हिंदी की पश्चिमी, पूर्वी, बिहारी और राजस्थानी बोलियाँ परस्पर भिन्न होने के बावजूद काव्य भाषा के संरचनात्मक स्तर पर विभिन्न जनपदों (आजकल के राज्यों) को जातीय और सांस्कृतिक एकता के उदार सूत्रों से बँधी रही है। इसी प्रकार हिंदीतर प्रदेशों की 'गूजरी' गुजरात, 'शास्त्री', अथवा 'शास्त्रीक'(पंजाब), 'गुसाईं भाषा' (केरल), 'ब्रजबुलि' (बंगाल, ओड़िशा), 'ब्रजावली' (असम), 'गोहारी' (सिलहट अंचल, बंगलादेश) इत्यादि भाषाएँ एवं उनमें रचित विशाल साहित्य भी हिंदी की क्षेत्रीय दृष्टि से अनिर्दिष्ट रूप, अखिल भारतीय रूप के अंतर्गत आ जाते हैं। प्रारंभ से ही हिंदी ने न केवल गंगा-यमुना की काँठे की विभिन्न जनपदीय संस्कृतियों को अपितु कामरूप से लेकर केरल और कश्मीर तक मोटे तौर पर समग्र भारतवर्ष—की क्षेत्रीय और जनपदीय संस्कृति को अपनी परिधि में समेटा है। जनपदीय वैविध्य के बावजूद उनमें सतत प्रवहमान सांस्कृतिक अंतःसलिला और काव्य संरचना की आंतरिक एकसूत्रता के कारण कबीर और केशवदास कायस्थ (गुजरात), सूर और शंकरदेव (असम), तुलसी और स्वाति तिरूनाल (केरल), सिद्ध लिंगेस (कर्णाटक) और नदेल्ल पुरुषोत्तम (आंध्र), बाबा शंकरगंज (पंजाब) और

*डॉ. दिनेश कुमार चौवे, एसोसिएट प्रोफेसर, हिंदी, पूर्वोत्तर पर्वतीय विश्वविद्यालय, शिलांग—22, फोन : 0364—2550139, मो. 09436312134

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

यशोराज खान (बंगाल), राय रामानंद पट्टनायक (ओड़िशा) और नामदेव (महाराष्ट्र) इत्यादि को हम एक ही विशिष्ट विकसनशील काव्य भाषा के विविध रूपों के प्रयोक्ता घोषित कर उन्हें हिंदी की आख्या से विभूषित करते हैं, किंतु खड़ी बोली से वर्तमान उर्दू भाषा का व्याकरण एवं बोलचाल के सामान्य स्तर पर साम्य होने के बावजूद मीर और गालिब को हिंदी का कवि नहीं मानते हैं। तात्पर्य यह कि हिंदी प्रारंभ से ही समग्र भारत की न केवल संपर्क भाषा, अपितु साहित्य सृजन की भाषा भी रही है। उपलब्ध सामग्री की निरीक्षा परीक्षा करने के पश्चात हम इस निष्कर्ष पर पहुँचते हैं कि अन्य हिंदीतर राज्यों की तरह ही असम में भी हिंदी भाषा का विकास और उसमें काव्य सृजन प्रायः उसी समय से प्रारंभ होता है जब से हिंदी भाषी राज्यों में।

'असम' नाम अपेक्षया नवीन है। आज से हजार-बारह सौ वर्ष पूर्व जब हिंदी का प्रारंभ हो रहा था, इसका नाम 'कामरूप' था। 'कालिकापुराण' (38/118) में कामरूप का विस्तार पश्चिम में करतीया नदी से पूर्व में ललितकांता (दिक्कड़वासिनी नदी) तक बताया गया है। वर्तमान पश्चिम बंग का उत्तरी क्षेत्र और बाङ्ला देश का सिलहट क्षेत्र कामरूप के अंतर्गत था। राजनीतिक दृष्टि से कदाचित यह तब भी कई इकाइयों में विभक्त था। उपलब्ध साक्ष्यों से सिद्ध होता है कि कामरूप में कामरूपी (असमी) भाषा के साथ-साथ हिंदी में काव्य सृजन होता था। इस दृष्टि से सिद्धों और नाथों की रचनाएँ उद्धृत की जा सकती हैं।

डॉ. सुनीति कुमार चटर्जी ने लिखा है—"एक हजार वर्ष शुद्ध बंगला भाषा के साथ-साथ कहीं-कहीं बंगाल के साहित्यिकों के बीच शौरसेनी अप्रभ्रंश नाम से परिचित, प्राचीनतम पछाँही हिंदी का एक प्राचीनतर साहित्य प्रकार भेद प्रचलित था। अतः प्रथम युग के बंगाली कवि तथा अन्य लेखकगण बंगला के साथ-साथ पछाँही हिंदी के एक प्रकार के प्राचीन साहित्यिक रूप की चर्चा करते थे तथा उसमें गान और कविता रचते थे। फिर यह भाषिक रूप परवर्ती काल में प्रचलित बंगाली वैष्णव कवियों की भाषा 'ब्रजबुलि' के समान था। इससे स्पष्ट है कि ईसा की दसवीं शती के आस-पास जो बंगाल के लिए सत्य है, वह कामरूप यानी असम के लिए भी। कामरूप के काव्यकार भी उस समय कामरूपी के अतिरिक्त हिंदी में रचना करते होंगे। दुर्भाग्य से उस समय की रचनाएँ (हिंदी और कामरूपी दोनों की) अप्राप्य हैं। 'चर्यापद के पश्चात लगभग चौदहवीं सदी (माधव कंदलि के पूर्व) तक असमी भाषा और उसकी कविता के उदाहरण भी अप्राप्य हैं। इस काल में रचित यहाँ की हिंदी कविता का अप्राप्य होना अस्वाभाविक नहीं।

पुनः शंकरदेव द्वारा ब्रजावली भाषा में रचित गीतों और नाटकों को, जिन्हें प्रायः सभी आलोचकों ने उनकी समस्त रचनाओं में श्रेष्ठ स्वीकार किया है, देखने से यह विश्वास ही नहीं होता कि उनके पूर्व ब्रजावली की कोई परंपरा नहीं होगी। अस्तु, अभी यह अनुमान भर किया जा सकता है कि शंकरदेव के पूर्व भी ब्रजावली अथवा हिंदी

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

के किसी-न-किसी भाषिक रूप में गीत अवश्य रचे जाते होंगे जिसे उन्होंने परंपरा से अर्जित किया होगा। प्रस्तुत अनुमान की पुष्टि इससे होती है कि आमबाड़ी और नगाँव (डबका) से प्राप्त शिलालेखों (शंकरदेव पूर्ववर्ती) की भाषा को विभूति पाचनी ने ब्रजावली से अपृथक स्वीकार किया है।[3] शंकरदेव पूर्व ब्रजावली भाषा की उपलब्धि के ये प्रमाण निश्चय ही महत्त्वपूर्ण हैं।

कामरूप में ब्रजावली भाषा के अंतर्गत हिंदी की न केवल पछाँही (ब्रजी) रूप का बल्कि उसके पूर्वी रूप का भी प्रचार-प्रसार हुआ था। डॉ. सुनीति कुमार चटर्जी ने लिखा है–चौदहवीं शती में सूफी प्रभाव से, संभवतः शाह जलाला के अनुचरों द्वारा बंगाल में 'अवधी' भाषा का भी प्रचार हुआ था। तत्कालीन कामरूप के श्रीहट्ट (सिलहट) अंचल में वही भाषा गोहारी या गोयारी नाम से जानी जाती थी।[4] यह भाषा देवनागरी लिपि में ही लिखी जाती थी बाद में बंगाक्षर और नागराक्षर के मेलजोल से लिपि में ही किंचित भिन्नता होती गई और वही आज भी सिलहटी नागरी (सिलेटी नागरी या सिलेटी) के नाम से जानी जाती है। गोहारी या गोयारी का प्रचलन मुख्यतः मुस्लिम समाज तक ही सीमित रहा और इस भाषा में कई मुस्लिम कवियों ने धार्मिक गीत और गाथाएँ एवं सूफी प्रेमाख्यानों की रचनाएँ भी की हैं। उक्त क्षेत्र के अब बाङ्ला देश में मिल जाने से इस विषय में कुछ अधिक कहना संभव नहीं है, पर यदि असम के कछार जिले के मुस्लिम घरों की उचित छानबीन की जाए तो भी कतिपय पांडुलिपियों के प्राप्त होने की संभावना से इनकार नहीं किया जा सकता। कॉटन कॉलेज, गुवाहाटी के फारसी विभाग के अध्यक्ष प्रो. नाजिमुद्दीन अहमद के निजी भंडार में भी गोहारी भाषा (सिलहटी नागरी) की एक पांडुलिपि सुरक्षित है जिसकी लिपि देवनागरी और कैथी (कैथाली) का मिश्रित रूप है। इस भाषा के कवियों में दौलत काजी और सय्यद आलाऔल की रचनाएँ अधिक लोकप्रिय हैं जिन्हें लोग बहुधा गाते भी हैं। पर्याप्त शोध के अभाव में इस भाषा की रचनाओं और कवियों के विषय में कुछ भी कहना अभी असंगत ही होगा।

उपर्युक्त विवेचन से यह स्पष्ट है कि असम अथवा कामरूप में हिंदी के एक रूप विशेष का विकास, प्रचार और उसमें साहित्य का सृजन प्रायः हिंदी भाषी राज्यों के समानांतर ही होने लगा था। हाँ, यह सत्य है कि यहाँ सृजन कार्य न तो लगातार चलता रहा और न जो भी आज तक लिखा गया है उसके क्रमिक विकास के साधन के लिए किसी प्रकार की योजना बनाई गई है। साधारण सर्वेक्षण से यह भी स्पष्ट होता है कि यहाँ हिंदी लेखन सदा अबाधित नहीं रहा। कभी-कभी शताब्दियों तक हिंदी की विकास यात्रा की रेखा अस्पष्ट, धूमिल और प्रायः लुप्त ही प्रतीत होती है। संरक्षण के अभाव और प्राकृतिक बाधाओं के बावजूद यहाँ जो थोड़ी-बहुत सामग्री विधि-विधान से बच गई है, वह निश्चय ही मूल्यवान है और हिंदी के मध्यकालीन इतिहास में एक नवीन क्षितिज का संकेत करने वाली है। असम में हिंदी साहित्य के मौलिक सृजन का

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

विकास यात्रा को रेखांकित और उसकी कतिपय प्रमुख उपलब्धियों को इंगित क की सुविधा की दृष्टि से उसे मोटे तौर पर दो भागों में विभाजित किया जा सकता है:

(क) आदि एवं मध्यकाल और

(ख) आधुनिककाल।

(क) आदि एवं मध्यकाल : हिंदी के प्रारंभिक साहित्यकारों में सिद्धों एवं ना के नाम आते हैं तथा सरहपा को पहला हिंदी कवि घोषित किया जाता है। असमी भाषा और साहित्य के आलोचकों के अनुसार सरहपा की जन्मभूमि कामरूप जिले रानी (राज्ञी) गाँव ही रही होगी। सिद्धों में मीनपा अथवा लुइपा भी शायद यहीं के और यह भी असंभव नहीं कि कई अन्य सिद्धों एवं नाथों का संबंध भी कामरूप ही रहा हो।

सिद्धों, नाथों के पश्चात कई शताब्दियों तक असम में किसी हिंदी साहित्यक का पता नहीं चलता है। आगे पुनः विक्रम की सोलहवीं शती से कामरूप में हिं लेखन का क्रमिक इतिहास मिलता है।

असम में मध्यकालीन नव्य वैष्णव आंदोलन के प्रवर्तक शंकरदेव ने संस्कृत अ असमीया भाषा के अतिरिक्त ब्रजावली—तत्कालीन हिंदी के मानक काव्य भाषा एक रूप—में भी रचनाएँ की हैं। ब्रजावली के विषय में अन्यत्र उल्लेख है—"ब्र अथवा ब्रजरंजित रचनाएँ जिन अर्थों में हिंदी के अंतर्गत स्वीकृत और मान्य होती र हैं, उन अर्थों में ब्रजावली भी अपने शुद्ध रूप में हिंदी ही है। उसमें सूरपूर्व ब्रजभा की सारी विशेषताएँ प्राप्त हैं। वह उत्तर भारत की भाषिक और साहित्यिक एकता परिणति है। तभी तो डॉ. भोलानाथ तिवारी ने अपने ग्रंथ 'हिंदी भाषा' (पृ. 159) ब्रजावली को हिंदी की एक बोली के रूप में स्वीकृत किया है। डॉ. दशरथ ओझा अनुसार—"हमारे देश में भाषा और साहित्य में ब्रजावली में रचित ये भाषा नाटक उ एकसूत्री, व्यापक और सार्वदेशिक प्रवृत्ति शृंखला के रूप में समादृत होने चाहिए पूरी होने के पहले ही छिन्न-भिन्न हो गई। यदि वह पूरी हो जाती तो कौन जाने हम देश—विशेषतः उत्तरी भारत की भाषा और साहित्य का एकीकृत रूप कितना भव्य पाता।"[6] वस्तुतः अवहट्ट काल के उपरांत अंतरप्रांतीय व्यवहार और काव्य सृजन भाषा का नाम है 'ब्रजावली'—सही अर्थों में ब्रजबोली में, जिसका आधार भी शौरसै है, असम के वैष्णव कवियों ने अपरिमित रचनाएँ की हैं। वे रचनाएँ विषयवस्तु ए भाषा वैज्ञानिक दृष्टि से तत्कालीन हिंदी की मानक रचनाओं के अधिक निकट पड़ हैं। इसका अधिकांश साहित्य आज भी अप्रकाशित है। असम के सत्रों (वैष्णव मठ एवं अन्यान्य वैष्णवों के वैयक्ति संग्रहों में हजारों पोथियाँ आज भी वैज्ञानिक अध्यय और अनुसंधान के अभाव में उपेक्षित पड़ी हैं। आगामी पृष्ठों में हम कतिपय प्रमु साहित्यकारों और उनकी रचनाओं का परिचय उपस्थित करेंगे जिन्हें आदि अ मध्ययुगीन हिंदी के मौलिक साहित्य सृजन का श्रेय दिया जाना चाहिए।

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

(1) मीननाथ

ये मीनपा, मीनपाल, मीननाथ, मच्छेन्द्रपा, मच्छन्द्रनाथ इत्यादि कई नामों से जाने जाते हैं। तिब्बती ग्रंथों में इन्हें ही लुइपा कहा गया है। इन्हें कामरूप का कछुआ वंशीय माना जाता है जिसकी पुष्टि लुईपा (लुइत या लौहित्यपाद) नाम से होती है। विभिन्न साक्ष्यों से पता चलता है कि इन्हीं मीननाथ अथवा मत्स्येन्द्रनाथ के शिष्य गोरखनाथ (गोरक्षनाथ) थे। कामरूप के प्रसिद्ध 'योगिनी' नामक कौलपंथ का प्रवर्तन इन्होंने ही किया था। इन्हें नाथपंथ का प्रवर्तक आचार्य भी माना जाता है। डॉ. बड़थ्वाल ने 'योग प्रवाह' में इनके कतिपय फुटकल पद्यों का संकेत भी किया है। आचार्य हजारीप्रसाद द्विवेदी ने 'नाथ सिद्धों की बानियाँ' में इनके कुछ मुक्तक दिए हैं। पंडित हरप्रसाद शास्त्री के 'बौद्ध गान ओ दूहा' से यहाँ इनका एक पद्य प्रस्तुत है–

कहति गुरु परमार्थर बात, कर्म कुरंग समाधिक पात।
कमल विकसित कहै न जमरा, कमल मधु पिबि ढोके न भंवरा॥

(2) शंकरदेव

कबीर, सूर और तुलसी तीनों के समन्वित व्यक्तित्व के मूर्तिमान उदाहरण थे शंकरदेव। असम में नव्य वैष्णव भक्ति आंदोलन के ये प्रवर्तक थे। वस्तुतः धर्माचार्य, धर्मगुरु, धर्मोपदेशक, धर्मप्रचारक, समाजसुधारक, लोकनायक, योद्धा, कवि, नाटककार, अभिनेता, गायक, चित्रकार इत्यादि के एकत्र समाहार का ही नाम था शंकरदेव, जो असमवासियों के सांस्कृतिक जीवन के नाभिकेन्द्र हैं।

हिंदी (ब्रजावली) में शंकरदेव कृत रचनाएँ निम्नलिखित हैं–

काव्य–1. बरगीत; 2. फुटकल पद्य (तोटय और भटिमा)।

नाटक–1. पत्नीप्रसाद नाट; 2. कालिदमन नाट; 3. कलीगोपाल नाट; 4. रुक्मिणीहरण नाट, 5. पारिजातहरण नाट, 6. रामविजय नाट।

शंकरदेव की काव्य साधना के विषय में अन्यत्र भी उल्लिखित है कि 'बरगीत' उनकी साधना के सोपान हैं। विषय की संक्षिप्तता और भाव का संकोच इनकी विशेषता है। तोटय और देव भटिमा में भी विनय ही प्रमुख है। राज भटिमा प्रशस्तिमूलक है। नाटकों के गीतों में संगीत भी है, संवाद भी है, आख्यान भी है और चित्र भी। भावों की आवृत्तियों के बावजूद उनमें नवीनता है। उनके नाटक बहुज्ञता एवं कलात्मकता इत्यादि की दृष्टि से उस युग की अद्वितीय उपलब्धि हैं। संस्कृत के संगीतकों के वे सुन्दर विकास रूप हैं और लेखक की युग प्रवर्तक प्रतिभा के परिचायक

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

हैं। उनमें जीवन की तिक्तता, कसैलापन और मिठास सभी कुछ है। शंकरदेव : भावुक कवि इन नाटकों में जीवन को वास्तविक धरातल पर समग्रता में उतार ल में सफल हुआ है। आगे उनके पद्य के दो उदाहरण प्रस्तुत किए जाते हैं–

(क) जय जय जादव जल निधिजा धव धाता,
श्रुतमात्राखिल त्राता।
स्मरणे करय सिद्धि दिन दयानिधि, भकत मुकुतिपद दाता॥
जगजनजीवन अजन जनार्दन दनुजदमन दुखहारी।
महादानंद कंद परमानंद नंदनंदन वनचारी॥
बिबिध बिहार–बिसारद सारद इंदुनिधि परकासी।
सेस सयन सिव केसि बिनासन पितबसन अविनासी॥
जगतबंधु बिधु माधव मधुरिपु मधुर मूरूति मुनरासी।
केसवचरण–सरोरू किंकर शंकर एहु अभिलासी॥

बरगीत

(ख) श्रीकृष्ण : हे सखिसब बिलाप छोड़ह। तोरा सब जे प्रेम भक्ति कयल ताहे सुझाइये नाहि परि। हामु रिनि हुया रहल, ओहि सत्य बानी जाति असूया छोड़ह

हामाक सपत, उठह उठह। परम उत्सुके रास केलि करसिया।

सूत्रधार–ओहि बोलि, हाते धरि तुलिकहों जमुनाक बालि नामि, रासक्रीड़ आरंभल। गोपिसब बिरह ताप तेजिए कृष्ण वाक्यमृते तृपिति हुआ, परम उत्सु क्रीडाक प्रबेसल। हरि काहुक चुम्बई, काहुक हास्ये निरेखय, काहुक नखे तन परस काहुक आलिंय। एवं बिध अनंग खेलाये, गोपिक चित रंजि श्री गोपाल क्रीड़ा कयल

गोपिसब–कृष्णक समान पाइ जैसे परम उत्सुके केलि कयल : ता देखह सुनह

–केलिगोपाल ना

(3) माधवदेव

माधवदेव शंकरदेव के सर्वाधिक योग्य शिष्य थे। शंकरदेव की मृत्यु के उपरां महापुरुषिया अथवा एक शरणिया भक्ति धर्म के प्रचार-प्रसार का उत्तरदायित्व माधवदे को ही संभालना पड़ा। इनके विषय में कहा जाता है–

शंकरे भकति प्रकाश करिल, माधवे प्रचारिला।
माधव प्रसादत व्याभिचारी अज्ञानी, सबे बुजिला॥

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

माधवदेव कृत (ब्रजावली) में निम्नलिखित रचनाएँ हैं—

काव्य—

1. बरगीत; 2. फुटकल पद्य (भटिमा)

नाटक—

1. अर्जुन भंजन यात्रा; 2. चोरधरा झुमुरा; 3. भूमिलोटवा झुमुरा; 4. पिंपरा गुचोवा झुमुरा, 5. भोजन विहार झुमुरा, 6. ब्रह्ममोहन, 7. भूषणहरण झुमुरा, 8. कटोरा खेलोवा झुमुरा, और 9. रास झुमुरा

इनमें 'ब्रह्ममोहन झुमुरा' और 'भोजनबिहार झुमुरा' मूलतः एक ही रचना के अलग-अलग भाग हैं जो प्रकाशित रूप में दो स्वतंत्र रचना के रूप में आजकल परिगणित हो रहे हैं। इनके अतिरिक्त शंकरदेव के तीन और नाटकों की सूचना भर मिलती है। इनकी समस्त उपलब्ध रचनाएँ प्रकाशित हैं।[7] असम के भक्त कवियों में इनकी रचनाएँ विषयवस्तु और कथनभंगी की दृष्टि से सूर की कविता के निकट पड़ती है। अन्यत्र इनके विषय में उल्लेख है—"गीति काव्य का संपूर्ण माधुर्य इनके गीतों में प्राप्त है। दैन्य और आत्मनिवेदन गीत जहाँ हृदय को बेधते हैं, वहीं कृष्ण की बाल क्रीड़ा के गीत उल्लासित भी करते हैं। कृष्ण की चतुराई, ढिठाई, बतकटई, बहानेबाजी, छेड़-छाड़, जिद, होड़ा-होड़ी इत्यादि ऐसी अनेक मनोहारी चेष्टाएँ हैं जिनके निरूपण और अंकन में माधवदेव का कविकर्म और कौशल अष्टछाप शिरोमणि सूरदास से टक्कर लेता हुआ प्रतीत होता है।" इनके नाटक प्रायः आकार में लघु हैं, पर उपलब्धि के दृष्टि से महान हैं। उनका लालित्य और सौंदर्य यथार्थपरक, लघु एवं रोचक संवादों में अंतर्निहित है।

यहाँ उनका एक बरगीत और एक नाट्यगीत उदाहृत किया जाता है :

(क) प्रातस समये जसोदा जननी मुख चुम्बत श्याम जगावन को।
उठ मेरे लाल मदन गोपाल आवै तेरे गोवाल बोलावन को॥
अब रूटिया लेहु माखन संचौ पुरि मुररि लेहु बजावन को।
वृंदावन जाहु आनंद करू जमुना तट धेनु चरावन को॥

—भटिया, भोजनबिहार झुमुरा

(ख) गोविन्द! दुध पिउ, बोलेरे यशोवा।
दुध न पिय हरि, कांदे ओवा ओवा॥
अरुणा अधर मोदि कांदे यदुमणि।
चांद मुखेरे बलाई लेउ बोलेरे जननी॥
कांदते नयन नीर धारे बहि परे।

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

कमल पत्र उपर जेन शिशिर बूंद रे॥
जननीक मुख देखि कांदे यदुपति।
मइ जाऊँ तुमि शुवा बोले यशोमति॥
पावें धरउ शिरे करौ दूध पिउ हरि।
मुखे स्तन लेया कांदे फोकारि फोकारि॥
जगतर गुरु भाव लैया मानवीकु।
कांदिए आकुलमति कयले जननिकु॥
कहय माधवदास बर अगियान।
ओहि भाव सुमरि छूटोक मेरी प्राण॥

—बरगी

4. गोपाल आता

गोपाल आता के ब्रजावली में दो नाटक उपलब्ध हैं—

(क) जन्म यात्रा और, (ख) गोपी उद्धव संवाद नाट।

एक अन्य कृति 'नंदोत्सव' या 'बोका यात्रा' भी बताई जाती है, पर व 'जन्मयात्रा' का ही किंचित् भिन्न रूप है।

'जन्मयात्रा' में श्रीकृष्ण के जन्म और नंद द्वारा पुत्रजन्मोत्सव मनाए जाने क घटना को नाटकीय रूप दिया गया है एवं 'गोपी-उद्धव-संवाद' में गोपी और उद्धव क संवाद को कथा का। गोपाल आता ने ही पहली बार अपने नाटकों में स्वरचित गीत के अतिरिक्त दूसरे कवियों के गीतों को भी प्रयुक्त करने की पहल की है, जिसे परवर्त काल में काफी महत्त्व मिला है। इस प्रकार इन्हें एक नई परंपरा की शुरुआत करने क महत्त्व प्राप्त है। भाषाशैली की दृष्टि से इनका एक गीत द्रष्टव्य है। यथा—

(राग धनश्री। जाति मान)
हरखे गोपिनी पूछय घरे, घरे सुन सुन सखिगण।
चलहों सब जाई जनम साफलु पेखी नंदनंदन रे॥ध्रु.॥
एमन मधुर मुरूति बालक, नाहि त्रिभुवन माझे।
हामारि सुभ दिन नंदेर भवने, आनदे दुंदुभि बाजे॥
नाना बसन भूषण पिधि अंगे, हृदय गजमोति लोले।
कुंडल झलमल नयन काजल, कबरि भरिया फुँले रे॥
केयुर कंकन करत रूनझुन, चरने मंजीर झुरे।
मंगल महोत्सव कीर्तन हरि रब, सबद दसों दिसि पुरे रे॥
नाना उपायन सदैस धरि सबे, प्रबेसे नंदक घर।
जयति जय जय मंगल वोलए, उर्धक तुलिया हात रे॥

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

कहय गोपाल नंदनंदन पाव ऐहि मन मेरि आस।
ब्रजेर बपुर रेणु सिरे धरि होबहौं दासकु दास रे॥

(जनमयात्रा)

(5) रामचरण ठाकुर

रामचरण ठाकुर माधवदेव के भांजे और कदाचित् उन्हीं के शिष्य थे। हिंदी में लिखित इनकी एकमात्र रचना 'कंसबध' नाटक है। भाषा सरल और भावानुसारी है। भाषाशैली की दृष्टि से यहाँ उनका एक गीत उद्धृत है।

यथा–

(राग कानडा। परिताल)
रजक वानि सुनि कोपे गोपाल।
चवर प्रहार कयलि ततकाल॥ध्रु.॥
छिडल माथे चवर प्रहारे।
जतये धोवासब संगि ताहारे॥
भासे पलावन वस्त्र पेलाई।
देखिए राम-कृष्ण दुहों भाई॥
आनंदे वस्त्र भाल बाछि लैल।
आन वस्त्र सब गोयकु दैल॥
देखि गोप सब करिले हरिष।
सिंगासंख बेणु पुरये दसो दिस॥
जय जय कृष्ण करे सघने बोल।
सामाजिक सब अब हरि हरि बोल॥14॥

(6) भूषण द्विज

ब्रजावली (हिंदी) में लिखित भूषण द्विज का एकमात्र नाटक 'अजामिल उपाख्यान नाट' ही अब तक उपलब्ध है। 'भागवत' के षष्ठ स्कंध में वर्णित अजामिलोपाख्यान पर आधारित होने के बावजूद भूषण द्विज का यह नाटक कलात्मक उपलब्धि की दृष्टि से महत्त्वपूर्ण है। इस अकेली कृति से ही भूषण द्विज को असंदिग्धरूपेण सफल नाटककार स्वीकार करना पड़ता है–

(राग गौरी। ताल ज्योति)
तिन्हि दूते भ्रमय पापिक बिचारि।
भकतक भए कौपवे तरतरि॥ध्रु.॥
रिनि रिनि सुनिए काचित काने।
हरिनाम लवे धुलि पलाइ से खने॥

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

जदि या कुकधा कहय न लवे नाम।
ताहाक बाँधिया जातनाक लगि आन॥
यथार्थ प्रकारे जितो लवे नाम।
मोर वाक्य सुनि तुहु न पसिबि ग्राम॥
भकतक देखि तुहू अंतरि पलाइबि।
गोपालर चक्रे कांटि बुलिया चेंचाइबि॥
हरि भकतर महिमा अद्भुत।
कहय भूषण द्विज काँपे यमदूत॥

(7) दैत्यारि ठाकुर

दैत्यारि ठाकुर पूर्वोल्लिखित रामचरण ठाकुर के प्रथम पुत्र थे। ये संस्कृत, असमी ब्रजावली के विदग्ध पंडित थे। ब्रजावली (हिंदी) में इनके द्वारा रचित दो नाटक 'नृसिंहयात्रा' और (2) 'स्यमंतक हरण' एवं थोड़े से फुटकल पद्य प्राप्त हैं। इन्हे अपने नाटकों में स्वरचित संस्कृत श्लोकों को भी बीच-बीच में रखा है। डॉ. दश ओझा ने दैत्यारि ठाकुर को 'शंकरदेव की नाट परंपरा का अंतिम प्रभावशा नाटककार माना है, जो ऐतिहासिक दृष्टि से ठीक नहीं है। वस्तुतः इनके बाद लगभग तीन सौ वर्षों तक शंकरदेव की नाट परंपरा अविराम रूप में चलती रही

नाटकों में दैत्यारि ने भागवतीय कथा को प्रायः अपरिवर्तित रूप में ही रखा नाटकों में विनय गीतों की प्रधानता है। विनय के पदों में वैयक्तिकता की अपे सामान्य जनमानस की पीड़ा ही अधिक मुखर हुई है। उनका एक पद इस प्रकार है

जय जय परम पुरुष परमानंद नंदनंदन बनचारि।
जय भकतन भय भंजन गोविंद आनंद विपिन बिहारि॥
अधबक केसि धेनुक पूतना मल्लमारि कंसपालि।
कालिय निकालि संखचूड़ मारि गोपिजन प्रतिपालि॥
भूमिक भार उतरल तारल नररूप धरि अविराम।
सुन साधुजन हुयो सावधान कृष्णक गुण अनुपाम॥
सोहि महेश्वर कृष्णक नाटक स्यमंत हरण आहे नाम।
सुन सभासद खंदोक आपद डाकि बोलहु राम राम॥

(8) श्रीराम आता

श्रीराम आता कामरूप के प्रसिद्ध उपाध्याय घराने में उत्पन्न हुए थे एवं सन् 1611 में श्रीगोपाल आता की मृत्यु के उपरांत कालाझार सत्र (वैष्णवमठ) के अधिकार बनाए गए थे। इस प्रकार इनका संबंध महापुरुषिया धर्म की काल संहति से ब्रजावली में इनके थोड़े फुटकल गीत और कई अंकिया नाट मिलते हैं। डॉ. विरिंचिकु

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

बरुवा द्वारा संपादित 'श्रीराम आता आरू श्रीरामानंददेवर गीत' में इनके कुल उन्नीस गीत प्रकाशित हैं। इसी प्रकार डॉ. सत्येन्द्र नाथ शर्मा द्वारा संपादित 'अंकमाला' (असमी लिपि) में इनका एक नाटक 'सुभद्राहरण' भी मुद्रित है। इनके सुभद्राहरण शंकरदेव कृत 'रुक्मिणीहरण' से किंचित प्रभावित है। स्फुट गीतों की रचना में ही इनकी प्रतिभा अधिक खुली, खिली है। यशोदा के वात्सल्य विरह से संबंधित यहाँ एक पद उदाहृत किया जाता है।

यथा–

आकुले पूछत चले जसोधा जननी॥
काहाँ गैयो किसवा जाने मोर यदुमणि॥
ना दिलौ यदुक लवनु रोष कय मन।
ना जानों के पये गैल बापु जीवधन॥
आमिया पियायो निते नवनिधि घरे।
अपुतीर पुत्र जानो निलेकंस चोरे॥
यदु यदु बुलि डाके पारे जसोमाई।
कालिंदी कूले खेलिते पाइले यदुराई।
आनंदे भरत गला बानिया नंद जाया।
बोलय श्री राम प्रभूदूर करू माया॥

(9) रामानंद द्विज

ये उपरिचर्चित श्रीराम आता के द्वितीय पुत्र और उन्हीं के शिष्य थे। पिता की मृत्यु के पश्चात् कालाझार सत्र का सत्राधिकार इन्हें ही प्राप्त हुआ था। ब्रजावली में रामानंद द्विज द्वारा लिखित (1) स्फुट पद्य और (2) 'प्रेमकलह नाट' उपलब्ध है।

'श्रीराम आता आरू श्रीरामानंददेवर गीत' (असमी लिपि) में इनके कुल 78 गीत मुद्रित हुए हैं। इनके अधिकांश गीत कृष्णभक्तिपरक हैं, पर थोड़े से गीत राम विषयक भी हैं। विषयवस्तु और भावनिरूपण की दृष्टि से इनके अधिकांश गीत माधवदेव के गीतों के समान ही हैं। इन्होंने अपने गीतों में राधा को पात्रत्व प्रदान किया है। प्रसंगोद्भावना की दृष्टि से भी असमी वैष्णव कवियों में इन्होंने अपना वैशिष्ट्य स्थापित किया है। इनके कई गीतों पर 'गीतगोविंद' की भी छाप परिलक्षित होती है। निश्चय ही रामानंद माधवदेव की तरह सर्वथा मौलिक और प्रतिभासंपन्न कवि थे–

वृंदावने खेले फागु नंदलाल।
शारदा सारंग हाते बाजे करताल॥
संगे युबती किशोरी अपार।

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

लाल जरद फागु मोर आउर आर॥
गोपी आरू कानु करे प्रेम बिहार।
कंकरि कवरि खसे गजमोति हार॥
अनंग रसे भोलल जगत आधार।
कहय रामानंद हरि करत बिहार॥

(10) दीनगोपाल

दीनगोपाल कदाचित् सत्रहवीं शती के उत्तरार्ध एवं अठारहवीं शती के पूर्वार्ध के मध्य वर्तमान थे। ब्रजावली में रचित इनके दो नाटक (1) 'जरासंधवध' और (2) 'सीताहरण नाट' प्राप्त होते हैं। डॉ. सत्येन्द्रनाथ शर्मा द्वारा संपादित 'अंकमाला' में दोनों प्रकाशित हैं। उपलब्धि की दृष्टि से 'सीताहरण नाट' अधिक महत्त्व की रचना है। वस्तुतः दीनगोपाल में नाटककार की प्रतिभा अपेक्षया कम थी। उनमें उनका कविरूप ही अधिक प्रस्फुटित है–

कौतुके जानकी माँगे आँजोरि करि हाथ।
ओहि स्वर्णमृग मानिक खचित देहू मोहि रघुनाथ॥
अयोध्या नगर माँझ ओहि चर्म पारि, बसिवाक भैल मन।
न मागोंहौं आन दियों ओहि दान, करओ कृपाकरण॥
अतिशय इच्छा भैय अजि मोर।
रामक चरण हृदये धरियो, दीनगोपाल एहु भाना॥

(सीताहरण नाट)

(11) गोपाल

ब्रजावली में गोपाल कृत एक नाटक 'बलिछलन नाट' (अंकमाला, असमीया में प्रकाशित) उपलब्ध है। डॉ. सत्येन्द्रनाथ शर्मा के अनुसार इनका रचना काल अठारहवीं शती का उत्तरार्ध होना चाहिए। प्रो. बदनचंद्र शाइकिया, तुरा कॉलेज, तुरा (मेघालय) के अनुसार कवि गोपाल एवं उपरिचर्चित दीनगोपाल संभवतः एक ही व्यक्ति थे। किंतु इस विषय में अभी निश्चयपूर्वक कुछ नहीं कहा जा सकता। इन्होंने अपने नाटक की कथावस्तु शंकरदेव कृत 'बलिछलन' काव्य से ली किंतु नाटककार की मौलिकता सर्वथा स्तुत्य है। नाटक से एक गीत यहाँ उद्धृत है :

(राग गौरी। ताल दो मान)
नाचतु ए शिव चरण चलाई रे।
करत कोतुक नित भोलानाथ सर्व विभूषित काय रे॥ध्रु.॥
पंचानन नेत्र व्याघ्र चर्म शोभित हरषे देव दिया नाचे रे।

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

सर्प अलंकार कटित बाघ छाल, डिन डिम डमरू बाजे रे॥
भस्म विभूतिषत शिरे जटाजुट थमकि थमक भोला नाचे रे।
मृदंग दुंदुभि बाजे, गंधर्व सब गावे बावे, नाचे रे॥
पाक फिरि फिरि धरि पाव, आनंदे पारंत देव रे।
अगिभंगी रंग कोतुक, नाचतु ए सदाशिव रे॥

(12) हरिकांत विप्र

हरिकांत विप्र द्वारा ब्रजावली में रचित एक नाटक 'स्यमंत हरण (अंकमाला, असमी में प्रकाशित) प्राप्त होता है। डॉ. सत्येन्द्रनाथ शर्मा ने जिस प्रति के आधार पर इसे संपादित किया है उसमें न तो इसके लेखक का और न इसके रचना काल का कोई उल्लेख मिलता है। पर इधर बदन चन्द्र शाइकिया (तुरा, मेघालय) को इसकी एक पांडुलिपि मिली है जिसमें लेखक का नाम हरिकांत विप्र तथा रचना काल 1609 शकाब्द (1687 ई.) दिया है। रचना सामान्य ढंग की है और पूर्व चर्चित रामचरण ठाकुर के इसी नाम से प्राप्त नाटक से मिलती-जुलती है। बीच-बीच में लेखक ने स्वरचित संस्कृत श्लोक भी रखे हैं। उदाहरणस्वरूप सूत्रधार के वक्तव्य का एक वाक्य देखिए :

सूत्रधार— ऐचर प्रकारे नारी सब बहुविधि तिरस्कार करिकहूँ,
सत्रजितक गालि पारि, आर्तनाद करि क्रंदन कय रहल।

(13) गोविंद द्विज

गोविंद द्विज कृत ब्रजावली में एक नाटक 'स्यमंतक हरण' गुवाहाटी विश्वविद्यालय के पांडुलिपि विभाग (पोथी सं. 505) में प्राप्त होता है। अभी तक इसका अध्ययन अनुशीलन नहीं हुआ है अतः इसके विषय में कुछ भी कहना असंगत होगा।

(14) विश्वंभर द्विज

विश्वंभर द्विज कृज ब्रजावली में दो नाटक (1) 'शतस्कंध रावणवध', और (2) 'प्रभासयात्रा नाट' उपलब्ध है। 'अंकमाला' (असमीया) में ये दोनों नाटक प्रकाशित हैं, पर वहाँ लेखक अज्ञात बताया गया है। इधर, बदन चन्द्र शाइकिया (तुरा, मेघालय) को प्राप्त इनकी पांडुलिपियों में लेखक का नाम विश्वंभर द्विज मिला है। पांडुलिपियों से प्रकाशित नाटकों को मिलाने पर किंचित पाठ भेद भी दिखाई पड़ता है। इस विषय पर विस्तृत विचार कभी आगे किया जाएगा। यहाँ इतना उल्लेख्य है कि प्रथम नाटक की कथावस्तु 'अद्भुत रामायण' पर आधारित है और द्वितीय की 'महाभारत' की कथा पर। महाभारतीय कथा लेखक ने संभवतः मूल ग्रंथ से नहीं बल्कि राम सरस्वती

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

द्वारा असमीया में रचित 'महाभारत' से ली है। दोनों नाटक काफी बड़े हैं, पर उनमें नाट्य कौशल का निखार अपेक्षया कम है। गीत अनावश्यक रूप से लंबे-लंबे हैं। कला की दृष्टि से ये रचनाएँ सामान्य कोटि की हैं।

(15) महींद्र द्विज

महींद्र द्विज अथवा महींद्र कदाचित् ईसा की अठारहवीं शती के उत्तरार्ध के लेखक हैं। ब्रजावली में इनकी एक नाट्य 'बोधोदय नाट' (अंकमाला, असमीया में प्रकाशित) प्राप्त है। कई दृष्टियों से यह पारंपरीण अंकिया नाटकों से भिन्न, संस्कृत के 'प्रबोधचंद्रोदय' की परंपरा का नाटक है। इस नाटक में असम के मोवामरिया विद्रोह को प्रतीकात्मक रूप में अंकित किया गया है। नाटककार ने प्रतीक का निर्वाह सफलतापूर्वक किया है। इसकी भाषा में ब्रजावली की अपेक्षा असमी का व्यवहार अधिक है। यहाँ भटिमा से कुछ पंक्तियाँ उद्धृत हैं :

यह नमो नरायण नित्य निरंजन परम पुरुष राम।
सूर-मूनि वंदित पंकजनिंदित निर्मल गुणगण धाम॥
जय जनार्दन दुर्जनगंजन निज-जन रंजन-देव।
त्रिभूवन वांछित पंकज लांछित अरुण चरण करूँ सेव॥

(16) लक्ष्मीनाथ दास

लक्ष्मीनाथ अथवा लक्ष्मीनाथ दास द्वारा ब्रजावली में रचित एकमात्र नांटक 'कुमरहरण नाट' (अंकमाला में प्रकाशित) प्राप्त होता है। इसका एक अन्य नाम 'कृष्ण विजय' (सोहि कृष्णविजय नाटक, सुनह जत नर नारी) भी मिलता है। नाटकांत की भटिमा से विदित होता है कि इसका प्रथम अभिनय आहोम नरेश चंद्रकांत सिंह (शासन काल 1810-1818 ई.) के आदेश से हुआ था। इसकी रचना भी कदाचित् उन्हीं के आदेश पर हुई थी–

श्री चंद्रकांत राजा नृपति प्रधाना।
करावत ओहि नाट निरामाना॥

उसी भटिमा में महापुरुष शंकरदेव को अवतार घोषित कर उनके प्रति सश्रद्ध नमन भी किया गया है–

श्री मंत शंकरदेव संत अवतार।
जेन्हकर कीर्ति गैला सकल जगत,
सोहि करत मुक्ति मंगल विधान॥

इस नाटक में ऊषा अनिरुद्ध की प्रेमकथा प्रस्तुत की गई है। नाट्यकौशल की अपेक्षा कविकौशल ही इसमें अधिक है।

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

(17) कैवल्यानंद

दिहिंग सत्र के पाँचवे सत्राधिकारी कैवल्यानंद संस्कृत, असमीया और ब्रजावली के विदग्ध पंडित थे। ब्रजावली में इनके द्वारा रचित फुटकल पद्य और एक नाटक 'कंसवध' (अंकमाला' में प्रकाशित) प्राप्त हैं। इनके दो अन्य नाटकों (क) 'श्री रामचन्द्र-जन्म नाटक' और (ख) 'अमृतमंथन नाटक' में गीत तो ब्रजावली में रखे गए हैं पर संवाद की भाषा संस्कृत गद्य है। इनकी भाषा तत्समप्रधान है। निःसंदेह कैवल्यानंद ब्रजावली के उत्तम कवियों में से हैं। यहाँ भटिमा से कुछ पंक्तियाँ उदाहरणार्थ दी जाती हैं :

जय जय ब्रह्मा सत्य सनातन कारणौ ईश देव।
जय इच्छाबिहारी आदि अनादि सर्वसाक्षी करौ सेव॥
सोहि ईश्वर बहु गुण ईश करू लीला विधि विधान।
सोहि भगवंत अपने अवतरित प्रथम लैला पूतना प्राण॥

उपर्युक्त विवेचन से स्पष्ट है कि असम में हिंदी साहित्य का मौलिक सृजन मीननाथ से आरंभ तो अवश्य हुआ, पर आदिकाल में रचित साहित्य आज पूर्णतया अनुपलब्ध है किंतु उसके चार-पाँच सौ वर्ष पश्चात् श्रीमंत शंकरदेव द्वारा रचित बरगीत–मध्यकाल में असम में रचित प्रथम हिंदी गीत (सन् 1488 ई.; मन मेरि रामचरणहि लागू; बरगीत संख्या–18) से लेकर आगे चार सौ वर्षों तक लगातार ब्रजावली में मौलिक सृजन कार्य चलता रहा। उनमें से 16 प्रमुख साहित्यकारों एवं उनके 35 प्रमुख कृतियों एवं सैकड़ों फुटकल पद्यों का परिचय प्रस्तुत किया गया है। इसके अतिरिक्त सैकड़ों वैष्णव सत्रों, वैयक्तिक संग्रहों इत्यादि में आज भी ब्रजावली की पोथियाँ अनुसंधित्सुओं की प्रतीक्षा कर रही हैं। गौहाटी विश्वविद्यालय पुस्तकालय, कामरूप अनुसंधान समिति, इतिहास एवं पुरातत्त्व विभाग आदि में भी ब्रजावली की बीसों पोथियाँ पड़ी हैं जिनका परिचय पाठकों तक आना बाकी है। उत्साही अनुसंधाता बदन चन्द्र शइकिया (तुरा, मेघालय) ने केवल नगाँव जिले से ही इधर पचीसों नई पांडुलिपियाँ प्राप्त की हैं। वे अभी उनके अध्ययन में लगे हैं। अस्तु यह आशा करना असंगत नहीं है कि एकाध दशक में नवीन अनुसंधान के फलस्वरूप ब्रजावली के अनेक नए साहित्यकारों और उनकी कृतियों का उद्धार हो सकेगा। असंभव नहीं की उनकी संख्या अद्यावधि ज्ञात संख्या की दोगुनी हो जाए।

उपलब्ध कृतियों के अनुशीलन से यह स्पष्ट होता है कि कालांतर में जैसे-जैसे स्थानीय प्रयोग ब्रजावली में प्रविष्ट होते गए, स्थानीय भाषा असमीया के प्रति मोह बढ़ता गया, मध्य देश से संबंध क्षीण होता गया, धार्मिक आंदोलन का मध्यकालीन मौलिक स्वर आवृत्ति मात्र बनता गया और राजनीतिक संकीर्णता बढ़ती गई वैसे ही ब्रजावली अथवा हिंदी का रूप भी परिवर्तित होता गया। अंततः वह हिंदी से दूर होती

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

गई और असम में अंग्रेजों का आधिपत्य होने पर अंग्रेजी तथा बाङ्ला के बढ़ते हु प्रचार के कारण एक दिन ऐसा आया जब ब्रजावली पूर्णतः विलुप्त हो गई उस सर्जनात्मक कार्य बंद हो गया।

एक बात और, ब्रजावली में रचित साहित्य की प्रायः सभी पांडुलिपियाँ असम लिपि में हैं। इक्की-दुक्की प्राचीन पोथियों की लिपि शायद कैथाली (कैथी) भी है लिपि एवं वर्तनी की भिन्नता के कारण भी ब्रजावली की रचनाएँ ऊपरी दृष्टि से केंद्री हिंदी के मानक रूप से किंचित् भिन्न प्रतीत होती है। फिर असमी उच्चारण से उनक प्रभावित होना तो स्वाभाविक ही था।

मध्यकाल की विकास यात्रा में यह उल्लेखनीय है कि असम में हिंदी साहि का न केवल मौलिक सृजन होता था, अपितु हिंदी के मानव ग्रंथों को असमीया अनूदित करने की भी पहल इसी काल में हुई थी। उसे यदा-कदा राजकीय संरक्षण दिया जाता था। इस दृष्टि से आहोम नरेश गौरीनाथ सिंह (शासनकाल 1780-179 ई.) के मंत्री पूर्णानंद बुढ़ागोहाँइ के संरक्षण में सन् 1794 में श्री सूर्यकांत विप्र द्वा गोस्वामी तुलसीदासकृत रामचरित मानस का असमीया अनुवाद उदाहृत किया ज सकता है। इसका प्रकाशन पिछले वर्ष मानस चतुश्शती आयोजन क्रम में अस साहित्य सभा द्वारा कराया जा सकता है। जिस प्रकार का कार्य श्री सूर्यकांत विप्र अठारहवीं शती के अंत में किया था, उस प्रकार का कार्य पुनः यहाँ लगभग उसके डे सौ वर्ष बाद 1950 ई. के आसपास प्रारंभ हुआ है।

मध्यकाल के अंतिम चरण में सर्वसामान्य असमी जनता के मध्य हिंदी प्रचार-प्रसार के लिए भी कार्य आरंभ हुआ था। सन् 1826 में असम पर अंग्रेजों क आधिपत्य हो जाने के परिणामस्वरूप यहाँ हिंदी की जगह बाङ्ला का प्रचार-प्रसार आरं हो गया। कुछ दूरदर्शी बुद्धिजीवियों ने हिंदी को गति देने की योजना भी बनाई थी इसी दृष्टि से शिक्षा विषयक ग्रंथ निर्माण की ओर भी उनका ध्यान गया था। सर्वप्रथ यज्ञराम खारघरिया फुकन (सन् 1805-1837 ई.) ने 'हिंदी व्याकरण आरू अभिधान' नामक एक बृहत् ग्रंथ के लेखन का दायित्व सँभाला था। इसके निमित्त श्री फुकन ने कलकत्ता से प्रकाशित 'समाचार दर्पण' के 19 मई, 1832 के अंक में एक 'अनुष्ठा पत्र' भी प्रकाशित किया था। उससे विदित होता है कि श्री फुकन ने उक्त ग्रंथ में पह 'बंगाक्षर' प्रयुक्त करने का विचार किया था, पर 'कस्यचिद् गुवाहाटी निवासिने' के प्रतिवा एवं सुझाव के पश्चात् 'नागराक्षर' में लेखन आरंभ किया। उक्त ग्रंथ का लेखन स 1832 ई. आरंभ हुआ, पर उसके दो खंड ही पूर्ण हुए थे कि श्री फुकन की मृत्यु गई और वह ग्रंथ अधूरा ही रह गया। ग्रंथ के आरंभिक अंश से पता चलता है कि व चार खंडों—(क) वाक्यावली, (ख) अभिधान, (ग) व्याकरण और (घ) इतिहास—में पू होने वाला था, जिनमें से केवल वाक्यावली और अभिधान नामक खंड ही पूरे हुए थे यहाँ वाक्यावली खंड से नमूने के तौर पर एक उदाहरण प्रस्तुत है।

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

यथा–

(क) हिंदी– तुम हमारी जबान बोल सकते हो?
अंग्रेजी– कैन यू स्पीक आवर लैंग्वेज?
असमिया– तुमि आमार भाषा कबो पारा ने?
बंगला– तुमि आमादेर भाषाकहिते पार?

(ख) आतप– (तप धातु हइते), सनशाइन, रोद्र, धूप।
उदाहरण–सोहत ओढ़े पीत पट, स्याम सलोने गात।
मनौ नीलमनि सैल पर आतप पर्यौ प्रभात॥
अंग्रेजी– ही, कृष्ण वीयर्स ऐन एलिगैंट यलो गारमेंट आन
हिज डेलिकेट ब्लैक बॉडी। ऐज आन सैफायर
माउन्टेन फाल्स द सनशाइन आव द मार्निंग।

कहना नहीं होगा कि यह ग्रंथ उस समय पूर्ण होकर यदि प्रकाशित हो जाता तो कितना भव्य होगा। उदाहरण का चुनाव श्री फुकन ने मूलतः तुलसी, केशव और बिहारी की रचनाओं से किया है। इस प्रकार के शिक्षा ग्रंथ की योजना असम में आधुनिक काल में लगभग इसके एक सौ दस वर्ष बाद ही बन सकी। उक्त ग्रंथ के दूसरे छंद से पता चलता है कि ग्रंथ रचना की एक प्रेरणा 'नाम जिसमें नामी होवे' या 'नाम जाते हय ख्यातबर' भी रही है।

(ख) आधुनिक साहित्य

असम में अंग्रेजी के राज्य की स्थापना, शिक्षा माध्यम के रूप में पहले बाङ्ला और पुनः अंग्रेजी की स्वीकृति, कोलकाता को भारत की राजधानी, प्रमुख व्यावसायिक केन्द्र शिक्षा की नगरी का गौरव प्राप्त होने और उसके साथ असम के दिनानुदिन बढ़ते हुए संपर्क–अंत में अंतरप्रांतीय संपर्क की भाषा के रूप में अंग्रेजी का बढ़ता हुआ चलन इत्यादि कारणों से असमी जनता में पिछली कई शताब्दियों से स्वाभाविक तौर पर विकसित पनपती चली आ रही हिंदी को जबर्दस्त आघात लगा। उसकी गति सर्वथा अवरुद्ध हो गई। मौलिक सृजन कार्य तो बंद हो गया, धीरे-धीरे भाषा का सामान्य ज्ञान भी समाप्त हो गया। इस शताब्दी में राष्ट्रीय जागरण के परिणामस्वरूप, तीसरे दशक से यहाँ के कुछ बुद्धिजीवियों का ध्यान हिंदी की ओर गया। सन् 1950 के आसपास, लगभग एक सौ वर्ष बाद, हिंदी में मौलिक लेखन कार्य शुरू हो सका। इसके पूर्व, मोटे तौर पर सन् 1925 से 1950 तक का समय नए सिरे से हिंदी प्रचार यानी मौलिक सृजनकार्य की पूर्वपीठिका मात्र रहा है।

असम में हिंदी प्रचार के सामान्यतः तीन चरण माने जा सकते हैं– (1) स्वप्रेरणा, (2) प्रारंभिक अवस्था और (3) विकास एवं विस्तार। प्रथम दोनों चरण

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

गैर सरकारी प्रयास कहे जाएँगे। तीसरे चरण में गैरसरकारी प्रयत्नों के साथ-साथ सरकारी प्रयत्न भी हुए हैं।

प्रथम चरण यानी स्वप्रेरणा युग के एकमात्र कार्यकर्ता थे भुवनचन्द्र गगै (सन् 1887-1940 ई.)। वे स्वदेशप्रेम, स्वदेशी शिक्षा और स्वावलंबन के मूर्तिमान आदर्श थे। अपने प्रयत्नों से सन् 1918 में बकता ग्राम में स्थापित असम पोलिटकेनिक इंस्टिट्यूशन में उन्होंने सन् 1926 से अन्य विषयों के साथ-साथ पहली बार हिंदी का विधिवत् अध्ययन आरंभ कराया। यहाँ से हिंदी का प्रचार कार्य प्रारंभ हुआ।

द्वितीय चरण (सन् 1934-1948) के सूत्रधार हैं बाबा राघवदास (सन् 1896-1958)। उनके प्रयत्नों से ही तीन असमी तरुणों—रजनीकांत चक्रवर्ती, नवीनचंद्र कलिता और हेमकांत भट्टाचार्य ने पहली बार हिंदी अध्यापन शिविर, वर्धा में प्रशिक्षण लिया और जून, 1938 ई. से हिंदी प्रचार कार्य में प्रत्यक्ष योगदान करना आरंभ किया। 3 नवंबर सन् 1938 को असम हिंदी प्रचार समिति की स्थापना हुई। वही समिति आज 'असम राष्ट्रभाषा प्रचार समिति' के नाम से कार्य कर रही है। द्वितीय महासमर (जिसका असम पर प्रत्यक्ष प्रभाव पड़ा था) और सन् 1942 के आंदोलन के कारण हिंदी कार्य लगभग बंद हो गया, पर सन् 1945 में महात्मा गाँधी के असम भ्रमण के पश्चात् उसे फिर नवीन प्रेरणा प्राप्त हुई।

तीसरा यानी विस्तार चरण सन् 1948 से प्रारंभ होता है। इस अवधि में हिंदी प्रचार कार्य में गति तो आई ही, मौलिक लेखन भी शुरू हुआ। सन् 1960 ई. में असम के दो कॉलेजों में पहली बार हिंदी शिक्षण की व्यवस्था शुरू की गई। सन् 1970 में गुवाहाटी विश्वविद्यालय में स्वतंत्र हिंदी विभाग भी खुल गया है। पिछले 25 से 30 वर्षों में असम के छोटे-बड़े अनेक लेखकों ने मौलिक लेखन के द्वारा हिंदी साहित्य की श्रीवृद्धि में योगदान किया है जिसका संक्षिप्त परिचय यहाँ प्रस्तुत किया जाता है।

असम में मौलिक लेखन दो प्रकार का हुआ है—शिक्षा प्रचार विषयक और साहित्यिक। प्रथम प्रकार के अंतर्गत मूलतः व्याकरण, कोश, स्वयंशिक्षक एवं विभिन्न कक्षाओं के उपयुक्त पाठ्य ग्रंथ आते हैं। असम-राष्ट्रभाषा-प्रचार समिति ने अब तक इस प्रकार के लगभग दो सौ पुस्तकों का प्रकाशन किया है।

ललित साहित्य के अंतर्गत पद्य और गद्य की विभिन्न विधाओं में अद्यावधि अनेक कृतियों का विभिन्न स्थानों से प्रकाशन हुआ है। किंतु अभी तक इस प्रकार का अधिकांश लेखन विभिन्न पत्र-पत्रिकाओं में ही बिखरा पड़ा है। पद्य के अंतर्गत गीत अपेक्षया कम लिखे गए हैं। कविता और प्रबंधात्मक रचनाओं का प्रणयन अधिक हुआ है। गद्य रूपों में लेख और निबंध संख्यात्मक दृष्टि से अधिक सामने आए हैं। उनमें विषयवस्तु की विविधता और विभिन्नता पर्याप्त मात्रा में है। कथा साहित्य का सृजन अपेक्षया कम हुआ है। संस्मरण, जीवनी, रेखाचित्र एवं रिपोर्ताज भी पर्याप्त संख्या में प्रकाशित हुए हैं। नाटकों में एकांकी एवं रेडियो रूपक का लेखन अपेक्षया अधिक

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

हुआ है। कुछ उपाधिपरक शोध ग्रंथ भी सामने आए हैं। तात्पर्य यह है कि पिछले 30 वर्षों में असम में हिंदी के सर्जनात्मक साहित्य में उत्साहवर्धक प्रगति हुई है। साहित्य के विभिन्न रूपों के सर्जक हिंदी और हिंदीतर भाषी दोनों ही हैं, जिनमें से हम कतिपय स्थापित हिंदीतर भाषी लेखकों और उनके कार्यों का विवरण प्रस्तुत कर रहे हैं–

(1) **हरिनारायणदत्त बरुवा :** ये मूलतः असमीया के लेखक थे। हिंदी में इनके लिखे दो निबंध प्राप्त हैं। इनका वास्तविक महत्त्व अनुवादक-संपादक के रूप में है। इनकी संपादित दो पुस्तकें–(1) 'बरगीत' (2) 'चित्र भागवत', इन्हें अमर रखेंगी। चित्र भागवत असम में हिंदी प्रकाशन की अन्यतम उपलब्धि है। इसमें शंकरदेव के 'महाभागवत' वर्णित शिशु एवं किशोर कृष्ण की लीलाओं से संबंधित 312 प्लेटें हैं और उनके नीचे हिंदी व असमी में शंकरदेव की पंक्तियाँ मुद्रित हैं।

(2) **विचित्रनारायणदत्त बरुवा :** इन्होंने मौलिक लेखन के साथ-साथ असमी से हिंदी में अनुवाद का भी कार्य किया है। मौलिक पुस्तकें हैं–(1) 'शब्द संग्रह' और (2) 'असम गौरव'। दूसरी पुस्तक का महत्त्व अधिक है। उसमें असम के कतिपय ऐतिहासिक चरित्रों का निरूपण हुआ है। इसके साथ ही इन्होंने असमी के मध्यकालीन कवि राम सरस्वती कृत 'भीमचरित' को भी हिंदी में अनूदित प्रकाशित किया है।

(3) **कमलनारायण देव :** ये असम राष्ट्रभाषा प्रचार समिति के प्रथम संचालक थे। हिंदी में इन्होंने कविता और निबंध लिखे हैं जो पत्र-पत्रिकाओं में बिखरे पड़े हैं। इनके लेखन में मार्क्सवाद के प्रति प्रतिबद्धता मिलती है। असमीया में वामपंथी काव्यांदोलन के प्रवर्तन का श्रेय भी इन्हें ही दिया जाता है। इनका सर्वाधिक महत्त्व इस बात को लेकर है कि इन्होंने अपने व्यवहार कौशल से ही उन दिनों असमीया भाषी तरुणों को हिंदी अध्ययन के प्रति प्रेरित किया था।

(4) **धरणीकांत देव शर्मा :** इनकी एक पुस्तक कामरूप कामाख्या प्रकाशित हुई है। यह मूलतः तीर्थ विवरण साहित्य है जिसमें असम के प्रसिद्ध शक्तिपीठ कामाख्या का इतिहास और पौराणिक आख्यान वर्णित हैं। भौगोलिक परिवेश के यथार्थ वर्णन के कारण पुस्तक महत्त्वपूर्ण बन पड़ी है।

(5) **नवीनचंद्र कलिता :** असम के जिन तीन तरुणों ने सर्वप्रथम हिंदी प्रचार का विधिवत् दायित्व सँभाला था उनमें ये भी एक हैं। इन्होंने समिति द्वारा प्रकाशित अनेक पाठ्य पुस्तकों का लेखन कार्य किया है। इसके अतिरिक्त इन्होंने छिटपुट निबंध भी लिखे हैं।

(6) **रजनीकांत चक्रवर्ती :** असम में राष्ट्रभाषा हिंदी का प्रचार कार्य एवं असम राष्ट्रभाषा प्रचार समिति की विभिन्न पदों का दायित्व सँभालते हुए इन्होंने हिंदी में दशाधिक निबंधों और तीन पुस्तकों–(1) 'श्रीशंकर देव', (2) 'विद्यार्थी गाँधी जी' और (3) 'राष्ट्रभाषा प्रचार की झाँकी'–का प्रणयन किया है। प्रथम दोनों पुस्तकें किशोरोपयोगी हैं। असम में राष्ट्रभाषा का अनवरत प्रचार करने के कारण, इन्हें प्रथम हिंदी विश्व सम्मेलन, नागपुर 1975 में पुरस्कृत किया गया था।

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

(7) चक्रेश्वर भट्टाचार्य : ये कमलनारायण देव की मित्र मंडली के लेखक थे। हिंदी की अपेक्षा असमीया साहित्यकार के रूप में वे अधिक प्रख्यात हैं। हिंदी में इन्होंने कई मौलिक लेख लिखे हैं। इसके अतिरिक्त इन्होंने 'बाणभट्ट की आत्मकथा' को असमी में तथा असमी उपन्यास 'जीवनर बाटत' को हिंदी में अनूदित किया है। असमीया की अनेक कविताओं का भी इन्होंने हिंदी में अनुवाद किया है।

(8) हरेंद्रनाथ बरा : ये राष्ट्रभाषा हिंदी के अनन्य प्रचारक और हिंदी शिक्षक रहे हैं। उनकी एक पुस्तक 'लिंग निर्णय' प्रकाशित है। इसके अतिरिक्त इन्होंने बहुत से लेख और पचीसों कविताएँ लिखी हैं जो 'राष्ट्रसेवक', 'प्राच्य भारती' इत्यादि के विभिन्न अंकों में बिखरी पड़ी हैं। इनकी कविताओं का विषय राष्ट्रप्रेम और बेकारी से उत्पन्न समस्या है।

(9) छगनलाल जैन : श्री जैन असम में हिंदी के प्रचारात्मक और रचनात्मक कार्यों से संबद्ध रहे हैं। इनकी प्रकाशित कृतियों में (1) 'हँसते हँसते जीना' (कहानी संग्रह), (2) 'इंसान की खोज' (ध्वनि नाटक), (3) 'संघर्ष' (नाटक), (4) 'राह और रोड़े' (उपन्यास), (5) 'राष्ट्रभाषा व्याकरण शिक्षा' (6) 'राष्ट्रभाषा शब्द संग्रह' और (7) 'राष्ट्रभाषा अभिधान' प्रमुख हैं। इन्होंने अनेक निबंध भी लिखे हैं जो विभिन्न संदर्भ ग्रंथों में संकलित हैं। 'नीलमणि फुकन : मेरी नजरों में' इनके द्वारा लिखा गया प्रसिद्ध संस्मरण है। मौलिक लेखन के अतिरिक्त इन्होंने हिंदी से असमी और असमी से हिंदी में अनुवाद भी किए हैं। साप्ताहिक पत्रिका 'पूर्वज्योति' के ये संपादक और प्रकाशक हैं। सब मिलाकर श्री जैन हिंदी के उत्तम साहित्यकार हैं। इनकी रचनाएँ प्रचारात्मक स्वर की प्रबलता होने के बावजूद असम की मिट्टी की महक लिए है।

(10) लोकनाथ भराली : श्री भराली मूलतः निबंधकार हैं। इनकी पुस्तक 'आधुनिक मानस का संकट' भारत सरकार द्वारा पुरस्कृत हुई है। इनके कई निबंध विभिन्न संदर्भ ग्रंथों में संकलित हैं। कुछ निबंध 'राष्ट्रसेवक' के विभन्न अंकों में बिखरे हुए हैं। इनके अतिरिक्त इन्होंने असमीया से कई पुस्तकें अनूदित की हैं और कुछ पाठ्य-पुस्तकें भी तैयार की हैं।

(11) सोनेश्वर दास : श्री दास ने कुछ निबंध लिखे हैं अवश्य, पर निबंधकार की अपेक्षा कोशकार के रूप में ही ये अधिक समादृत रहेंगे। 'आदर्श असमीया हिंदी शब्दकोश' इनकी उपलब्धि है।

(12) महेश्वर महंत : रचनात्मक कार्य की अपेक्षा ये राष्ट्रभाषा के प्रचारात्मक कार्य से अधिक संबद्ध रहे हैं। इनके कुछ निबंध 'राष्ट्रसेवक' के विभिन्न अंकों में प्रकाशित हुए हैं और वर्षों तक इन्होंने 'राष्ट्रसेवक' का संपादन भी किया है।

(13) बापचंद्र महंत : श्री महंत समर्थ आलोचक और कुशल कवि हैं। ये सही अर्थों में हिंदी के निःस्वार्थ साधक हैं। इनकी एक कविता पुस्तक 'देश की पुकार' प्रकाशित है। इसके अतिरिक्त इन्होंने अनेक गंभीर आलोचनात्मक और गवेषणात्मक

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

निबंध लिखे हैं जो हिंदी की विभिन्न पत्र-पत्रिकाओं में प्रकाशित हो चुके हैं। 'विश्व भारती पत्रिका', 'परिषद् पत्रिका' (पटना), 'राष्ट्रसेवक' इत्यादि में ये लगातार लिखते रहते हैं। इन्होंने 'राष्ट्रवाणी' (पूणे) के 'महापुरुष शंकरदेव विशेषांक' का संपादन किया था। इनका एक वृहद ग्रंथ 'असम में भागवत धर्म और महापुरुष शंकरदेव' भी उपलब्ध है। इनकी आलोचक प्रतिभा सजग और पैनी है। असम के साहित्य और उसकी संस्कृति को हिंदी पाठकों तक पहुँचाना ही इनके लेखन का उद्देश्य है। श्री महंत निश्चय ही असमीया भाषी हिंदी साहित्यकारों की प्रथम पंक्ति में आते है।

(14) तरुण आजाद डेका : श्री डेका ने कई निबंध एवं एक इतिहास पुस्तक 'असम का इतिहास' भी लिखी है, पर मूलतः वे नाटककार हैं। इनकी प्रसिद्ध नाट्य कृतियाँ हैं–(1) 'कवच', (2) 'इंसान' (नाटक), (3) 'नई दुनिया' (एकांकी), (4) 'मूला गाभरू', (5) 'बरगीत', (6) 'बिहू', (7) 'गोवालपरिया लोकगीत' (8) 'मणिपुर', (9) 'कामरूप,' (10) 'मीराबाई', (11) 'रानी दुर्गावती', (12) 'रुक्मिणी', (13) 'शोणित कुँबरी' (रेडियो रूपक) इत्यादि। इनके अतिरिक्त श्री डेका ने सैकड़ों नाटकों को असमी से हिंदी में अनूदित भी किया है। ये सभी आकाशवाणी के विभिन्न केन्द्रों से प्रसारित हुए हैं। इनका 'कवच' नाटक भारत सरकार से पुरस्कृत हुआ है। इस प्रकार श्री डेका असमी भाषी हिंदी नाटककारों में मौलिक लेखन की दृष्टि से अग्रगण्य हैं। इनके अधिकांश नाटक 'आकाशवाणी रेडियो संग्रह' की वार्षिक जिल्दों में सुरक्षित हैं।

(15) चित्र महंत : चित्र महंत आरंभ से ही राष्ट्रभाषा के प्रचारात्मक और रचनात्मक कार्यों से संलग्न रहे हैं। ये मूलतः निबंधकार और आलोचक हैं। इनकी मुख्य मौलिक कृतियाँ हैं–(1) 'असमीया साहित्य और साहित्यकार', (2) राष्ट्रभाषा : विकास, प्रचार और प्रसार', (3) 'लोकप्रिय गोपीनाथ बरदलै' और (4) 'असम'। इनके निबंध 'राष्ट्रसेवक' के विभिन्न अंकों में बिखरे पड़े हैं। कई वर्षों तक इन्होंने 'राष्ट्रसेवक' का संपादन और हिंदी से असमी तथा असमी से हिंदी में कई उपन्यासों और एक आलोचनात्मक ग्रंथ का अनुवाद भी किया है। इधर इन्होंने असमी की कुछ कविताओं को हिंदी में अनूदित किया है। वस्तुतः महंत जी हिंदी के निष्ठावान सेवक है। 'असमीया साहित्य और साहित्यकार' जैसी वृहदाकार पुस्तक का प्रणयन कर इन्होंने हिंदी पाठकों के समक्ष पहली बार असमीया साहित्य का विस्तृत इतिहास प्रस्तुत किया है। इन्होंने दो-तीन रिपोर्ताज भी लिखे हैं जिनमें 'मिजो' काफी प्रसिद्ध है।

(16) शंकरलाल शर्मा : इनकी एक मात्र मौलिक नाट्य कृति है–'सती जयमती'। इसका प्रतिपाद्य तरुण आजाद डेका के 'कवच' नाटक जैसा ही है। विषयवस्तु और घटना के बावजूद प्रतिपाद्य में साम्य का कारण है दोनों नाटकों का नायिका प्रधान होना। कुछ असमीया कहानियों को इन्होंने हिंदी में अनूदित किया है।

(17) सुमति तालुकदार : श्रीमती तालुकदार ने कई संस्मरण और निबंध लिखे हैं जो 'राष्ट्रसेवक' के विभिन्न अंकों में प्रकाशित हैं। इनके अतिरिक्त इन्होंने असमी

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

से हिंदी में कई अनुवाद भी किए हैं जिनमें 'साहित्य कला' (काका नीलमणिकृत) अधिक प्रख्यात है।

(18) सीता देवी : श्रीमती सीता देवी ने संस्मरण और निबंध लिखे हैं। इन्होंने असमी से हिंदी में एक किशोरोपयोगी उपन्यास अनूदित किया है और कुछ पाठ्य पुस्तकें भी लिखी हैं।

(19) मोती मदरासी : इनकी विभिन्न पत्रिकाओं—'सरिता', 'मुक्ता', 'सुप्रभात', 'मनोरमा', 'जनरुचि', 'जनरुचि', 'साप्ताहिक हिन्दुस्तान', 'कादंबिनी' इत्यादि—में अब तक कुल 55 कहानियाँ प्रकाशित हो चुकी है; कई कहानियाँ आकाशवाणी से प्रसारित हुई हैं। इनका मूल नाम एस. मुत्तु सुब्रह्मण्यम है। वे सभी कहानियाँ प्रायः हास्य-व्यंग्य से आपूरित हैं। कई कहानियों—'मोमाई काटा गढ़', 'पांडू की सड़क' इत्यादि में असम की मिट्टी की महक बड़ी मोहक है। हास्य-व्यंग्य-परक कहानीकारों में इनका विशिष्ट स्थान है।

(20) जीतेन्द्रनाथ खाओंद : डॉ. खाओंद आलोचक और निबंधकार हैं। 'हिंदी और असमीया के उपन्यासों में तुलनात्मक अध्ययन' इनका शोध ग्रंथ है। 'शहीद तर्पण', 'हिंदी और असमी मुहावरे' इत्यादि इनकी मुख्य कृतियाँ हैं। इन्होंने कुछ पाठ्य पुस्तकें भी तैयार की हैं। इनके दशाधिक निबंध 'विश्व भारती', 'प्राच्य भारती', 'राष्ट्रसेवक' आदि पत्रिकाओं में प्रकाशित हैं।

(21) नरनाथ भट्टाचार्य : इनके अनेक निबंध 'राष्ट्रसेवक' में प्रकाशित हुए हैं। इन्होंने डॉ. वाणीकांत काकति की पुस्तक 'पुरनी असमीया साहित्य' का अनुवाद किया है। ये मूलतः निबंधकार हैं।

(22) राही कौडिन्य : राही कौडिन्य आलोचक और निबंधकार हैं। इन्होंने कई अंकिया नाटकों को संपादित कर प्रकाशित कराया है। इनके निबंध प्रायः अछूते और नवीन विषयों से संबद्ध हैं। असम तथा अरुणाचल की कतिपय वन जातियों, विशेषतः खामति, के विषय में इन्होंने प्रामाणिक कार्य किया है। इनकी पुस्तक *खामति साहित्य और समाज* भी प्रकाशनार्थ तैयार है।

(23) कमल चन्द्र बायन : श्री बायन के कई संस्मरण और निबंध 'राष्ट्रसेवक', 'धर्मयुग' इत्यादि में प्रकाशित हुए हैं। असमी साहित्य और साहित्यकारों के विषय में इन्होंने कई उत्तम निबंधों की रचना की है।

(24) नवारुण वर्मा : श्री वर्मा पेशे से कलम के मजदूर हैं, पर सिपाहीगिरी भी इन्हें सँभालनी पड़ती है। इस प्रदेश के बहुत कम ही ऐसे साहित्यकार होंगे जिनकी लिखावट पर इनकी लाल स्याही न फिरी होगी। रुचि से ये कवि हैं, पर निबंध, कहानी, उपन्यास, रिपोर्ताज आदि विभिन्न विधाओं पर भी इन्होंने कलम चलाई है। इनकी मौलिक कृतियों में—(1) 'लचित बरफुकन', (2) 'युगवेदना शंकरदेव', (3) 'सिंधु मन्थन', (4) 'सती जय मती', (5) 'ब्रह्मपुत्र का नाविक', (6) 'कविता संकलन', (7)

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

'कहानी संकलन' इत्यादि प्रख्यात हैं। इनके अतिरिक्त इन्होंने असमीया के कई उपन्यासों, कई कहानियों और कविताओं के भी अनुवाद किए हैं। देश की विभिन्न पत्रिकाओं में इनके लेख प्रायः छपते रहते हैं। इनके काव्य में असम का इतिहास तो मुखर हुआ है, हिंदी के भी अछूते विषयों से संबंधित साहित्य की वृद्धि हुई है। 'लचित बरफुकन' राष्ट्रीय भावों से ओत-प्रोत नायक-प्रधान काव्य है और 'सती जयमती' नायिका प्रधान। 'सिंधु मंथन' पौराणिक आख्यान पर आधारित प्रतीकात्मक काव्य है।

(25) परेशचन्द्र देव शर्मा : शर्माजी निबंधकार हैं। 'राष्ट्रसेवक' में इनके कई निबंध बिखरे हैं। इन्होंने असमी कविताओं को हिंदी में अनूदित किया है और कई पाठ्य पुस्तकें भी तैयार की हैं।

(26) रमेंद्र शर्मा : श्री शर्मा के कई संस्मरण, रिपोर्ताज और निबंध प्रकाशित हुए हैं। असम प्रदेश और यहाँ के संस्कृति से हिंदी पाठकों को परिचित कराना इनके लेखन का उद्देश्य है।

(27) केशदा महंत : श्रीमती महंत असमी, संस्कृत और हिंदी की विदुषी हैं। ये मूलतः आलोचक और निबंधकार हैं। इनके अनेक लेख 'परिषद पत्रिका', 'हिन्दू विश्व', 'पांचजन्य','राष्ट्रसेवक' इत्यादि में प्रकाशित हुए हैं। इनके निबंधों में आलोचना और गवेषणा साथ-साथ चलती है। अपने पति बापचंद्र महंत की तरह ये भी सच्ची साहित्य साधिका हैं।

(28) पृथारानी दे : डॉ. (श्रीमती) दे आलोचक और निबंधकार हैं। 'प्रेमचंद एवं शरच्चंद्र के कथा साहित्य के नारी पात्रों का तुलनात्मक अध्ययन' इनका शोध प्रबंध है। इनकी कई समीक्षाएँ आकाशवाणी से प्रसारित हुई हैं।

(29) नंदेश्वर राज मेधी : इन्होंने "सूर्यकान्त त्रिपाठी 'निराला' और अंबीकागिरी रायचौधुरी के विशेष संदर्भ में हिंदी और असमीया के आधुनिक काव्यों का अध्ययन" नामक शोध प्रबंध प्रस्तुत कर पीएच.डी. की उपाधि प्राप्त की है।

(30) लक्ष्यधर पाठक : पाठक जी ने 'हिंदी और असमी कहानियों की प्रवृत्तियों का तुलनात्मक अध्ययन' नामक शोध प्रबंध पर पीएच. डी. की उपाधि प्राप्त की है।

(31) भूपेन्द्र नाथ रायचौधुरी : श्री रायचौधुरी प्रदेश के उदीयमान हिंदी साहित्यकारों में अत्यन्त उत्साही एवं अग्रणी हैं। ये स्वभाव से आलोचक और रुचि से निबंधकार हैं। 'भक्ति रत्नावली', 'संक्रांति के बीच युवा पीढ़ी', 'महापुरुष शंकरदेव : एक चुनौती' इत्यादि इनके उत्तर निबंध एवं कविताएँ विभिन्न पत्र-पत्रिकाओं में प्रकाशित हैं।

उपर्युक्त प्रमुख लेखकों के अतिरिक्त और कई छोटे-बड़े नाम लिए जा सकते हैं। इस दृष्टि से निबंध लेखकों में मनेश्वर बरा, गोलोक चन्द्र वैश्य, म. अब्दुल बशर फरूक, अहमद अली शाह एवं संस्मरण और रिपोर्ताज के लेखकों में इंद्रजीत सिंह,

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

नकुल राम मेच, निराला भराली, निरुपमा फुकन, स्वर्ण महंत, कुमारी बंती चलिहा, आइति ग्रेटिश लिंगवा इत्यादि के नाम लिए जा सकते हैं। इनमें से कई लेखक एक साथ अनेक विधाओं में भी लिखते हैं। समग्रतः विचार करने पर असम प्रदेश के वर्तमान लेखकों में से ऐसे कई नाम छाँटे जा सकते हैं जिन्होंने मौलिक लेखन में अपना विशिष्ट स्थान बना लिया है। इस दृष्टि से, छगनलाल जैन, नवारुण वर्मा, बापचन्द्र महंत, तरुण आजाद डेका, लोकनाथ भरलि, जीतेन्द्रनाथ खाओंद, राही कौंडिन्य, चित्र महंत और भूपेन्द्रनाथ रायचौधुरी के नाम उल्लेख्य हैं। महिलाओं में श्रीमती केशदा महंत से हिंदी को काफी आशा है। इनमें भी नवारुण वर्मा और बापचन्द्र अग्रणी हैं। पिछले तीस वर्षों में हिंदी के लिए यह कम उपलब्धि नहीं है।

असम के प्रादेशिक साहित्य का इतिहास अब तक अधूरा रहेगा जब तक यहाँ के लेखकों को प्रेरित प्रोत्साहित करने वाली पत्रिकाओं एवं सभा समितियों की चर्चा न की जाए। असम में पहला पत्र सन् 1939 ई. में डिब्रूगढ़ से 'नव जागृति' (साप्ताहिक) प्रकाशित हुआ किंतु इसके कुछ अंक ही निकले थे कि द्वितीय विश्व युद्ध छिड़ गया और प्रायः संपूर्ण असम फौजी छावनी में परिणत कर दिया गया। स्कूल-कॉलेजों के भवन सैनिक बैरकों में बदल दिए गए। सभी आवश्यक वस्तुओं का अभाव हो गया। ऐसी स्थिति में न केवल हिंदी का यह नन्हा-सा पत्र बल्कि असमीया और अंग्रेजी की भी सभी पत्र-पत्रिकाएँ बंद हो गईं। उसके पश्चात् सन् 1946 ई. के साप्ताहिक 'अकेला' का प्रकाशन (पहले कलकत्ता से पुनः) तिनसुकिया से शुरू हुआ। उस समय से लेकर आज तक इस प्रदेश में छोटी बड़ी कुल 35 पत्र-पत्रिकाओं का प्रकाशन हुआ है। इसमें से अधिकांश पत्रिकाएँ अल्प जीवित ही रही हैं। केवल 'अकेला' (तिनसुकिया, संपादक विश्वनाथ गुप्त), 'पूर्व ज्योति' (गुवाहाटी, संपादक छगनलाल जैन), 'राष्ट्रसेवक' (गुवाहाटी, असम राष्ट्रभाषा प्रचार समिति), और 'बालार्क' (सिलचर, संपादक अशोक वर्मा) जैसी पत्रिकाएँ ही थोड़े बहुत विराम से लगातार चल रही हैं। इन पत्रिकाओं में 'बालार्क' ने प्रकाशन का दसवाँ वर्ष पूरा कर लिया है। शेष पत्रिकाओं में 'अकेला' ने अपने प्रकाशन के 32 वर्ष, 'राष्ट्रसेवक' ने 29 वर्ष और 'पूर्व ज्योति' ने अब तक 17 वर्ष पूरे किए हैं। हिंदीतर प्रदेश में इतनी लंबी अवधि तक किसी पत्र का लगातार प्रकाशित होते रहना निश्चय ही महत्त्वपूर्ण घटना है। बीच-बीच में 'संवाद' (मासिक, गुवाहाटी, संपादक चंद्रभूशण शर्मा 'भूषण'), 'प्रभात' (मासिक, तिनसुकिया, संपादक पुष्पराज 'कठिन') और 'प्राच्य भारतीय' (मासिक, गुवाहाटी, संपादक कृष्णनारायण प्रसाद 'मागध') के प्रकाशन ने असम में हिंदी पत्रकारिता के स्तर को न केवल श्रेष्ठता प्रदान की है बल्कि स्थायी मूल्य की सामग्री प्रकाशित कर भाषा साहित्य का उपकार भी किया है।

सभा समितियों में प्रत्येक दृष्टि से अग्रगण्य असम राष्ट्रभाषा प्रचार समिति, गुवाहाटी (स्थापित 1938 ई.) ने हिंदी के प्रचारात्मक और रचनात्मक दोनों प्रकार के

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

कार्यों को बड़े दायित्व के साथ निभाया है, जिसके लिए समिति परिवार अशेष धन्यवाद का अधिकारी है। उत्तर-पूर्व सीमांत रेलवे के कर्मचारियों की गोष्ठी 'भारती' ने भी हिंदी साहित्य की श्रीवृद्धि में योगदान किया है। समन्वय, ज्ञान और एकता के आदर्श से अनुप्रेरित राष्ट्रभाषा साहित्य परिषद्, गुवाहाटी द्वारा परिचालित रचनात्मक कार्यक्रम भी हिंदी साहित्य के विकास के लिए निश्चय ही उपयोगी सिद्ध होंगे, ऐसा मेरा विश्वास है। इसके अतिरिक्त 'उद्बोधिनी', 'विद्यापति गोष्ठी', पूर्वांचल साहित्य परिषद्' आदि के सामयिक आयोजनों ने भी हिंदी में मौलिक सर्जनात्मक कार्य के लिए वातावरण तैयार करने में सदा योगदान दिया है।

नागालैंड भाषा परिषद ने पूर्वोत्तर के सभी राज्यों के कोश, व्याकरण, स्वयंशिक्षक, लोक साहित्य आदि की 128 पुस्तकों का प्रकाशन कराया है, जिसमें असम की भाषाएँ भी सामिल हैं।

असम जैसे हिंदीतर प्रदेश में संपन्न साहित्य सृजन एवं हिंदी के प्रचार-प्रसार पर विचार करने पर यह निर्विवाद कहा जा सकता है कि राष्ट्रभाषा के प्रति यह मूक सेवा परिणाम में अल्प होते हुए भी भावात्मक एकता की दृष्टि से निश्चय ही स्तुत्य है। यहाँ ध्यातव्य है कि विभिन्न संस्थाओं एवं लोगों द्वारा हिंदी लेखन एवं पठन-पाठन को प्रोत्साहित करने का कार्य अनवरत रूप से चल रहा है। इसलिए यहाँ हिंदी के उत्तरोत्तर विकास की स्थिति संतोषप्रद है।

संदर्भ

1. ए लिंग्विस्टिक सर्वे ऑफ इण्डिया, वॉल्यूम–9, पाठ–1, पृ. 44
2. रजत जयंती ग्रंथ, राष्ट्रभाषा प्रचार समिति, वर्धा, पृ. 210
3. राष्ट्रसेवक, अगस्त, 1971, पृ. 211
4. रजत जयंती ग्रंथ, (1962) राष्ट्रभाषा प्रचार समिति, वर्धा, पृ. 214
5. ब्रजावली भाषा पर विस्तृत अध्ययन के लिए द्रष्टव्य–
   क. ब्रजावली पद्य साहित्य, कृष्णनारायण 'मागध'।
   ख. शंकरी संस्कृति अध्ययन, सं. भवप्रसाद चलिहा, पृ. 59-110
6. प्राचीन भाषा नाटक संग्रह, पृ. 140
7. विशेष के लिए द्रष्टव्य–क. माधवदेव के नाटक, प्राच्य भारतीय प्रकाशन, गुवाहाटी,
   ख. प्राचीन भाषा नाटक संग्रह–डॉ. दशरथ ओझा।
   ग. ब्रजावली पद्य साहित्य, सं. कृष्णनारायण 'मागध',
   घ. असम में वैष्णव मत एवं साहित्य–दिनेश कुमार चौबे

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

आदर्श पत्रकारिता के विविध आयाम

शशि कांत राय*

पत्रकारिता को अखंड निष्ठा का परिणाम कहना ही श्रेयस्कर प्रतीत होता है पत्रकारिता साधन नहीं, अपितु पत्रकार जीवन की साधना रही है और रहेगी। अन्याय और बुराई, अत्याचार और शोषण की मलिन धारा ने जब-जब समाज में प्रवाहमान जीवनधारा की सुर-सरिता को कलुषित करने का प्रयास किया है तब-तब पत्रकारिता ने मलिनता के शोधन के लिए अद्भुत कार्य किया है। आज मानव समाज विघटन के कगार पर खड़ा है। हम भीतर से कहीं टूट से गए लगते हैं और इस टूटन ने हमारे भीतर एक बिखराव पैदा कर दिया है। मानवीय मूल्यों का विघटन हो गया है जिससे मानवीय ज्येष्ठता एवं श्रेष्ठता पर प्रश्नचिह्न लग गया है।

स्वाधीनता प्राप्ति के लिए जो ऊर्जा हमारे भीतर विद्यमान थी, स्वाधीनता प्राप्ति के पश्चात् हमारी समस्त अस्मिता को जैसे लकवा-सा मार गया है। देश-भक्ति की पावन-भावना से हटकर हमारा सारा ध्यान, सारी सोच, निजी स्वार्थों के हित-चिंतन पर आश्रित हो गई है। सच्चाई, सफाई, ईमानदारी, कर्तव्यनिष्ठा ये शब्द तो जैसे अपने अर्थ ही खो गए हैं। इस मोहभंग के परिवेश ने पत्रकारिता को भी प्रभावित किया है और पराधीनता काल की पत्रकारिता का आदर्श जैसे बिखरकर रह गया है। पत्रकारिता की संपूर्ण तेजस्विता तेजहीन होकर रह गई है। केवल उदरपूर्ति की चिंता ने हमें दिनभर में ही कई-कई रंग बदलने का ढंग सिखला दिया है और सच-झूठ में अब कोई अंतर नहीं रह गया है। देश में पत्रकारिता, सर्वसाधारण के हित के विपरीत कार्य कर रही है। पत्र धन से निकलते हैं और धन के संबल से प्रसार संख्या बढ़ती है और पत्रकार भी धन के ही पुजारी बनकर रह गए हैं। अन्याय का प्रतिकार हो सके यह लक्ष्य व्यावसायिक रंग में रंगी पत्रकारिता का हो भी नहीं सकता। पत्रकारिता यंत्रवत हो गई है। "राजनीति के क्षेत्र में जिस प्रकार देश सेवकों ने अपने त्याग और कर्म

---

* शशिकांत राय, शोध छात्र, पत्रकारिता एवं जनसंचार विभाग, उ. प्र. राजर्षि टंडन मुक्त विश्वविद्यालय, इलाहाबाद, एवं पत्रकार, प्रथम प्रवक्ता, नोएडा (उ.प्र.)

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

सहन का भुगतान पदों और सत्ता केंद्रों के क्षेत्र में कर लिया है, वही बात पत्रकारिता के क्षेत्र में भी हुई है। सरकारी विज्ञापनों की गाढ़ी कमाई, विधान सभाओं और पार्लियामेंट की सीटों तथा विदेश यात्रा के डेलीगेशनों की चकाचौंध ने पत्रकारिता जगत पर भी प्रभाव डाला। फलस्वरूप जो बात राजनीतिक क्षेत्र में हुई वही पत्रकारिता के क्षेत्र में भी हुई–यानी नैतिक मूल्यों का ह्रास, आदर्शवादिता का क्षय। आज की पत्रकारिता की यही स्थिति है।"[1] जिस तरह सत्ता, संपत्ति, रूप-यौवन, पदवी आदि मिलने पर कोई व्यक्ति अनावश्यक घमंड करने लगता है, ठीक ऐसी स्थिति तथाकथित प्रतिष्ठा मिल जाने पर आज पत्रकारों की हो गई है।

अपने अहंकार में चूर पत्रकार किसी की कोई परवाह ही नहीं करता है। मंत्री हो या कोई उच्च अधिकारी, उस पर पत्रकार आजकल ऐसे रौब जमाते देखे जाते हैं कि उनके अहंकार को देखकर कोई भी हतप्रभ रह जाता है। वह अपनी श्रेष्ठता की डींग मारता हुआ दिखाई देता है। जबकि "पत्रकार की समाज के प्रति बड़ी जिम्मेदारी है, वह अपने विवेक के अनुसार अपने पाठकों को ठीक मार्ग पर ले जाता है, वह जो कुछ लिखे, प्रमाण और परिणाम का लिखे और अपनी गति-मति में सदैव शुद्ध और विवेकशील रहे। पैसा कमाना उसका ध्येय नहीं है। लोक सेवा उसका ध्येय है।"[2] पत्रकारिता भी इस सेवा-भाव का एक सशक्त माध्यम है। प्रचार-प्रसार के क्षेत्र में पत्रकारिता को जो प्रतिष्ठा मिली है उसके कारण इसके आदर्शपरक बने रहने की बात भी महत्त्वपूर्ण हो गई हैं। पत्रकारों के लिए नैतिक आदर्श आवश्यक बताते हुए सन् 1950 में काशी पत्रकार संघ के अध्यक्ष के रूप में पांडेय बेचन शर्मा 'उग्र' ने अपने विचार व्यक्त करते हुए कहा था, "मेरी राय में पत्रकार बनने के पूर्व आदमी को समझ लेना चाहिए कि यह मार्ग त्याग का है, जोड़ का नहीं। जिस भाई-बहन को भोग-विलास की लालसा हो वह और धंधे करे, रहम करे इस रोजगार पर। मेरा आदर्श पत्रकार ईमानदार पादरी पीर है, किसी भी भीड़ में जिसे आसानी से पहचाना जा सके।"[3] पत्रकारिता एक पावन एवं पवित्र व्यवसाय है, अतः इस क्षेत्र में कर्मरत कर्मी का उतना पावन और निर्मल चरित्र वाला होना पड़ेगा। समाज को स्वस्थ बनाने की दृष्टि से भी पत्रकारिता के लिए आदर्श मानदंडों के महत्त्व को स्वीकारा गया है। पत्रकारिता का इतिहास भी, आदर्श पत्रकारों की साधना के रूप में गरिमापूर्ण आदर्श से महिमामंडित है। पत्रकारिता के महत्त्व और मर्यादा के दृष्टिगत इसके आदर्श भी उच्च ही होने चाहिए तभी आदर्श पत्रकारिता की आधारभूमि तैयार की जा सकती है। "पत्रकारों से सामाजिक चेतना के जागरण के अवगाहन की अपेक्षा करते हुए जवाहर लाल नेहरू ने उनके कर्तव्य-निर्धारण के प्रसंग में कहा था कि जीवन में जो कुछ निकृष्ट है, उसको क्रमशः बढ़ते जाने को रोक लगाने में सहायता करना पत्रकारों का कर्तव्य है। पत्रकारों को अधिक ऊँचे दर्जे की तथाकथित उज्ज्वल सामाजिक चेतना

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

के निर्माण में ही सहायता नहीं करनी है वरन छोटी-छोटी बातों में सामाजिक व्यवहार करना सिखाने में भी।"[4]

हिंदी पत्रकारिता के आदर्श स्वरूप में ही वह ऐतिहासिक धरोहर बन सकती है। पत्रकारिता अब एक अंतरराष्ट्रीय उद्योग बन गई है जिसके कारण इसके प्रति आकर्षण और लोकरुचि में निरंतर बढ़ोत्तरी होना स्वाभाविक बात हो गई है। आज पत्रकारिता में धार्मिक, सामाजिक तथा राजनीतिक विषयों का समावेश, पाठक समाज के लिए ज्ञान में बढ़ोत्तरी करने का माध्यम बन गया है। समाचार-पत्र के प्रति आम पाठक भी जागरूक हुआ है। इसलिए पत्रकार को समाचार-पत्र में ऐसी कोई बात नहीं लिखनी चाहिए, जिससे सत्य पर पर्दा पड़ता हो क्योंकि पत्रकार द्वारा प्रकाशित बात का ज्यादा प्रचार-प्रसार होता है। ऐसा माना जाता है कि अनभिज्ञ व्यक्ति पत्रकार की बात पर विश्वास करता है। सद्भावपूर्वक लोकहित में किसी भी प्रकार की टीका-टिप्पणी प्रकाशित करना तो पत्रकार का कर्तव्य भी है। आलोचना की आड़ में यदि पत्रकार समाचार-पत्रों में ऐसी भाषा का प्रयोग करता है जिससे किसी नागरिक की अवमानना होती हो, तो ऐसी स्थिति में कानून भी पत्रकार को सुरक्षा नहीं दे पाता। पत्रकार का यह कर्तव्य है कि समाचार या सूचना को प्रकाशित करने से पूर्व उसकी भली-भाँति जाँच कर लें अन्यथा यदि सामग्री मानहानि की परिचायक हुई तो उसके कारण अपनी जिम्मेदारी से बच नहीं सकता। उसे उपेक्षा और असावधानी के परिणाम अंततः भुगतने ही पड़ेंगे।

न्यायालय की अवमानना के लिए दंड के प्रावधान का प्रयोजन न्यायालय और न्यायाधीशों की प्रतिष्ठा और गरिमा, न्याय-प्रशासन, न्याय-प्रक्रिया, अदालत में पेश मामलों से संबद्ध पक्षों को ऋजु विचारण के अधिकार और एक आवश्यक जनतांत्रिक एवं मानवीय संस्थान के रूप में न्यायपालिका की रक्षा करना है। यह अवधारणा स्पष्टतः लोकहित में है। इसलिए उच्च अदालतों को न सिर्फ अपमान करने वालों को दंडित करने के व्यापक अधिकार दिए गए हैं, बल्कि दंड का निर्णय करने की अवधारणा-प्रक्रिया का लाभ भी उन्हें दिया गया है।[5] पत्रकारों के लिए यह बहुत जरूरी है कि उन्हें अपने व्यवसाय के सफल निर्वहन में बहुश्रुत व्यक्तित्व का स्वामी बनना होगा। ज्ञान-विज्ञान के हर क्षेत्र की उचित जानकारी हर पत्रकार के लिए अनिवार्य है तभी वह एक सफल पत्रकार बन सकता है।

आदर्श पत्रकारिता का रहस्य भी इसी में निहित है कि एक पत्रकार किसी तरह अपने कर्म क्षेत्र में सफलतापूर्वक अपने कार्य का निष्पादन करता है। पत्रकार के प्रखर विचार, उसके काम करने की ऊर्जा, उसके व्यक्तित्त्व में निहित गुण ही आदर्श पत्रकारिता के प्राकृतिक स्रोत हैं। पत्रकार तो परंपरागत आदर्श की परिपाटी का अनुसरण करता है और अपने समय के समाज की स्थितियों के अनुकूल अपने विवेक से उच्च आदर्शों का निर्माण करता है। अपनी उर्वर कल्पना शक्ति, समाज की

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

देखने-परखने की अद्भुत सूझ से ही पत्रकार अपनी लेखनी से ऐसी आचार संहिता का निर्माण करते हैं जिससे समाज को सही दिशा-निर्देश मिल पाता है। कोई भी पत्रकारिता प्राणहीन हो ही नहीं सकती। पत्रकारिता में वे ही प्रबुद्ध लोग अपना स्थान बना पाने में सफल होते हैं, जो यह भली भाँति जान लेते हैं कि उच्च आदर्श पत्रकारिता के साथ आद्यंत चलना है। जब समाज में हर कार्य एक श्रेष्ठ आदर्श की परिधि में संपन्न होने लगते हैं तो स्वतः ही एक आदर्श समाज की कल्पना साकार हो उठती है। पत्रकार को अपनी लेखनी द्वारा सूचनाप्रद जानकारियाँ उपलब्ध कराने के स्थान पर, समाज को सँवारने का महत् कार्य भी करना चाहिए। समाज को सँवारने की प्रेरणा, पत्रकार को उसके निजी उच्च विचारों के उदात्त मूल्यों से प्राप्त होती है। पत्रकार कर्म की मर्यादा समाज में बनाए रखने की गारंटी समाज नहीं देता, पत्रकार को स्वयं अपने काम, आचरण और उत्तरदायित्व के प्रति जागरूक रहकर अपनी मर्यादा की विराट पृष्ठभूमि तैयार करनी पड़ती है। एक अच्छा पत्रकार समाज की अंतरात्मा होता है ताकि वह जान सके कि समाज किधर जा रहा है। व्यावसायिक कौशल, आदर्श पत्रकारिता की मूलभूत आवश्यकता है। आने वाले समय में ज्ञान के विस्फोट में निरंतरता बनी रहेगी। ज्ञान विस्फोट के लिए एक संतुलित मस्तिष्क की जरूरत होगी ताकि मस्तिष्क की सृजनधर्मिता मानव-कल्याण की हेतु बन सके। ऐसा सुपरिणाम प्राप्त करने के लिए पत्रकार को निश्चित रूप से एक विशिष्ट भूमिका का वहन करना होगा ताकि उन विरोधी शक्तियों को नियंत्रित किया जा सके, जो वर्तमान सभ्यता के अस्तित्व और सुरक्षा पर खतरा बनी हुई है। "मनुष्य द्वारा अपने पर्यावरण और प्रकृति की बढ़ती हुई लूट-खसोट बड़े पैमाने पर हुई है और तेज रफ्तार से सीमित संसाधनों का अपव्यय, जिससे पर्यावरण का संतुलन बिगड़ गया है। यहाँ तक कि हमारी पृथ्वी पर जीवन धारण करने के लिए आवश्यक वायुमंडल ही दूषित हो जाए, गंभीर चिंता का विषय है। प्रकृति की सुरक्षा, पर्यावरण की देखभाल, प्रदूषण की रोकथाम के उपाय अत्यंत आवश्यक हैं। जंगलों की कटाई और महासागरों में प्रदूषण का तकाजा है कि इन बहुमूल्य साधनों की रक्षा के लिए तुरंत आवश्यक उपाय किए जाएँ। प्रौद्योगिकी शक्ति के दोहन पर अंकुश लगाना आवश्यक है।"[6]

पत्रकारिता को अपने महनीय कर्म द्वारा समाज में एक व्यक्तित्व को विकसित करने की दिशा में लेखनी उठानी होगी जिससे व्यक्ति का एक पूर्ण विकसित व्यक्तित्व बन सके, जो विवेक, शक्ति, कार्य और कौशल की श्रेष्ठता के महनीय गुणों से ओत-प्रोत हो। अब समय आ गया है जब पत्रकारिता को अपने कर्म का पुनर्मूल्यांकन करना होगा ताकि सभी क्षेत्रों में होने वाले विकास, अर्थव्यवस्था एवं व्यक्ति की मूलभूत आवश्यकताओं के अनुरूप पत्रकार नई चुनौतियों का सामना करने में सक्षम हो सकें। 4 अप्रैल, 1963 को पं. जवाहरलाल नेहरू ने लोकसभा में कहा था कि "हम जानते हैं कि स्वतंत्रता के पूर्व इस जातिग्रस्त देश में सबसे कठोर जाति अंग्रेजी जानने

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

वालों की थी—अंग्रेजी पोशाक, अंग्रेजी प्रेम, चाहे वह शासक हो या अन्य। हम लोगों में से भी अनेक जाति के थे। यह बहुत ही बुरा था क्योंकि इसने भारतीय जनता और हम लोगों के बीच भयंकर दीवार खड़ी कर दी थी।" प्रथम प्रधानमंत्री के शब्दों में, राष्ट्रीय समस्या का यह कँटीला पेड़ अंग्रेजों ने लगाया था और उसकी जड़ें आज भी सूखी नहीं। इस ओर ध्यान खिंचते रहने का काम, एक आदर्श पत्रकारिता का ही है।

किसी प्रकार के स्वार्थ या लोभ के वशीभूत होकर भी पत्रकार को अवांछित सामग्री अथवा अशोभन विज्ञापनों का प्रकाशन नहीं करना चाहिए। "यद्यपि इस संदर्भ में कानूनी प्रतिबंध भी हैं, जिनका आचार-संहिता की दृष्टि से अपेक्षाकृत अधिक महत्त्व है। बहुधा किसी विवादास्पद स्थिति को उत्पन्न होने पर पत्रकार का दायित्व अधिक बढ़ जाता है। ऐसी अवस्था में भी पत्रकार को अपने क्रियाकलाप की नैतिक सीमाओं में बँधकर अपना कार्य करना चाहिए।"[7]

"प्रसिद्ध यूरोपीय चिंतक बर्नार्ड शा ने पत्रकारिता को शाश्वत साहित्य की श्रेणी में रखा। उन्होंने लिखा है कि जो व्यक्ति अपने समय के बारे में लिखता है, केवल वही सचमुच समस्त मनुष्यता और सभी युगों के लिए लिख सकता है।"[8] बर्नार्ड शा के ये कथन इतने महत्त्वपूर्ण हैं, जिन्हें बार-बार उद्धृत करने पर भी इन कथनों की नवीनता बनी ही रहती है। आदर्श पत्रकारिता के लिए आवश्यक है कि अत्याचार, असत्य और सामाजिक पाखंड के बारे में खुलकर लिखा जाए। इस बात की भी पूर्ण जानकारी रहनी चाहिए कि समाचार की श्रेष्ठता के रहस्य क्या हैं?

विश्वसनीयता, सम्मान, प्रभावोत्पादकता एवं देशप्रेम पत्रकारिता के ऐसे आदर्श हैं, जिन्हें व्यवहार में कार्यान्वित करने पर पत्रकार बेहतर कार्य कर सकता है। पत्रकारिता से जुड़े कर्मियों पर आरोप लगाए जाते हैं कि उनके कार्य में पूर्वाग्रह, अर्द्धसत्य तथा लापरवाही तथा मिथ्या-अभिमान की भावना रहती है और इस प्रकार के आरोप निश्चित रूप से आदर्श पत्रकारिता के खतरे भी हैं और संभव है कि इन दोषों के रहते ऐसा समय भी आए, जब समाचार के पृष्ठों पर कोई विहंगम दृष्टिपात भी न करे। इसीलिए यह आवश्यक बात है कि पत्रकारों को अपने लेखन के माध्यम से पाठक-समाज में असमंजस की स्थिति पैदा नहीं करनी है, यदि वे ऐसा करते हैं तो वे छद्म-प्रतिष्ठा के धोखे में रहते हैं। इस धोखे से बचाव की एक राह है, वह यह है कि आत्म-निरीक्षण के सहारे पत्रकारों को छपे पृष्ठों पर नजर डालकर अपने को विश्वस्त कर लेना चाहिए कि जो कुछ छपा है क्या वह सत्य से जुड़ी हुई तथ्यपरक जानकारी है?

आदर्श पत्रकारिता में मानदंडों के परिप्रेक्ष्य में यह भी महत्त्वपूर्ण बात है कि पत्रकार कैसी भाषा का प्रयोग करता है। क्योंकि यह तो सभी जानते हैं कि पत्रकार तथ्यों को प्रकट करने के लिए लिखता है और एक विशेष संदेश को पाठक समाज तक पहुँचाने के लिए भी पत्रकार लिखता है। किंतु लिखते समय यह ध्यान अवश्य

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

रहना चाहिए कि पत्रकार पाठकों को जो बतलाना चाहता है क्या वह ऐसा करने के उद्देश्य से बेहतर भाषा का प्रयोग करने में समर्थ हो पाया है। इस दृष्टि से विचार, सारगर्भित तथा प्रभावकारी होने चाहिए जिन्हें पाठक जल्दी से समझ सकने में समर्थ हो सके। भाषा अभिव्यक्ति का माध्यम है, उसे जटिल नहीं बनाया जाना चाहिए। स्पष्ट लेखन के गुण वरदान में नहीं मिलते, इसके लिए स्पष्ट सोच का होना बहुत जरूरी है। तथ्य जब पूरे नहीं होंगे, तो कागज पन्नों पर शब्दों की कालिख कोई जादू का काम नहीं कर सकती, शब्द तभी प्राणवान होता है, जब वह सत्य तथा स्पष्ट-चिंतन का परिचायक होता है। व्यक्ति किए गए विचार तर्कपूर्ण एवं अर्थपूर्ण होने चाहिए तभी शब्दों का जादू पाठक के मन में और मस्तिष्क को गहरे रूप से प्रभावित करता है।

जो पत्रकार श्रेष्ठ पाठक भी होते हैं, वे पत्रकार अच्छे लेखक भी सिद्ध होते हैं। पत्रकार को बेहतर पत्रकारिता करने के लिए निरंतर चिंतनशील और अभ्यासी रहना चाहिए। पत्रकार को चाहिए कि वह जनता-जनार्दन का सम्मान करे और उनके लिए चेतावनी भी दे सके कि वह कोई ऐसा काम न करे जिससे सामाजिक हित को चोट पहुँचती हो। जन प्रतिनिधि बनकर पत्रकारों को भरपूर जन-समर्थन भी जुटाना चाहिए। जनता को यह एहसास कराया जाना चाहिए कि पत्रकार उनके हितों की रक्षा के प्रति सजग प्रहरी है। पत्रकार को चाहिए कि वह जनता में विश्वास पैदा करे कि वह अपनी खोजी प्रवृत्ति के बल पर, अंततः उनके हित कार्य में लगा हुआ है।

पत्रकारिता का यह अहम कर्तव्य है कि वह अपने कर्म द्वारा समाज को जागरूक बनाए, लोगों को पत्रकारिता से मिलने वाले जन-अधिकारों की जानकारी दी जानी चाहिए ताकि लोग जान सकें कि पत्रकारिता को मिले तमाम अधिकार वास्तव में जनता के अधिकार हैं।

पत्रकारों को प्रतिस्पर्द्धा की दौड़ में आगे रहना चाहिए। अच्छा समाचार त्वरित गति से पाठकों को पढ़ने के लिए तभी मिल सकता है, जब पत्रकार स्वयं प्रतिस्पर्द्धा के बल पर कार्य करेंगे। बेहतर पत्रकारिता की कसौटी इसी में है कि पत्रकार लोक-कल्याण के लिए जनता की पीड़ा को समझें। नैतिक मूल्यों के पतन को रोकने तथा लोगों को उनके दायित्व के प्रति जागरूक रहने के लिए सतत लेखन कार्य की गति को बनाए रखें। ताकि लेखन पत्रकारिता के क्षेत्र में अमूल्य दस्तावेज सिद्ध हो सके।

आज अधिकांश समाचार-पत्र, उत्तेजना और आतंकमूलक समाचारों को उच्च प्राथमिकता देकर समाज को गुमराह कर रहे हैं, "पत्र बेचने के लालच में अश्लील समाचारों को महत्त्व देकर तथा दुराचरणमूलक अपराधों से भी वे बड़े अपराधी हो जाते हैं। अपराधी एकाध पर अत्याचार करके दंड पाता है और हम सारे समाज की रुचि बिगाड़कर आदर पाना चाहते हैं।[7] पराड़कर जी के इन कथनों में यथार्थ का गहरा

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

एहसास होता है। साफ और सच्ची बात करके पराड़कर जी ने आदर्श पत्रकारिता के सत्य को रेखांकित किया है। वास्तव में पत्रकार का लेखन कर्म, जीवन-दर्शन का परिचायक होता है। वह जो कुछ लिखता है उसे पढ़कर यथार्थ-बोध होता है और सीधे-सीधे पाठक का मन-मस्तिष्क प्रभावित होता है क्योंकि पत्रकार के विषय-वर्णन में, प्रामाणिकता होती है, चित्रण सजीव होता है और होती है गहरी संवेदना, जिसे पढ़कर पाठक निश्चित रूप से सचेत होता है।

चौथे स्तंभ के रूप में पत्रकारिता को मान्यता मिली है उसका कारण मात्र इतना ही है कि पत्रकार अपने कर्त्तव्यकर्म से जन-जीवन को प्रशिक्षित करता है। उसकी भूमिका विश्वविद्यालय के शिक्षक की तरह हो जाती है, इसीलिए पत्रकार को ज्ञानवं होना पड़ता है। ज्ञान और क्रिया दोनों में पत्रकार की दक्षता अपेक्षित है। अमेरिकि प्रेस कांग्रेस ने पत्रकारों के लिए इस तरह के निर्देश तय किए हैं, जो आदर्श पत्रकारित के मानदंड तथा पत्रकार के लिए तो नितांत अपरिहार्य हैं—

1. अपने पक्ष के नाम पर गर्व कीजिए। जोश के साथ अपना उत्सा दिखाइए पर व्यर्थ घमंड मत कीजिए।
2. पत्रकारों में जड़ता मृत्युवत् है। एक ही लकीर को पीटते रहना बौद्धि मृत्यु के सिवा और कुछ नहीं।
3. अवसर मत खोइए अपना ज्ञान जितना भी बढ़ा सकें, बढ़ाइए नवीनता-प्रदर्शन से मत चूकिए।
4. व्यक्ति से बड़ा समाज है, सरकार से बड़ा देश है। मनुष्य नश्वर है संस्था और सिद्धांत अमर हैं।
5. आर्थिक और साहित्यिक दोनों क्षेत्रों में आक्रमण का सामना आक्रमण से कीजिए, शांति से रहना है तो अपनी रक्षा के लिए हमेशा तैयार रहिए तलवार और पैसा कलम के दुश्मन हैं। आवश्यकता पड़े तो सम्मान की रक्षा के लिए जीवन और धन दोनों की बलि दीजिए।
6. दृढ़ रहित पर हठी नहीं। परिवर्तनशील बनिए पर कमजोर नहीं। उदा बनें, पर हाथ बिलकुल ढीला मत छोड़िए।
7. स्पष्टवादी, सगर्व और फुर्तीला रहिए, आपका सम्मान होगा। कमजो परलोक के लिए अच्छी है, नहीं तो वह जड़ता ही है।
8. जो कुछ छपा हो उसकी जिम्मेवारी लीजिए। व्यर्थ दोषारोपण पाप है प्रतिष्ठा की हानि करने वाली चीज न छापिए। घूस लेना पाप है।
9. अधिक से अधिक मित्र बनाइए। मित्र ऐसे हों जो आपके आदर के पा हों या जिनकी मित्रता से आपका सम्मान बढ़े। कुछ लोग आप शत्रुता भी करेंगे। लेकिन आप निर्भीक और निःस्वार्थ होकर अपना काम करते रहें।"[10]

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

समाचार-पत्र पाठक समाज के इतिहास पृष्ठ होते हैं, जिनमें झाँककर पाठक समाज अपने व्यक्तित्व का विश्लेषण करता है। इस दृष्टि से समाचार-पत्रों, पत्रकारों यानी समस्त पत्रकारिता को आदर्श मानदंडों का अनुसरण करना ही चाहिए जिनके बल पर पत्रकारिता का चेहरा भी आकर्षक बनता है और पत्रकार को भी यशस्वी होने का गौरव प्राप्त होता है।

संदर्भ

1. हिंदी पत्रकारिता, कृष्ण बिहारी मिश्र, पृ. 415
2. श्री गणेश शंकर विद्यार्थी की लेखनी, संपादक–जगदीश प्रसाद चतुर्वेदी, पत्रकार कला पर दो शब्द, पृ. 75
3. बृहद हिंदी पत्रकारिता कोश, डॉ. प्रताप नारायण टंडन, पत्रकार की नैतिकता और आचार संहिता, पृ. 639
4. वही, पृ. 640
5. प्रेस विधि, डॉ. नंद किशोर त्रिखा, पृ. 75
6. भारत में विद्यालयी शिक्षा, प्रेमनाथ कृपाल द्वारा लिखित लेख, 'इक्कीसवीं शताब्दी के लिए', से उद्धृत, पृ. 281
7. बृहद हिंदी पत्रकारिता कोश, डॉ. प्रताप नारायण टंडन, पत्रकार की नैतिकता और आचार संहिता, पृ. 638
8. वही, पृ. 639
9. निर्भीक लेखन का आदर्श : पराड़कर, भगवती प्रसाद शुक्ल, आकाशवाणी पत्रिका, 16 जुलाई, 1983, अंक-14, पृ. 2
10. संवाद और संवाददाता, श्री राजेंद्र, पृ. 204-205

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

पुस्तक-समीक्षा

संत की स्नेहसिक्त मधुमय वाणी : 'संत रविदास की राम कहानी'

समीक्षकः घनश्याम मैथिल 'अमृत'

कविता टिकेगी/क्योंकि/कोई/शरीर नहीं है वह मेरा/वह मेरी आत्मा ही नहीं/आध्यात्म है। 'संत रविदास की राम कहानी' औपन्यासिक कृति के प्रारम्भ 'मनोगत' के अन्तर्गत अपनी बात का प्रारम्भ डॉ. देवेन्द्र दीपक ने कविवर भवानी प्रसाद मिश्र की इन काव्य पंक्तियों से किया है। मैं भी इस कृति के संदर्भ में अपनी बात भवानी भाई की काव्य पंक्तियों से ही करना चाहूँगा, जिनका आशय कुछ यों है 'जैसा तू लिख, और जैसा तू लिखता है वैसा तू दिख।' इस कृति कि सृजन डॉ. देवेन्द्र दीपक पर भवानी भाई की यह पंक्तियाँ अक्षरशः सटीक बैठती है। वर्तमान समय में देखा जा रहा है कि जो भी साहित्य लिखा जा रहा है उसका समाज पर यथेष्ट प्रभाव नही पड़ रहा हैं। इसका मूल कारण है हमारे चरित्र का दोहरापन। यानि हमारे अंतर में कुछ और है तथा प्रकट हम कुछ और कर रहे हैं। इस प्रकार कथनी करनी में भिन्नता के कारण साहित्यकारों के सृजित शब्द भी प्रभावहीन होते जा रहे हैं। वरिष्ठ रचनाकार डॉ. देवेन्द्र दीपक इसका अपवाद हैं। वे जैसा लिखते हैं, वैसा ही दिखते हैं। और जैसा दिखते हैं, वैसा ही लिखते हैं। दीपक जी हमारे समाज में मौजूद संकीर्ण जातिवादी वर्ण व्यवस्था के सर्वदा मुखर विरोधी रहे हैं जो उनके लेखन से सिद्ध है।

'संत रविदास की राम कहानी' डॉ. देवेन्द्र दीपक की संत रविदास के जीवन चरित्र पर केन्द्रित अद्वितीय औपन्यासिक कृति है। इस कृति के माध्यम से उन्होंने संत रविदास के जीवन दर्शन का बड़ी सूक्ष्मता से अति गंभीर व समग्र विवेचन किया

---

*समीक्षकः घनश्याम मैथिल 'अमृत', जी/एल-434, अयोध्या नगर, भोपाल-41; मो. 09893803743.

**कृति - संत रविदास की राम कहानी (उपन्यास), डॉ. देवेन्द्र दीपक; प्रकाशकः आर्य प्रकाशन मण्डल, गाँधी नगर, दिल्ली; प्रकाशन वर्ष - 2011; पृष्ठ-168; मूल्य-250/- रुपये।

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

है। संवाद शैली में इस उपन्यास को, बचुआ यानि लेखकएवं संत रविदास के मध्य हुए वार्तालाप को माध्यम बनाकर, बड़े सहज, सरल व रोचक ढंग से रचा गयाहै। हमें भक्तिकालीन कवियों में संत कबीर, सूर, तुलसी, मीरा आदि पर तो प्रचुर सामग्री मिलती है परंतु संत रविदास पर पढ़ने, सुनने को कम ही मिलता है। ऐसे में यह उपन्यास निश्चय ही एक बहुत बड़े अभाव को पूरा करेगा। संत रविदास का सम्पूर्ण जीवन चुनौतियों और संघर्षों की महत्त्वपूर्ण दास्तान है। उन्होंने सिद्ध किया है कि व्यक्ति जाति, वर्ण अथवा कुल से नहीं बल्कि शील एवं कर्म से महान् होता है। उन्होंने इस बात की महत्ता प्रतिपादित की है कि घर से पलायन कर प्रभु की तलाश में वनों अथवा कंदराओं में ध्यान लगाने की अपेक्षा श्रम करते हुए गृहस्थ रहकर, प्रभु भक्ति में लीन होने का उन्होंने मार्ग प्रशस्त किया। उनका सिद्धांत था 'मुख में राम, हाथ में काम'। उनकी दृष्टि में श्रम पारसमणि से भी श्रेष्ठ है। वे कहते हैं 'जल से नहाया हुआ व्यक्ति स्वच्छ होता है, परंतु पसीने से नहाया हुआ व्यक्ति पवित्र होता है।' उनका कथन था कि 'परिश्रम से कमाना, संयम से उपभोग करना और समय आने पर प्रेम से दान करना ही जीवन का यथार्थ है।' वे पाखण्ड के प्रबल विरोधी थे। उन्होंने सदैव सवर्ण मानसिकता से समाज को मुक्ति का पाठ पढ़ाया। उन्होंनं परम्परा दी पसीना बहाने की। उन्होंने श्रम का अभिषेक किया तथा यह भी बताया कि स्वेद की यह शीलमयी बूँद शोषण के विरुद्ध कुपित होकर ज्वालामुखी भी बन जाती है। उनके अनुसार समाज के सभी व्यक्ति सहचर हैं, अनुचर कोई नहीं।

इस कृति में कुल 28 शीर्षकों के माध्यम से रचनाकार ने उपन्यास का ताना-बाना बुना है। सर्वप्रथम 'आह्वान' में लेखक भक्त शिरोमणि रविदास को प्रणाम करते हुए उनसे अनुरोध करते हैं कि वे अपनी राम कहानी सुनाएँ, इस कहानी में पुराने प्रश्न तो हों ही साथ ही वर्तमान संदर्भों में नई चिताओं व समस्याओं को भी वे रेखांकित करें। 'लो सुनो' शीर्षक से लेखक व रविदास जी के मध्य संवाद प्रारम्भ होता है। वे कहते हैं 'मन और वाणी में एकता होनी चाहिये, मन का हेतु साफ तो, बात साफ। उसमें पेंच काहे का? पेंच वहाँ होता है जहाँ मन साफ नहीं होता।' चर्चा को आगे बढ़ाते हुए वे कहते हैं 'मैं प्रभु के सामने अकिंचन हूँ, आदमी के सामने नहीं। विनम्रता और अकिंचनता में भेद है, मैं दीन हूँ, हीन नहीं। दीनता जेब की होती है। उसका कारण बहुत कुछ आदमी खुद है। हीनता मन की होती है।' रविदास जी अपने समाज में रहकर ही अपनी बात लोगों से कहना चाहते हैं, वे अपनी बिरादरी को छोटामानते ही नहीं वे छुआछूत के पोषक लोगों को फटकारते हूए कहते हैं 'छुआछूत का टीका हमारे माथे पर अमिट और स्याही से लगाया गया। मेरा धर्म है कि मैं अपनी और अपनी बिरादरी की तरफ से कहूँ - तुम्हारा तिलक झूठा है, तुम्हारा मंदिर मोह झूठा है, तुम्हारी मूरत झूठी है।' वे सवर्णों के प्रति घृणा अथवा हिंसा का भाव नहीं

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

रखते हैं, उकनी दृष्टि में एक काँटे से दूसरा काँटा निकालना आपसी व्यवसहार मेंठीक नहीं, प्रेम से प्रेम उपजता है तो घृणा से घृणा।

वे मेहनत करने के प्रबल पक्षधर थे। वे कहते हैं 'जिस अनुशासन में पसीने का आदर न हो, उस अनुशासन को एक न एक दिन नष्ट होना ही है। अपने भगवान की मूरत को गंगाजल से नहलाओ लेकिन साथ ही उसे पसीने का अर्ध्य भी दो। गंगा जल और पसीना दोनों पवित्र हैं।' 'हमारा सच चमड़ा' शीर्षक में हमें चमड़े के महत्व को नई दृष्टि से समझने का अवसर मिलता है। चौंसठ कलाओं में चमड़े को मुलायम करना और उसका उपयोगी सामान बनाना भी एक कला है, यह जानना सुखद आश्चर्य का विषय है। ऋग्वेद में चर्मशोधन की चर्चा है, पुराने ग्रंथ चमड़े और चर्मकारों के संदर्भों से भरे पड़े हैं जिसका हमें पता नहीं। चमड़े का काम गंदगी व बदबू भरा है, यह एक कड़ुवी सच्चाई है। अस्वच्छता सेशुरू हुई अस्पृश्यता को स्वच्छता का सिरा पा कर चुक जाना चाहिये था, लेकिन असपृश्यता का इस स्वच्छता से क्या लेना देना।

संत रविदास को स्वयं अपनी जाति में भी ऊँच-नीच की परिपाटी पसंद नहीं थी। वे कहते हैं 'एक बात मुझे वहाँ अपने समाज में कभी बर्दाश्त नहीं हो सकी। होती भी कैसे? हमारी जाति नीची थी। लेकिन हमारी जाति में भी ऊँच-नीच थी। कुछ उपजातियों में परस्पर ऊँच-नीच थी। हुक्का पानी में भेदभाव था।'

संत रविदास मानव-मानव में जाति के आधार पर विषम व्यवहार के विरोधी थे। इसीलिए उन्होंने कहाः 'तरह-तरह की सेवा लेने वाले समाज ने अपने इन सेवकों का आदर नहीं किया। आदर करना तो दूर अनादर किया। लेकिन बबुआ, देख लेना एक दिन समाज को इस निरादर का दण्ड भोगना पड़ेगा। इस घुन का निराकरण किये बिना समाज की सेहत ठीक नहीं होगी। नहीं होगी।'

'पुत्र लालसा' शीर्षक से गुजरते वक्त हमें पता चलता है कि हम प्राचीन काल से ही पुत्र की कामना रखते आए हैं। बेटियों के प्रति हमारी सोच कभी सकारात्मक नहीं रही। इस संदर्भ में ये पंक्तियाँ द्रष्टव्य हैं 'मेरी माँ को भी संतान चाहिये थी, संतान में भी पुत्र की लालसा। राजा दशरथ ने संतान के लिए जो यज्ञ किया था उसका नाम पुत्रेष्टि यज्ञ था। अर्थात् उन्हें संतान नहीं, पुत्र चाहिए था जिसके बिना मुक्ति नहीं। कौन करेगा दाह संस्कार? कौन देगा मुखाग्नि? जिंदा रहते लड़का भले ही माँ-बाप को नाकों चने चबवाए, लेकिन मृत्यु के समय तो लड़का ही चाहिए।' आज हमें बेटी बचाओ आंदोलन की आवश्यकता क्यों पड़ी? लड़के और लड़कियों के बीच तेजी से लिंगानुपात क्यों घटता जा रहा है। इसके पीछे हमारी वर्षों पुरानी मान्यताएँ रूढ़ियाँ भी कम दोषी नहीं। इसी संदर्भ में इनपंक्तियों पर भी दृष्ठि डालें 'जो मनुष्य एकाग्र चित्त होकर 'पुत्रदा' एकादशी का व्रत करते हैं वे इस लोक में पुत्र पा कर मृत्यु के पश्चात् स्वर्ग को प्राप्त करते हैं। 'पुत्रदा' यानि पुत्र को देन वाली। वह पुत्र कपुतहो, लपंट हो, व्यभिचारी हो, पुत्रदा एकादशी को इससे क्या लेना-देना। मुझे अचरज होता है शास्त्र

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

ने पुत्रदा एकादशी का व्रत सुझा दिया, किसी एकादशी को पुत्रीदा एकादशी भी कह देते।' पुत्र प्राप्ति के लिए रविदास की माँ तरह-तरह के व्रत उपवास रखती है। 'सफल प्रसव के लिए' पूरे नौ माह तक माँ ने तरह-तरह केस्नन, दान, व्रत, उपवास आदि विधि विधान से किये। इस बारे में जब रविदास जी से पूछा गया कि बाबा! इस पूरे प्रसंग में आपकी अवधारणा क्या है? आपका पक्ष क्या है? तो वे बोले 'बचुआ मेरा इन बातों पर भरोसानहीं है। लेकिन इतना जरूर है कि आदमी जो भी करे पूरी श्रद्धा से करे। श्रद्धा में छीजन न हो। जो भी किया जाए पूरे मन से किया जाए। बाहर से नही भीतर की प्रेरणा से किया जाये। पाखण्ड और दिखावा हमारे शत्रु हैं। उन्हीं के जाल में फँसकर आदमी भ्रष्ट होता है।' 'जन्म' शीर्षक में रविदासजी के जन्म का बड़ा मनाहारी चित्रण है। उनके जन्म के बारे में यह पंक्तियाँ उद्धृत करना आवश्यक है 'चौदह सौ सैंतीस की, माघ सुदी पंदरास। दुखियों के कल्याण हित, प्रगटे श्री रविदास।।' साथ ही एक बहुत सुंदर सोहर भी हमें यहाँ पढ़ने को मिलता है जो बालक रविदास के जन्म पर ढोलक की थाप पर उनके आँगन में गाया गया। यहाँ पर यह भी उल्लेखनीय है कि जब दादी माँ ने दाई से पूछा कि 'तूने बच्चे के कान में क्या कहा?' तो दाई ने कहा 'मैंने दर्द से कराहती जच्चा के कान में कहा 'धनवंत न जनियो, जनियो गुनवंत। गुनवंत के द्वार पर, खड़े रहे धनवंत।'

'चटसाल' बालक रविदास को पाठशाला में वर्ण शूद्र और जाति चर्मकार होने के कारण प्रवेश नहीं मिलता है। परंतु उनकी दार्शनिक बुद्धि से प्रभावित होकर पाठशाला के गुरूजी उन्हें आचार्य जी के पास ले जाते हैं और आचार्य जी रविदास की योग्यता से प्रभावित होते हुए भी, व्यवस्था एवं अनुशासन का प्रश्न उठाते हुए कहते हैं 'मैं विवश हूँ। तुम्हें देखकर एक बात कह सकता हूँ, तुम्हें शिक्षा गुरू की नहीं, दीक्षा गुरु की आवश्यकता है। तुम्हारा शील अपरा नहीं, परा विद्या की ओर संकेत कर रहा है।' यहाँ पाठशाला और चटसाल के बीच भेद करते हुए उनका बड़ा सुंदर चित्रण हमें देखने को मिलता है। चटसाल की तख्ती अलग होगी। वहाँ चित ही कागज होगा और आँख ही स्याही होगी। यहाँ पढ़ेगा 'अ' से अमरूद लेकिन हरि की चटसाल में पढ़ेगा 'अ' से अज्ञान। यहाँ 'आ' से आम। वहाँ पढ़ेगा 'आ' से आसन। यहाँ पढ़ेगा 'इ' से 'इमली' वहाँ पढ़ेगा 'इ' से इड़ा-पिंगला। यहाँ पढ़ेगा 'उ' से उल्लू। वहाँ पढ़ेगा 'उ' से उर। उसे पढ़कर मन आनन्द से भर जाता है। कथा आगे बढ़ती है। रविदास के एकांत में बैठने और घण्टों अपने में डूबे रहने से घर वालों को उनकी चिंता होती है और वे उनका विवाह कर उनके पाँव में विर्वाह की बेड़ी डाल देना चाहते हैं। उनका मानना था कि नारी का चेहरा देखेगा तो नारायण को भूल जाएगा। वैराग्य की ओर बढ़ते कदमों को रोकने का यह अचूक नुस्खा था। 'विवाह' शीर्षक की ये पंक्तियाँ हमें चिंतन की एक नवीन दृष्टि देती है। 'भारत में लोग चाहते हैं कि ध्रुव पैदा हो, प्रहलाद पैदा हो, लेकिन अपने घर में नहीं। बुद्ध पैदा हो, महावीर स्वामी पैदा हो, लेकिन अपने घर

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

में नहीं पड़सी के घर में हों। अपने घर में तो ऐसा पूत पैदा हो जो उनके बाद घर संभाल सके। उन्हें देश दीपक नहीं कुल दीपक चाहिए।' और अंत में घर वाले एक 'लोना' नामक गुणवान सुशील लड़की से रविदास का ब्याह कर देते हैं। लोना ने रविदास जी से एक वचन लिया 'स्वामी तुम चाहे किसी की भक्ति करो, चाहे किसी को अपना गुरू मानों, कमाओ या मत कमाओ इन सब बातों में आप स्वतंत्र हैं, बस एक वचन दो कि घर नहीं छोड़ोगे। गृहस्थ बनकर जैसी चाहे साधना करो।' और रविदास जी ने अपना वचनजीवन भर निभाया। उनका मानना था कि ईश्वर हमारे अपने अंदर है उसे बाहर ढूँढने के लिए कहीं जाने की आवश्यकता नहीं है। 'लोना' के द्वारा हम जान पाते हैं, जीवन में स्त्री का महत्त्व। लोना को रविदासअपना सहचर मानते थे अनुचर नहीं। वे कहते हैं 'बचुआ आदमी की सफलता लोगों को दिखती है। लेकिन उनकी पत्नी का दिन-रात खटना लोगों को कहाँ दिखता है।'

रविदास गुरू की चाह में 'दीक्षा' लेने उस समय के ख्याति-प्राप्त संत रामानंद जी के आश्रम पहुँचते हैं। रामानंद जी उन्हें कई बार अगली तिथि को आने का कहकर लौटा देते हैं। अन्ततः वे रविदास को दीक्षा देते हैं। यहाँ रामानंद जी द्वारा उन्हें बार-बार टालने पर हुआ संवाद ध्यान देने योग्य है: 'वत्स ऐसा करना जरूरी था। हमें आवेग और आग्रह में अंतर करना होता है। बहुत से लोग किसी आकस्मिक कारण से उद्वेलित हो जाते हैं और उसी आवेग में चले आते हैं दीक्षा लेने। मुझे देखना था कि तुम भावना के स्तर पर जहाँ खड़े हो वहाँ आवेग है या आग्रह। आवेग होता तो तुम वापिस नहीं आते। तुममें आग्रह था, सच्ची लगन थी, इसलिए मेरे बार-बार टालने पर भी तुम आए। मुझे भी बोध हुआ कि मुझे तुम्हें दीक्षा देनी ही चाहिए। तुम वह सुपात्र हो जो युगधर्म पालन में मेरे सहयोगी बनोगे।'

'गुरूदेव' शीर्षक के अन्तर्गत रामानंद जी के बारे में हमें सर्वथा नवीन जानकारियाँ प्राप्त होती हैं। वे अद्‌भुत प्रतिभा के धनी, सभी शास्त्रों में निपुण, भक्ति, शौर्य और समजोत्थान की त्रिवेणी थे। ये पंक्तियाँ देखियेः 'बचुआ! और क्या यह सत्य नहीं कि छुआछूत भी एक प्रकार की हिंसा है। परोपकार पुण्य है। परपीड़न ही पाप है। छुआछूत क्या परपीड़न नहीं है? यदि छुआछूत परपीड़न है तो वह पाप है (समाज उस पाप से मुक्त हो।' रविदास जी के गुरू रामानंद जी उत्तर-दक्षिण, आर्य-अनार्य, सवर्ण-अवर्ण, नारी-पुरुष में भेदनहीं करते थे। वे एक दिन दक्षिण के महाकवि संत तिरुवल्लुवर के नीति ग्रंथ के अनुसार कुलीनता को परिभाषित करते हुए कहते हैं 'मन, वचन और कर्म से सामंजस्य और पाप कर्म में लज्जित होने का योग, कुलीन व्यक्ति को छोड़कर और किसी में नहीं मिलेगा। यानि कुलीन वह जिसका मन, वचन और कर्म में सामंजस्य हो और 'जो पाप करने में लज्जा और ग्लानि का अनुभव करे।' वे संस्कृत के एक सुभाषित का उदाहरण देते हुए कुलीनता की और स्पष्ट व्याख्या करते हुए कहते हैं कि 'दान को गुप्त रखना, घर आए हुए का सत्कार करना, ऐश्वर्य का

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

मद न होना, पराजित शत्रुके गुणों की चर्चा करना, किसी का उपकार करके मौन रहना, अपने प्रति किये गये उपकार की भरी सभा में जनता के बीच चर्चा करना, शास्त्र में अत्यंत आसक्ति, यह गुण पुरुष की कुलीनता को प्रदर्शित करते हैं।' 'साधु-साधो' में वे कहते हैंसाधु होना सरल है, साधु बने रहना कठिन है। साधु को निरबैर होना चाहिए। साधु का मुँह खुले तो प्रभु के गुणगान को खुले। जिसका मन निर्मल हो, वही साधु है। साधु निर्दोष, निष्पाप, निष्कलंक होता है। सोते जागते, उठते-बैठते वह राम को भजता है। वह चुप रहता है तो भी राम को ही भजता है। 'फल कारन फूलै वनराई' में हमें अपने जंगल अपने पर्यावरण, जो कि वर्तमान की सबसे बड़ी और भयावह चिंता है, का दर्शाया गया है। वृक्ष हमारे लिए कितने महत्व के होते हैं, कौन-कौन से वृक्ष हमारे किस-किस काम आते हैं। वृक्षों के बिना जीवन की कल्पना करना ही व्यर्थ है। एक दृश्य देखें 'बचुआ हमारा देश पुराणों को मानता है। पुराण कहते हैं दस कुएँ बराबर एक बाबड़ी। दस बाबड़ी बराबर एक तालाब। दस तालाब बराबर एक पुत्र। दस पुत्र बराबर एक पेड़। पूत कपूत हो सकता है, लेकिन पेड़ नहीं। पूत निराश कर सकता है लेकिन पेड़ नहीं। पूत केवल अपने परिवार को लाभ पहुँचाता है लेकिन पेड़ तो पूरे समाज को लाभ पहुँचाता है।'

'विमर्श' के अंतर्गत "ब्राह्मण, क्षत्रिय और वैश्य कैसे होने चाहिए? उनका अपना आचरण एवं धर्म कैसा हो? और उनके अपने धर्म से डिगने पर समाज को क्या हानि होती है?" का विस्तार से रोचक वर्णन है। रविदास जी कहते हैं 'बचुआ समाज के स्वास्थ्य का रक्षक है शूद्र। वह अपने काम में ढील बरतेगा तो धरती गंदगी से भर जाएगी। जगह-जगह मल-मूत्र, कचरा, मलवा, इकट्ठा हो जाएगा। ऐसा होगा तो महामारी फैलने में देर नहीं लगेगी। आँधी की तरह नगर, कस्बे, गाँव महामारी की चपेट मेंआ जायेंगे। समाज को शूद्रों का आभारी होना चाहिये। अहसान मानना चाहिये उनका। गंदगी के जो काम और नहीं कर सकते उन्हें ये शूद्र करते हैं।' 'पारस' में मेहनत की कमाई में विश्वास रखने वाले रविदासलोहे को सोना बनाने वाली पारस मणि जैसी बहुमूल्य वस्तु को भी तुच्छ समझते हुए उसे भेंट में लेने से इन्कार कर देते हैं। वे उस विभिन्न विकारों काकारक मानते हैं। वे कहते हैं 'पारस' मनि मुहि रतुनहीं भावै, जग जंजाल न थोरा। कहि रविदास तजि सभ त्रिखा, इकु राम चरन चित मोरा।'

'मुख-कमान' में रविदास जी वाणी के महत्व को प्रतिपादित करते हुए कहते हैं 'बिन बोले नहीं बोलिए, पहिले बोली जान, गुनी और गंवार की बोली से पहचान।।' वाणी हमें लोगों से जोड़ती है और लोगों से तोड़ती भी है। हमें भी कड़वे वचन बोलने से बचना चाहिये। तीर तलवार के घाव भर जाते हैं परंतु बात का घाव कभी नहीं भरता। 'कठौती में गंगा' संत रविदास के बारे में सर्वाधिक प्रचलित कहावत है, मन चंगा तो कठौती में गंगा। किस प्रकार रविदास अपनी कठौती के पानी में अपने औजारों को धोने के बाद, गंगा जी का आह्वान करते हैं और उस कठोती से वैसा ही

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

बहुमूल्य कंगन निकलता है, जैसा कि गंगा जी ने उपहार स्वरूप ब्राह्मण को दिया था। यानि हृदय निर्मल हो तो कठौती का जल भी गंगा के समान पवित्र एवं वरदायक हो जाता है।

'चर्चा' के अंतर्गत एक बड़ा रोचक प्रसंग आया है। कबीर, रविदास और कमाल साथ-साथ कहीं जा रहे थे। एक कुएँ के पनघ्ट पर दो स्त्रियाँ आपस में चर्चा कर रही थीं। एक स्त्री अपने पति की प्रशंसा करते हुए कहती हैं कि मेरी नाक और लौंग पुरानी हो गई थी, मैंने अपने पति से दूसरी नथ बनवाने को कहा, दूसरे दिन लौंग बन कर आ गई। मेरा पति कितना अच्छा है, मेरी हर इच्छा पूरी करताहै। भला आदमी है, ऐसा आदमी बड़े भाग्य से मिलता है। इस पर कबीर ठठा कर हँस पड़ते हैं और एक साखी कहते हैं, जो हमें अंदर तक झकझोर देती है 'नथुनी दी जिस यार ने सुमिरत बारम्बार। नाक दीन्ह करतार ने उसको दिया बिसार।' इस प्रसंग में खजूर एवं चक्की को लेकर कबीर की साखियों के प्रति उत्तर में उनके पुत्र 'कमाल' द्वारा रची गई अनूठी साखियाँ भी हैं, जो हमें आध्यात्म की गहराईयों में ले जाती हैं। 'भेंट' पढ़कर ऐसा लगता है, जैसे इस उपन्यास का मर्म ही इस शीर्षक में छिपा है। कैसे अपने ही लोगों के दुर्व्यवहार से तंग होकर हमारे लोग विधर्मी होने लगे। रविदास जी एक स्थान पर कहते हैं 'उनकी संख्या बढ़ती रही, हमारी संख्या घटती रही। उनकी संख्या घटती रही। उनकी संख्या तो बढ़नी ही थी। संख्या बढ़ाना उनकी राजनीतिक आवश्यकता थी और धार्मिक अनिवार्यता थी। हमारी संख्या को गिरना ही था। हमने दुःख में मदद नहीं की। समय पर साथ खड़े नहीं हुए। फटे को सिया नहीं, रूठे को मनाया नहीं। दूर-दूर रखा। गले लगाया नहीं। तने-तने खड़े रहे। दंभ पर अड़े रहे। सिर्फ अपने को बड़ा समझा। दूसरे करे हेय समक्षा। कंधे पर हाथ नहीं रखा। पीठ कभी थपथपाई नहीं। हौंसला बढ़ाया नहीं। फासला पटाया नहीं। बहके को समझाया नहीं। ठिठके को रोका नहीं।' वे गुरूनानक देव का जिक्र करते हुए कहते हैं 'दूसरों के द्वारा छुआ हुआ भोजन अशुद्ध नहीं होता, आदमी द्वारा लोभ से कमाया हुआ भोजन अशुद्ध होता है।' 'अंतःसंबंध' में हमें संगति के प्रभाव का वर्णन पढ़ने का मिलता है। इसमें हमें चित्तौड़ राज्य की महारानी को रविदास जी द्वारा दीक्षा देने पर ब्राह्मण लोग जो बखेड़ा खड़ा करते हैं, उसका वर्णन मिलता है। अंत में सत्य के समर्थक रविदास की विद्वता के आगे उनके विरोधियों को भी नतमस्तक होना पड़ता है।

'सालिग्राम' में हम इस रोचक वृत्तांत को पढ़ते है कि किस प्रकार दंभ और अहंकार में डूबे ब्राह्मणों के सालिग्राम गंगा की लहरों में डूब जाते हैं और भक्त शिरोमणि, निर्मल हृदय रविदास द्वारा छोड़ेगए सालिग्राम गंगा की लहरों पर तैर जाते हैं। 'चित्तौड़' शीर्षक में हम पढ़ते हैं किस प्रकार चित्तौड की महारानी अपने गुरू का सम्मान करती है। हाथी पर चाँदी के हौदे में बैठाकर रविदास जी की शाही सवारी निकाली जाती है। समस्त ब्राह्मण समूह के समक्ष रजतमंडित सिंहासन पर गुरूदेव को

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

बैठाकर रानीस्वयं उनके पैर पखारती हैं। पुष्प वर्षा की जाती है। राजपुरोहित स्वस्ति वाचन करते हैं। कहाँ तिरस्कर का लम्बा इतिहास और दूसरी ओर शाही सम्मान का वर्तमान। 'बेगमपुरा' उपन्यास का अंतिम शीर्षक है जिसमें रविदास जी बताते हैं कि मेरा बेगमपुरा परम सुखों का धाम है। यहाँ न दुःख है, न भय है और न द्वेषभाव है। यहाँ न कोई हिन्दू है न कोई मुसलमान है। यहाँ मंदिर मस्जिद का कोई झगड़ा नहीं है। बेगमपुरा में रहने के लिए सबको न्यौता है।

उपन्यास के अनेक संवाद वाक्य बन पड़े हैं। उपन्यास की भाषा में काव्यात्मक लय है। कृति कहीं भी बोझिल नहीं लगती। पाठक प्रथम पृष्ठ को पढ़ते ही सम्मोहित सा हो रविदास के चरित्र से बँध जाता है। वह उपन्यास को पढ़ते हुए यह भूल जाता है कि वह कोई कृति पढ़ रहा है, बल्कि उसे ऐसा लगता है कि जैसे समूचे घटना क्रम का वह स्वयं द्रष्टा और साक्षी है। सब कुछ जैसे उसके सामने घटितहो रहा है। हम इस कृति को पढ़ते हुए पूर्ण रूपेण रविदासमय हो जाते हैं। हमें सम्पूर्ण जीवन के बारे मेंएक नई दिशा मिलती है। हमारे अंदर एक नवीन चेतना का संचार होता है। प्रुफ की अशुद्धियों से मुक्त,आकर्षक आवरण वाली, शोध, अध्ययन, चिंतन, मनन के साथ श्रमपूर्वक लिखी गई इस कृति का विशिष्ठ वर्ग के साथ आम पाठक भी हृदय से स्वागत करेगा, ऐसा मुझे पूर्ण विश्वास है।

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

बारामासी : सत्तर के दशक की जीवंत मानसिकता दर्शन गाँव-कस्बों के संदर्भ में*

सुधीर ओखदे**

ऐसा नहीं है कि ज्ञान चतुर्वेदी लिखित 'बारामासी' पर लिखने का कोई प्रसंग वि... औचित्य है। अथवा यह व्यंग्य उपन्यास मैंने आज पहली बार पढ़ा है। बारामासी म... प्रदेश के छोटे गाँव कस्बों की सत्तर के दशक का प्रतिनिधित्व करती ऐसी कहानी... जो उस समय की सामाजिक, आर्थिक, शैक्षणिक, राजनीतिक, आपराधिक दृष्टि... संपूर्ण ईमानदारी के साथ आपके सामने रखती है।

1978 में मैं मध्य प्रदेश शहड़ोल नामक कस्बे में 11वीं की कक्षा का विद्या... था। आज जब मैं 'बारामासी' उपन्यास पढ़ता हूँ तो छुट्टन, गुच्चन, छदामी, बिन्नू, ... बिब्बो, लल्ला, मामाजी सभी पात्र मुझे जाने-पहचाने से लगते हैं। लगता है जैसे मैं ... काल की कोई पुरानी फिल्म रिवाइंड करके बार-बार देख रहा हूँ।

'बारामासी' बुंदेलखंड के एक छोटे से कस्बे अलीपुरा की कहानी है। ... परिवार की कथा के माध्यम से ज्ञान ने मानवीय विकृतियों, स्वभाव, रूढ़ी, परंपरा ... कस्बाई मानसिकता पर इतनी सहजता से प्रहार किया है कि उनकी शैली पर ... मिटने को जी चाहता है। स्थितियों का दारुण और कारुण वर्णन भी इतने हल्के-फु... ढंग से प्रस्तुत किया है कि लेखक की अद्भुत लेखन शैली के दर्शन होते हैं। ज्ञान... व्यास शैली के माध्यम से संपूर्ण उपन्यास में इस ग्रामीण परिवेश को जीवंत कर दि... है।

अलीपुरा में एक गरीब विधवा जिसे लेखक 'अम्माजी' संबोधित करता ... अपने चार पुत्रों एवं एक पुत्री के साथ बिना किसी नियमित आमदनी के वर्षों ...

*समीक्षित उपन्यास; बारामासी, ज्ञान चतुर्वेदी।

**33, एफ-13 वैभवी अपार्टमेंट, व्यंकटेश कॉलोनी, साने गुरुजी कॉलोनी परिसर, जलगाँव (म... 425002, मो. 09923145935

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

रह रही है। पुत्र क्रमशः गुच्चन, छुट्टन, लल्ला, चंदू और पुत्री बिन्नो। उपन्यास के आरंभ में बिन्नो का ब्याह का उल्लेख करते हुए बुंदेलखंड में प्रचलित वधु परीक्षा को लेखक ने इतनी सूक्ष्म दृष्टि से उकेरा है कि यदि उस कालखंड का कोई भी व्यक्ति इस प्रसंग को पढ़ेगा तो निश्चित रूप से लेखक की व्यंग्य-दृष्टि का कायल हो जाएगा। लड़की का सजना-सँवरना, पड़ोस के घर का फर्नीचर, ठंडे पानी के लिए बर्फ का जुगाड़, पसंद न आने पर फिर उसी उत्साह से दूसरी बारी की प्रतीक्षा, अम्माजी का अँधेरी कोठरी में पुरानी पेटी को बार-बार खोलकर देखना और आश्वस्त होना ये तमाम बातें लेखक की सूक्ष्म दृष्टि की परिचायक हैं।

मामाजी के पात्र द्वारा लेखक लड़की बहन की जिम्मेदारी को मायके वाले किस जिम्मेदारी से निभाते हैं यह दर्शाने का प्रयास किया गया है। मामाजी, अम्माजी के भाई हैं और शादियाँ कराने में इनका कोई सानी नहीं है और यहाँ तो बात उनकी भांजी बिन्नो की है अतः वह दृढ़ संकल्प किए बैठे हैं कि बिन्नो तो बिन्नो साथ में बहन के तीनों लड़कों के लिए भी वही रिश्ते लेकर आएँगे और वह भी संपन्न घरों के। लड़कियाँ परी जैसी। ज्ञान ने इस पात्र के माध्यम से एवं इनकी बातों के माध्यम से बुंदेलखंड में विवाह के मायने स्पष्ट कर दिए हैं। लड़का चाहे कुछ भी न करता हो फिर भी उसका विवाह-संपन्न घर में हो सकता है। गुच्चन की शादी यही संकेत करती है।

मुझे हमेशा ज्ञान का साहित्य परिसर साहित्य ही लगा है। उनके आसपास के परिसर में घटित होने वाले परिवेश का जीवंत चित्रण। बारामासी भी मध्य प्रदेश का परिसर साहित्य ही है।

छुट्टन और बिब्बो के प्रेम का वर्णन लेखक ने इतनी बारीकी से किया है कि बुंदेलखंड अथवा मध्य प्रदेश में लड़की को प्रभावित करने के अचूक नुस्खों अथवा छुट्टन जैसे लड़कों की प्रवृत्ति द्वारा इस प्रकार की हरकतें हमें आसपास की घटनाओं की तरह ही ज्ञात होती हैं।

अपनी पसंद की लड़की की मात्र एक झलक पाने के लिए लड़कों को किस हद तक परिश्रम और निपुणता की आवश्यकता होती थी। आइए इसे ज्ञान की भाषा में ही देखते हैं, "जब बिब्बो मात्र कुछ मिनटों के लिए ही प्रेम प्रकटन हेतु उपलब्ध होती थी, तब एक ही साथ बहुत से जरूरी कार्य छुट्टन को संपन्न करने पड़ते थे, जिसमें कई बहुमूल्य मिनट-नष्ट हो जाते थे। जैसे ही वे बिब्बो को देखते, तुरंत जेब से काला चश्मा निकाल कर नेत्रों पर धारते, फिर जल्दी से जेब से कंघी निकालकर, बाल काढ़कर, उन्हें कंघी से ही दबाकर चिरैया जैसा फुग्गा बनाते और फिर बिब्बो को तिरछी नजरों तथा भूखी मुद्रा में घूरते हुए गली को पार कर जाते। कभी बिब्बो उनको देख लेती, कभी नहीं भी देख पाती। मूँगफली छीलने, गन्ना चूसने, गीले बालों को झटकने या जुओंवाली कंघी बालों में फिराने जैसे कार्यों में बिब्बो व्यस्त रह जाती और उनको खबर ही नहीं हो पाती कि छुट्टन इतना ढेर सारा प्यार उनकी गली में बिखरा कर निकल गए हैं।"

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

एक और बारीक बात ज्ञान ने इस दौर की पकड़ी है वह है, युवा वर्ग में फिल्मी ज्ञान का आदान-प्रदान और इसे उस समय बड़ा प्रतिष्ठा का माना जाता था। यदि नई फिल्मों की जानकारी नहीं है अथवा नायक-नायिकाओं के लेटेस्ट प्रेम प्रकरण से यदि कोई अनभिज्ञ है तो बुंदेलखंड में उसे मूर्ख, बेवकूफ इत्यादि मान लेने में किसी को संदेह नहीं होता था। आइए इसे एक प्रसंग द्वारा जानें–

"तुम्हारे वे मीना कुमारी से फँस गए।" छुट्टन ने बताया।

"वे कौन?" छदामी तुरंत बात के मर्म तक नहीं पहुँच पाए और पूछने लगे।

"यार, हद है। और कौन मीना कुमारी से फँस सकता है?" छुट्टन ने छदामी की नादानी पर तरस खाते हुए कहा।

"कोई भी फँस सकता है।"

"कोई भी?"

"और क्या कोई भी..."

"तुम फँस सकते हो...?"

"मीना कुमारी फँसने दे तो हम तो आज फँस जाएँ।" छदामी अब तक समझ गए थे कि बात धर्मेंद्र, मीना कुमारी के बीच चल रहे लफड़े की राष्ट्रीय समस्या की हो रही थी, पर बात अब कुछ और दिशा पकड़ गई थी तो यही सही।

गरीब परिवारों में सुयोग्य लड़कों को अत्यधिक मान-सम्मान और बाद में उनका अपने घर-परिवार से पलायन। अपने परिवार की जिम्मेदारी से मुँह मोड़ना इत्यादि भी ज्ञान की सूक्ष्म दृष्टि से बच नहीं पाया है। परिवार का एक पुत्र चंदू अत्यंत मेधावी है और सारे परिवार में होशियार अतः परिवार में उसके 'ज्ञान' की दहशत को लेखक ने बड़ी बारीकी से उकेरा है। इसका हर वर्ष अव्वल आकर अगली कक्षा में जाना ही उसे पारिवारिक कार्यों से बचाता रहा। पानी भरना, रिक्शा लाना, सामान उठाना, जिम्मेदारी उठाना इत्यादि कार्य इतने मेधावी पुत्र से करवाना भला किसे भाएगा। बुंदेलखंड में विद्वता के इस सम्मान को ज्ञान ने बड़ी सफाई से बयान किया है। उपन्यास के अंत तक यही मेधावी चंदू डॉक्टर चंदू बन जाता है और अभावों और समस्याओं से घिरे अपने परिवार की तरफ देखना भी नहीं चाहता। इस कृतघ्नता को ज्ञान ने बड़ी बारीकी से उकेरा है।

बारामासी उपन्यास बुंदेलखंड, मध्य प्रदेश ही नहीं अपितु सत्तर के दशक की कस्बाई मानसिकता वाले किसी भी शहर की कथा कही जा सकती है। एक ऐसा उपन्यास जो मनोरंजन के साथ-साथ अपने समय की सही तस्वीर आपके सम्मुख उपस्थित करता है, पूरे शिद्दत के साथ।

परिस्थितियों को पकड़ने की ज्ञान में अद्भुत क्षमता है। छोटी-छोटी बातें जिन पर सहसा किसी का ध्यान नहीं जाता अथवा जिन्हें अनुल्लेखनीय मानकर प्रायः लेखक

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

छोड़ दिया करते हैं। उस जैसी घटनाओं को ज्ञान ने अपने इस उपन्यास में प्रसंग का विषय बनाया है और ये सभी प्रसंग न सिर्फ प्रभावी दीख पड़े हैं अपितु व्यंग्य की दृष्टि से विसंगतियों पर अद्भुद मार भी करते हैं।

ज्ञान हँसते-हँसाते प्रहार में विश्वास रखते हैं जिससे प्रहारित व्यक्ति तिलमिला तो उठे लेकिन विरोध में बोल न पाए। क्योंकि प्रहार उस वृत्ति पर हो रहा है। और यदि व्यक्ति उसका विरोध करता दिखता है तो वह स्वयं को बेनकाब कर रहा है।

बारामासी उपन्यास ग्रामीण परिवेश में जी रही एक ऐसी माँ की कहानी है जिसका पति उसे विरासत में चार नकारे पुत्र और एक बदनसीब पुत्री देकर मर गया है, जीवन से संघर्ष करने के लिए।

बारामासी उपन्यास अभावों और परिस्थितियों से संघर्ष करते-करते भी किस प्रकार प्रसन्न रहा जा सकता है इस संदेश की कहानी है। जिसे एक परिवार के माध्यम से लेखक ने बारीकी से प्रस्तुत किया है। आज ऐसे परिवार हमें सर्वत्र दिखाई देते हैं।

बारामासी उपन्यास ग्रामीण परिवेश में पल रहे ऐसे 'उपलब्ध प्रेम' की कहानी है जिसका कोई भविष्य नहीं है। और इस भविष्य की किसी को चिंता भी नहीं है।

बारामासी उपन्यास बुंदेलखंड में आज भी जीवित जिम्मेदारियों और उसके अहसान तले दबे लाखों लल्लन मामा की कहानी है जो अपने कर्त्तव्य को किसी जिम्मेदारी से कम नहीं समझते और कभी निराश नहीं होते।

बारामासी उपन्यास बुंदेलखंड में अपराध, गुंडागर्दी को सम्मान के रूप में स्वीकार करने की कहानी है। बुंदेलखंड में ताकत और हिम्मत पुरुषत्व के लक्षण माने जाते हैं। वहाँ मान-सम्मान के लिए कत्ल कर देना, जेल हो आना, आप पर मुकदमे चलना इत्यादि प्रतिष्ठा की बात मानी जाती है। लल्ला के माध्यम से ज्ञान ने बुंदेलखंड की इस प्रवृत्ति का भी बड़ी ईमानदारी से वर्णन किया है।

बारामासी उपन्यास मेधावी पुत्र के योग्य बनते ही कृतघ्न बनने की कहानी है, जो आज हमें हर घर में दिखाई देते हैं।

बारामासी उपन्यास बिन्नू जैसी विवाह को तरसती अनेकों युवतियों की कहानी है जिसके मान-सम्मान, आत्माभिमान का कोई मोल नहीं। अपमान को अपनी नियति मानती ऐसी अनेक युवतियाँ आज हमें सर्वत्र दिखाई देती हैं।

ज्ञान के लेखन में एक अजीब-सा ईमानदार भोलापन है। 'चूतिया' शब्द का प्रयोग मध्य प्रदेश में इतना प्रचलित है कि इस शब्द के अर्थ को समझने में न तो वहाँ का भोलाभाला व्यक्ति पड़ता है और न ही उन भोलेभालों का ईमानदार लेखक ज्ञान ही पड़ता ही। बस इस शब्द का पर्यायवाची वहाँ के लोग मूर्ख, अहमक, ना समझ इत्यादि मानते हैं जबकि यह एक गंदी गाली है। ज्ञान से आग्रह है कि वे इस शब्द से परहेज करने की कोशिश करें।

बारामासी उपन्यास समय का एक ऐसा दस्तावेज है जिसे सहेजकर रखा जाना जरूरी है।

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

अश्रांत पथों पर चलते संकल्पबद्ध चरण*

नंदलाल मेहता 'वागीश'**

मुक्तछंद में रचित वरुण कुमार तिवारी की 61 कविताएँ 'कुछ दूर रेत पर चलकर' शीर्षक-संग्रह में निबद्ध हैं। भावतत्त्व की दृष्टि से ये कविताएँ कवि की उस सजग मनस्कता से उद्भूत हुई हैं, जो अपने समय के सरोकारों से रू-ब-रू है। मूलतः वस्तु-व्यक्तिभाव की अपेक्षा इन कविताओं में अपने समय के परिप्रेक्ष्य के साथ-साथ व्यापक मानवीय पक्ष और प्रश्न भी जुड़े हैं। व्यवस्थाबिद्ध पीड़ाओं और प्रश्नों से बचकर निकलना कवि का स्वभाव नहीं है, बल्कि वह निष्कम्प स्वर और सचेत भावबुद्धि से उनको अस्वीकार करता है। कई स्थलों पर यह अस्वीकरण प्रतिरोध-प्रतिकार सरीखा है। इसलिए इन कविताओं में अपने युग के अश्रांत पथों पर चलते जिस मनुष्य का वर्तमान झाँकता है, वह कभी भावप्रेरित होकर, कभी विचार चालित होकर, कभी दर्शन भावित होकर, कभी नीतिबद्ध होकर तो कभी संकल्पबद्ध होकर भविष्य की डगर पर अपने पग बढ़ाता है।

यह ठीक है कि संग्रह की कविताएँ मुक्तछंद में रचित हैं और यह भी कि भावकथन की इयत्ता पर यद्यपि श्रुति आवर्त्तन का कोई निश्चित विधान नहीं है, तो भी बीच-बीच में सम की अनुगूँज व्याप्त है, जिससे मुक्तछंद की लयात्मकता बनी रही है। कवि वरुण तिवारी की कविताओं के पर्याय से कम-से-कम यह तो कहा जा सकता है कि मुक्तछंद के विधान के आश्रय से उनकी कविताओं की भावभूमि को एक प्रशस्त क्षेत्र मिल गया है।

---

*समीक्षित कृतिः कुछ दूर रेत पर चलकर : (कविता-संग्रह), कवि : वरुण कुमार तिवारी, प्रकाशक : नमन प्रकाशन, 4231/1, अंसारी रोड, दरियागंज, नई दिल्ली-2

** पूर्व वरिष्ठ अध्येता, संस्कृति मंत्रालय, भारत सरकार। शब्दालोक, 1218, सेक्टर-4, अर्बन इस्टेट गुड़गाँव (हरियाणा)।

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

विषय-पृष्ठाधार की दृष्टि से ये कविताएँ वर्तमान व्यवस्था की विद्रूपताओं, विसंगतियों, विकृतियों और विषमताओं की कोख से जन्मीं मानवीय पीड़ाओं, संत्रासों, विवशताओं, किंतु साथ ही जिजीविषा की कविताएँ हैं। अव्यवस्था की सबसे अधिक मार साधारणजन पर पड़ती है। उसके प्रतिकार की आवाज दबा दी जाती है। यूँ भी यांत्रिक और अर्थव्यावसायिक युग में मनुष्य का स्वभाव अधिक नृशंस हो गया है। गाँव तक बदल गए हैं। शहरों की ओर पलायन है। शहरों में भी घात-प्रतिघात है। बाहर का तनाव भीतर उतर गया है। सभी अपने-अपने राग-द्वेषों से संतप्त हैं। संवेदनहीनता और अजनबीपन है। ऐसी विषम परिस्थितयाँ हैं कि मन की सच्ची भावनाओं को व्यक्त कर पाना संभव नहीं है। ऐसी स्थिति में सृजनरत रहना एक बहुत बड़ी कीमत चुकाना है। विषम परिघटनाएँ घटित हो रही हैं। स्वयं के होने पर आदमी प्रश्नांकित है। आत्मघाती स्थितियाँ हैं। बेतरतीब जिंदगी है। वैश्वीकरण और बाजार की आँधी में कोमल भावनाएँ रौंदी जा रही हैं। जहाँ पूँजी ही सब कुछ हो वहाँ आत्मा का विनिमय भी हो सकता है। निःशस्त्रीकरण के नाम पर शस्त्रास्त्र-उत्पादन जारी है। माँ पृथ्वी आहत है। पिता आकाश अचंभित है। रिश्तों में निस्संगता, लंपटता, अहंकार और स्नेहहीनता है। पीढ़ियों का अंतराल है। पीड़ा और दर्द है। इन सबके बीच भी कवि आशावादी है। कठिन संघातों के बीच भी शब्द पर उसका विश्वास है। महाविनाश के बीच सर्जना जीवन का उत्सव मनाती है। मनुष्य के भविष्य में कवि की आस्था इन शब्दों में प्रकट होती है—

'सुबह होने से पहले/रोज रात को/चमकते हैं/कुछ शब्द स्याह आकाश में/विस्तार पाने के लिए/कि मधुर मुस्कान का प्रतिफल है/एक उत्सवपूर्ण दिन की शुरुआत/इसलिए स्वागत करो खिलखिलाकर/एक दुधमुँहे दिन के जन्म का।' (पृ. 103)

इसलिए अपने कविता-चिंतन को सकारात्मक समाहरण के साथ विराम देता हुआ कवि कहता है—

'जीवन कितना भी छोटा हो/कितना ही विषादपूर्ण/और मौत कितनी ही निश्चित/फिर भी उदास होने का क्या अर्थ/ऐसे अँधेरे वक्त में अब/रोशनी का एक कतरा भी/ दिखाई पड़े तो बसा लें आँखों में/और गलत कर दें/दुख और मौत को।' (पृ. 104)

संकलित कविताओं के शीर्षक प्रायः तद्तद् रचनाओं से सीधे लिए गए हैं। वस्तुतः कविता के केंद्रीय भाव की धारक पंक्तियों को शीर्षक का रूप दे दिया गया है। इस प्रकार शीर्षक कविताओं के अंतस्तत्त्व को व्यक्त करते हैं। अपवाद रूप में कहीं-कहीं ये शीर्षक कविता की भाव-चेतना के निकटस्थ शब्दों के अभिव्यक्ति रूप हैं। स्पष्ट है कि शीर्षक न केवल उन कविताओं की संवेदना के अभिलक्षक है अपितु कवि की सर्जनात्मक चेतना के भी अंग हैं। अधिकतर शीर्षक प्रतीकात्मक हैं। पुस्तक

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

का शीर्षक भी स्वयं में प्रतीकात्मक है। 'नदी हो जाना' विस्तार का प्रतीक है। अप संपूर्णता के साथ गतिशील होना है। अपने लक्ष्य सागर में विलीन होना है, किंतु पर चलना अपनी गति को बाधित हुआ पाना है। नदी समुद्र तक नहीं पहुँच पात कुछ दूर रेत पर चलकर, रेत में ही सूख जाती है। उसकी गति-शक्ति थक जाती समाज की संवेदनहीन व्यवस्थाएँ और स्थितियाँ लड़की के लिए गति बाधक रेत तरह है। उसकी लक्ष्योन्मुख यात्रा बीच में ही त्रासद परिणतियों को प्राप्त होती है

रचना-प्रक्रिया के अंतर्गत यह भी जानना महत्त्वपूर्ण है कि कविता का प्रारंभ किस विधि व कैसी शब्दावली में हुआ है। इस दृष्टि से यह कहा जा सकता है बहुत-सी कविताओं का प्रारंभ प्राकृतिक परिवेश की शब्दचित्रात्मक पद्धति से हुआ है कहीं-कहीं यह परिवेश भावकथन से, कहीं वस्तु कथन से तो कहीं आसपास यथार्थ स्थितियों के वर्णन से हुआ है।

जहाँ तक कविताओं के संरचनात्मक स्थापत्य का संबंध है, कवि वरुण तिवा समानांतर कथनों और लाक्षणिक शब्द-विधान में निपुण हैं। कहीं-कहीं प्रतीक कथ से व्युत्पन्न लाक्षणिकता मन को चमत्कृत करती है। जैसे—'सूर्य के रात्रि कक्ष सरीखी काव्य-पंक्ति, क्षणांश के लिए सही, पाठक की सावधानता को स्तंभित क देती है। प्रतीक, रूपक और मानवीकरण ऐसे समर्थ अलंकारों से निर्मित बिंबों ने क की सर्जनात्मकता उद्भावनाओं को तराशा है। अधिसंख्य कविताओं का कथ्य प्रकृति रंगचित्रों से बुना गया है। इसे यूँ भी कहा जा सकता है कि प्रकृति मानवीकृत रूपों के माध्यम से कवि अपने भावजगत् की उद्भावनाओं को मूर्त देता है। प्राकृतिक दृश्यांकन को जीवन से और जीवन के हर्ष-विषाद को प्राकृति क्रियाओं से उपमित करता हुआ कवि मानवीय अनुभवों को सामान्यीकृत कर चलता है। स्वाभाविक है कि अनेक कविताओं में भाषा का उपस्थापन प्राकृति परिवेश चित्रण से घटित हुआ है। उदाहरणार्थ—'नन्हीं चिड़िया' समाज के निर्बल औ साधनहीन व्यक्ति की प्रतीक है। उसकी उड़ान में ही उसके पंख तोड़ देने के लि रास्ते में शीशमहल है। पारदर्शी होते हुए भी शीशमहल आकाश तो नहीं हो जात निस्तब्ध रात्रि में तारों का टूटना, टूटती आशाओं का प्रतीक है। अनेक प्रसंगों में सू की अभिव्यक्ति स्थूल उपमाओं से की गई है तो कहीं-कहीं सूक्ष्म संज्ञा से स्थूल-सं का प्रतीकार्थ लिया गया है। प्रकारांतर से जीवन और प्रकृति में समस्थितियों परस्परता को उपमान विधान में परिणत करता हुआ कवि अपने कथ्य को संप्रेषि करता है। द्रष्टव्य हैं ये पंक्तियाँ—'सुबह होने से पहले/रोज रात को चमकते हैं/ शब्द स्याह आकाश में।' (पृ. 103) यहाँ 'शब्द' भावपद का विलक्षण प्रयोग हुआ है शब्द प्रतीक है सितारों का, आकाश की उत्सवपूर्ण मुस्कान का। यूँ अनेक कविता में शब्द पद का प्रयोग कवि की दर्शनप्रज्ञ चेतना से उदित हुआ है। वस्तुतः कवि शब्द, समय, स्मृति और अस्तित्व आदि संप्रत्ययों का गहरा बोध है। कवि

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

दार्शनिक दृष्टि में मनुष्य से दुख का रिश्ता यूँ व्यक्त हुआ है—दुख है तो हम जुड़े हैं। हर दुख में और ज्यादा/एक-दूसरे के करीब हैं/और ज्यादा। (पृ. 38)

कवि ने गाँवों की प्राकृतिक स्थितियों का विश्वसनीय चित्रण किया है। गाँव की प्रकृति का रूपांकन प्रातः दुपहरी, सायं, कूप-सरोवर-पनघट, घर-आँगन, रंभाती गाय, गले बँधी घंटियाँ, बछड़े-बैल, चरवाहे, मटमैली राहें, टूटी-फूटी पाठशालाएँ, शिक्षक-छात्र और भागदौड़ करते बच्चे आदि मुँह बोलते शब्द चित्रों से किया गया है।

कविताओं की अभिव्यंजना के साधक अलंकारों में उपमा, उत्प्रेक्षा, उदाहरण, दृष्टांत और विशेषण विपर्यय उल्लेखनीय हैं। वस्तुतः प्रतीकोन्मुख भाषिक संरचना में प्रयुक्त अलंकार इतनी साहचर्यशील स्थिति में है कि उनकी विशिष्ट उद्धृति नितांत सुकर नहीं है। एवमूगते कतिपय उदाहरण ध्यातव्य हैं—'मेरा असहाय एकांत' और 'दुधमुँहे दिन' में विशेषण विपयर्य है तो 'बदल गया है अब/रोटी का चेहरा।' (पृ. 13) में मानवीकरण चरितार्थ हुआ है। कई स्थलों पर नाम धातु प्रयोग से भाव एवं अर्थ को गति मिली है। कई ऐसे स्थल हैं जहाँ विपरीतताओं को आमने-सामने रखकर कवि ने कविता के भाव-सौंदर्य को उद्घाटित किया है।

'कुछ दूर रेत पर चलकर' काव्य-संग्रह के संदर्भ में यह कहा जा सकता है कि अपने समाज के संतप्त परिवेश एवं विसंगत परिप्रेक्ष्य के बीच भी कवि वरुण कुमार तिवारी का कवित्व सकारात्मक भाव-उद्भावन, विचार-उद्बोधन तथा मानवीय मूल्यों के प्रति संकल्पबद्धता के अपने वैशिष्ट्य-गुण से पाठक के मन में मनुष्यता के प्रति आस्था और शब्द के प्रति आश्वस्ति का भाव जगाता है।

पृ. 126 का शेष

पत्रिकाएँ

राष्ट्र-किंकर, दिवाली विशेषांक2011; वर्ष:08, अंकः 42 अक्टूबर 2011; प्रकाशक एवं संपादकः विनोद बब्बर, ए-2/9ए, हस्तसाल रोड, उत्तम नगर, नई दिल्ली-110 059; पृष्ठ:48; मूल्यः 20 रुपये।

नागांचल, अंक 9, 2011; प्रकाशक एवं संपादकः जगदम्बा मल्ल, महालेखाकार का कार्यालय, नागालैण्ड, कोहिमा एवमूअध्यक्ष, नगर राजभाषा कार्यान्वयन समिति, कोहिमा; पृष्ठ:52।

संवदिया, सर्जनात्मक साहित्यिक त्रैमासिकी वर्ष-7/8, संयुक्तांक-4/1, जुलाई-दिसम्बर 2011; संपादकः अनीता पंडित; प्रकाशनः संवदिया प्रकाशन, जयप्रकाश नगर, वार्ड न. 7, अररिया-854311(बिहार); पृष्ठ:100; मूल्यः 30 रुपये।

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

अनुभूति के पल*

रंजना शर्मा**

यों तो काव्य-कमनीयता पर पूर्व और पश्चिम के विद्वानों ने बहुत कुछ लिखा है पर आचार्य मम्मट ने "शब्द और अर्थ की परस्पर स्पर्धा-चारुता एवं रसात्मकता" पर जोर दिया है। अर्थात् काव्य-माधुर्य में कहीं शब्दों का अलंकरण और कहीं भावों की प्रखरता परस्पर होड़ करती हैं परंतु प्रमुखता रसात्मकता की है।

प्रस्तुत काव्य संग्रह 'अनुभूति के पल' में भाव और कला जगह-जगह होड़ कर रही हैं—कहीं भाव बाजी मारते हैं तो कहीं कला अर्थात् परस्पर स्पर्धा-चारुता दृष्टिगत होती है। उन्होंने यत्र-तत्र 'मातृदेवो भव' भाव को माँ के प्रति कृतज्ञता में चित्रित किया है—नारी को जीवन की धाती, जीवन की बाती, अवलंबन, मूर्तिमती ममता आदि—इसी प्रकार बेटी के विषय में वे कहती हैं : "कच्ची उम्र में जीवन की सच्चाई ढूँढती, कली खिलने से पहले मुर्झाती", "उसकी आँखों में उठते प्रश्न पुकार-पुकार कर पूछ रहे हैं—एक ही कोख में जन्मे हैं बेटा-बेटी, माँ बता! फिर बेटी क्यों हेठी?"

"जल रहा है देश सारा" में वे कहती हैं, "कुछ लोग सेंकते हैं रोटियाँ जब धर्म के ही नाम पर—आग वे सुलगा चुके हैं, जला चुके हैं आस्था—इसमें राम क्या रहमान क्या?"—है न वर्तमान सभी राजनेताओं पर करारा प्रहार।

कवयित्री ने आह्वान में क्या खूब कहा है—"हमें मत बताओ तुम कानून सारे, कानून सब क्या हमारे लिए हैं?" फिर नेताओं पर कैसी फब्ती कसी है? "अपने भूखे पेट को भरने की खातिर हमने दो दाने उठाए सितम हो गया!

और! भरे पेट तुमने किए गोदाम खाली!"

विक्षुब्ध राजनीति से कवियित्री बहुत व्यथित-चिंतित हैं।

---

*कृति : अनुभूति के पल (काव्य-संग्रह), कवयित्री : श्रीमती शान्ति वापना, प्रकाशक : शारदा प्रकाशन, 16 एम-3, अंसारी रोड, दरियागंज, नई दिल्ली, मूल्य : 250/-

**रंजना शर्मा, 24 जेड, सरोजिनी नगर, नई दिल्ली-11

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

"देख रही हूँ मानवता आहत है, ईमान टके सेर बिक रहा है
सत्य कटघरे में खड़ा है, रक्षक भक्षक बन चुका है
समझौतों की राजनीति चल रही है अनीति पल रही है।"

ऐसे नैराश्य-तिमिर आच्छन्न वातावरण में कवयित्री की नारीसुलभ अभिलाषा यों व्यक्त हुई है :

"सियासत में न मजहबों का नाम उठे, बस इंसान से इंसान मिल बैठे।
नई सदी का आगाज कुछ ऐसा हो, हम विश्व के सिरमौर बन बैठें॥"

कवयित्री इस समय की सामाजिक व राजनीतिक विसंगति से इतनी विक्षुब्ध प्रतीत होती है कि उन्होंने लगभग दस पंद्रह कविताओं में इन पर करारा प्रहार किया है जिनमें चारा कांड, राजू हत्या कांड, गोधरा कांड सामिल हैं। उन्होंने स्वीकारा है कि आज के यांत्रिक युग में फैली विसंगतियों से उनका हृदय उद्वेलित हो उठा है, वे इस युग के मूल्य-क्षरण एवं आदर्शहीनता से आतुर-विह्वल हो गई हैं और इसका आभास इन पंक्तियों में झलकता है :(यह सर्वथा नए ढंग की 'पैरोडी' है जिसका हिंदी में चलन नगण्य-सा है।)

"बापू तुम नहीं रहे, किंतु तुम्हारे तीन बंदर
सर्वत्र नजर आ रहे हैं, उनकी भंगिमाएँ वही हैं।
अर्थ बदल गए हैं—
पहले बंदर की आँखें बंद हैं—
जीवन-मूल्यों के प्रति।
दूसरे के कान बंद हैं—संवेदनाओं के प्रति।
तीसरे बंदर का मुँह बंद है—जवाबदेही के प्रति॥

अब तो पैरोडी हिंदी में दुर्लभतम विधा है। इस विधा में कभी 'बेढब बनारसी' एवं कवि चोंच ने कलम चलाई थी। जैसे रसखान पर पैरोडी : "जो पशु हौं तो बनौं बुलडॉग फिरौं चढ़ि के नित मेम की कारन।" अस्तु, उक्त प्रयास अभिनव, श्लाघ्य व समीचीन है।

कवयित्री का ऋजु मानस देशप्रेम की कविताओं में यत्र तत्र हिलोरें ले रहा है। उन्होंने रोमानी व तिलस्मी की चिरपरिचित डगर को छोड़ चरित्र उन्नयन एवं राष्ट्रहित का अलख जगाया है।

आचार्य बल्लभदेव ने अनूठे अंदाज में काव्य की रसात्मकता का प्रभाव कुछ यों बताया है : "काव्य में कुछ ऐसा गुण हो जो हृदयहीनों को सहृदय बनाए, जिसे सुन मात्सर्यचेता भी रोमांचित हो उठे!... आँखें अश्रुपूरित हो जाएँ, सिर झूमने लगे आदि।" श्रीमती वापना कहाँ तक पहुँचीं? पुस्तक पढ़कर शायद आप भी सकारात्मक सोच पर विवश होंगे।

पुस्तक की भाषा सरल, सुबोध एवं मुहावरेदार है और संप्रेषण में सशक्ता वर्तनी की अशुद्धियाँ जहाँ-तहाँ अखरती हैं!! गेट-अप और छपाई सुंदर है।

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

पाठकीय प्रतिक्रिया

'चिन्तन-सृजन' (अक्टूबर-दिसम्बर-2011) के नवीन अंक में मेरे आलेख ("बंकि चन्द्र चटर्जी ....पुनर्पाठ", चच. 32-43) के प्रकाशन हेतु मैं आपका आभारी हूँ। कृप आगामी अंक में पृ. 35 की कुछ निम्नांकित वर्ष-सम्बन्धीछपायी की भूलों को सुधा की सूचना यदि छाप दी जाये, तो अति कृपा होगी:- पृष्ठ 35 : पहली पंक्ति - 187 के दशक की जगह 1770 के दशक छटवीं पंक्ति - (1877) में फसल की ज (1777) में फसल सातवीं पंक्ति - (1878) में अकाल की जगह (1778) में अका आलेख के विषय में मुझे कई (दूरभाष पर) संदेश मिले हैं। मैं इन सभी पाठकों क जिन्होंने इस आलेख के विषय में मुझे अपने मूल्यवान विचार संप्रेषित किये, कृतज्ञ हूँ 'चिन्तन-सृजन' के द्वारा 'भारतीय संस्कृति' की 'गहन-चिन्तन-मनन' परंपरा क निर्वहन, सृजनात्मक आलेखों के द्वारा हो रहा है, यह अति हर्ष का विषय है; विशेषक आजके उपभोक्तावादी, वितण्डावादी, पतनशील सामाजिक सन्दर्भों में!! मैं पुनः सम्पादक एवं सम्पादक मण्डल को धन्यवाद करता हूँ।

- सुधीर कुमार, प्रोफेसर (अंग्रेजी), पंजाब विश्वविद्याल
चंडीगढ़-160014, पताः एफ-2, सेक्टर-25
चंडीगढ़-160014; मो. 09876675149

आपकी त्रैमासिक पत्रिका वर्ष 9 अंक 1 (जुलाई-सितम्बर 2011) प्राप्त हुई। पढ़क प्रसन्नता हुई। उच्चस्तरीयचिन्तन-परक लेख पढ़कर प्रेरणा प्राप्त हुई। वर्तमान संक्रम काल में जन चेतना जाग्रत करने के लिये ऐसे ही चिन्तनकी आवश्यकता है।

- स्वामी ब्रह्ममित्रानन्द गिरि, समन्वय साधना पथ
सांस्कृतिक राष्ट्रीय चेतना का मासिक, प्रधान कार्यालयः समन्वय कुटीर
सप्त सरोवर, हरिद्वार-249410 (उत्तराखण्ड

चिंतन-सृजन जुलाई-सितम्वर 2011 पढ़ गया हूँ। आपने ठीक कहा है कि प्रजातंत्र के सम्यक विकास और उसके स्वस्थ रहने के लिए सहमति एवं जनमत की सहभा अत्यावश्यक है। प्रजातंत्र की सफलता के लिए जिस तीन 'पी' (पब्लिक ओपिनियन

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

प्रेस, प्लेटफार्म) की महती आवश्यकता है, उसी में यह 'सहमति' आती है, वैसे तो प्लेबिसाइट (जनमत संग्रह) का भी प्रावधान है पर यह न व्यावहारिक है, न जनप्रतिनिधि इस फेर में पड़ना चाहते हैं। कारण, वे कैसे जनप्रतिनिधि बने हैं, यह कौन नहीं जानता। "जनमत जाति, संप्रदाय, क्षेत्र, भाषा आदि के विचार से ऊपर उठकर राष्ट्र के दिल बने।" (पृ. 7) पर ऐसा हो कहाँ पाता है। आप ने धर्मपाल के लेख का संदर्भ देकर प्रजातांत्रिक गठन के दोष पर ध्यान आकृष्ट किया जिसका खामियाजा सब भोग रहे हैं। भाई शत्रुघ्न प्रसाद ने एक साथ साहित्य और राजनीति की देवियों का स्मरण किया है और पाया हैः कि कुर्रतुल एन हैदर, अरुंधति राय, अलका,सरावी आदि ऐसी देविया हैं जिन्होंने भारत का मस्तक ऊँचा किया है। उनका मानना हैः "प्रगति युग और सेक्यूलर युग की देवियों ने अपनी वाणी, लेखनी और गतिविधियों से नए भारत का निर्माण किया है।" (पृ. 56) उनका लेख नवीन, अछूते विषय पर रोशनी डालता है। लेखक बहुश्रुत हैं।

समीक्षाएँ प्रसिद्ध समीक्षकों की हैं। स्तरीय हैं। कृतियों की अंतर्यात्रा कराती हैं। आलोचना को गति देती है।सभी लेखकों, समीक्षकों को बधाइयाँ।

आपने समीक्षा स्तंभ बड़ा कर विविध कृतियों के घर बैठे आस्वाद पाने का मार्ग प्रशस्थ किया है। साधुवाद।

- प्रो. मृत्युंजय उपाध्याय, संपादकः संबुद्ध (मासिक),
धनवाद, वृन्दावन; वृन्दावन, मनोरम नगर,
लूबी सर्कुलर रोड, धनबाद-826001(झारखंड)

जुलाई-सिंतबर का चिंतन-सृजन पढ़ा। सभी लेख सार-गर्भित लगे। एक साहित्यिक पत्रिका में "सूचना प्राद्यौगिकी में नागरी लिपि के धीमें कदम" जैसे तकनीकी लेख ने बेहतर आयाम दिया है। स्वनिम-रूपिम बसुधैव समीपं नागरी लिपि ही हो सकती है। प्रत्येक अंक में एक वैज्ञानिक लेख की मैं आशा करता हूँ। नये शब्द-संकलन के लिए साधुवाद–चर्चित संदर्भ "अन्ना की आंधी के मायने' में रामबहादूर जी ने बेहतर चिंतन किया है। उनके मौन ब्रत से भी आंदोलन उर्जावान हुआ है। धन्यवाद।

- डॉ. भोला - मनिहारी, कटिहार-854113.

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

प्राप्ति-स्वीकार

पिछले अंको में सूचीबद्ध पुस्तकों/पत्रिकाओं के अतिरिक्त प्राप्त नई पुस्तकें/पत्रिका

पुस्तकें

संत रविदास की रामकहानी, डॉ. देवेन्द्र दीपक; प्रकाशकः आर्य प्रकाशन मंड IX/221, सरस्वती भंडार, गांधीनगर,दिल्ली-110031; प्रथम संस्करण 2011; पृष्ठ 168; मूल्यः 250/- रुपये।

उत्तर-आधुनिकता : बहुआयामी संदर्भ, पाण्डेय शशिभूषण 'शीतांशु'; प्रकाशक लोकभारती प्रकाशन, पहली मंजिल,दरबारी बिल्डिंग, महात्मा गाँधी मार्ग इलाहाबाद-211001; प्रथम संस्करणः 2010; पृष्ठः 314; मूल्यः 350/- रुपये।

संघर्ष बस संघर्ष, डॉ. शुभदर्शन; प्रकाशकः युक्ति प्रकाशन, ए-2, न्यू इंडि अपार्टमैंट्स, सेक्टर-9, रोहिणी, दिल्ली-110085; संस्करणः 2011; पृष्ठः 128; मूल्य 250/- रुपये।

वन्दिता बन्दी कबतक, डॉ. वन्दना विजयलक्ष्मी पंचशक्ति प्रकाशन मुज्फ्फरपुर/नयी दिल्ली; संस्करणः 2010; पृष्ठः 176; मूल्यः 250/- रुपये।

समकालीन कहानी : नया परिप्रेक्ष्य, पुष्पपाल सिंह; सामाजिक बुक्स, नई दिल्ली-110002; संस्करणः 2011; पृष्ठः 478; मूल्यः 795/- रुपये।

प्रतिशोध, प्रतिभा राजहंस; प्रकाशकः अभिधा प्रकाशन, रामदयालुनगर, मुजफ्फरपुर संस्करणः 2010; पृष्ठः 192; मूल्यः 200/- रुपये।

काव्य मन्दाकिनी - 2009-2010, सम्पादकः श्यामलाल उपाध्याय; प्रकाशक भारतीय वाङ्मय पीठ, लोकनाथ कुंज, 127/ए/8, ज्योतिष राय रोड, न्यू अलीपुर कोलकाता-700053; प्रथम संस्करणः 2011; पृष्ठः 248; मूल्यः 325/- रुपये।

शेष पृ. 121

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

चिन्तन-सृजन

त्रैमासिक

वर्ष 14 अंक 2 अक्टूबर-दिसम्बर 2016

सम्पादकीय परामर्शदात्री समिति

लोकेश चन्द्र

यशदेव शल्य

जे.एन.राय

रमेशचन्द्र शाह

सम्पादक

बी. बी. कुमार

LIBRARY
Gurukul Kangri Vishwavidyalaya
HARDWAR

आस्था भारती

दिल्ली

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

वार्षिक मूल्य :

व्यक्तियों के लिए	60.00 रुपए
संस्थाओं और पुस्तकालयों के लिए	150.00 रुपए
विदेशों में	$ 15

एक प्रति का मूल्य

व्यक्तियों के लिए	20. 00 रुपए
संस्थाओं के लिए	40.00 रुपए
विदेशों में	$ 4

विज्ञापन दरें :

बाहरी कवर	20,000.00 रुपए
अन्दर कवर	15,000.00 रुपए
अन्दर पूरा पृष्ठ	10,000.00 रुपए
अन्दर का आधा पृष्ठ	7,000.00 रुपए

प्रकाशन के लिए केन्द्रयी हिन्दी संस्थान, आगरा द्वारा आंशिक आर्थिक सहायता प्राप्त

आस्था भारती

रजिस्टर्ड कार्यालय :

27/201 ईस्ट एंड अपार्टमेण्ट

मयूर विहार फेस-1 विस्तार

दिल्ली-110 096

कार्य-संचालन कार्यालय :

23/203 ईस्ट एंड अपार्टमेण्ट

मयूर विहार फेस-1 विस्तार

दिल्ली-110 096

से आस्था भारती के लिए डॉ. लता सिंह, आई.ए.एस. (सेवा-निवृत्त), सचिव द्वारा प्रकाशित तथा विकास कम्प्यूटर एण्ड प्रिण्टर्स, 1/10753, सुभाष पार्क, नवीन शाहदरा दिल्ली-32 द्वारा मुद्रित। फोन : 011-22712454

ई.मेल : asthabharati1@gmail.com

वेब साइट : asthabharati.org

चिन्तन-सृजन में प्रकाशित सामग्री में दृष्टि, विचार और अभिमत लेखकों के हैं। सम्पादक की सहमति अनिवार्य नहीं है।

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

विषय-क्रम

सम्पादकीय परिप्रेक्ष्य 5

1. मार्क्सवाद : प्रतिक्रांति की विचारधारा 7
बनवारी

2. गाँधी जी का साहित्य विषयक चिन्तन 13
विश्वास पाटिल

3. गाँधी के अधूरे भाषण की याद में 36
राजीव रंजन गिरि

4. हिन्द स्वराज का पहला पाठ चम्पारण 51
विजय बहादुर सिंह

5. धर्म निरपेक्षता : बौद्धिक उथलेपन का प्रतीक 57
डॉ. सदानन्द प्रसाद गुप्त

6. इस्लाम और मुसलमान 67
शंकर शरण

7. आचार्य विष्णुकान्त शास्त्री 74
गंगा की निर्मलता, पावनता एवं संस्कृति के प्रतीक—मनीषी
डॉ. कमल किशोर गोयनका

8. 'विमर्श अवधारणा, स्वरूप और प्रकार 83
डॉ. सूर्यनारायण रणसुभे

9. भारतमाता की जय : एक विमर्श 94
विजय रंजन

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

10. लोक जगत में जगतीकरण की सेंध — 105
डॉ. श्यामबाबू शर्मा

11. डिप्टी नज़ीर अहमद के उपन्यासों में सामाजिक मूल्य — 111
सेराज अहमद अंसारी

12. समीक्षा — 117
जन्मभूमि से विदेश तक
श्रीरंजन सूरिदेव

13. असम की बराक घाटी और हिन्दी — 119
कस्तूरी चक्रवर्ती

14. महर्षि मेँहीं की भक्ति साधना — 123
डॉ. छोटे लाल बहरदार

पाठकीय प्रतिक्रिया — 128

प्राप्ति-स्वीकार — 131

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

सम्पादकीय परिप्रेक्ष्य

विमर्श की जड़ता

हमारे देश में यह आवश्यक नहीं कि विमर्श तथ्याधारित ही हो। विचार एवं विचारधारा की जकड़न विमर्श को एक ढाँचे में बाँधकर रखती है। ज्ञान का या तो नवीनीकरण नहीं होता या जानबूझ कर तथ्यों की अवहेलना की जाती है। और फिर ऐसा बार बार होता है। वस्तुतः होना यह चाहिए था कि जब भी कोई नयी जानकारी सामने आए बौद्धिक वर्ग को यथाशीघ्र उसे अपने विमर्श का विषय बनाना चाहिए। दुर्भाग्यवश, होता इसके विपरीत ही है, और फिर जानबूझकर उसकी अवहेलना की जाती है। उदाहरण स्वरूप हम धर्मपाल के काम को ले सकते हैं। उनके शोधपूर्ण कार्य से नये तथ्य उजागर हुए हैं; कई मिथक टूटे हैं। धर्मपाल की शोध पुस्तक *ब्यूटिफुल ट्री* ब्रिटिश-पूर्व भारतीय शिक्षा-व्यवस्था की तथ्यपूर्ण जानकारी देती है। उसके अनुसार अंग्रेजो के आने के पहले भारत के हर गाँव में विद्यालय होते थे, जिनमें सभी जातियों के बच्चे पढ़ते थे। उन्नीसवीं शताब्दी के प्रारंभिक वर्षो की आदम की रिपोर्ट के अनुसार बिहार एवं बंगाल के विद्यालयों में ब्राह्मण शिक्षक केवल 9.6% एवं ब्राह्मण विद्यार्थी 23.6% थे। पढ़ने वालों में 66 चाण्डाल एवं 20 मोची थे। 95 हिन्दू जातियों के विद्यार्थी इन विद्यालयों में पढ़ने जाते थे, जैसा कि आदम की रिपोर्ट, जिसे धर्मपाल ने उद्धृत किया है, कहती है। धर्मपाल ने दक्षिण भारत में शिक्षा की स्थिति पर सर थोमस मुनरो की रिपोर्ट का सहारा लिया है। उसके अनुसार तमिल जिलों के विद्यालयों में तथाकथित ऊँची जातियों – ब्राह्मण, चेट्टियार एवं वैश्य जातियों – के मात्र 35.5% बच्चे ही विद्यालयों में पढ़ते थे। समस्त मद्रास प्रेसीडेन्सी में शेष विद्यार्थी ब्राह्मणेतर जातियों के थे। स्पष्टतः शिक्षा पर ब्राह्मणों के एकाधिकार की बात एक उपनिवेशवादी मिथक की तहत प्रचारित की गयी, जिसकी रट आज भी मार्क्सवादी बुद्धिजीवी, दलित विमर्श एवं स्त्री विमर्श के लेखक लगातार लगा रहे हैं। वस्तुतः ऐसा इसलिए हो रहा है क्योंकि (क) विमर्श का राजनीतिकरण हुआ है, जिसमें वामपंथी बौद्धिकों ने बढ़-चढ़कर भाग लिया, तथा इसका लाभ वे लेते रहे, तथा (ख) हमारे देश में समाज विज्ञान के क्षेत्र में ज्ञान की 'अपडेटिंग (updating), अद्यतन बनाने की प्रक्रिया, नहीं चलने दी गयी।

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

अल-बेरूनी भारत में आज से हजार साल पहले आया था। उसने हिन्दुओं की चार जातियों की, एवं उनके एक स्थान पर भोजन करने की बात लिखी है। स्पष्टतः जातियों की संख्या में अनपेक्षिक बढ़ोतरी एवं अस्पृश्यता का बाद का रूप तुर्क आक्रमण के बाद की प्रक्रिया थी। फिर इस प्रक्रिया के कारक ही महत्तर को मेहतर बनाने के जिम्मेदार थे, जिसका उल्लेख हमारे विमर्श से गायब है।

हमारे लेखन में अंग्रेजों का एजेन्ट जमीन्दार एवं उसका उत्पीड़न तो परिलक्षित होता है, किन्तु अंग्रेज कम ही दिखता है, जिसने हमारे शिल्प नष्ट कर अधिकांश जनसंख्या को खेतिहार मजदूर बना दिया; हमें नंगा, भूखा, रोगी बनाकर छोड़ा। अंग्रेजों के आने के बाद चालिस वर्षों के अन्दर इस देश में निरक्षरता एवं अशिक्षा लगातार बढ़ी। उल्लेख्य है कि स्वयं मार्क्स अंग्रेजी साम्राज्यवाद का प्रशंसक था, अतः हमारे मार्क्सवादी लेनिनवादी स्तालिनवादी बौद्धिकों द्वारा उनके कुकृत्यों की अनदेखी कोई आश्चर्य की बातें नहीं। फिर 1942 में कम्युनिस्टों ने अंग्रेजों का साथ तो दिया ही था जब आजादी आयी तो हमारे उन लोगों को वह आजादी झूठी लगी। इस देश के लोगों को काम करने का मौका दिए बिना रणदिवे के नेतृत्व में अन्होंने तख्ता-पलट की चेष्टा की। वे विफल रहे; फिर बौद्धिक क्षेत्र में उस विचारधारा के बौद्धिकों का वर्चस्व बढ़ा। फार्मूलाबद्ध लेखन के तहत लिखनेवालों को कुंठा, संत्रास, टूटन, सामाजिक विसंगतियाँ, रूढ़ियाँ, शोषण, उत्पीड़न ही दिखा। फिर वही उनके लेखन में हावी रहा। स्त्री लेखकों के एक वर्ग को पितृसत्तात्मकता, यौन शोषण, औरत के अंतस का हाहाकार ही दिखता रहा, जो कई लेखकों के अपने जीवन के अपने अनुभव को प्रतिविम्बित नहीं करता था। ऐसे में समाज के सकारात्मक पहलुओं का लेखन में अभाव पाठकों के लिए सुखद नहीं रहा। परिणाम स्परूप लेखक एवं लेखन दोनो ही, पाठक से कटे; पाठकों की संख्या लगातार घटी; साहित्य हासिए पर चला गया।

जैसा कि ऊपर लिखा गया है, हमारा विमर्श, हमारा साहित्यिक लेखन जड़ताग्रस्त हो गया। इसे हमारी राजनीति ने बढ़ाया है। पत्रकारिता ने भी वैचारिक धुँध को बढ़ाने में मदद किया है। स्पष्टतः स्थिति में बदलाव लाया जाना चाहिए। ऐसा सघन अध्ययन, चिन्तन एवं हमारी सोच में राष्ट्र एवं समाज की केन्द्रीयता लाकर ही संभव है।

— ब्रज बिहारी कुमार

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

मार्क्सवाद : प्रतिक्रांति की विचारधारा

गुरुकुल कांगड़ी विश्वविद्यालय 132248

बनवारी*

पिछली लगभग एक शताब्दी से यूरोप के जो विचार दुनियाभर के बौद्धिक जगत को दिग्भ्रमित किए रहे हैं, उनमें एक मार्क्सवाद है। 1848 में कम्युनिस्ट घोषणापत्र के प्रकाशन से मार्क्सवाद का उदय हुआ था। वह यह घोषित करने के लिए लिखा गया था कि यूरोप का पूंजीवाद एक आंतरिक संकट की ओर बढ़ रहा है। जल्दी ही यह संकट सर्वहारा की क्रांति की ओर ले जाएगा। उससे सर्वहारा की तानाशाही स्थापित होगी। वह वर्ग समाज का नाश करके एक वर्ग रहित समाज की स्थापना करेगा। लेकिन पूंजीवादी देशों में कार्लमार्क्स द्वारा कल्पित ऐसा कोई आंतरिक संकट प्रकट नहीं हुआ, जो उसे सर्वहारा की क्रांति की ओर ले जाए। पूंजीवादी विकास में पिछड़ गए रूस में एक राजनैतिक संकट अवश्य पैदा हुआ। औद्योगिक रूप से पिछड़े हुए रूस में सत्ताधारी वर्ग दो हिस्सों में बंट गया। एक वर्ग ने मार्क्सवाद का पाठ पढ़ाकर मजदूरों को अपने साथ मिलाया। राजा और उसके तंत्र की साख गिर रही थी। फलतः 1917 में रूस में मार्क्सवादी क्रांति हुई। इस क्रांति को हुए एक शताब्दी बीत चुकी है। इस अवसर पर मार्क्सवाद की जैसी समीक्षा होनी चाहिए थी, नहीं हुई। यूरोप की एक प्रतिस्पर्धी विचाराधारा के रूप में आज मार्क्सवाद को कोई गंभीरता से लेता भी नहीं है। लेकिन रूस और चीन जैसे दो शक्तिशाली देश मार्क्सवाद से प्रेरित राजनैतिक व्यवस्था चला रहे हैं। उनके कारण एक राजनैतिक विचारधारा के रूप में मार्क्सवाद की साख अभी भी बची हुई है।

भारत से यह अपेक्षा होना स्वाभाविक ही है कि वह यूरोप से निकली विचारधाराओं की गंभीर समीक्षा प्रस्तुत करे। शास्त्रीय बुद्धि की दृष्टि से भारतीय संसार की सबसे अग्रणी जाति हैं। उन्होंने सभी दिशाओं में एक विशाल साहित्य रचा है। उनमें यह योग्यता है कि वे संसार की किसी भी विचारधारा की गंभीरता से समीक्षा

*पूर्व सम्पादक, जनसत्ता; पताः बी-201, जनसत्ता आपार्टमेंट्स, सेक्टर-9, वसुन्धरा, गाजियाबाद-201 012 (उ. प्र.), मो. 09911450689.

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

कर सकें। उन्नीसवी शताब्दी के अंत तक काशी के पंडितों की दुनियाभर में धूम थी। 1850 के आसपास ब्रिटिश सरकार ने काशी नरेश द्वारा स्थापित संस्कृत पाठशाला को अपने अधिकार में लेने के बाद बैठाए गए वहां के प्रिंसिपल वेलेंटाइन को कहा था कि वह तब तक यूरोप ने ज्ञान-विज्ञान में जो प्रगति की थी, उसे काशी के पंडितों के सामने प्रस्तुत करके उनकी राय लें। काशी के पंडितों ने प्रस्तुत की गई स्थापनाओं को गंभीर विचार के योग्य भी नहीं माना। लेकिन भारत और उसके साथ-साथ शेष दुनिया पर अपने राजनैतिक प्रभुत्व के स्थापित हो जाने के बाद यूरोपीय आत्मकेंद्रित हो गए। उन्होंने यह घोषणा करनी आरंभ कर दी कि वे मानव इतिहास की सबसे उन्नत सभ्यता विकसित करने में सफल हुए हैं। शेष विश्व को उनके अनुगत रहकर उनकी राजनैतिक, आर्थिक और वैचारिक प्रणालियों को अपने यहां लागू करना है।

भारत के लोगों ने उनके इस दावे को कभी अधिक गंभीरता से नहीं लिया। बीसवीं सदी के आरंभ में जब चीन का बौद्धिक जगत मार्क्सवाद की ओर खिंचने लगा था, भारत के मनीषी यह घोषणा कर रहे थे कि इक्कीसवी सदी निस्संदेह भारत के उत्कर्ष की सदी होगी। ठीक उसी तरह जिस तरह औद्योगिक क्रांति के कारण उन्नीसवी सदी ब्रिटेन की सदी थी और प्रौद्योगिकीय क्रांति के कारण बीसवीं सदी अमेरिका की सदी रही है। इक्कीसवी सदी आरंभ हो चुकी है। भारत धीरे-धीरे अपना आत्मविश्वास लौटा रहा है। लेकिन अभी उसकी शास्त्रीय बुद्धि सोई हुई ही लगती है। यूरोपीय विचारों की जैसी गंभीर समीक्षा की उससे अपेक्षा थी, वह उसने अभी करनी आरंभ नहीं की। इसका एक कारण यह है कि भारत जब स्वतंत्र हो रहा था, दूसरे विश्व युद्ध से क्षत-विक्षत यूरोप अपना कायाकल्प करने में लगा था। 1950 से 1970 के बीच वह अपना ऊपरी स्वरूप पूरी तरह बदलने में समर्थ हो गया। इस कालावधि में वह भौतिक समृद्धि के शिखर पर पहुंच गया। इस समृद्धि की चमक-दमक ने दुनियाभर के बौद्धिक जगत को दिग्भ्रमित कर दिया। धीरे-धीरे उन्हें यूरोपीय सभ्यता के गंभीर दोष भी दिखाई देने लगे। लेकिन एक प्रतिस्पर्धी विचारधारा के रूप में मार्क्सवाद के उदय ने यूरोप निरपेक्ष बुद्धि को पनपने नहीं दिया।

भारत को यूरोपीय विचारों की समीक्षा मार्क्सवाद से ही आरंभ करनी चाहिए थी। कालमार्क्स जिस समय पैदा हुआ था, वह समय यूरोप में विचार का नहीं, विचार-युद्ध का समय था। कार्ल मार्क्स भी एक विचार-योद्धा ही है। उसकी रूचि सत्य के अन्वेषण में नहीं है। वह यूरोप के शासक वर्ग का ही एक सदस्य है। इस शासक वर्ग के भीतर उसने प्रभावशाली होने के लिए पैंतरा बदल लिया है। उसने यूरोप के इतिहास को समझने की कोशिश नहीं की। सर्वहारा के पक्ष में झंडा उठाते हुए यूरोपीय इतिहास की एक काल्पनिक व्याख्या प्रस्तुत कर दी। अपनी इस व्याख्या को उसने समूचे विश्व के इतिहास की व्याख्या बना दिया। यूरोप से बाहर के समाजों के बारे में उसकी समझ नगण्य है। 1857 के आसपास जब भारत में साम्राज्यवादी यूरोप का

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

प्रतिनिधि ब्रिटेन सेना और आम लोगों के व्यापक विद्रोह के कारण संकट में पड़ा था, कार्ल मार्क्स यह कहते हुए साम्राज्यवादी ब्रिटेन के गीत गाने में लगा था कि वह भारत में इतिहास की प्रगतिशील शक्तियों का उत्प्रेरक है। कार्ल मार्क्स ने भारत और भारतीय सभ्यता के बारे में अत्यंत निंदनीय टिप्पणियां की हैं। उसने कहा है कि भारतीय समाज गतिहीन समाज है। उसके गांव जड़ता के कारण सड़न का शिकार हो गए हैं। वह लगातार बाहरी शक्तियों द्वारा विजित किया जाता रहा है। उसे उसकी इस अधोस्थिति से निकालने के लिए ब्रिटिश साम्राज्यवाद की प्रगतिशील भूमिका है। कार्ल मार्क्स ने भारत की धार्मिक मान्यताओं का भी इसी दुष्ट बुद्धि से उपहास उड़ाया है। भारत के बारे में उसकी मान्यताओं को पढ़ने के बाद किसी भी सजग और स्वाभिमानी भारतीय में उसके प्रति जुगुप्सा ही पैदा होगी। लेकिन अंग्रेजी शिक्षा ने हमारे एक वर्ग ने जो आत्महीनता पैदा कर दी है, उसके कारण भारत में भी बौद्धिकों का एक वर्ग मार्क्सवाद की शरण में चला गया है।

मार्क्सवाद ही नहीं यूरोप के सभी विचारों को समझने के लिए यूरोप के इतिहास को समझना बहुत आवश्यक है। संसार में यूरोप अकेली ऐसी जगह है, जहां सदा व्यवस्थाएँ एक या दूसरी तरह की दासता पर खड़ी हुईं। आम भारतीयों को यूरोपीय इतिहास को समझने में कठिनाई होती है क्योंकि जिस तरह की बर्बर और नियंत्रणकारी व्यवस्थाएँ वहाँ हमेशा रही हैं, उनकी हम अपने यहाँ के अनुभव के आधार पर कल्पना भी नहीं कर सकते। यूनान के नगर राज्य और रोम का साम्राज्य तीन चौथाई से भी अधिक आबादी को दास बनाकर खड़े हुए थे। यूरोप के मध्यकाल के सभी राज्य 85 प्रतिशत लोगों की भू-दासता पर और 13-14 प्रतिशत लोगों की अर्ध-दासता पर खड़े हुए थे। यूरोप में आम लोगों का उत्पादन के साधनों पर अधिकार नहीं था। वहाँ सभी तरह का स्वामित्व केवल अभिजात वर्ग के पास रहा है, जो वहाँ की कुल आबादी का एक-डेढ़ प्रतिशत से अधिक नहीं था। सारे राजनैतिक परिवर्तन इस अभिजात वर्ग की भीतरी प्रतिस्पर्धा के कारण ही होते थे, किसी वर्ग संघर्ष के द्वारा नहीं। साधारण लोग सदा उनकी निरंकुश अधीनता में ही रहे। यूरोप में साधारण लोगों को शिक्षा का अधिकार भी नहीं था। इसलिए 1820 से पहले यूरोप में स्कूल जैसी कोई संस्था नहीं है। ग्यारहवीं शताब्दी से वहाँ अभिजात वर्ग की शिक्षा के लिए अनेक केंद्र विकसित हुए, जो आरंभ में कोचिंग सेंटर की तरह थे। वही कालांतर में विश्वविद्यालय के रूप में विकसित हुए। यूरोपीय इतिहास के इस पहलू पर अधिक सोचा नहीं गया। यूरोप की सारी राजनैतिक व्यवस्थाएँ आंतरिक उपनिवेशीकरण के आधार पर खड़ी हुई है, इस तथ्य की ठीक से समीक्षा नहीं हुई।

रोम साम्राज्य के अवसान के बाद यूरोप अंधकार युग में चला गया था। इस्लाम के उदय और अरबों के शक्तिशाली हो जाने से जो चुनौती पैदा हुई, उसने यूरोप को झिंझोड़ दिया। 800 ईस्वी के आसपास यूरोप में फिर से राजनैतिक शक्ति संगठित

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

होनी आरंभ हुई। उस समय अधिकांश यूरोप कबीलाई था। यूरोप में राजनैतिक शक्ति का अर्थ रहा है युद्ध-तंत्र। नगरीय व्यवस्था के रूप में यह युद्ध-तंत्र पनपा और चर्च के सहयोग से उसने समूचे यूरोप को दास-व्यवस्था में अधिगृहीत कर लिया। खेती की सारी भूमि का स्वामित्व विजेता योद्धाओं के हाथ में चला गया, जिन्हें अभिजात वर्ग मान लिया गया। 85 प्रतिशत आबादी भू-दास हो गई। भू-दास की स्थिति का वर्णन करते हुए यूरोपीय इतिहासकारों ने लिखा है कि उन्हें केवल अपने पेट पर अधिकार था। यहां तक कि उन्हें अपने परिवार और अपने कपड़े-लत्तों पर भी अधिकार नहीं था। उनका स्वामी आवश्यकता पड़ने पर परिवार के सदस्यों को अलग करके दूर स्थानों में भेज सकता था। शादी-विवाह भी भू-स्वामी की अनुमति से ही होते थे।

इस स्थिति में पहला परिवर्तन 1350 की प्लेग के कारण हुआ। इस प्लेग में यूरोप की आधी आबादी नष्ट हो गई। ऐसी महामारियां वहां आती रहती थीं, लेकिन 1350 की प्लेग ब्लैक डेथ के नाम से यूरोप के इतिहास में दर्ज है क्योंकि उसने यूरोप की आर्थिक दिशा ही बदल दी। आबादी घटने के कारण खेती करना मुश्किल हो गया, मजदूर नहीं रहे, इससे कुलीन वर्ग का ध्यान व्यापार की ओर गया। 1453 में उनकी राजनैतिक शक्ति का केंद्र कांस्टेन्टिनोपल तुर्कों के हाथ में चला गया। इससे व्यापार के नए मार्ग खोजने की आवश्यकता हुई। इसी कोशिश में स्पेन के हाथ अमेरिकी महाद्वीप आ गया। फिर यूरोप की दूसरी शक्तियां भी वहां पहुंची। वहां की दस करोड़ आबादी अपनी तोपों, बंदूकों और बीमारी के विषाणुओं के बल पर यूरोपियों ने 50-60 वर्ष में ही नष्ट कर दी। इस तरह उन्हें यूरोप से भी चार गुना बड़ा एक विशाल महाद्वीप मिल गया। वहां काम करने के लिए लोगों की आवश्यकता थी। यूरोप से ही पहले वहां खेती से उजड़े लोगों को इंडेंचर लेबर बनाकर ले जाया गया। फिर अफ्रीका से दास बनाकर लोग जबरन लाए गए। धीरे-धीरे यूरोप की काफी आबादी अमेरिका, ऑस्ट्रेलिया, न्यूजीलैंड आदि नई कॉलोनियों में स्थानांतरित होती रही। इन क्षेत्रों से यूरोप को जो समृद्धि मिली, उसने दास व्यवस्था को ढीला किया। 1860 के आसपास अमेरिका से लगाकर ब्रिटेन, फ्रांस और रूस तक सभी जगह दासता गैरकानूनी घोषित कर दी गई। लेकिन दासता को गैर-कानूनी घोषित करने का अर्थ था मालिकों की भू-दासों के प्रति जिम्मेदारी खत्म कर देना। लोग खेतों से खदेड़ दिए गए। वे शहरों में भिखारी की तरह विचरने को मजबूर हो गए। इन्हीं को कार्ल मार्क्स ने सर्वहारा कहा है। लेकिन उनके पास न क्रांति का सामर्थ्य था, न साधन। 1850 के आसपास वे पेरिस की आबादी का एक तिहाई थे।

यूरोप के इतिहास की दूसरी बड़ी घटना 1789-99 की फ्रांसी क्रांति है। यूरोप में फ्रांस, ब्रिटेन और स्पेन के बीच निरंतर चलते रहने वाले युद्धों ने राजकोष को और राजशक्ति को क्षीण कर दिया था। करों का बोझ बढ़ गया था। 1765-83 के बीच हुई अमेरिकी क्रांति ने कुलीन वर्ग की सत्ता कमजोर कर दी थी। अमेरिका में अभिजात

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

वर्ग की तरह का एक नया निरंकुश पूंजीवादी वर्ग उदित हो रहा था। उसने एक नए वैचारिक द्वंद्व को जन्म दिया। फ्रांस उस समय क्रांतिकारी विचारों का गढ़ बन गया था। वाल्टेयर जैसे विचारकों ने यूरोपीय व्यवस्थाओं पर गंभीर प्रश्न उठाए थे। इसी सब माहौल में फ्रांसी क्रांति हुई, क्रांतिकारियों ने अभिजात वर्ग के सभी विशेषाधिकार समाप्त कर दिए। 17 जनवरी 1793 को फ्रांस के राजा को फांसी पर चढ़ा दिया गया। इस क्रांति के वाहक भी अभिजात वर्ग के बीच के ही लोग थे। कुछ दिन तक क्रांतिकारियों के भीतर ही परस्पर द्वंद्व और मारकाट चली और उसी में से नेपोलियन का उदय हुआ। यह समय था जब धीरे-धीरे भूमि का स्वामित्व कुलीन वर्ग से खेती करने वाले लोगों के हाथ में पहुंचने लगा था। ठीक उस समय कार्ल मार्क्स ने सर्वहारा की क्रांति का नारा दिया। एक हिंसक क्रांति के द्वारा सर्वहारा की तानाशाही के विचार ने एक प्रतिस्पर्धी राजनैतिक शक्ति पैदा कर दी। यह राजनैतिक शक्ति सर्वहारा के भीतर से पैदा नहीं हुई। लेकिन उसने सर्वहारा को सत्ता पाने का साधन बना लिया।

कार्ल मार्क्स का कर्म क्षेत्र फ्रांस, ब्रिटेन और जर्मनी थे, लेकिन वहां कोई मार्क्सवादी क्रांति नहीं हुई। कार्लमार्क्स की म त्यु के 34 वर्ष बाद मार्क्सवादी क्रांति हुई रूस में और कई दशक बाद चीन में। इन दोनों देशों में सर्वहारा के नाम पर एक नए राजनैतिक वर्ग की तानाशाही स्थापित हुई। कम्युनिस्ट पार्टी की तानाशाही सर्वहारा की तानाशाही मान ली गई। फ्रांसी क्रांति ने यूरोप के इतिहास में पहली बार उत्पादन के साधनों पर कुलीन वर्ग की जगह साधारण लोगों के अधिकार की संभावना जगाई थी। मार्क्सवाद ने यह संभावना समाप्त कर दी। सामूहिक स्वामित्व के नाम पर लोगों से उत्पादन के साधनों पर उनके अधिकार छीन लिए गए और सारी सत्ता एक नए राजनैतिक वर्ग के हाथ में चली गई। यह वर्ग रूस और चीन दोनों जगह एक नए अभिजात वर्ग के रूप में उभर आया है। यह समझने के लिए कोई विशेष बुद्धि नहीं चाहिए कि तानाशाही सदा मुट्ठीभर लोगों के हाथ में राजशक्ति चले जाने से स्थापित होती है। वह सर्वहारा जैसे किसी वर्ग की तानाशाही नहीं हो सकती। इस तरह मार्क्सवाद क्रांति की विचारधारा नहीं, प्रतिक्रांति की विचारधारा सिद्ध हुआ है। उसने यूरोप के फ्यूडलिज्म को एक नया राजनैतिक स्वरूप देकर फिर से स्थापित कर लिया। इस कम्युनिस्ट व्यवस्था को बनाने और बनाए रखने में साधारण लोगों के साथ पशुवत व्यवहार हुआ। रूस और चीन दोनों जगह साम्यवादी तंत्र खड़ा करने में करोड़ों लोगों की बलि चढ़ा दी गई।

भारत के बौद्धिक वर्ग को यह बात सहज ही समझ में आ जानी चाहिए थी कि मार्क्सवाद एक यूरोपीय विचार है और उसमें जिस वर्गहीन समाज की बात कही गई है वह अभिजात वर्ग से मुक्ति भर है। मार्क्सवाद किसी समताशील समाज की ओर नहीं ले जाता, वह एक नए निरंकुश तंत्र के हाथ में सत्ता दे देता है, जो पुराने अभिजात वर्ग से कम उत्पीड़क सिद्ध नहीं हुआ। भारत में उत्पादन के साधनों पर सदा साधारण

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

लोगों का स्वामित्व रहा है। भारत में राजा को कभी सारी उत्पादक संपत्तियों का स्वामी नहीं माना गया। अपने दायित्व निभाने के लिए उसे उत्पादन में एक भाग स्वीकृत किया गया है। पराधीनता के काल में पहले मुस्लिम शासकों ने और फिर अंग्रेजों ने उत्पादन के साधनों पर शासक वर्ग का स्वामित्व स्थापित करने की कोशिश की। एक सीमित क्षेत्र में ही वह सफल हो पाए। स्वतंत्रता प्राप्ति के बाद सरकारों ने जमींदारी प्रथा समाप्त करके भूमि का पुर्नवितरण किया। 1951 में विनोबा भावे ने जो भूदान यज्ञ आरंभ किया था, वह अब तक सबसे क्रांतिकारी अभियान था। भारत के कम्युनिस्टों ने केवल हिंसा और परस्पर घृणा को ही बढ़ावा दिया है और भारतीय सभ्यता के निंदकों की एक जमात खड़ी कर दी है। जेएनयू जैसे विश्वविद्यालय उनका अड्डा बने हुए हैं। मार्क्सवादियों में अधिक शक्ति नहीं बची है। भारत के लोगों ने मार्क्सवादियों को राजनैतिक तलछट बना दिया है। एक विचारधारा के रूप में दुनियाभर में उसका प्रभाव नाममात्र का रह गया है। भारत के युवाओं का एक बहुत छोटा वर्ग ही उनके प्रभाव में है। वे देर-सबेर इतिहास बन जाएंगे। लेकिन उससे पहले हमें मार्क्सवाद की गंभीर समीक्षा कर लेनी चाहिए। उससे हमें यूरोपीय बुद्धि को समझने में सहायता मिलेगी।

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

गाँधी जी का साहित्य विषयक चिन्तन

विश्वास पाटिल*

गाँधी जी की भाषा में साहित्य धर्म और संस्कृति का सारांश है। वे लिखते हैं कि कबीर, ज्ञानेश्वर, त्यागराज, नरसी मेहता इन साधु-सन्तों की भाषा हमेशा-हमेशा के लिए सादगी भरी और आसान ही है ऐसा कहना साहस भरी बात होगी। ऐसा होते हुए भी वे कौन-से कारण हैं जिनके आधार पर यह साहित्य जन-जन का कंठहार बन पाया? इसका कारण है इनकी सरल-सहज-ऋजु भाषा। यह भाषा ऋजु अन्तःकरण की भाषा है। यही आम आदमी तक पहुँच पाती है। आम आदमी तक पहुँचने के लिए न केवल भाषा का विवेक अपितु अन्तःकरण की आर्द्रता और तरलता भी आवश्यक है। पारदर्शिता की आवश्यकता है। हलवाहे तक पहुँचने वाली भाषा का मर्म उसके रस्से तक पहुँचना नहीं उसके हृदय तक पहुँचना है। उसे छू लेना है। आज भी गाँव-गाँव में सूर, तुलसी, मीरा और कबीर के समान ही जन कवियों की कविता गाई जाती है। गाँवों की चौपालों पर और समारोहों में इनकी रचनाएँ भक्तिभाव पूर्वक सुनी-गाई जाती हैं। आम आदमी तक सन्त साहित्य पहुँचता है तो वह प्रौढ़ जनों के लिए लिखे गए साहित्य के समान केवल शब्दों का जादू ही नहीं है यह उनकी मान्यता आज अनेक सन्दर्भों में परखकर देखने योग्य मानी जा सकती है। आसान और सरल सादगी भरा जीवन जिस प्रकार से वरेण्य होता है ठीक उसी प्रकार से साहित्य भी जीवन को और जीवनवादियों को प्रफुल्लित करता है। गाँधी जी ने अत्यन्त सुन्दर शैली में संस्मरणात्मक लेखन किया है। वह साहित्य की स्थायी निधि है। उनके द्वारा की गई साहित्य सेवा अनेक अर्थों में विशिष्ट मानी जा सकती है। गाँधी जी के हिन्दी साहित्य पर प्रभाव के सम्बन्ध में अनेक ग्रन्थों का स्वतन्त्र रूप से प्रणयन हुआ है। श्रीकान्त जी जोशी ने इस सन्दर्भ में माखनलाल जी का उदाहरण प्रस्तुत करते हुए कहा है–"माखनलाल जी अनेक अर्थों में गाँधी जी का और बहुत अर्थों में शुद्ध वैष्णवी

*ललित निबंध, उपन्यास, जीवनी परक, समीक्षात्मक एवं महात्मा गांधी से संबद्ध लेखन; मराठी एवं हिंदी के बीच सेतु निर्माण के लिए उत्तर प्रदेश हिंदी संस्थान का 2015 वर्ष का सौहार्द सम्मान, एवं महाराष्ट्र मध्य प्रदेश से लेखन पुरस्कार प्राप्त; e-mail:vishwaspatil 52@gmail.com

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

कृच्छ्र साधना के पथ का अनुसरण करते हैं। लेकिन कोरा अनुसरण करने वाले वे नहीं हैं। उनका अपना विवेक सत्याचरण का प्रयोग करता रहता है।" (माखनलाल चतुर्वेदी रचनावली, प्रथम खंड, पृष्ठ 28)

माखनलाल जी पर पड़े गाँधी प्रभाव का एक दृश्य परिणाम उनके इस चिन्तन में दिखाई देता है। माखनलाल जी लिखते हैं—"जो ऐसी भाषा का लगातार उपयोग करते हैं, जिसे लिखते ही कठिन होने के कारण जन-जीवन में पहुँचने के पंख तोड़ दिए जाते हों, ऐसी रचनाएँ चाहे जितनी श्रेष्ठ हों, वे जन-जीवन से दूर और कभी-कभी निरुपयोगी सांस्कृतिक बस्तों में बाँधकर रख देने की चीज बन जाती हैं।" (माखनलाल चतुर्वेदी रचनावली, द्वितीय खंड, पृष्ठ 326-327)

गाँधी जी बराबर यह चाहते रहे कि साहित्य मानव के मन को क्षुद्रताओं से बचाएगा और उन्नति की दिशा में अग्रसर करेगा। मानव चिन्तन का मूल धन ऊर्ध्वमुखी शक्तियों का जागरण कर विश्व साहित्य में अपनी ओर से नई बात को प्रस्तुत करना ही तो है। अणु युग और आगे आने वाले युगों के विश्व के लिए एक नया गीत लिखने का काम साहित्य करेगा। गाँधी जी के साहित्य विषयक चिन्तन को दरअसल विश्व साहित्य चिन्तन के परिप्रेक्ष्य में देखना जरूरी है। उसे उनके अन्तःकोष के मणि-माणिक्य के साथ जोड़ना होगा। सिद्धान्त रूप में यह वैष्णव चिन्तन है, विचार रूप में पूरब और पश्चिम की सहयात्रा है, अभिव्यक्ति के रूप में सर्वसामान्य जनों के साथ चलने वाला और सबको साथ ले कर चलने वाला सहित भाव है।

स्वयं गाँधी जी भी साहित्य के सम्बन्ध में एक विचार करते हुए दिखाई देते हैं। वह विचार क्या है? उसका रूप क्या है? इसका विवेचन करना यहाँ आवश्यक है। विश्व के क्षितिजों को छू सकने वाले साहित्य का रूप क्या हो? इसके बारे में उनके अपने कुछ निकष अवश्यमेव थे। उनकी राय का सारांश था कि वह साहित्य विश्व साहित्य का दर्जा पा सकता है जिसके लिए किसी भी प्रकार की कोई बाड़ न हो। न कोई बन्धन हो न कोई घेरा हो। न कोई मर्यादा हो। जो साहित्य जाति-पाँति, सम्प्रदाय, धर्म, रंग, लिंग, स्वार्थ या राष्ट्र के भेदाभेद को मिटा सकता है वह विश्व साहित्य बनने की योग्यता पाने वाला साहित्य हो सकता है। जो साहित्य तमाम कठघरों से मुक्त है। जो साहित्य तमाम बन्धनों की इयत्ताओं को पार कर सकता है। जो साहित्य मुक्त आकाश एवं खुली धरती के समान सबके स्वागत के लिए तत्पर है। तैयार है। खुला है। वह साहित्य विश्व साहित्य की योग्यता पा सकता है। साहित्य इस अर्थ में उनकी नजरों में साथ-साथ चलने का व्यापार या व्यवहार है। 'सहितस्य भावः साहित्यं' यह साथ-साथ चलने का भाव, द्वन्द्वों से विनिर्मुक्त होकर ही साधा जा सकता है, यह उनकी विनम्र मान्यता रही। वे विश्व का अर्थ किसी भू-प्रदेश तक इसीलिए सीमित नहीं मानते थे। सभी प्रकार के बन्धनों से जो मुक्त है वह विश्व साहित्य बनने की योग्यता पा सकता है। विश्व साहित्य के लिए अपरिहार्यतः उस साहित्यिक का जीवन एवं जीवन दशा भी उस दर्जे की होने की माँग करते हैं। हमारी भारतीय परम्परा में

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

वाल्मीकि, व्यास, कालिदास, कबीरदास, ज्ञानेश्वर, चैतन्य महाप्रभु, गोस्वामी तुलसीदास आदि महापुरुष इस प्रकार के व्यक्तित्व के धनी थे। उनका साहित्य इस विश्व साहित्य के आँगन में प्रस्थापित होने योग्य है। इस सन्दर्भ में एक मर्मवेधी प्रश्न की ओर गाँधी जी ने सबका ध्यान आकृष्ट किया है कि क्या साहित्य एवं उसका लेखक इनका कोई परस्पर सम्बन्ध होना आवश्यक है? दूसरे शब्दों में क्या साहित्य एवं साहित्यकार का पारस्पारिक कोई रिश्ता, नाता होना जरूरी है? क्या साहित्यिक की तुलना में उसका साहित्य श्रेष्ठ हो सकता है? यह वाद का विषय हो सकता है। साहित्य और साहित्यिक का परस्पर भावसम्बन्ध होना आवश्यक है क्या? आदि प्रश्न इस सन्दर्भ में उपस्थित करने की संभावना जागती है।

जब तक साहित्यिक के व्यक्तित्व को वैश्विक योग्यता नहीं मिल सकती तब तक क्या उसके साहित्य को वह मान्यता मिल सकती है? साहित्यिक को चाहिए कि वह अपने व्यक्तित्व को इतना समुन्नत बनाए कि विश्व उसमें आ समाए। यह करते हुए उसके व्यक्तित्व को किसी प्रकार की हीनता का बोध नहीं छू सकता। उसकी अस्मिता पर कोई चोट नहीं पड़ सकती। उसके आत्मगौरव को कोई क्षति नहीं पहुँच सकती। अपनी मर्यादा की रक्षा करते हुए भी अपने आकलन को वैश्विक मान्यता दिलाई जा सकती है यह अभिनव विचार गाँधी जी के साहित्य के निकषों को समझने की दृष्टि में विशिष्ट है। बाधाओं और अवरोधों को तोड़-काटकर वह अधिक व्यापक एवं अधिक सर्वग्राही हो सकता है। यह साहित्य की साधना और आराधना का मर्म गाँधी जी ने प्रस्तुत किया है। मनुष्य का स्वभाव है कि वह बाड़ों में अपने-आपको सुरक्षित एवं धन्य समझता है। बाड़े एवं घेरे उसे उपयुक्त एवं सुन्दर लगने लगते हैं। यह तथ्य उसकी समझ में ही नहीं आता है कि बाड़ों से घिरा हुआ मनुष्य अपने-आप से घिर जाता है। अपने-आपको संकुचित बना डालता है। बाड़ों को तोड़ गिराने का कार्य किसी को क्रान्तिकारी लग सकता है, है तो यह क्रान्तिकारी कदम जो हमें अपने आपसे शुरू करना होगा। आगे चलकर इसकी परिधि बढ़ते रहती है। मनुष्य जाने-अनजाने ही अपने इर्दगिर्द बाड़े रचते हुए चले जाता है। इनका स्वरूप अहंकार और दूसरों के प्रति ईर्ष्या और द्वेष भरा होता है। प्रतियोगिता भरा होता है। इसका रूप तमगे या पुरस्कार, पदाधिकार या प्रतिष्ठा, समिति या सहूलियतें इस प्रकार का होता है। साहित्यिक को चाहिए कि वह इन प्रलोभनों से बचे अन्यथा वह कूपमंडूक की तरह होगा। गाँधी जी का साहित्य विषयक चिन्तन हमें इस बात के प्रति आगाह करता है कि सत्य और प्रेम के अलावा दूसरा कोई रास्ता है ही नहीं। गाँधी जी की भाषा में इसे सत्य और अहिंसा की राह कहा जा सकता है। अपने-आपको शून्य बनाए बगैर प्रेम की अभिव्यक्ति पूर्ण रूप से करना सम्भव ही नहीं होता है। गाँधी जी ने साहित्य के क्षेत्र को प्रेमक्षेत्र के रूप में घोषित किया है। आचार्य विनोबा जी ने इसे इसी नाम से पहचाना। हम अपने क्षेत्र को विस्तारित करते चलें तो राह पाई जा सकती है।

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

गाँधी जी की राय है कि साहित्य को किसी विशेषण में बाँधना और उसे उस विशिष्ट विधा या प्रवाह का साहित्य मानना साहित्य की मूल और मुख्य धारा को संकुचित करना है। वह नागर या अनागर इस प्रकार का नहीं है। वह आदिवासी या गैर-आदिवासी इस प्रकार का नहीं है। वह दलित और दलितेतर इस प्रकार का नहीं है। वह महिलाओं का या पुरुषों का इस प्रकार का नहीं है। इन विशेषणों से साहित्य सीमित होता जाएगा। मर्यादित हो जाएगा। साहित्य तो सीमाओं को लाँघने की सिखावन देता है। साहित्य तो सबको मुक्त रूप में स्वीकारने का आग्रह धरता है। साहित्य सबका उन्मुक्त रूप में स्वीकार ही तो है। जिस साहित्य को समृद्ध और सम्पन्न होना है उसे अपना क्षेत्र विस्तार करना होगा। विश्वस्तर पर पहुँचने का यह मार्ग है।

गाँधी जी का चिन्तन है कि साहित्य परमुखापेक्षी नहीं होना चाहिए। साहित्य किसी तत्त्व या वस्तु की शरमिन्दगी को अनुभव न करे। साहित्य की अपनी चेतना है। साहित्य का अपना आँगन है। साहित्य का अपना आकाश है। साहित्य की अभिव्यक्ति की आड़ में आने वाले हर प्रकार के प्रलोभन को ठुकराने का बोध और भाव साहित्य की और साहित्यकार की शक्ति है। वह किसी के सामने न झुकेगा न हारेगा, न बिकेगा न गिरवी रखा जाएगा। साहित्य किसी कीमत पर अपना वजूद नहीं खोएगा। वह नियमों का पालन करेगा। अपने ईमान को कायम बनाए रहेगा। व्यवस्था और प्रशासन की हर भूल-गलती को ऊँची आवाज में कहेगा। गलत कदम का जमकर विरोध करेगा। किसी गलती की ओर आनाकानी करना या दुर्लक्ष करना उससे नहीं सधेगा। वह अचूक भाषा में अपनी बात करने में कभी नहीं चूकेगा। वह ऐन मौके पर मौन का पालन नहीं करेगा। यह विषय हमारी इयत्ता के बाहर का है ऐसा कहकर चुप्पी नहीं साध लेगा। इससे व्यक्ति और साहित्य दोनों ही अपनी अस्मिता को खो देंगे। अपने सम्मान से वंचित हो जाएँगे। नैतिक दृष्टि से अधःपतित हो जाएँगे। दूसरों को हीन बनाएँगे। दूसरे के सम्बन्ध में तुच्छता का विचार करने वाला कोई व्यक्ति किसी भी परिस्थिति में अपनी शान नहीं बचा सकता। नैतिक दृष्टि से सम्मानित नहीं हो सकता। दूसरों को हीन बनाने वाला व्यक्ति अपने जीवन और जीवनादर्शों की स्थापना कदापि नहीं कर सकता। ऐसा व्यक्ति हमेशा अधोगामी होता है। साहित्य हो या कला, संस्कृति हो या नाट्य इन विषयों से सम्बद्ध हर प्रकार का चुनाव स्वतन्त्र रूप से किया जाना चाहिए यह गाँधी दृष्टि है।

गाँधी जी सोचते हैं और सही सोचते हैं कि क्या हमारे शिष्ट साहित्य का प्रचार-प्रसार उस हद तक हो गया है जिस हद तक होना चाहिए? अगर नहीं हुआ है तो उसकी वजह क्या है? क्या हमारा साहित्य अपने शहरों की सीमाओं को लाँघकर गाँव-गाँव तक पहुँच पाया है? क्या वह खेत की मेड़ों पर पहुँच पाया है? हमारे साहित्य का क्षेत्र और उसका विषय हमारे शहरों तक मर्यादित है। मध्यवित्तीय जनों तक मर्यादित है। आज क्या हम आदिवासी, दलित, मुस्लिम समाज का यथातथ्य चित्रण कर पाए हैं? क्या महिलाओं के तमाम प्रश्नों का हमारी प्रतिभा ने स्पर्श कर लिया है?

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

जो अपने-आपको साहित्यिक मानता है उसकी जिम्मेदारी है कि वह उन तमाम वर्गों का प्रतिनिधित्व करे जो समाज के अंगोपांग हैं। उनसे हृदय से संवाद करने की कितनी तत्परता उसने दिखाई है? यह गाँधी जी की नजरों में अहम प्रश्न है। लेखक की लेखनी के माध्यम से जन-जन का हर्ष-शोक, वेदना-आनन्द, आशा-आकांक्षा, मनोकामना-मनोरथ प्रकट होने चाहिए। क्या हमारा आज का साहित्य और साहित्यिक सफल हुआ है? यह गाँधी जी के जमाने का प्रश्न आज भी उतना ही मुखर और प्रत्ययकारी है। आज भी क्या हम इस दिशा में अग्रसर हो पाए हैं? गाँधी जी के साहित्य के सम्बन्ध में चिन्तन की यह दिशा इस प्रकार से हमें झकझोर कर रख देने वाली है।

गाँधी जी के विचारों में साहित्य का क्षितिज विस्तृत होना चाहिए। उसे विश्व साहित्य तक पहुँचाना वे जरूरी मानते रहे। इसके लिए उन्होंने कठोर आत्मपरीक्षण का मार्ग सुझाया। उदात्तता का आग्रह धरा। स्वच्छ जीवन-दर्शन की बात कही। उदारमनस् होने के रहस्य को समझाया। भाषा को प्रभावित करने वाले तीन तत्त्वों की बात उन्होंने बराबर की है। भाषा की प्रभविष्णुता बनाए रखने के लिए व्यक्ति का ज्ञान, अनुभव एवं संस्कार की बात महत्त्वपूर्ण है। ज्ञान तो व्यक्ति गुरु से पाता है। अनुभव अपने पिता से, लेकिन संस्कारों का आदान-प्रदान तो माता करती है। इसके माध्यम से हम एक-दूसरों के सुख-दुःखों के प्रति संवेदनशील बनेंगे यह उनका निकष है। साहित्यिक को चाहिए कि वह प्रजा के सुख-दुःखों के साथ संवाद स्थापित करें। गम्भीर प्रश्नों के सम्बन्ध में अपनी जिम्मेदारी के भाव को समझें। अपनी जिम्मेदारी का दर्जा बढ़ाएँ। गाँधी जी की शैली में कहा जा सकता है जो साहित्यिक प्रजा के पाप-पुण्यों को अपने पाप पुण्यों का दर्जा दे सकता है वह और वही प्रजा का साहित्यिक कहलाया जा सकता है। किसी सरोवर का जल चाहे जहाँ से लिया जाए लेकिन उस सरोवर के जलस्तर में कमी आती है। उसी प्रकार से समाज के किसी भी प्रकार के पातक की जिम्मेदारी पूरे समाज की होती है। कुछ-न-कुछ अंशों में ही क्यों न हो लेकिन होती अवश्य है। सामाजिक पातक के प्रति साहित्यिक अपनी जिम्मेदारी समझकर अपना प्रतिभाव व्यक्त करें। इसके लिए आत्मशक्ति के जागरण की दिशा में प्रयत्न करने होंगे।

गाँधी जी के विचारों में राजसत्ता की तुलना में साहित्य अधिक शाश्वत है। राजा भोज की तुलना में कालिदास सबको स्मरण हैं। सम्राट अकबर की तुलना में गोस्वामी तुलसीदास हम सबको प्रकाश देते हैं। राजा और महाराजाओं की तुलना में इस धरती पर जिनकी अधिसत्ता है ऐसे लोगों में साहित्यिकों के नाम लिए जाते हैं। गाँधी जी की राय है कि साहित्यिकों को समाज के जलते-सुलगते प्रश्नों की ओर ध्यान देना चाहिए। साहित्य कर्मशील साधकों को बल प्रदान करता है। साहित्यकार की ललित मधुरता और कर्मयोगी की तेजस्विता इनका सुमधुर मिलन जीवन को एक नई राह देता है। दोनों के पारस्परिक सहयोग के कारण साहित्य और कर्मयोगी दोनों का मार्ग विकसित होगा। दोनों के सहयोग के बिना साहित्य निस्तेज और कर्मयोगी संस्कारिता में कम मालूम होंगे। समाज की वेदना साहित्य में जब स्थान पाती है तब

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

साहित्य और समाज दोनों एक-दूसरे के लिए बलदायी सिद्ध होते हैं। साहित्य प्रशासन एवं शासन की तुलना में अधिक लोगों तक पहुँच सकता है। यह प्रक्रिया जब जारी रहेगी तब साहित्य की प्रभविष्णुता सामने आएगी। यह कार्य सत्य की आराधना से सम्पन्न हो सकेगा। गाँधी जी इस प्रकार से साहित्य की शाश्वत मूल्यवत्ता का विचार सामने रखकर चलते हैं। साहित्य की गुणों की चर्चा का यह अध्याय काफी दीर्घ हो सकता है लेकिन उसका मूलाधार सत्य की साधना ही है।

गाँधी जी का चिन्तन मानता है कि सत्यनिष्ठ साहित्यिक सत्याधिष्ठित साहित्य की रचना कर सकते हैं। साहित्य की मूल धारणा इस प्रकार से सत्य की पूजा है। साहित्य की मूल्यनिष्ठा के आधार यों सत्यनिष्ठा, प्रामाणिकता, नेकी पर अवलम्बित है। साहित्य का विचार अपने आपके बारे में प्रामाणिक और समाज के सम्बन्ध में सूक्ष्म भावग्राही होना चाहिए। साहित्य विविधता का विचार तो करता ही है लेकिन उसमें स्थित एकता को परखता है। इसलिए कोई कठिन उग्र तपाचरण करने की आवश्यकता नहीं होती। इसलिए हमारी समझ को विकसित करना आवश्यक होता है। भारतीय साहित्य में प्रतिपादित विविधता का आधार यों विविध शैली, रूप, आकार एवं अभिव्यक्ति आदि तमाम क्षेत्रों को स्पर्श कर चलता है। विविधता के अध्ययन का आधार उसमें स्थित एकता की साधना का विचार है। एकता की परख करना है। मराठी के सन्त नामदेव सात सौ सालों पूर्व ठेठ पंजाब तक अपनी कविता की पताका फहराते हुए दिखाई देते हैं। दो-ढाई शतकों पूर्व के गुजराती भाषा के कवि गुजराती में पद लिखने के साथ हिन्दी में अपनी एक रचना अवश्य लिखते, यह अपने ढंग की गुजराती और अपने ढंग की हिन्दी का सुन्दर रूप होता। इस विविधता में एकात्मता के दर्शन होते। इन साहित्यिकों ने आखिरी आदमी से संवाद स्थापित किया है। साहित्य का एक पक्ष अपनी-अपनी भाषाओं का परस्पर आदान-प्रदान भी है। गाँधी जी हमेशा कहा करते थे कि जो समाज में स्थित भलाई को जगाता है उसे कवि माना जाए।

कृष्ण कृपलानी जी ने गाँधी जी के प्रातिभ रूप की मीमांसा करते हुए कहा है—"अगर प्रतिभा शब्द का प्रयोग करना ही हो तो हम कहेंगे कि गाँधी जी की प्रतिभा इसमें थी कि वे निरन्तर, भयभीत हुए बिना और थके बिना, कष्ट उठाकर भी एक कभी न थमने वाली नैतिक प्रेरणा का पालन करते रहते थे। युवावस्था की दहलीज लाँघने के बाद उनका पूरा जीवन एक क्षण विश्राम किए बिना भी सत्य की खोज का एक लम्बा अभियान था—ऐसे सत्य का जो 'अनादि और अनन्त' था, जो अमूर्त या तत्त्व मीमांसी सत्य नहीं बल्कि ऐसा सत्य था जिसे मानव सम्बन्धों में ही साकार किया जा सकता था। वे एक-एक कदम आगे बढ़े और कोई कदम दूसरे मनुष्यों के कदमों से बड़ा नहीं था और फिर हमने उन्हें ऐसी ऊँचाई पर देखा जहाँ वे महामानव दिखाई देते थे।...अगर गाँधी जी आखिर में किसी दूसरे इन्सान से भिन्न दिखाई देते थे तो हम यह भी याद रखें कि आरम्भ में वे भी किसी भी दूसरे इन्सान जैसे ही थे" (गाँधी :

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

एक जीवनी, कृष्ण कृपलानी, मूल अँग्रेजी का ग्रन्थ, हिन्दी अनुवादक, नरेश 'नदीम'; नेशनल बुक ट्रस्ट, नई दिल्ली, पहला संस्करण 1983, पृष्ठ संख्या 199, मूल्य 55; प्रस्तुत, सन्दर्भ का पृष्ठ क्रमांक 14)

गाँधी जी ने जो साहित्य लिखा उसके स्वरूप को समझ लेना भी जरूरी है। पारम्परिक अर्थ एवं अभिव्यक्ति का विचार करते हुए वे लेखक नहीं हैं। वे लेखन का काम करने वाले नहीं हैं। हाँ, वे काम का लेखन करने वालों में से एक हैं। उन्होंने जो लिखा वह आन्तरिक उद्वेलन के रूप में प्रकट हुआ है। वह काम की अनिवार्यता के रूप में प्रकट हुआ है। वह उनकी आवश्यकता को ध्यान में लेकर प्रकट हुआ है। वह संवाद साधने की विकल आवश्यकता के रूप में प्रकट हुआ है। वह न कहे जाने की वेदना के माध्यम से प्रकट हुआ है। उनका लेखन एक सृजन की आवश्यकता नहीं उनके कथन की अनिवार्यता का प्रतिफल है। उन्होंने जो कहा और जो लिखा वह कहे बिना या लिखे बिना वे रह ही नहीं सकते थे, इसलिए कहा-लिखा गया है। यह ध्यान में लेने पर इसका मर्म हमारी समझ में आ सकता है। किसी लेखक के ठाठ एवं नाज नखरे के साथ उनके लेखन की कोई तुलना ही नहीं की जा सकती है। वे निरन्तर एक आत्मशोध के निमित्त लिखते रहे हैं। वे अपनी बात करने का कोई माध्यम चुनने की कोशिश में लिखते रहे हैं। बोलते रहे हैं। यह लिखना या बोलना उनके लिए एक आवश्यकता है। एक अनिवार्यता है। एक अपरिहार्यता है।

गाँधी जी ने जीवन और अभिव्यक्ति के लगभग सभी क्षेत्रों में अपने स्वतन्त्र चिन्तन एवं विचारों की छाप छोड़ी है। दक्षिण अफ्रीका में और उसके पूर्व विलायत के अध्ययन काल में उन्होंने व्यापक पठन किया। कारावास काल का समय तो उन्होंने विश्वविद्यालयीन छात्र की तरह ही बिताया। अनेक भाषाओं को सीखने की कोशिश की। अनेक सुहृदों से संवाद साधा। अनेक ग्रन्थों का संकलन किया। अनेक ग्रन्थों का लेखन किया। बहुत व्यापक मात्रा में पत्र लेखन किया। पत्रकारिता के क्षेत्र में अपना स्वतन्त्र स्थान निर्माण किया। गाँधी जी ने दुनिया-भर के उत्तमोत्तम ग्रन्थों का अनुवाद कार्य सम्पन्न किया। अनेक स्वनामधन्य साहित्यधर्मियों से संवाद साधा। साहित्य सम्मेलन के सभापति पद से अपने विचारों का प्रतिपादन किया। रवीन्द्रनाथ ठाकुर कवि थे तो गाँधी जी अपने-आपमें एक कविता थे। वे स्वयं अपने-आपको 'कला कोविद' कहलवाते थे। दुनिया गाँधी जी की अँग्रेजी भाषा और लेखन-शैली पर मुग्ध थी। अनेक विद्वानों ने उनकी अँग्रेजी भाषा को बाइबिल से समतुल्य माना है।

गाँधी जी की सर्वव्यापक एवं सर्वस्पशी भूमिका का ही यह परिणाम रहा कि उन्होंने दक्षिण की भाषाओं को खुद सीखा। उन पर अधिकार पाया। दक्षिण भारत में हिन्दी के प्रचार-प्रसार के लिए 'दक्षिण भारतीय हिन्दी प्रचार समिति' की स्थापना की। इस देश को जोड़ने वाली भाषा के रूप में हिन्दी का गौरव बढ़ाने वाले गाँधी जी की अपनी मातृभाषा गुजराती रही। 'राष्ट्रभाषा के बिना राष्ट्र गूँगा है' यह उनका वाक्य उनके भाषा एवं साहित्य सम्बन्धी दृष्टिकोण को स्पष्ट अभिव्यक्ति देता है। अपने

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

समय में गाँधी जी के द्वारा विदेशी अफसरों से किए हुए पत्र-व्यवहार की भाषा एवं शैली उनके साहित्य चिन्तन का एक अनोखा नमूना पेश करती है। यह उनके लेखन का एक सहज-सरल साहित्यिक रूप है। वे अध्यापक के समान समझाऊ-बुझाऊ शैली में अपनी बात करते हुए दिखाई देते हैं। धर्म, नीति और अध्यात्म के समान शब्दों को उन्होंने लगभग वैकल्पिक रूप में स्वीकारा और प्रयुक्त भी किया। उनकी साहित्य विषयक मान्यता को आचार्य रामचन्द्र शुक्ल के शब्दों में 'सामाजिक मंगलेच्छा' कह कर पुकारा जा सकता है। गाँधी जी ने भारतीय साहित्य को विविध कोणों से समृद्ध किया। उनके आन्दोलन की सरिताओं के तट पर साहित्य के भव्य और नव्य तीर्थ स्थापित हुए।

एक लेखक के रूप में गाँधी जी जो पढ़ते थे उस पर कितना अमल करते थे उसका एकमात्र उदाहरण यहाँ देना उपयुक्त होगा। गाँधी जी ने एक यात्रा में रस्किन के 'अनटू दिस लास्ट' नामक ग्रन्थ को पढ़ा और उससे प्रभाव ग्रहण किया। उनके मन में पहले से विद्यमान चिन्तन को इस पठन से दिशा मिली। इसका तफसीलवार ब्यौरा देते हुए वे लिखते हैं : 'मैं' 'सर्वोदय' के सिद्धान्तों को इस प्रकार समझा हूँ :

1. सबकी भलाई में हमारी भलाई निहित है।

2. वकील और नाई दोनों के काम की कीमत एक-सी होनी चाहिए, क्योंकि आजीविका का अधिकार सबको एक समान है।

3. सादा मेहनत-मजदूरी का, किसान का जीवन ही सच्चा जीवन है।

पहली चीज मैं जानता था। दूसरी को मैं धुँधले रूप में देखता था। तीसरी का मैंने कभी विचार ही नहीं किया था। 'सर्वोदय' ने मुझे दीये की तरह दिखा दिया कि पहली चीज में दूसरी दोनों चीजें समाई हुई हैं। सवेरा हुआ और मैं इन सिद्धान्तों पर अमल करने के प्रयत्न में लगा।' (सत्य के प्रयोग अथवा आत्मकथा, संस्करण सितम्बर 2010, नवजीवन ट्रस्ट अहमदाबाद, मूल्य 30 रुपए, पृष्ठ 454, सन्दर्भ पृष्ठ 271)

गाँधी जी के आरम्भिक लेखन की चर्चा करते हुए उनके 'हरे परचे' का विचार किया जाना जरूरी है। पुण्यात्मा और पापी, दोनों को अच्छी तरह कोई काम करने पर सुख का एक समान अनुभव होता है। सार्वजनिक जीवन और पेशे, दोनों में गाँधी जी अधिकाधिक अपना स्थान बनाते जा रहे थे। उनका काम नेटाल के भारतीय समुदाय के लिए भारी महत्त्वपूर्ण सिद्ध हो रहा था जो हर कठिनाई में मार्गदर्शन और सहायता के लिए उनकी ओर देखता रहता था। इतना ही नहीं, वे भी खुद की आत्मा को विशालकाय होते देख रहे थे। इसलिए उनको यह विश्वास होते देर नहीं लगी कि भविष्य उनके लिए चाहे जो कुछ लेकर आए, आने वाले कुछ वर्षों तक दक्षिण अफ्रीका ही उनकी कर्मभूमि होगा।

कुछ भी हो, वे अब उस लक्ष्य को नहीं छोड़ सकते थे जिसे उन्होंने खुद बड़े जोश-खरोश से उठाया था और वे सभी व्यावहारिक दृष्टियों से जिसके एकमात्र नहीं तो प्रमुख प्रवक्ता और नेतृत्वकर्मी अवश्य थे। वे अपने योगदान के प्रति सजग थे और

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

फिर भी विनम्रता से इसका आकलन करते थे। उन्हें इसका गर्व था कि वे एक शुभ ध्येय के लिए कार्य कर रहे थे विनम्रता के साथ समझते थे कि वे उस ध्येय के एक अपर्याप्त साधन हैं। यही उनके पूरे जीवन का खास दृष्टिकोण बना रहा।

यह दृष्टिकोण उस पहले पत्र में ही स्पष्ट था जो उन्होंने 5 जुलाई 1894 को दादा भाई नौरोजी के नाम लिखा था जिसमें उन्होंने ब्रिटिश सरकार और जनता के सामने भारतीयों का पक्ष प्रस्तुत करने में उनकी सहायता माँगी थी। इसमें उन्होंने मताधिकार विधेयक के वास्तविक उद्देश्य को स्पष्ट किया था और अपनी सुबोध और अर्थपूर्ण शैली में नेटाल के यूरोपीय समुदाय के दृष्टिकोण को इस प्रकार प्रस्तुत किया था: "हम यहाँ अब और हिन्दुस्तानी देखना नहीं चाहते। हम कुली चाहते हैं, मगर वे यहाँ गुलाम रहेंगे और जैसे ही आजाद होंगे, भारत चले जाएँगे।" फिर उन्होंने अपने देशवासियों के प्रवक्ता के रूप में अपनी भूमिका को स्पष्ट किया है : "दो शब्द मेरे और जो कुछ मैंने किया है उसके बारे में। मैं अभी भी अनुभवहीन और छोटा हूँ और इसलिए बहुत सम्भव है कि मैं गलतियाँ कर बैठूँ। यह जिम्मेदारी मेरी योग्यता से कहीं बहुत अधिक है। मैं यह भी लिख दूँ कि मैं यह सब बिना किसी पारिश्रमिक के कर रहा हूँ। इसलिए आप पाएँगे कि मैंने विषय को जो मेरी योग्यता से बाहर है, इसलिए नहीं उठाया है कि मैं भारतीयों की कीमत पर खुद धन बटोरना चाहता हूँ। मैं यहाँ एकमात्र उपलब्ध व्यक्ति हूँ जो इस सवाल को निबटा सकता है। इसलिए अगर आप मुझे कृपा करके रास्ता दिखाएँ और आवश्यक सुझाव दें तो यह मेरे ऊपर आपका बहुत बड़ा एहसान होगा। मैं उनको बच्चे के लिए पिता के सुझाव समझकर स्वीकार करूँगा।"

अब तक तीन बरस हो चुके थे। अगर गाँधी जी को अनिश्चित काल तक दक्षिण अफ्रीका में रहना था तो जरूरी था कि वे भारत से अपना परिवार ले आएँ। इसलिए उन्होंने देश जाने के लिए अपने साथियों और सहकर्मियों से छह माह का अवकाश माँगा। उन्होंने प्रार्थना की कि वे भारत में बिताए गए समय का उपयोग करके जनता को दक्षिण अफ्रीका में रह रहे उनके देशवासियों के दुःखों से परिचित कराएँगे। जून 1896 में वे डरबन से जहाज में चले।

अपने देशवासियों की प्रार्थना पूरी करने के लिए उन्होंने यात्रा के दौरान एक तथ्यात्मक विवरण लिखा जिसका नाम उन्होंने 'दक्षिण अफ्रीका में ब्रिटिश भारतीयों की शिकायतें' रखा। इसे उन्होंने देश पहुँचकर प्रकाशित कराया। परचे के आवरण के रंग के कारण इसी का नाम 'हरा परचा' पड़ा। इसकी दस हजार प्रतियाँ छापी गईं। भारतीय पत्र-पत्रिकाओं ने इसका व्यापक प्रचार किया और इस पर टिप्पणियाँ कीं। पहला संस्करण जल्द ही बिक गया और दूसरा छापना पड़ा।

गाँधी जी का वर्णन गम्भीर और संयमपूर्ण था। यह हमेशा की तरह असत्य, घृणा या किसी प्रकार की अतिशयोक्ति से पाक-साफ था। उन्होंने ऐसी बात नहीं कही थी जो उन्होंने डरबन में बहुत पहले प्रकाशित 'खुली चिट्ठी' में नहीं कही थी। वास्तव

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

में, उनके पूरे जीवन में उनकी राजनीतिक आस्था का जो बुनियादी तत्त्व रहा। यह यहाँ इस बयान में स्पष्ट था : 'दक्षिण अफ्रीका में हमारा तरीका प्रेम से इस घृणा पर विजय पाने का है।' दुर्भाग्य से, रायटर ने इसकी एक भ्रष्ट और विकृत रिपोर्ट भेजी जिसने नेटाल के यूरोपियों में काफी गलतफहमी पैदा की। उन्हें विश्वास हो चला कि उनकी अनुचित निन्दा और मानहानि की गई है। आगे चलकर इसके दुःखद परिणाम हुए।

गाँधी जी ने कुछ समय अपने गृह नगर राजकोट में बिताया। यहाँ उनका दुर्दमनीय उत्साह हरे परचे की छपाई और उसे दूसरों को भेजने के अलावा अनेक गतिविधियों के रूप में सामने आया।

गाँधी जी अभी कलकत्ता में थे। वहाँ एक जन सभा को उनके द्वारा सम्बोधित किए जाने की उम्मीद थी, तभी उन्हें डरबन से एक तार मिला कि वहाँ उनकी मौजूदगी फौरन जरूरी थी। इसलिए वे शीघ्रता से मुम्बई पहुँचे। वहाँ से अपनी पत्नी और बच्चों के साथ दिसम्बर के शुरू में वे कूरलैंडर जहाज पर चल पड़े। लगभग उसी समय एक और जहाज रवाना हुआ जो नेटाल और ट्रान्सवाल के लिए भारतीय यात्री ले जा रहा था। दोनों जहाज दिसम्बर के तीसरे सप्ताह में डरबन पहुँचे। उनको फौरन जब्त कर लिया गया।

हरे परचे के बारे में रायटर ने अपनी विकृत रिपोर्ट भेजी थी। इस कारण डरबन के गोरे निवासियों को वह लेखन गाँधी जी का सोच-समझकर किया गया निन्दा-अभियान लगा था। इस कारण वे गुस्से से उबल रहे थे। इसके बाद एक और निराधार आशंका जागी थी जिसने आग में घी का काम किया था कि गाँधी जी अपने साथ दो जहाजों में भरकर भारतीय आप्रवासियों को लाए थे। फिर तो भयानक सभाएँ हुईं जिनमें गोरे वक्ताओं ने धमकी दी कि अगर ये यात्री वापस नहीं जाते तो उन सबको वे समुद्र में फेंक देंगे। एक लालच भी दिया गया कि अगर वे भारत लौट जाएँगे तो उनको वापसी का भाड़ा भी दिया जा सकता है।

किन्तु भारतीय यात्रियों पर किसी धमकी या किसी फुसलावे का कोई असर नहीं पड़ा। न ही दादा अब्दुल्ला एंड कम्पनी पर कोई असर पड़ा। मजबूरी की वजह से जहाज पर ही क्रिसमस मनाना पड़ा। जहाज के कप्तान ने एक भोज दिया। उसके बाद गाँधी जी ने पश्चिमी सभ्यता विषय पर एक भाषण दिया। तेईस दिनों के बाद जहाजों को बन्दरगाह में घुसने की इजाजत मिली और सारे मुसाफिर बिना किसी नुकसान के उतर गए। जैसे ही गाँधी जी नीचे उतरे, पहचान लिये गए। देखते-ही-देखते एक भीड़ चीखते-चिल्लाते और गालियाँ बकते हुए उनके चारों तरफ जमा हो गई। गाँधी जी पर पत्थरों, ईंटों के टुकड़ों और सड़े अंडों की बारिश होने लगी। उनकी पगड़ी खींच ली गई और उन पर घूँसों, थप्पड़ों और लातों से प्रहार किया गया। गाँधी जी बेहोश हो गए। खतरा टला नहीं था। खून का स्वाद चख चुकी पागल भीड़ और खून माँग रही थी। अपने शिकार को खोकर चिंघाड़ती हुई भीड़ ने रुस्तम जी के मकान को घेर लिया और चिल्लाने लगी : "गाँधी को हमारे हवाले करो।" पुलिस

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

अधीक्षक को विश्वास नहीं था कि वह उस वहशी भीड़ को देर तक काबू में रख पाएगा। इसलिए उसने घबराकर गाँधी जी को सन्देश भेजा कि अगर रुस्तम जी के मकान और उसके निवासियों के जीवन को बचाना है तो वे भेस बदलकर वह घर छोड़ने पर राजी हों। इसलिए गाँधी जी चुपके से एक भारतीय कांस्टेबिल के रूप में घर से बाहर निकल गए। उनके साथ दो गुप्तचर भी थे और वे भी भेस बदले हुए थे।

यहाँ गाँधी जी के राष्ट्रभाषा के सम्बन्ध में विचारों को जान लेना समीचीन होगा। उन्होंने बार-बार अलग-अलग प्रसंगों में बराबर इस प्रश्न के बारे में अपने चिन्तन को स्पष्टता दी है। उसका सार-संकलन स्वयं उन्हीं के शब्दों में बिना किसी टिप्पणी के अविकल रूप में देना ही उस विषय के साथ न्याय करना होगा। इस विचार से इस संकलन को जैसा-का-तैसा ही यहाँ दिया जा रहा है।

राष्ट्रभाषा के बारे में गाँधी जी का चिन्तन था : "हमारी भाषा हमारा ही प्रतिबिम्ब होती है, और यदि आप मुझसे यह कहते हैं कि हमारी भाषाएँ इतनी अशक्त हैं कि उनके द्वारा सर्वोत्तम विचार व्यक्त नहीं किए जा सकते तो मैं यह कहूँगा कि हमारा अस्तित्व जितनी जल्दी समाप्त हो जाए उतना ही हमारे लिए अच्छा होगा। क्या कोई ऐसा व्यक्ति है जो यह कल्पना करता हो कि अँग्रेजी कभी भारत की राष्ट्रभाषा हो सकती है? राष्ट्र पर यह मुसीबत क्यों डाली...मुझे पूना के कुछ प्राध्यापकों के साथ घनिष्ठ बातचीत करने का सौभाग्य प्राप्त हुआ था। उन्होंने मुझे यह विश्वास दिलाया कि हर एक भारतीय युवक, चूँकि वह अँग्रेजी भाषा के माध्यम से शिक्षा पाता है, अपने जीवन के कम-से-कम छह बहुमूल्य वर्ष व्यर्थ गँवा देता है। इस संख्या को हमारे स्कूलों तथा कालेजों से निकलने वाले विद्यार्थियों की संख्या से गुणा कीजिए और फिर स्वयं यह पता लगाइए कि राष्ट्र ने कितने हजार वर्ष गँवा दिए हैं। हमारे ऊपर आरोप यह लगाया जा रहा है कि हमारे अन्दर आगे बढ़ने की शक्ति नहीं है। हमारे अन्दर यह शक्ति हो ही कैसे सकती है जबकि हमें अपने जीवन के बहुमूल्य वर्षों को एक विदेशी भाषा पर अधिकार प्राप्त करने में लगा देना पड़ता है? इस प्रयास में भी हम विफल हो जाते हैं।

"वास्तव में, हम अँग्रेजी पर कभी अधिकार नहीं प्राप्त कर पाते, कुछ थोड़े-से लोगों को छोड़कर हम लोगों के लिए ऐसा करना सम्भव नहीं हो सका है। हम अँग्रेजी में अपनी भावनाओं को उतनी अच्छी तरह कभी व्यक्त नहीं कर सकते जितनी अच्छी तरह अपनी मातृभाषा में। हम अपने बचपन के सारे वर्षों की याद कैसे भूल सकते हैं? पर जब हम अपनी उच्चतर शिक्षा, जैसा कि हम उसे कहते हैं, एक विदेशी भाषा के माध्यम से शुरू करते हैं तब हम ठीक यही काम करते हैं। इससे हमारे जीवन का क्रम भंग हो जाता है जिसके लिए हमें बहुत भारी मूल्य चुकाना होगा।

"मैंने लोगों को यह कहते सुना है कि अँग्रेजी शिक्षा प्राप्त भारतीय ही नेतृत्व कर रहे हैं तथा देश के लिए सभी काम कर रहे हैं। यदि ऐसी बात न होती तो बहुत ही बुरा होता। जो शिक्षा हमें मिलती है वह मात्र अँग्रेजी शिक्षा ही है। हमें उसका कुछ-न-कुछ फायदा तो अवश्य दिखाना चाहिए। लेकिन मान लीजिए कि हमें पिछले

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

पचास वर्षों में अपनी भारतीय भाषाओं के माध्यम से शिक्षा मिली होती तो आज स्थिति क्या होती। आज भारत स्वतन्त्र होता। हमारे शिक्षित लोग अपने ही देश में विदेशियों जैसे न होते वरन् उनकी वाणी देश के हृदय को छूती गरीब-से-गरीब लोगों के बीच वे काम करते और पिछले पचास वर्षों में वे जो कुछ हासिल करते वह राष्ट्र की एक विरासत होती। आज हमारी पत्नियाँ तक हमारे अच्छे-से-अच्छे विचारों में शरीक नहीं हो पातीं। प्रोफेसर बसु और प्रोफेसर राय तथा उनके शानदार अनुसन्धानों पर दृष्टिपात कीजिए। क्या यह लज्जा की बात नहीं है कि आम जनता को उनके अनुसन्धानों के बारे में कोई जानकारी नहीं है।

"हम समाज की सबसे बड़ी सेवा यह कर सकते हैं कि अँग्रेजी भाषा के ज्ञान-प्राप्ति को हम जो झूठा महत्त्व देना सीख गए हैं, उससे अपने को तथा समाज को मुक्त करें। हमारे स्कूलों और कालेजों में शिक्षा का माध्यम अँग्रेजी है। यह देश की राष्ट्रभाषा होती जा रही है। हमारे सर्वोत्तम विचार इसी भाषा में व्यक्त किए जाते हैं? अँग्रेजी शिक्षा की आवश्यकता में विश्वास के कारण हम दास बन गए हैं? इसने हमें सच्ची राष्ट्रसेवा के अयोग्य बना दिया है? हम आम जनता से अलग हो उनसे आम जनता को कोई फायदा नहीं हुआ है? पिछले 60 वर्षों से ज्ञान संचय करने के बजाय हम नए-नए शब्दों तथा उनके उच्चारण रटने में लगे रहे हैं? हमने अपने माता-पिता से प्राप्त ज्ञान की नींव पर निर्माण करने के बजाय उसे लगभग भुला दिया है? इतिहास में इस तरह का और कोई उदाहरण नहीं मिलता? यह राष्ट्र का दुर्भाग्य है।

"हम समाज की पहली तथा सबसे बड़ी सेवा यह कर सकते हैं कि हम अपनी देशी भाषाओं को पुनः अपनाएँ, हिन्दी को उसके राष्ट्रभाषा के स्वाभाविक पद पर फिर से प्रतिष्ठित करें और अपने समस्त प्रान्तीय कार्यों को अपनी-अपनी प्रान्तीय भाषाओं में तथा राष्ट्रीय कामों को हिन्दी में करना शुरू करें। जब तक हमारे स्कूल तथा कालेज हमें देशी भाषाओं के माध्यम से शिक्षा नहीं देने लगते तब तक हमें चैन से नहीं बैठना चाहिए।

"आज अँग्रेजी का अध्ययन उसके व्यापारिक एवं तथाकथित राजनीतिक महत्त्व के कारण किया जाता है। हमारे लड़के यह सोचते हैं और वर्तमान परिस्थितियों में उनका यह सोचना सही भी है कि अँग्रेजी के बिना उन्हें सरकारी नौकरी नहीं मिल सकती। लड़कियों को अच्छी शादी के लिए अँग्रेजी पढ़ाई जाती है। मैं ऐसी अनेक स्त्रियों को जानता हूँ जो अँग्रेजी इसलिए सीखना चाहती हैं जिससे वे अँग्रेजों से अँग्रेजी में बातें कर सकें। मैं ऐसे पतियों को भी जानता हूँ जो इस बात से दुःखी हैं कि उनकी पत्नियाँ उनसे तथा उनके मित्रों से अँग्रेजी में बातचीत नहीं कर सकतीं। ऐसे परिवारों को भी जानता हूँ जिनमें अँग्रेजी को मातृभाषा का रूप दिया जा रहा है।... देशी भाषाओं का कुचला जाना तथा उन्हें निर्बल बनाना जैसा कि उनके साथ हुआ है—मेरे लिए असह्य है। मैं इस बात को सहन नहीं कर सकता कि माँ-बाप अपने बच्चों को तथा पति अपनी पत्नियों को अपनी भाषाओं को छोड़कर अँग्रेजी में पत्र लिखें।

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

"यद्यपि मैंने पश्चिमी सभ्यता के प्रति अपने ऋण को खुले आम स्वीकार किया है तथापि मैं यह कह सकता हूँ कि राष्ट्र की जो कुछ भी सेवा मैं कर सका हूँ उसका एकमात्र कारण यह है कि जिस हद तक मुझसे बन पड़ा मैंने पूर्वी सभ्यता को अपने अन्दर कायम रखा। यदि मैं अँग्रेजियत में रँगा होता, राष्ट्रीय भावना से रहित होता और आम जनता के तौर तरीकों, आदतों, विचारों तथा महत्त्वाकांक्षाओं से अनभिज्ञ होता, उनकी कम परवाह करता और कदाचित् उनसे नफरत भी करता तो मैं आम जनता के लिए बिल्कुल बेकार साबित होता।

"जब कभी मैंने विद्यार्थियों की सभाओं में भाषण किया है, मुझे अँग्रेजी में बोलने की माँग पर आश्चर्य हुआ है। आपको मालूम है अथवा होना चाहिए कि मैं अँग्रेजी भाषा का प्रेमी हूँ, लेकिन मेरी धारणा है कि यदि भारत के विद्यार्थी, जिनसे यह आशा की जाती है कि देश के लाखों-करोड़ों लोगों के साथ मिलकर काम करेंगे और उनकी सेवा करेंगे, अँग्रेजी की बजाय हिन्दी की ओर अधिक ध्यान दें तो वे इस काम के लिए ज्यादा योग्य बनेंगे। मैं यह नहीं कहता कि आपको अँग्रेजी नहीं सीखनी चाहिए, आप अवश्य सीखिए, लेकिन जहाँ तक मेरा विचार है वह करोड़ों भारतीय घरों की भाषा नहीं हो सकती। वह हजारों अथवा लाखों व्यक्तियों तक ही सीमित रहेगी, करोड़ों तक नहीं पहुँच सकती। अतः जब छात्रगण मुझसे हिन्दी में बोलने के लिए कहते हैं तब मुझे खुशी होती है।

"अब हम राष्ट्रभाषा के प्रश्न पर विचार करें। यदि अँग्रेजी हमारी राष्ट्रभाषा होनी है तो उसे हमारे स्कूलों में एक अनिवार्य विषय बना दिया जाना चाहिए। पहले हम इस बात पर विचार करें कि क्या अँग्रेजी हमारी राष्ट्रभाषा बन सकती है?

"हमारे कुछ विद्वान लोगों का, जो अच्छे देशभक्त भी हैं, कहना है कि इस प्रश्न को उठाना ही अज्ञान का द्योतक है। उनकी राय में वह तो राष्ट्रभाषा है ही।

"सतही तौर पर विचार करने पर उक्त मत सही मालूम होता है। हमारे समाज के शिक्षित वर्ग को देखने से मालूम होता है कि अँग्रेजी के न रहने पर हमारा सारा काम ठप्प हो जाएगा। लेकिन गहराई से विचार करने पर पता चलेगा कि अँग्रेजी न तो हमारी राष्ट्रभाषा बन सकती है और न बननी चाहिए।

"आइए देखें कि किसी भाषा को राष्ट्रभाषा बनने के लिए क्या-क्या बातें जरूरी हैं–

1. सरकारी अधिकारियों के लिए उसका सीखना आसान होना चाहिए।
2. वह भारत भर में धार्मिक, आर्थिक तथा राजनीतिक विचार-विनिमय का माध्यम बनने के योग्य होनी चाहिए।
3. वह अधिकांश भारतीयों द्वारा बोली जानी चाहिए।
4. समूचे देश के लोगों के लिए उसका सीखना सरल होना चाहिए।
5. इस भाषा का चुनाव करते समय अस्थायी अथवा क्षणिक हितों का खयाल नहीं रखा जाना चाहिए।

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

"अँग्रेजी इनमें से किसी भी शर्त को पूरा नहीं करती। तब वह कौन-सी भाषा है जो इन पाँचों शर्तों की पूर्ति करती है? हमे मानना पड़ेगा कि वह हिन्दी ही है।

"मुझे इसमें सन्देह नहीं कि हिन्दुस्तानी समस्त भारतीयों के लिए सबसे उपयुक्त अन्तरप्रान्तीय भाषा होगी। आम जनता न तो फारसी भरी उर्दू आसानी से समझ सकती है और न संस्कृतनिष्ठ हिन्दी। ब्रिटिश राज के समाप्त होने पर बोलचाल के सामान्य माध्यम अथवा अदालती भाषा के रूप में अँग्रेजी नहीं रह सकती। यह तो कोरी अनधिकार चेष्टा है। मैं अँग्रेजी भाषा का उसके अपने स्थान पर आदर करता हूँ। वह भारत की राष्ट्रभाषा कभी नहीं हो सकती।"

प्रसिद्ध गायक श्री दिलीप कुमार राय ने बातचीत करते हुए सन् 1934 में गाँधी जी से कहा था कि "जीवन समस्त कलाओं में श्रेष्ठ हैं। वे तो समझते हैं कि जो अच्छी तरह जीना जानता है, वही सच्चा कलाकार है। उत्तम जीवन की भूमिका के बिना कला किस प्रकार चित्रित की जा सकती है? कला के मूल्य का आधार है जीवन को उन्नत बनाना। जीवन ही कला है, कला शब्द का प्रयोग यहाँ व्यापक अर्थ में हुआ है। साहित्य उससे बाहर नहीं है। कदाचित् ऐसे ही साहित्य को दृष्टि में रखकर गाँधी जी ने कहा था कि वही काव्य और वही साहित्य चिरजीवी रहेगा जिसे लोग सुगमता से पा सकेंगे, जिसे वे आसानी से पचा सकेंगे।"

गाँधी जी के साहित्य को उन्हीं की मान्यताओं की परिधि में परखा जाना चाहिए। जिस प्रकार के साहित्य की कल्पना उन्होंने की है, उस प्रकार के साहित्य का सृजन वही कर सकता है जिसने साहित्य के विषय से साक्षात्कार कर लिया हो, अर्थात् जो उसे जीता हो। गाँधी जी की भाषा में इसे इस प्रकार कह सकते हैं कि जो भली-भाँति जीना जानता है वही साहित्यकार है। निस्सन्देह गाँधी जी का विकास एक साहित्यिक के रूप में नहीं हुआ। उन्होंने कभी ऐसा दावा भी नहीं किया। परन्तु उन्होंने अपनी आत्मकथा लिखी है। अनेक संस्मरण लिखे हैं। उन्हीं के आधार पर यदि उन्हें साहित्यकार माना जाए तो असंगत न होगा। वे अधिकतर गुजराती और अँग्रेजी में लिखते थे। इसलिए उन भाषाओं पर उनका प्रत्यक्ष प्रभाव पड़ा है। गुजराती के विद्वान् उन्हें एक अनुपम गद्य शैलीकार मानते हैं। जिस समय गोलमेज परिषद् के अवसर पर उन्होंने लन्दन से अमरीका के लिए सन्देश प्रसारित किया था, उस समय विश्व उनकी सरल परन्तु अर्थगर्भित भाषा सुनकर विस्मित रह गया था। यद्यपि दूसरी भाषाओं में उन्होंने बहुत ही कम लिखा है, परन्तु अप्रत्यक्ष रूप से उन्हें प्रभावित अवश्य किया है। उनकी शैली को अँग्रेजी का 'विब्लिकल' शब्द ठीक-ठीक व्यक्त करता है। उसकी सरलता, संकेतप्रियता, संयत विनोदप्रियता, सुसूत्रता, संक्षिप्तता और सहज तार्किक गम्भीरता के कारण ही उसमें अपूर्व शक्ति समाई है। सबसे बढ़कर उनकी आत्मीयता के कारण उसमें जो पारदर्शिता आई है वह उनकी अपनी विशेषता है।

'फुलॉप मिलर' ने लिखा है, "किसी जमाने में बुद्ध के सम्मुख जिस तरह मानव-प्राणी की वेदना अपना अवगुंठन उठाकर खड़ी हो गई थी, उसी तरह अब वह

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

गाँधी के सामने खड़ी हो गई है। इसलिए वे अपनी भावनाएँ और शक्तियाँ ऐसे किसी उद्योग में खर्च नहीं कर सकते जो भूखों को खिलाने में, नंगों की काया ढाँपने में और दुःखियों को ढाढस बँधाने में प्रत्यक्ष रूप से सहयोग न दे।" इसलिए वे कला, काव्य और साहित्य को उपयोगिता की कसौटी पर कसते थे। विश्वकवि रवीन्द्रनाथ ठाकुर को एक बार उन्होंने एक पत्र में लिखा था : "अपने काव्य के प्रति सच्चा रह कर यदि कवि आगामी कल के लिए जिन्दा रहता है और दूसरों को भी उस कल के लिए जीवित रहने का आदेश देता है, वह हमारे चकित चक्षुओं के सामने उन सुन्दर चिड़ियों के सुन्दर चित्र खींचता है जो उषा के आगमन पर महिमा के गीत गाती हुई शून्य में अपने रंगीन पंखों से उड़ान भरती हैं। ये चिड़ियाँ दिन-भर का अपना भोजन प्राप्त करती हैं और रात के आराम के बाद आकाश में उड़ती हैं। उनकी रगों में पिछली रात नए रक्त का संचार हो चुका है पर मुझे ऐसे पक्षियों को देखने से वेदना भी हुई है, जो निर्बलता के कारण अपने पंख फड़फड़ाने का साहस भी नहीं कर सकते। भारत के विस्तृत आकाश के नीचे मानव-पक्षी रात को सोने का ढोंग करता है। भूखे पेट उसे नींद नहीं आती और जब वह सुबह बिस्तर से उठता है तो उसकी शक्ति पिछली रात से कम हो जाती है। लाखों मानव-पक्षियों को रात-भर भूख-प्यास से पीड़ित रहकर जागरण करना पड़ता है अथवा जाग्रत स्वप्नों में उलझे रहना पड़ता है। यह अपने अनुभव की, अपनी समझ की, अपनी आँखों देखी, अकथ दुःखपूर्ण अवस्था और कहानी है। कबीर के गीतों से इस पीड़ित मानवता को सान्त्वना दे सकना असम्भव है। यह लक्षावधि भूखी मानवता हाथ फैलाकर, जीवन के पंख फड़फड़ाकर कराह कर केवल एक कविता माँगती है जिसका नाम है 'पौष्टिक भोजन।'

अपने पुरुषार्थी विचारों के कारण सन् 1935 में गुजराती साहित्य सम्मेलन के बारहवें अधिवेशन के सभापति पद से स्त्रैण साहित्य की निन्दा करते हुए गाँधी जी ने कहा था कि जब वे सेवाग्राम और वहाँ के अस्थि-पंजर लोगों का खयाल करते हैं तो उन्हें अपना साहित्य निरर्थक मालूम होने लगता है। जिन शब्दों में और जिस शक्ति के साथ गाँधी जी ने भूखी मानवता के लिए पौष्टिक भोजन की माँग की है, साहित्य क्या कभी उससे ऊँचे स्तर पर उठा है? युग-युग से महान् आत्माओं का जो लक्ष्य रहा है क्या वही 'मानव' साहित्य का लक्ष्य आज के साहित्यकार के लिए शायद इस रूप में न हो, परन्तु गाँधी जी का लक्ष्य विशुद्ध रूप से यही था। उन्होंने साहित्य से छायावाद के स्वप्निल जगत को बहिष्कृत करके मानव-जीवन के यथार्थ को प्रतिष्ठित किया। उन्होंने कहा : "कला को जीवन से श्रेष्ठ मानने से तो जीवन का स्रोत ही सूख जाएगा। मेरे लिए तो सर्वश्रेष्ठ कलाकार वही है जो सर्वोत्तम जीवन व्यतीत करता है। जीवन व्यतीत करने की कला ही सर्वश्रेष्ठ कला है। मैं कला के प्रति नहीं, कला के थोथे बड़प्पन के अथवा अकड़ के प्रति आपत्ति उठाता हूँ। दूसरे शब्दों में, मैं यों कहूँ कि मेरे विचार में कला के 'मूल्य' भिन्न हैं।"

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

जीवन अर्थात् मनुष्य में उनकी इस अगाध आस्था का प्रमाण उनकी मान्यताओं से स्पष्ट हो जाता है। सत्य और अहिंसा से भिन्न वे कुछ नहीं थे। सत्य उनके लिए देवता की आराधना का प्रतीक था और अहिंसा मनुष्य में उनकी आस्था का। उनके व्यक्तिगत जीवन में जो स्थान सत्य का था वही स्थान अहिंसा का उनके सार्वजनिक जीवन में था। अर्थात् अपने सार्वजनिक जीवन में उन्होंने एक क्षण के लिए भी मनुष्य में अपनी आस्था को नहीं डिगने दिया। वे अपने-आपमें स्वयं एक आन्दोलन थे। नेता थे। उनका लक्ष्य था स्वराज्य अर्थात् मनुष्य की स्वतन्त्रता।

उनका एक गुण जो विशेष रूप से उल्लेखनीय है, वह है, संवेदना। उनके सम्पर्क में आने वाले प्रत्येक व्यक्ति से, चाहे वह छोटा हो या बड़ा, विरोधी हो या सहयोगी, अधिक-से-अधिक आत्मीयता स्थापित करने की चेष्टा उन्होंने सदा की है। वे सम्बन्धित व्यक्ति की सहज भावनाओं को छूकर उस पर विजय प्राप्त करते थे। वे स्वयं मानव थे, दूसरों को भी मानव स्वीकार करते थे। वे न केवल विशेषणों का ही प्रयोग करते थे अपितु किसी व्यक्ति की दुर्बलता भी उनसे छिपी नहीं रहती थी। सत्य का उपासक व्यक्तित्व का अधूरा चित्रण कर ही नहीं सकता। गाँधी जी ने भारत के तत्कालीन नेताओं का जो तुलनात्मक चित्रण उपस्थित किया है वह उनकी पारदर्शिनी दृष्टि, उनकी विश्लेषण शक्ति, उनकी तीव्र और प्रखर अनुभूति को स्पष्ट करता है। उन्होंने अपने युग के महापुरुषों के साथ-साथ अपने सम्पर्क में आए हुए साधारण-से-साधारण व्यक्ति के बारे में भी लिखा है। गाँधी जी जहाँ पारखी थे, वहाँ विनोदप्रिय भी थे। उन्होंने कहा था कि यदि मैं विनोदप्रिय न होता तो कभी का मर गया होता। उनके लेखन में भी विनोद की फल्गु धारा कहीं-कहीं बड़ी सुन्दरता से उभर उठी है। उन्होंने मीठी चुटकी ली है, लेकिन व्यक्ति के प्रति सहज शिष्टता में कहीं कोई अन्तर नहीं आया। उन्होंने जीना सीखते-सीखते जिलाना सीख लिया था। वे सबसे पहले और सबके अन्त में केवल मनुष्य थे। गाँधी जी का साहित्य मनुष्य की खोज का साहित्य है। इसी कसौटी पर उसको परखा जा सकता है।

गाँधी जी ने शब्दों की मितव्ययिता के बारे में जिस गहराई से सोचा और विचार किया वह अद्भुत है। दूसरे के प्रति भले बनने के लिए हम बहुत बार अत्यधिक मिष्ट भाषा का प्रयोग करते हैं जो सदैव सत्य के अनुरूप नहीं होती। स्वर्गीय के.जी. मश्रूवाला, तत्कालीन सम्पादक 'हरिजन' तथा गाँधी दर्शन के अन्यतम भाष्यकार, ने एक अमरीकी मिशनरी रिचर्ड राल्फ कीथन से, जिन्होंने भारत आगमन के तत्काल बाद भारत को अपना दूसरा घर बना लिया था, किसी समाचार-पत्र के नहीं अपितु एक विचार-पत्र (जैसा कि गाँधी जी अपने साप्ताहिक को कहा करते थे) के सम्पादक के विषाद का जिक्र करते हुए कहा था कि भारतीय संवाददाताओं की यह एक वाहियात आदत होती है कि वे अपने संवाद में अनेक और कभी-कभी भारी-भरकम विशेषणों का प्रयोग करते हैं। पश्चिमी देशों में यह एक खराब शैली समझी जाती है, क्योंकि विशेषण से संज्ञा कमजोर पड़ जाती है किन्तु गाँधीवादी दृष्टिकोण से यह

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

असत्य भाषण का स्पष्ट उदाहरण है। मश्रूवाला ने गाँधी जी के शब्दों को दोहराते हुए कहा—"मैं जितने ही अधिक विशेषणों का प्रयोग करता हूँ अपने लेखों तथा भाषणों में—मैं उतना ही अपने को मिथ्याभाषी अनुभव करता हूँ।" गाँधी जी अलंकारों का सहारा लिए बिना सीधे-सादे गद्य में तथ्यकथन करने में सिद्धहस्त थे। वह सदैव न्यूनोक्ति, विशेषणों को टालने तथा 'लेखन में भद्रता' पर जोर देते थे। उनके एक सहकर्मी श्री चन्द्रशेखर शुक्ल ने उल्लेख किया है कि फरवरी, 1934 में, सलेम स्थित स्वर्गीय श्री विजय राघवाचारी के मकान पर उनकी गाँधी जी ने इसलिए भर्त्सना की थी क्योंकि उन्होंने लन्दन में अगाथा हैरिसन को लिखे अपने साप्ताहिक पत्र 'समाचार' में कोरे तथ्य देने के बजाय शासन की आलोचना की थी। ऐसी समीक्षा को गाँधी जी 'शब्द-चातुर्य' कहते थे। उन्होंने श्री शुक्ल को इसलिए भी फटकारा था कि उक्त पत्र में उन्होंने जवाहरलाल नेहरू के लेख सम्बन्ध में 'ब्रिलिएंट' विशेषण का प्रयोग किया था, जो उनकी नजरों में नेहरू जी को दिया गया एक प्रमाण-पत्र था। गाँधी जी जिस उद्देश्य से लिखा करते थे वह था—"अपने विचारों का प्रसार करना केवल लेखन मात्र नहीं।" किन्तु उनका यह भी कहना था कि : "पाठक उस संयम से अभिज्ञ नहीं हो सकता जिस संयम का प्रयोग मुझे विषयांग तथा शब्दावली चुनने के लिए करना पड़ता है...। बहुधा मेरा दम्भ मुझे इस बात के लिए प्रेरित करता है कि मैं तीखी अभिव्यक्ति का प्रयोग करूँ तथा मेरा आक्रोश मुझे कटु शब्दावली का प्रयोग करने को बाध्य करता है। यह एक अग्नि परीक्षा होती है किन्तु इस घास-पात को निकाल फेंकने की एक अच्छी-खासी कसरत।"

यद्यपि गुजराती और अँग्रेजी को छोड़कर दूसरी भाषाओं में उन्होंने बहुत ही कम लिखा है परन्तु अप्रत्यक्ष रूप से उन्हें प्रभावित अवश्य किया है। उन्होंने कला और साहित्य को ग्रामोन्मुख कर दिया। उन्होंने युद्ध का विरोध करके सब धर्मों की समानता पर जोर दिया। और यही समानता उन्होंने मानव मात्र के लिए अनिवार्य कर दी। उनका युग इसी मानवतावादी कला का प्रतीक है। उनका विचार-दर्शन (अर्थात् साहित्य) व्यक्ति के अपने में डूबकर खोजने का दर्शन है, अधिकारों का नहीं। शिल्पी नन्दलाल बोस से गाँधी जी ने कहा था कि जो मानव संस्कृति का अंग है उन कलाओं को वे हेय दृष्टि से नहीं देखते पर जैसा कि श्री दामोदर दास मून्दड़ा ने लिखा है, उनका संगीत प्रेम और खादी प्रेम एक ही सिक्के के दो पहलू हैं। यह सिक्का है मानव-प्रेम। यही कारण है कि वे सर्वोच्च सौन्दर्य की ओर ले जाने वाली कला को उपयोगिता से अलग नहीं करते। वे प्रेम और सत्य के उत्कृष्ट प्रकटीकरण को ही कला का पूर्ण प्रदर्शन मानते थे। उन्होंने इसे एक स्थान पर बैठकर और सारे कागज सामने रख कर नहीं लिखा है अपनी याददाश्त के आधार पर जैसा प्रसंग याद आ गया लिखा है। भले ही इससे कालक्रम की पूरी रक्षा न हो सकी हो, पर उस युग का इतिहास कहीं खंडित नहीं हुआ है। बल्कि परम्परागत रूढ़िवादी इतिहास से यह सहस्रगुणों में प्रामाणिक और प्रेरक है। उनकी यह आत्मकथा 1920 में समाप्त हो जाती है उसके

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

बाद जनवरी 1948 को शहीद हो जाने तक का उनका जीवन खुली किताब की तरह है।

आत्मकथा के अतिरिक्त उनकी अन्य उल्लेखनीय रचनाओं में आती हैं :

(1) दक्षिण अफ्रीका के सत्याग्रह का इतिहास, (2) अनासक्ति योग, (3) गीता बोध, (4) आरोग्य की कुंजी, (5) सर्वोदय, (6) मेरे जेल के अनुभव, (7) यरवडा के अनुभव, (8) सत्याग्रह आश्रम का इतिहास, (9) रचनात्मक कार्यक्रम, (10) हिन्द स्वराज, (11) मंगल प्रभात, (12) आश्रमवासियों से। उपर्युक्त सभी रचनाएँ प्रायः पुस्तक रूप में ही लिखी गईं, यद्यपि इनका सृजन एक ही समय में नहीं हुआ।

उनकी सत्याग्रही कार्य-पद्धति को समझने के लिए उनकी संस्मरणात्मक रचनाओं में 'मेरे जेल के अनुभव' और 'यरवडा के अनुभव' में उन्होंने दक्षिण अफ्रीका की जेल-यात्रा के समय जो अनुभव प्राप्त किए उनका बड़ा सहज और मार्मिक वर्णन किया है। छोटी-से-छोटी और साधारण-से-साधारण बात भी उनकी प्रेम प्लावित दृष्टि से नहीं बच सकी है। प्रत्येक घटना का उन्होंने सूक्ष्मातिसूक्ष्म विश्लेषण किया है। सत्य का शोधक ऐसी लापरवाही कर ही नहीं सकता। इस पुस्तक की भूमिका में उन्होंने एक महत्त्वपूर्ण बात कही है, 'मुझे हमेशा एक ही रूप में दिखाई देने क़ी कोई परवाह नहीं। सत्य की अपनी खोज में मैंने बहुत से विचारों को छोड़ा है और अनेक नई बातें सीखा भी हूँ। उम्र में भले ही मैं बूढ़ा हो गया हूँ, लेकिन मुझे ऐसा नहीं लगता कि मेरा आन्तरिक विकास होना बन्द हो गया है या देह छूटने के बाद मेरा विकास बन्द हो जाएगा। मुझे एक ही बात की चिन्ता है और वह है प्रतिक्षण सत्य नारायण की वाणी का अनुसरण करने की मेरी तत्परता..."

'यरवडा के अनुभव' में गाँधी जी ने भारत की अपनी प्रथम जेल यात्रा (1922) के अनुभवों का वर्णन किया है। इस छोटी-सी पुस्तिका में एक आदर्श सत्याग्रही कैदी के रूप में गाँधी जी के दर्शन होते हैं। इसमें उन्होंने जेल अधिकारियों, कैदी वार्डरों, सत्याग्रही कैदियों तथा अपने अध्ययन के बारे में अत्यन्त दिलचस्प बातें तफसीलवार लिखी हैं। प्रारम्भ में इसमें उन पर चलाए गए मुकदमे की पूरी कार्यवाही और अन्त में अधिकारियों के साथ हुआ उनका पत्र-व्यवहार भी सम्मिलित कर लिया गया है।

'सत्याग्रह आश्रम का इतिहास' इन रचनाओं से कुछ भिन्न है। उनके लिए आश्रम का अर्थ सामूहिक धार्मिक जीवन रहा। किस प्रकार उनके मन में इसकी कल्पना का उदय हुआ और कैसे-कैसे इसका विकास हुआ यह संक्षेप में बताने के बाद सत्याग्रह आश्रम, साबरमती की स्थापना, विकास और उसमें होने वाली विविध प्रवृत्तियों का परिचय दिया गया है। सत्य, अहिंसा, प्रार्थना, ब्रह्मचर्य से लेकर खेती और गौ सेवा को व्यावहारिक जीवन से जोड़ने में क्या क्या अनुभव हुए, उनका बड़ा ही मार्मिक वर्णन गाँधी जी ने किया। चोर और उनके लिए पहरा तथा आश्रम में होने वाली खुशी और दुःख के प्रकरण जितने दिलचस्प हैं, उतने ही हिन्दुस्तान के नवनिर्माण के खयाल से महत्त्व के हैं। काका साहेब कालेलकर के शब्दों में, 'इस

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

पुस्तक को भूतकाल के एक बोधप्रद प्रयोग के बयान के रूप में नहीं देखना चाहिए, बल्कि राष्ट्रपिता द्वारा आने वाले 500 वर्षों की राष्ट्रीय साधना के लिए किए गए एक स्फूर्तिदायक प्रयोग के रूप में इसका अध्ययन करके संकल्प बल प्राप्त करने के लिए, इस इतिहास का अध्ययन होना चाहिए।"

आश्रमवासियों के लिए गीता का अर्थ सुगम करने के उद्देश्य से उन्होंने उसके प्रत्येक अध्याय का सरल भाषा में जो सार प्रस्तुत किया है, वह 'गीता बोध' के नाम से प्रकाशित हुआ है। इसके अतिरिक्त गीता के भक्ति प्रधान श्लोकों का भी अलग से संग्रह किया है जो 'गीता प्रवेशिका' के नाम से प्रसिद्ध है। अपनी दृष्टि से गीता को सबके लिए सहज-सुगम बनाने में उन्होंने कोई कसर नहीं उठा रखी। यहाँ तक कि गीता के शब्दों का अर्थ सहित स्थल निर्देश करते हुए, 'गीता पदार्थ कोष' की भी रचना उन्होंने की है।

वे यह अच्छी तरह जानते थे कि शिक्षा का आरम्भ बच्चों से होता है। उनसे माँग की गई कि उन्हें कैसी पुस्तकें पढ़ाई जानी चाहिए तो उन्होंने अपने जेल प्रवास में 12 पाठों वाली एक छोटी-सी बाल पोथी तैयार कर दी। जैसा कि हो सकता था इस पोथी की रचना उन्होंने व्यावहारिक दृष्टि से की, सिद्धान्त की दृष्टि से नहीं। सही शब्दों के सही प्रयोग पर उन्होंने विशेष बल दिया। यह पोथी शिक्षकों के लिए है। उन्हीं के शब्दों में, 'सच पूछा जाए तो मेरी बाल पोथी शिक्षकों के लिए है। शिक्षक मुँह से ही शिक्षा दें, पुस्तकों द्वारा शिक्षा न दी जाए। जिस देश में शिक्षा की पाठ्यपुस्तकों का ढेर है उस देश के बालकों के दिमाग में क्या भरा जाता है, शायद भूत ही भरा जाता होगा। वहाँ बालकों की विचार शक्ति नष्ट हो जाती है।"

गाँधी जी जब यरवडा जेल में थे तब नियम से आश्रमवासियों को साप्ताहिक प्रवचन लिख भेजा करते थे उसी का सुफल हैं–ये दो पुस्तकें 'मंगल प्रभात' और 'आश्रमवासियों से'। सन् 1930 में उन्होंने अपने प्रवचनों में व्रतों की व्याख्या की थी और समझाया था कि यदि ईश्वर की झाँकी प्राप्त करनी है तो शरीर जाए या रहे धर्म का पालन करना ही है ऐसा भव्य निश्चय करना होगा। 'मंगल प्रभात' में उन्हीं व्रतों की चर्चा है। 1932 के प्रवचनों में आश्रम जीवन के विषय में छुटपुट विचारों की चर्चा की है जिसमें 'आकाश दर्शन' जैसे विषय भी हैं। वे लिखते हैं–'आकाश जैसा स्वच्छ है वैसे हम स्वच्छ हों, तारे जैसे तेजस्वी हैं वैसे तेजस्वी हों। वे जैसे ईश्वर का मूक स्तवन करते जान पड़ते हैं वैसे हम करें। वे जैसे अपना रास्ता एक क्षण के लिए भी नहीं छोड़ते वैसे हम भी अपना कर्तव्य न छोड़ें।"

गाँधी जी का विपुल साहित्य उन असंख्य लेखों के रूप में बिखरा हुआ है जो वे अपने पत्रों के लिए निरन्तर लिखा करते थे। उनका अध्ययन किए बिना गाँधी साहित्य की भूमिका को समझना असम्भव जैसा है। वे अपने समस्त लिखे या बोले साहित्य के प्रकाशन का अधिकार नवजीवन ट्रस्ट, अहमदाबाद को दे गए हैं। उसने उनके लेखों के जो संग्रह प्रकाशित किए हैं उनमें उल्लेखनीय हैं : (1) अहिंसक

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

समाजवाद की ओर (2) अहिंसा का पहला प्रयोग (3) आर्थिक और औद्योगिक जीवन : उनकी समस्याएँ और हल (4) कुदरती उपचार (5) खादी क्यों और कैसे (6) खुराक की कमी व खेती (7) गाँधी जी की अपेक्षा (8) गौ सेवा (9) ग्राम स्वराज्य (10) नई तालीम की ओर (11) प्रजातन्त्रः सच और झूठा (12) बापू की कलम से (हिन्दी के मूल लेख) (13) मेरा धर्म (14) मेरे सपनों का भारत (15) मोहन माला (16) राम नाम (17) राष्ट्रभाषा हिन्दुस्तानी (18) विद्यार्थियों से (19) शिक्षा की समस्याएँ (20) सच्ची शिक्षा (21) सत्य ही ईश्वर है (22) सर्वोदय (23) स्त्रियाँ और उनकी समस्याएँ (24) हम सब एक पिता की सन्तान (25) हमारे गाँवों का पुनर्निर्माण।

इनके विषय इनके शीर्षकों से सहज ही समझ में आ सकते हैं। अपवाद स्वरूप केवल दो पुस्तकें हैं—'बापू की कलम से' और 'हम सब एक पिता की सन्तान'। गाँधी जी ने अपनी सारी रचनाएँ प्रायः अँग्रेजी और गुजराती में लिखी हैं। हिन्दी में जो थोड़े से लेख और टिप्पणियाँ लिखीं उनका संग्रह 'बापू की कलम से' नामक पुस्तक में किया गया है। इसका महत्त्व गाँधी जी की हिन्दी शैली को समझने में अधिक है। काका साहब कालेलकर जी के शब्दों में, "अगर गाँधी जी के विचारों में और विचार-शैली में सत्य की सरलता है, युग-दृष्टि को साफ करने की क्षमता है और मानव कल्याण की भावुकता है तो उनकी शब्दावली, उनकी वाक्य-रचना और उनके बनाए हुए मुहावरे परिचित होने पर भी किसी को बेढंगे नहीं लगेंगे, बल्कि अनुकरणीय और आदरणीय लगेंगे। भाषा ऐसे ही बनती है। समर्थ समाज सेवक, तेजस्वी लोकनेता और जनता प्रिय साहित्य स्वामी जो भाषा लिखते हैं, वही प्रचलन पाती है और सर्वमान्य होती है।"

"हम सब एक पिता की सन्तान" में गाँधी जी के विभिन्न विषयों पर लिखे हुए कुछ ऐसे चुने हुए सुन्दर लेखों का संग्रह किया गया है जो उनका सही-सही प्रतिनिधित्व कर सकते हों और जिनके द्वारा उनके विचारों, कार्यों और कार्य-पद्धति को समझा जा सके। संयुक्त राष्ट्रसंघ की एक समिति यूनेस्को को संसार की आज की विषम परिस्थिति में गाँधी जी के कार्य और सन्देश का इतना अधिक महत्त्व लगा कि उसने इन दोनों का परिचय जगत् को कराने के आशय से गाँधी जी के वचनों से कुछ महत्त्वपूर्ण वचन चुनकर 'आल मैन आर ब्रदर्स' नामक एक अँग्रेजी संग्रह प्रकाशित किया। उसी का यह हिन्दी अनुवाद है।

"मेरे समकालीन' एक और ही कारण से उल्लेखनीय रचना हो गई है। अपने व्यस्त जीवन में अनेक कारणों से गाँधी जी ने अनेक व्यक्तियों के बारे में लिखा है। साधारणतः वे अपने सहयोगियों के बारे में लिखते रहे। कभी उन्हें श्रद्धांजलियों के रूप में लिखना पड़ा। कभी किन्हीं शंकाओं के निराकरण और समाधान करने के लिए भी उन्हें लिखना पड़ता था। अपने आन्दोलनों में भाग लेने वालों या उनका विरोध करने वालों के विषय में भी उन्होंने बार-बार लिखा है। उनके सारे साहित्य में सुन्दर चित्र

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

बिखरे पड़े हैं। उन्हीं में से 250 से कुछ अधिक चित्रों का संग्रह 'मेरे समकालीन' में संकलित हुआ है। उन्होंने स्वयं कहा है, 'मेरे सारे कार्यों का जन्म मानव-जाति के प्रति रहे मेरे अखंड और अविच्छिन्न प्रेम से हुआ है'। गाँधी जी का साहित्य मानव-जाति के प्रति इसी अखंड और अविच्छिन्न प्रेम का साहित्य है। यह प्रेम उनके सत्य की उस शोध से अलग नहीं जिसके लिए वे जीते थे।

पत्र-साहित्य का अपना महत्त्व है। गाँधी जी के सन्दर्भ में वह और भी महत्वपूर्ण हो उठा है। न जाने किस-किसको किन-किन विषयों के सम्बन्ध में उन्होंने लिखा है। जैसे आकाश की कोई सीमा नहीं वैसी ही स्थिति है इन पत्रों की। जो शब्द मीरा बहन ने उन्हें प्राप्त पत्रों के बारे में लिखे हैं वे उनके सभी पत्रों के बारे में कहे जा सकते हैं। इन पत्रों में बापू के जीवन के पिछले बाईस वर्षों का प्रतिबिम्ब है। सबको दिखाई देने वाला भव्य और नाटकीय बाह्य जीवन नहीं बल्कि वह आन्तरिक व्यक्तिगत जीवन जो बाहरी दुनिया के तमाम बखेड़ों से प्रभावित हुए बिना आध्यात्मिक खोज के अपने सन्तुलित और सीधे मार्ग पर चलता रहा। नवजीवन ट्रस्ट अहमदाबाद ने ऐसे सात संग्रह प्रकाशित किए हैं—(1) आश्रम की बहनों से, (2) सरदार वल्लभ भाई के नाम (3) कुसुम बहन देसाई के नाम, (4) मणिबहन पटेल के नाम, (5) कुमारी प्रेमा बहन कंटक के नाम, (6) बीबी अमतुस्सलाम के नाम (7) मीरा के नाम। सस्ता साहित्य मंडल ने भी 'बापू के पत्र जमनालाल जी के नाम' तथा 'गाँधी जी की छत्र छाया में' घनश्यामदास बिड़ला के नाम पत्र—इस प्रकार से दो संग्रह प्रकाशित किए हैं।

अनुवाद भी उन्होंने किए परन्तु जो अर्थ हम अनुवाद का समझते हैं वैसे अनुवाद नहीं। सार रूप में स्वतन्त्र रूप में अपने परिवेश की पृष्ठभूमि पर ही आधारित करके उन्होंने जो उन्हें अच्छा लगा उसे स्वीकार किया। रस्किन के 'अन टू दिस लास्ट' की चर्चा आ चुकी है। यूनान के सुप्रसिद्ध दार्शनिक सुकरात ने अपने मुकदमे में अपनी सफाई में जो भाषण दिया था उसे उन्होंने सार रूप में, 'एक सत्यवीर की कथा' अथवा 'सुकरात की सफाई' के नाम से प्रस्तुत किया। इस प्रकार तोलस्तोय की सुप्रसिद्ध कहानी 'मूरखराज' का अनुवाद भी उन्होंने किया था। उन्होंने लिखा है, इस कहानी का शब्दार्थ अनुवाद नहीं किया है बल्कि उसका रहस्य ठीक-ठीक समझ में आ जाए और अपनी भाषा में ठीक लगे इस प्रकार लिखने का प्रयत्न किया है। नाम-वाम भी बदल दिए हैं। एक और पुस्तक है नीति धर्म। मि. साल्ट नामक एक अमरीकी विद्वान की पुस्तक के आधार पर उन्होंने इसकी रचना की है। वे धर्म और नीति अलग नहीं मानते थे। धर्म ही नीति है। नीति को धर्म के अनुसार होना चाहिए। नीति और सच्ची सफलता तथा सच्ची उन्नति सदा एक साथ देखने में मिलती हैं यही पुस्तक का सार है। इसकी रचना उन्होंने हिन्दुस्तान आने से पूर्व दक्षिण अफ्रीका में की थी।

यह है उनके विपुल साहित्य की अत्यन्त संक्षिप्त रूपरेखा, लेकिन 1888 से लेकर 1948 के 60 वर्ष के अपने सार्वजनिक जीवन में उन्होंने लेखों और पत्रों के रूप में जो कुछ लिखा और भाषण सन्देश के रूप में जो कुछ कहा उस सबको एकत्र

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

करके और पूरे-पूरे तथा तिथिक्रम से प्रकाशित करने का प्रयत्न भारत सरकार के सूचना और प्रसारण मन्त्रालय ने उनके जीवन के किसी भी काल के कहीं भी उपलब्ध समूचे साहित्य को 'सम्पूर्ण गाँधी वाङ्मय' शीर्षक के अन्तर्गत प्रकाशित करने का आयोजन किया। यह आयोजन उसी के शब्दों में—"राष्ट्र स्वातन्त्र्य शिल्पी के प्रति राष्ट्र का ऋण चुकाने की भावना मात्र से नहीं किया बल्कि इस दृढ़ विश्वास से किया है कि भावी पीढ़ियों के लिए उन महात्मा के तमाम भाषणों, लेखों और पत्रों को एक स्थान पर एकत्र करके छाप रखना जरूरी है।"

डा. राजेन्द्र प्रसाद के शब्दों में कहा जा सकता है : "अगर कभी कोई ऐसा पुरुष हुआ जिसने जीवन को सम्पूर्ण रूप में देखा और जिसने अपने-आपको सम्पूर्ण मानव जाति की सेवा में निछावर कर दिया तो वह निश्चय ही गाँधी जी थे। उनका उद्देश्य किसी जीवन-दर्शन का विकास करना या मान्यताओं अथवा आदर्शों की प्रणाली निर्मित करना नहीं था... तथापि सत्य अहिंसा में उनका दृढ़ विश्वास था और जो समस्याएँ उनके सामने आईं उनमें इनके व्यावहारिक प्रयोग को ही उनकी शिक्षा और जीवन-दर्शन कहा जा सकता है।

उनका सम्पूर्ण साहित्य इसी जीवन-दर्शन से ओतप्रोत है। उन्होंने सहज को साध लिया था, इसलिए उनके विचारों में आश्चर्यजनक ताजगी है। गाँधी नीति के एक और व्याख्याता श्री हरिभाऊ उपाध्याय के शब्दों में, "जैसे नगाधिराज हिमालय की रम्य पर्वत श्रेणियाँ ज्यों-ज्यों उनके अन्दर प्रवेश करते हैं और ऊपर चढ़ते हैं, एक के बाद एक हमारे मन को मोह लेती हैं और उत्तरोत्तर आकर्षण का केन्द्र बनती जाती हैं, त्यों-त्यों बापू का साहित्य हमें मनमोहक, अलंघ्य, नित्य नवीन स्फूर्ति देने वाला लगता जाता है।"

गाँधी जी का विकास एक परम्परागत साहित्यिक के रूप में नहीं हुआ। इस दृष्टि से तो केवल उनकी आत्मकथा और कुछ दूसरे संस्मरणात्मक ग्रन्थ ही इस 'श्रेणी' में आ सकते हैं। उनका विपुल साहित्य तो समय-समय पर लिखे गए नीतिपरक लेखों, पत्रों के उत्तरों और भाषणों के रूप में बिखरा पड़ा है। गाँधी नीति के प्रसिद्ध व्याख्याता आचार्य जे.बी. कृपलानी के शब्दों में कहें तो एक लेखक के रूप में गाँधी जी ने अपनी मातृभाषा गुजराती और अँग्रेजी में भी एक विशिष्ट साहित्यिक शैली का निर्माण किया है। वह शैली सरल, विशद एवं सब प्रकार के आडम्बर या अलंकार से रहित है। उन्होंने जो कुछ लिखा है वह सब प्रायः दीन, दलित एवं समाज के निम्न वर्ग के लोगों को उद्दिष्ट करके लिखा है। उन्होंने राजाओं, महाराजाओं, राजकुमारों, शासकों या धनिकों के क्रियाकलापों को लेकर किसी नाटक, उपन्यास, या कहानी की रचना नहीं की। उनके लेखों की विषयवस्तु आध्यात्मिक होने पर भी उसमें किसी देवी देवता या किसी धर्म या सम्प्रदाय के सिद्धान्तों की चर्चा नहीं रहती।

गाँधी जी को अभिवादन करते हुए हिन्दी के वरिष्ठ लेखक एवं चिन्तक डॉ. हजारी प्रसाद द्विवेदी जी लिखते हैं कि जीवविज्ञान और मनोविज्ञान आदि शास्त्रों ने

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

मनुष्य की एकरूपता को अच्छी तरह प्रमाणित कर दिया है, लेकिन सामाजिक रीति-नीति और संस्कारों के अध्ययन से मनुष्य की दृष्टि और भी उदार बनेगी और देश तथा काल की सीमा को लाँघकर सौन्दर्य और माधुर्य का रस ले सकने की सामर्थ्य इस मानवीय संस्कृति की नींव को मजबूत करेगी। आज भी ऐसे महामानव मिल जाते हैं जो देश और काल की संकीर्ण सीमाओं को भेद कर यथार्थ मानव धर्म को समझ लेते हैं। हमारे देश के रवीन्द्रनाथ और गाँन्धी जी ऐसे ही नर-रत्न थे। (हजारी प्रसाद द्विवेदी ग्रन्थावली खंड 7, प्रकाशक राजकमल प्रकाशन, प्रथम संस्करण 1999, पृष्ठ 578, मूल्य 150, वर्तमान सन्दर्भ पृष्ठ 139)

गाँधी चिन्तन के प्रभाव एवं प्रवाह को अपने में समा कर चलने वाली तीन-तीन पीढ़ियों का साहित्य के क्षेत्र में जो योगदान है वह अविस्मरणीय है। गाँधी जी की निगाहों में साहित्य की ताकत जीवन की ताकत के समान सत्य ही रही। सत्य को उन्होंने ईश्वर का रूप माना। ईश्वर सत्य है इस अपनी शोधयात्रा का अगला पड़ाव उन्हें इसीलिए सत्य ही ईश्वर है इस रूप में साक्षात्कृत होते हुए दिखाई दिया। साहित्यिक अपनी दृष्टि से सत्य को परखता है, उसका अनुभव करता है और उसे अभिव्यक्ति प्रदान करता है। रसिक से मान्यता प्राप्त करता है। रसिकमान्य साहित्य सफल साहित्य कहलाता है अपने साथी के सम्बन्ध में एकात्मकता का विचार ही साहित्य का विचार जब होता है तब अहिंसा धर्म का उद्घोष किया जा सकता है। गाँधी जी ने सत्य और अहिंसा के माध्यम से ही साहित्य निर्मिति के विचार को पुष्टि प्रदान की है। वे साहित्य को सत्य और धर्म का सारांश मानते रहे। वे चाहते थे कि जीवन का सत्य साहित्य के माध्यम से जन-जन तक पहुँचे। आम आदमी तक पहुँचने वाला साहित्य ही कालजयी होता है। आसान, सरल, सादगी भरा और अनलंकृत सत्य ही जीवन और साहित्य की चेतना को स्पर्श कर सकता है यह उनकी मान्यता थी। वे कहते हैं कि ऋजु एवं निर्मल अन्तःकरण से निःसृत साहित्य की धारा गंगा के प्रवाह के समान जन-जन का हित कर सकती है। ऐसी भाषा में साहित्यिक का अन्तःकोष खुलता है। साहित्य में न केवल आसान भाषा की आवश्यकता होती है अपितु उसमें तलस्पर्शी चिन्तन होता है। मन की मन से की गई बात होती है। साहित्य में लेखक का हृदय पारदर्शिता से भरपूर होना आवश्यक है। साहित्य आम आदमी के मन-मस्तिष्क को सिंचित करने वाला हो यह गाँधी जी के चिन्तन का प्रमुख अंग है। गाँधी चिन्ता और चिन्तन की आधार भूमि साहित्य का जनमान्य होना है। उनके द्वारा की गई साहित्य सेवा अनेक अर्थों में विशिष्ट मानी जा सकती है। आज पूरी दुनिया में गाँधी जी प्रासंगिकता सिद्ध हुए हैं। अमरिका के अध्यक्ष बराक ओबामा भी डंके की चोट पर इस बात को कहते हैं कि वे गाँधी जी के पुण्य के कारण राष्ट्रपति के पद पर आसीन हैं। आज सर्वत्र गाँधी विचार को अलग-अलग कोणों से समझने की होड़ है। इस क्रम में गाँधी जी के साहित्य के सम्बन्ध में सोचा जाना अत्यन्त आवश्यक कदम है।

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

गाँधी के अधूरे भाषण की याद में

राजीव रंजन गिरि*

1915 में गाँधीजी दक्षिण अफ्रीका से स्वदेश लौटे। उनके राजनीतिक गुरु गोपालकृष्ण गोखले ने सुझाव दिया कि भारत आकर शीघ्रता में कोई काम शुरू न करें। एक साल तक अपनी आँख और कान तो खुला रखें, लेकिन मुँह बन्द। गोखले जी चाहते थे कि गाँधी भारत-भ्रमण करें। देश की परिस्थितियों का अध्ययन करें। चुपचाप देश की वास्तविकता समझें। मुल्क के लोगों की मनोभूमि पढ़ें। उसके बाद सार्वजनिक सवालों पर, खासकर राष्ट्रीय स्वाधीनता आन्दोलन के बारे में, अपनी राय बनाएँ और अपने आगामी कार्यकलापों की रणनीति भी। दक्षिण अफ्रीका के सत्याग्रह और उसमें गाँधीजी की भूमिका से गोखले भली-भाँति अवगत थे। वे गाँधीजी की प्रतिबद्धता से भी परिचित थे।

फिर ऐसा सुझाव क्यों दिया गोपालकृष्ण गोखले ने? क्या गोखले को यह लगता था कि उनके शिष्य के मन में भारत-दुर्दशा की जो धारणा है, वह वास्तविकता से दूर है? अथवा यह कि गाँधी की राह भारत के लिए उपयुक्त नहीं? अथवा यह कि भारत के लोग गाँधी-मार्ग पर चलने के लिए तैयार नहीं? अथवा यह कि गाँधी के रास्ते भारत की मुक्ति मुमकिन नहीं? या इन सभी कयासों के रसायन से बना था गोखले का सुझाव।

भारत को लेकर गाँधीजी ने जो धारणा 'हिन्द स्वराज' में जाहिर की थी, तत्कालीन अधिकतर बुद्धिधर्मियों की भाँति गोखले जी भी उससे सहमत नहीं थे। तत्कालीन सभ्यता की समीक्षा कर गाँधीजी जो यूटोपिया दिखा रहे थे, उसने गोखले को सुझाव के लिए प्रेरित किया था। गोखले जी का अनुमान था कि साल भर भ्रमण और लोगों से मिलजुल कर, हकीकत जानने के बाद, गाँधी अपनी मान्यताओं

*राजीव रंजन गिरि, हिन्दी विभाग, राजधानी कॉलेज, दिल्ली विश्वविद्यालय, राजा गार्डन, नई दिल्ली-110015; एवं मानक सम्पादक, अंतिम जन गाँधी स्मृति एवं दर्शन समिति, राजघाट, नई दिल्ली-2; मो. 9868165701

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

पर पुनर्विचार करेंगे। अपनी धारणा बदलेंगे। जाहिर है यूटोपिया बदलेगा, 'हिन्द स्वराज' में निहित विचार भी।

इस दौरान गाँधीजी देश के विभिन्न हिस्सों में गए। कई जगह उनके सम्मान में आयोजन हुए। भिन्न-भिन्न तरह के कार्यक्रमों में शरीक हुए। लोगों से संवाद किया। कुछेक भाषण भी किए। इसी क्रम में महात्मा मुंशीराम से जो स्वामी श्रद्धानन्द के नाम से लोकप्रिय हैं, और कविगुरु रवीन्द्रनाथ ठाकुर से भी मिले। 1 मार्च 1915 को गाँधी जी कोलकाता स्थित कॉलेज स्कूवेयर के विद्यार्थी भवन में, पी.सी. लायन्स की सदारत में आयोजित एक बड़ी सभा में भाषण के दौरान, अपने गुरु के 'आदेश' का स्मरण करते हुए कहा कि मैं इस सभा में भाषण देने का लोभ संवरण नहीं कर सका।

2 फरवरी 1916 को महामना मदनमोहन मालवीय के निमन्त्रण पर गाँधीजी बनारस पहुँचे। काशी नागरी प्रचारिणी सभा के बाइसवें वार्षिकोत्सव में भी शामिल हुए। काश्मीर के महाराजाधिराज के सभापतित्व में सम्पन्न इस समारोह में गाँधी जी ने भारतीय भाषाओं की असीम उन्नति की जरूरत पर बल दिया। युवकों से हिन्दी में पत्र-व्यवहार करने का आग्रह किया। अँग्रेजी जानने वालों से आग्रह किया कि वे 'अँग्रेजी के उस विचार और नए खयाल के सब लोगों के सामने रखें।'

अगले दिन 4 फरवरी 1916 को बनारस हिन्दू विश्वविद्यालय का उद्घाटन हुआ। कार्यक्रम में वायसराय भी शामिल हुए थे। दरभंगा के राजा सर रामेश्वर सिंह की अध्यक्षता में सम्पन्न समारोह में मालवीय जी के 'विशेष आग्रह' पर गाँधीजी ने भाषण दिया। इस ऐतिहासिक भाषण से गाँधी जी का महामौन टूटा।

साल भर के देश-भ्रमण के दरम्यान गाँधीजी ने जो मौन रखा था, वह ऋषियों का समाधिस्थ मौन नहीं था, जिसमें एक जगह बैठकर अन्तःप्रज्ञा का अभिज्ञान किया जाता है। गाँधी ने इस कालखण्ड में खूब यात्राएँ की। हर क्षेत्र के लोगों से मिले। साहित्य, राजनीति, धर्म, अध्यात्म, समाज सुधार जैसे सार्वजनिक क्षेत्रों में काम कर रहे सचेत लोगों के साथ चर्चाएँ की। उनके विचारों को जाना, सुना और गुना। योगी की समाधि से गाँधी की यह यात्राकांलीन/भ्रमण/चल समाधि इस रूप में भिन्न है। कारण कि इसमें लोगों से लगातार संवाद किया गया था। पर साथ ही उनके भीतर अन्तःसलिला की तरह विचार-चेतना प्रवाहित हो रही थी। कुछ छूट रहा था तो कुछ जुट रहा था। घटाव और जोड़ चल रहा था। योगी की समाधि में भी यही होता है। भीतर के उथल-पुथल के बगैर समाधि सम्भव नहीं। ऊपर शान्त-प्रशान्त और अन्तर्जगत में अन्तःसलिला। जब चरम पर पहुँचता है समाधिस्थ तो अन्दर भी प्रशान्त हो जाता है।

यह भाषण इस मायने में भी ऐतिहासिक महत्त्व का था कि इसमें गाँधीजी ने अपनी धारणा मजबूती के साथ जाहिर की। मंच पर मौजूद एनी बेसेंट को गाँधीजी की बातें आपत्तिजनक महसूस हुईं। उन्होंने गाँधीजी को भाषण शीघ्र समाप्त करने के

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

लिए कहा। गाँधीजी ने अध्यक्ष से पूछा कि अगर 'आपकी समझ में मेरी इन बातों से देश और साम्राज्य को हानि पहुँच रही है तो मुझे अवश्य चुप हो जाना चाहिए।' अध्यक्ष ने गाँधीजी को अपने कथन का आशय स्पष्ट करने के लिए कहा। गाँधीजी अपनी बात साफगोई से कह रहे थे, परन्तु एनी बेसेंट मंच से उठकर चली गई। साथ में कई गणमान्य भी चले गए। नतीजतन गाँधीजी का भाषण अधूरा रह गया।

एक साल भारत-भ्रमण और लोगों से संवाद के पश्चात्, राष्ट्र और राष्ट्रीय आन्दोलन के बारे में, गाँधीजी ने युवाओं की मौजूदगी में अपने विचार साझा किये तो एनी बेसेंट सरीखे तत्कालीन नेतृत्व को पसन्द नहीं आया। आखिरकार क्या था इस भाषण में? जिसके बारे में गाँधीजी ने कहा था कि 'आज मैं भाषण नहीं देना चाहता, श्रव्य रूप में सोचना चाहता हूँ। यदि आज आपको ऐसा लगे कि मैं असंयत होकर बोल रहा हूँ तो कृपया मानिए कि कोई आदमी जोर-जोर से बोलता हुआ सोच रहा है और वही आप सुन पा रहे हैं। और यदि आपको ऐसा जान पड़े कि मैं शिष्टाचार की सीमा का उल्लंघन कर रहा हूँ तो कृपया उस स्वच्छन्दता के लिए आप मुझे क्षमा करेंगे।'

गाँधीजी ने कहा कि इस पवित्र नगर में, महान विद्यापीठ के प्रांगण में, अपने देशवासियों से एक विदेशी भाषा में बोलना शर्म की बात है। विश्वविद्यालय के उद्घाटन समारोह में जिन लोगों ने गाँधीजी से पूर्व अँग्रेजी में अपना भाषण दिया था, उन लोगों को शायद ही यह अनुमान था कि विदेशी भाषा में बोलना शर्म-सरीखा है। कहना तो यह होगा कि ज्ययादातर लोग अँग्रेजी में बोलना गौरव की बात मानते रहे हैं। इसे गुमान समझते हैं। गाँधीजी इस गुमान को शर्म बता रहे थे। इन्होंने आशा प्रकट की कि बनारस हिन्दू विश्वविद्यालय में विद्यार्थियों को उनकी मातृभाषा के माध्यम से शिक्षा देने का प्रबन्ध किया जाएगा। अगर ऐसा नहीं होता तो बकौल गाँधीजी 'हमारी भाषा पर हमारा ही प्रतिबन्ध है और इसलिए यदि आप मुझसे यह कहें कि हमारी भाषाओं में उत्तम विचार अभिव्यक्त किए ही नहीं जा सकते, तब तो हमारा संसार से उठ जाना अच्छा है।' यह भाषण एक सदी पहले दिया गया था। आज भी ऐसा सोचने-माननेवाले मिलते हैं, जो अपने विचारों की अभिव्यक्ति के लिए भारतीय भाषाओं को तंग बताते हैं। गाँधी के लिए ऐसा सोच अपनी भाषाओं पर प्रतिबन्ध सरीखा था।

गाँधीजी ने वहाँ उपस्थित लोगों से प्रश्न किया कि क्या कोई स्वप्न में भी यह सोच सकता है कि अँगरेजी भविष्य में किसी भी दिन भारत की राष्ट्रभाषा हो सकती है? श्रोताओं ने 'नहीं, नहीं' कहकर जवाब दिया। यह उत्तर सुनकर गाँधीजी ने पूछा कि 'फिर राष्ट्र के पाँवों में यह बेड़ी किसलिए?'

उन्होंने कहा कि 'भारत के अँगरेजीदाँ ही देश की अगुवाई कर रहे हैं और वे ही राष्ट्र के लिए सब-कुछ कर रहे हैं।... मान लीजिए हमने पिछले पचास वर्षों में

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

अपनी-अपनी भाषाओं के जरिए शिक्षा पाई होती, तो हम आज किस हालत में होते?' इस प्रश्न का स्वयं जो उत्तर दिया, वह ध्यान देने योग्य है, कि आज भारत स्वतन्त्र होता, हमारे पढ़े-लिखे लोग अपने ही देश में विदेशियों की तरह अजनबी न होते, बल्कि देश के हृदय को छूनेवाली वाणी बोलते; वे गरीब-से-गरीब लोगों के बीच काम करते और पचास वर्षों की उनकी उपलब्धि पूरे देश की विरासत होती।

गाँधीजी ने यहाँ तक कहा कि आज तो हमारी अर्धांगिनियाँ भी हमारे श्रेष्ठ विचारों की भागीदार नहीं हैं। अँग्रेजी शिक्षा ने पति-पत्नी के विचारों के बीच बड़ी खाई पैदा की थी। उस दौर में देश की अगुवाई करने वाले पुरुष तो अँग्रेजी शिक्षा में दीक्षित थे, परन्तु स्त्रियाँ इससे वंचित थीं। वनस्पतिशास्त्री सर जगदीश चन्द्र बोस और रसायन शास्त्री पी.सी. रॉय तथा उनके शानदार आविष्कारों का हवाला देकर गाँधीजी ने पूछा कि क्या यह लज्जा की बात नहीं है कि जनता का उनसे कुछ लेना-देना नहीं।

गाँधीजी ने भारत की ख्याति का कारण आध्यात्मिकता को बताया। इस क्षेत्र में भारत की कोई सानी नहीं है, ऐसा कहा। पर साथ में यह भी कहा कि बातें बघार कर आध्यात्मिकता का सन्देश नहीं दिया जा सकता। ऐसा सन्देश केवल वक्तव्यों के माध्यम से नहीं दिया जा सकता। हालाँकि गाँधीजी ने यह माना कि हम भाषण देने की कला के लगभग शिखर पर जा पहुँचे हैं; पर यह पर्याप्त नहीं। गाँधीजी के अनुसार, 'अब हमारे मनों में स्फुरण होना चाहिए और हाथ-पाँव हिलने चाहिए।' बनारस हिन्दू विश्वविद्यालय के इस समारोह में कहा गया था, जिसकी याद गाँधीजी ने भी दिलाई कि 'भारतीय जीवन की सादगी कायम रखनी है तो हमें अपने हाथ-पाँव और मन की गति में सामंजस्य लाना आवश्यक है।' यह मूल सवाल है। विचार की दिशा में हाथ-पाँव का हिलना। सोच की दिशा में कदम बढ़ाना। कर्म को शब्द के निकट ले जाना और इनमें सामंजस्य स्थापित करना। तभी विचार श्रोताओं के हृदय को छूने में सफल हो सकते हैं।

बनारस हिन्दू विश्वविद्यालय के उद्घाटन समारोह में जो भाषण हुए, उसके बारे में गाँधीजी ने क्यों कहा कि इन व्याख्यानों ने श्रोताओं के हृदय नहीं छुए। यह भी कहा कि यहाँ जो भाषण हुए उसके बारे में, लोगों की परीक्षा ली जाए और मैं निरीक्षक होऊँ तो निश्चित है कि ज्ययादातर वक्ता फेल हो जाएँ। तथापि गाँधीजी यह मानते थे कि वक्ता भाषण देने की कला में लगभग शिखर पर पहुँच गये हैं। वक्ता भाषण देने की कला में शिखर पर हैं, फिर भी फेल कैसे?

गाँधीजी ने बताया कि 28 दिसम्बर 1915 को राष्ट्रीय महासभा काँग्रेस के बम्बई (अब मुम्बई) में सम्पन्न तीसवें अधिवेशन में तमाम श्रोता केवल उन भाषणों से प्रभावित हुए, जो हिन्दी में दिए गए थे। ध्यान दिलाया कि यह मुम्बई की बात है, बनारस की नहीं; जहाँ सभी लोग हिन्दी बोलते हैं। प्रसंगवश, याद रखना होगा कि बनारस के सभी लोग हिन्दी नहीं, भोजपुरी बोलते रहे हैं। हाँ, हिन्दी समझ लेते होंगे।

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

अपने भाषण के आरम्भ में ही गाँधीजी ने यह कहा था कि 'अभी-अभी जो महिला भाषण देकर बैठी हैं, उनकी अदभुत वाक्शक्ति के प्रभाव में आकर आप लोग कृपया इस बात पर विश्वास न कर लें कि जो विश्वविद्यालय अभी तक पूरा बना और उठा भी नहीं है, वह कोई परिपूर्ण संस्था है और अभी जो विद्याथी यहाँ आए ही नहीं हैं, वे शिक्षा-सम्पादन करके यहाँ से एक महान साम्राज्य के नागरिक होकर निकल चुके होंगे।'

इस वक्तव्य में दो बातें ध्यान देने की हैं। एक, वक्ता की वाक्शक्ति के असर में बातों पर विश्वास नहीं करने के लिए कहना। दो, अँगरेजी हुकूमत को 'महान साम्राज्य' बताना।

अब प्रश्न उठता है कि वक्ताओं ने हिन्दी में अपने विचार व्यक्त किए होते तो क्या वे श्रोताओं का हृदय छूने में पूर्णतया सफल होते? गाँधीजी के अनुसार क्या यह 'पर्याप्त' होता? कहना होगा कि श्रोताओं के हृदय छूने के लिए भाषा पहली सीढ़ी है, एकमात्र नहीं।

गाँधीजी के भाषण का एक हिस्सा भाषा के मुद्दा पर केंद्रित था; दूसरा कांग्रेस द्वारा पारित स्वराज के प्रस्ताव पर।

गाँधीजी को विश्वास था कि अखिल भारतीय काँग्रेस और मुस्लिम लीग अपना कर्त्तव्य पूरा करेंगी और कुछ-न-कुछ ठोस सुझावों के साथ सामने आयेंगी। साथ ही उन्होंने यह भी स्पष्ट किया कि काँग्रेस और मुस्लिम लीग क्या-कुछ कर पाती हैं, इसमें मेरी उतनी दिलचस्पी नहीं है, जितनी इस बात में कि विद्यार्थी-जगत क्या करता है या जनता क्या करती है। काँग्रेस और मुस्लिम लीग की अपेक्षा विद्यार्थियों और किसानों को प्रमुखता देना महत्त्वपूर्ण है। यहाँ गाँधीजी की आगामी नीति-स्वाधीनता संग्राम की अगुवाई के दौरान जिसे हकीकत बननी थी—की झलक मिलती है। काँग्रेस की कमान गाँधीजी ने सँभाली, उससे पहले काँग्रेस बैरिस्टर, जमींदार सरीखे उच्च वर्ग के लोगों तक महदूद थी। गाँधीजी ने इसे किसानों-मजदूरों से जोड़ा। इन्होंने पूरी स्पष्टता से कहा कि 'कोई भी कागजी कार्रवाई हमें स्वराज नहीं दे सकती।' काँग्रेस का प्रस्ताव पास करना, कागजी कार्रवाई ही तो था। इसके मद्देनजर 'ठोस सुझाव' सामने लाना था, और अपना 'कर्तव्य' भी पूरा करना था। गाँधीजी का मतलब स्पष्ट था कि काँग्रेस कागजी कार्रवाई से आगे बढ़े। इन्होंने काँग्रेस अध्यक्ष से सहमति जताई कि स्वराज की बात सोचने के पहले हमें बड़ी मशक्कत करनी पड़ेगी।

किस दिशा में मशक्कत? किस मार्ग पर? क्या करना होगा काँग्रेस को, स्वराज की खातिर? गाँधीजी ने संकेत दिया था, विद्यार्थी और किसान क्या करते हैं, इसे महत्त्व देकर। इनके प्रति दिलचस्पी प्रगट कर। यह भी कहा कि 'धुआँधार भाषण हमें स्वराज के योग्य नहीं बना सकते। वह तो हमारा आचरण है जो हमें उसके योग्य बनाएगा।' कैसा होना चाहिए हमारा आचरण, कि हम स्वराज के काबिल बन सकें?

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

गाँधी-चिन्तन में आचरण पर सबसे ज्यादा जोर है। विचार और आचरण का समन्वय। विचार और कर्म की एकता।

स्वराज पाने के लिए आचरण को कसौटी बनाना, नितान्त मौलिक बात थी। यह गाँधीजी का पक्ष था। एक मजबूत पक्ष।

स्वराज के सवाल के साथ गाँधीजी ने स्वच्छता का प्रश्न जोड़ा। इसके माध्यम से व्यक्तिगत आचरण और सामाजिक आचरण का सवाल भी उठाया। इन्होंने कहा कि 'कल मैं विश्वनाथ के दर्शन के लिए गया था। उन गलियों में चलते हुए, मेरे मन में खयाल आया कि यदि कोई अजनबी एकाएक ऊपर से इस मन्दिर पर उतर पड़े और यदि उसे हम हिन्दुओं के बारे में विचार करना पड़े तो क्या हमारे बारे में कोई छोटी राय बना लेना उसके लिए स्वाभाविक न होगा? क्या यह एक महान मंदिर हमारे अपने आचरण की ओर उँगली नहीं उठाता? मैं यह बात एक हिन्दू की तरह बड़े दर्द के साथ कह रहा हूँ। क्या यह कोई ठीक बात है कि हमारे पवित्र मंदिर के आसपास की गलियाँ इतनी गन्दी हों? उसके आसपास जो घर बने हुए हैं, वे बेसिलसिले और चाहे जैसे हों। गलियाँ टेढ़ी-मेढ़ी और सँकरी हों। अगर हमारे मंदिर भी सादगी और सफाई के नमूने न हों तो हमारा स्वराज कैसा होगा?'

स्वराज का प्रश्न उठानेवाले लोगों की निगाहों से ऐसे मुद्दे बहुत दूर थे। पर गाँधीजी के हिसाब से ये तमाम मुद्दे स्वराज के प्राथमिक सवाल थे। गाँधीजी ने पूछा कि चाहे खुशी से, चाहे लाचारी से अँग्रेजों का बोरिया-बिस्तर बँधते ही क्या हमारे मन्दिर पवित्रता, स्वच्छता और शान्ति के धाम बन जाएँगे?' वे मन्दिर की सफाई तक सीमित नहीं रहे। उन्होंने रेलगाड़ी के डिब्बे की गन्दगी की तरफ भी ध्यान दिलाया। बकौल गाँधीजी 'यह जानते हुए भी कि डिब्बे का फर्श अकसर सोने के काम में लाया जाता है, हम उस पर जहाँ-तहाँ थूकते रहते हैं। हम जरा भी नहीं सोचते कि हमें वहाँ क्या फेंकना चाहिये, क्या नहीं और नतीजा यह होता है कि सारा डिब्बा गन्दगी का अवर्णनीय नमूना बन जाता है।' नागरिक-कर्त्तव्य के इस सवाल के साथ गाँधीजी ने वर्गीय मनोवृत्ति के बारे में बताया कि 'जिन्हें कुछ ऊँचे दर्जे का माना जाता है, वे अपने से कम भाग्यशाली अपने भाइयों के साथ डाँट-डपट का व्यवहार करते हैं।' इतना ही नहीं, यह भी बताया कि विद्यार्थी भी ऐसा करते हैं। वे अँगरेजी बोल सकते हैं और नारफॉक जाकिटें पहने होते हैं और इसलिए अधिकार जता कर डिब्बे में घुस जाते हैं और बैठने की जगह ले लेते हैं।' अँग्रेजी बोली और जाकिट विद्यार्थियों को अपने देश के सामान्य लोगों से कुछ दर्जा ऊपर होने का बोध कराता था! अँग्रेजी साम्राज्य का विरोध करने वाले विद्यार्थी का मानस स्वीकार कर चुका था—अँग्रेजी भाषा और उनकी पोशाक की श्रेष्ठता। इसी श्रेष्ठता के सहारे वे लोग सामान्य लोगों पर रौब जमाते थे।

गाँधी के लिए यह स्वराज का बुनियादी प्रश्न था। श्रेष्ठता-ग्रंथि के रहते स्वराज नहीं आ सकता। ये परेशानियाँ अँगरेजों के कारण पैदा नहीं हुई थीं। इसके लिये भारतवासी जिम्मेवार थे। गाँधीजी के लिए ये चिन्ताजनक बातें थीं। स्वराज की राह

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

में रुकावट भी। इसलिए उन्होंने कहा कि 'स्वराज की दिशा में बढ़ने के लिये हमें बिना शक ये सारी बातें सुधारनी चाहिये।' स्वराज्य की किस दिशा में बढ़ने के लिए ये सारी बातें सुधारनी चाहिए। यह कहना ज्यादा उचित प्रतीत होता है कि किस स्वराज्य की दिशा में कदम बढ़ाने के लिए ये तमाम कमियाँ ठीक करनी होंगी। स्पष्ट है कि गाँधी जिस स्वराज्य की बात कर रहे थे, वह अलग था और विशिष्ट भी।

इतिहास के उस दौर में सक्रिय विचार-समूहों में स्वराज की अपनी-अपनी कल्पना थी। वे सभी अपने-अपने स्वराज्य को रूप और आकार देने के लिए जद्दोजहद कर रहे थे। अपने-अपने मोर्चे पर स्वराज के ये तमाम तस्व्वुर किसी स्तर पर एक-दूसरे से संबद्ध थे तो किसी स्तर पर असंबद्ध भी। एक स्तर पर किसी के प्रतिलोम थे तो दूसरे स्तर पर पूरक भी। किन्हीं मायनों में एक-दूसरे से संगत करते थे तो कुछ अर्थों में सामना भी। स्वराज की ये अवधारणाएँ एक-दूसरे को काटती थीं तो पूर्णता भी प्रदान करती थीं। गाँधी के जेहन में स्वराज्य की जो अवधारणा थी, उसकी दिशा में बढ़ने के लिए बिना शक उक्त तमाम बातें देशवासियों की कमियाँ थीं, स्वराज प्राप्ति के रास्ते की रुकावट भी। लिहाजा, सुधार की जरूरत थी।

दरभंगा के राजा सर रामेश्वर सिंह ने उद्घाटन समारोह के एक सत्र की सदारत की थी। अपने सम्बोधन में भारत की गरीबी पर प्रकाश डाला था। अन्य वक्ताओं ने भी गरीबी के सवाल पर जोर दिया था। इस पर गाँधीजी ने कहा कि जिस शामियाने में वायसरॉय द्वारा शिलान्यास-समारोह हो रहा था, वहाँ काफी प्रदर्शन किया गया था। जड़ाऊ गहनों की ऐसी प्रदर्शनी थी, जिसे देखकर पेरिस के जौहरी की आँखें भी चौंधिया जातीं। जब मैं गहनों से लदे हुए उन-उमरावों और भारत के लाखों गरीब आदमियों से मिलता हूँ तो मुझे लगता है, मैं इन अमीरों से कहूँ 'जब तक आप अपने ये जेवरात नहीं उतार देते और उन्हें गरीबों की धरोहर मानकर नहीं चलते, तब तक भारत का कल्याण नहीं होगा।' देशी राजवाड़ों के इस अश्लील प्रदर्शन पर टिप्पणी करते हुए गाँधीजी ने कहा था कि 'मुझे यकीन है कि सम्राट अथवा लार्ड हार्डिंग, सम्राट के प्रति वास्तविक राजभक्ति दिखाने के लिये किसी का गहनों के सन्दूक उलटकर सिर से पाँव तक सजकर, आना जरूरी नहीं समझते।' इन्होंने भारत के राजवाड़े, नवाब और जमींदारों द्वारा बनायी जा रही बड़ी इमारतों को लेकर दुख जाहिर किया, क्योंकि 'ये किसानों से वसूले गए पैसों से बनता है'। जमींदारों राजाओं और नवाबों की समृद्धि किसानों की कमाई पर टिकी होती है। तब देश में पचहत्तर प्रतिशत से भी अधिक लोग किसानी करते थे। गाँधीजी ने कहा कि 'यदि हम इनके परिश्रम की सारी कमाई दूसरों को उठाकर ले जाने दें तो कैसे कहा जा सकता है कि स्वराज की कोई भी भावना हमारे मन में है।'

स्वराज का प्रस्ताव पास करने वालों और सभा-संगोष्ठियों में स्वराज का सवाल उठाने वालों से यह पूछना ध्यान देने योग्य है। किसानों के परिश्रम की कमाई उठाकर

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

कौन ले जाता था? साम्राज्यवादी शोषण-व्यवस्था और इसके अन्दर काम कर रही सामन्ती संरचना। समारोह में मौजूद राजे-महाराजे और अमीर-उमराव इस संरचना के विशेष अंग थे। यह एक मूलभूत सवाल था, जिसे गाँधीजी ने उठाया। यह कहकर गाँधीजी स्वराज के प्रश्न से किसानों का सवाल सम्बद्ध कर रहे थे। उन्होंने साफ शब्दों में कहा कि 'हमें आजादी किसान के बिना नहीं मिल सकती। आजादी वकील और डॉक्टर या सम्पन्न जमींदारों के वश की बात नहीं है।' आजादी के लिए किसानों को सबसे आवश्यक तबका बताना, भारतीय स्वाधीनता-आन्दोलन के सन्दर्भ में, प्रस्थापना-परिवर्तन करने वाली बात थी। गाँधीजी ने किसानों से वकील, डॉक्टर या सम्पन्न जमींदारों में भेद किया। गाँधी के कथन में जमींदार के पहले 'सम्पन्न्य शब्द का प्रयोग हुआ है। समाज वैज्ञानिकों ने सातवें-आठवें दशक में यह तथ्य पहचाना कि तमाम जमींदार एक कोटि में नहीं समाते। जमींदारों में भी स्तर भेद रहा है। इस भेद का प्रतिफल भी कई क्षेत्रों में दिखता है। वकील, डॉक्टर या सम्पन्न जमींदारों के वश में देश की आजादी नहीं है, यह कहकर गाँधीजी ने स्वाधीनता-आन्दोलन की तत्कालीन संरचना पर सवाल खड़ा किया। इतिहास के उस दौर में यही वर्ग स्वतन्त्रता-आन्दोलन की अगुआई कर रहा था। इन्हें आजादी के लिए अपर्याप्त कहकर गाँधीजी आन्दोलन की प्रकृति में बदलाव लाने का सुझाव दे रहे थे। वे किसानों का जिक्र कर बहुसंख्यक आबादी को स्वाधीनता-आन्दोलन से जोड़ने पर बल दे रहे थे। मुट्ठी भर वकील, डॉक्टर या सम्पन्न जमींदार—जो कई मायनों में साम्राज्यवादी व्यवस्था के मजबूत अंग भी थे—स्वाधीनता आन्दोलन को कितने दूर तक ले जा सकते थे? देश की बहुसंख्यक जनता से कटकर देश-हित का कोई भी आन्दोलन सफल नहीं हो सकता, देश की आजादी का आन्दोलन तो बिल्कुल नहीं। ब्रिटिश हुकूमत की सर्वाधिक मार इस बहुसंख्यक आम अवाम को झेलनी पड़ती थी। बगैर इनके शामिल हुए आन्दोलन के सफल होने का सवाल ही नहीं था।

स्वाधीनता-आन्दोलन के तत्कालीन नेतृत्व को आजादी के लिए अपर्याप्त कहने वाले गाँधीजी उस दौर तक अँग्रेजी सत्ता को देश के लिए घातक नहीं मानते थे। जो लोग उस हुकूमत को भगाना चाहते थे, वे देश की जनता को आन्दोलन से जोड़ने की जरूरत नहीं समझ पाये थे। लिहाजा यह बात और भी महत्त्वपूर्ण प्रतीत होती है। गाँधीजी ने पूरी साफगोई से कहा था कि "यदि मुझे इस बात का विश्वास हो जाए कि अँग्रेजों के रहते हुए इस देश का कदापि उद्धार न होगा—उन्हें यहाँ से निकाल ही देना चाहिए—तो उनसे अपना बोरिया-बिस्तर समेटकर यहाँ से चलते होने की प्रार्थना करने में, मैं कभी आगा-पीछा न करूँगा और मुझे विश्वास है कि अपनी दृढ़ धारणा के समर्थन में मरने को भी तैयार रहूँगा, ऐसा मरण ही मेरी सम्मति में प्रतिष्ठा का मरण है।"

प्रसंगवश, गाँधीजी के अनन्य अनुयायी आचार्य जे.बी. कृपलानी ने अपने संस्मरण 'गुलामी बापू की' में लिखा है कि अक्सर लोग मुझसे पूछते हैं कि आप हिंसा

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

में भरोसा रखने वाले हैं और गाँधी ठहरे परम अहिंसावादी! गाँधीजी ब्रिटिश राज्य में श्रद्धा रखने वाले हैं और आप उसका उच्छेद करने वाले। तो आपने उनका नेतृत्व किस प्रकार स्वीकार किया? जवाब में कृपलानी जी कहते हैं : मैंने इस आदमी में एक शक्ति देखी है। वह है—या तो काम को अन्त तक पहुँचाना या अपना अन्त कर देना। इसलिए मैंने इनको अपना नेता स्वीकार किया है। दूसरे, उनमें सच्चाई है। आज वे अहिंसा का समर्थन करते हैं, परन्तु जिस क्षण उनको यह समझ में आ जाएगा कि अहिंसा से कुछ सिद्ध होने वाला नहीं है, उसी समय वे हिंसा के रास्ते पर चल कर ऐसी उग्रता से लड़ेंगे, वैसा दूसरा नहीं लड़ेगा। इस एक ही चीज ने मुझे उनके प्रति आकृष्ट किया है। इसीलिए मैं उनके साथ हूँ। हिंसा के विषय में तो मेरा विश्वास हो गया है कि बापू को हिंसा से डिगा देना, विचलित करना, एकदम असम्भव है। उनको जिस क्षण यह लगा कि ब्रिटिश राज्य देश के कल्याण के लिए नहीं है, उसी समय उन्होंने उसके लिए ऐसे कठोर विशेषण प्रयुक्त किये हैं, जैसे लोकमान्य तिलक भी नहीं कर पाये थे। ब्रिटिश शासन को उन्होंने शैतानी राज्य कहा और वह भी इतने जोर से कि फिर तो पूरा देश उसको शैतान कहने लगा।

आचार्य कृपलानी ने गाँधी की शख्सियत को बिल्कुल ठीक उकेरा है। उनकी शक्ति के बारे में सर्वथा उचित आकलन पेश किया है। क्या है गाँधी-शक्ति? जे.बी. कृपलानी ने इस गूढ़ प्रतीत होने वाले प्रश्न का सहज उत्तर दिया है। वह है जो काम अपने कन्धे पर लिया है, या तो उसे अन्त तक पहुँचाना या अपना अन्त कर देना। जो दायित्व स्वीकारा है, उसके प्रति पूर्णतः कटिबद्ध होना। उसे लेकर कोई शुबहा नहीं। काम की राह में कठिनाई आने पर पलायन नहीं। बहुतेरों को यह गाँधी-मार्ग रास नहीं आता। कारण कि इसमें वचनबद्धता के बाद उसे पूर्णता तक पहुँचाने के अलावा कोई चारा नहीं। भले ही खुद का अन्त करना पड़े। आचार्य कृपलानी ने गाँधी की दूसरी सबसे बड़ी विशेषता बताई है—सच्चाई। यही गाँधी की मजबूती है। इन दोनों खूबियों को परिभाषित करने वाले आचार्य कृपलानी का आरम्भिक दौर में गाँधी की अहिंसक विचारधारा में यकीन नहीं था। गाँधीजी थे परम अहिंसावादी जबकि आचार्य कृपलानी हिंसा में पूरा भरोसा रखते थे। विचारों का विपर्यय इतना ही नहीं था। गाँधीजी ब्रिटिश राज के प्रति श्रद्धा-भाव वाले थे। जबकि कृपलानी जी की पुष्ट धारणा थी कि बगैर अँग्रेजी राज का उच्छेद किये, हिन्दुस्तान का भला होने वाला नहीं।

गाँधी की शख्सियत की व्याख्या करते हुए आचार्य कृपलानी ने यह भी कहा है कि आज वे अहिंसा का समर्थन करते हैं, परन्तु जिस क्षण उनको यह समझ में आएगा कि अहिंसा से कुछ सिद्ध होनेवाला नहीं है, उसी समय वे हिंसा के रास्ते पर चलकर ऐसी उग्रता से लड़ेंगे, वैसा दूसरा नहीं लड़ेगा। गाँधी के चरित्र में निहित इसी मूल्य ने आचार्य कृपलानी को अपनी तरफ आकृष्ट किया। अपने विचार पर खुद को न्योछावर

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

कर देना, प्राणपण से अपनी मान्यताओं के पथ पर चलना, भले ही उस पर चलते हुए जीवन का उत्सर्ग करना पड़े।

सवाल पैदा होता है कि अगर गाँधीजी को समझ में आता कि अहिंसा से कुछ सिद्ध होने वाला नहीं है और वे हिंसा की राह अपनाते तो क्या इसे पलायन कहा जाता? जवाब होगा—नहीं। कारण कि यह न तो किसी सुविधा के लिए होता और न ही किसी वैचारिक ढुलमुलपन अथवा दुविधा के कारण। आचार्य कृपलानी ने इस काल्पनिक स्थिति के लिए भी कहा है कि ऐसी परिस्थिति में गाँधीजी जिस उग्रता से लड़ेंगे, वैसा दूसरा नहीं। यहाँ भी वे स्वयं के उत्सर्ग के लिए तैयार रहते। यहाँ नोट करने लायक है—गाँधी-भावना। गाँधी अगर अहिंसा से हिंसा की राह पर जाते तो यह भी सत्य के प्रयोग का एक पड़ाव ही बनता। उनका समूचा जीवन सत्य तक पहुँचने का प्रयोग था। बहरहाल ऐसी कल्पना करने वाले आचार्य कृपलानी ने पूरी साफगोई से कहा है कि बापू को हिंसा से डिगा देना, विचलित करना, एकदम असम्भव है। गाँधी का समूचा जीवन अहिंसा के प्रयोगों का पर्याय था। ये तमाम प्रयोग देश एवं दुनिया के कल्याण के लिए थे। इसमें पूरी मानवता की चिन्ता थी। एक नयी सभ्यता गढ़ने की अकुलाहट का परिणाम थे ये सारे प्रयोग। इसमें किसी के शोषण के लिए गुँजाइश नहीं थी। यही वजह है, जैसा आचार्य कृपलानी ने भी बताया है कि जिस क्षण गाँधी ने समझा ब्रिटिश राज देश के कल्याण के लिए नहीं है, उसी समय उन्होंने उसके लिए ऐसे कठोर विशेषण प्रयुक्त किये हैं, जैसे लोकमान्य तिलक भी नहीं कर पाये थे। गाँधीजी ने ब्रिटिश शासन को 'शैतानी राज्य' कहा और वह भी इतने जोर से कि फिर तो पूरा देश उसको शैतान कहने लगा। ब्रिटिश शासन के प्रति श्रद्धा रखनेवाले गाँधी उसे शैतान कहने लगे। इतनी मजबूती से कहने लगे कि देशभर ने इस पर भरोसा किया, रंचमात्र भी सन्देह न कर, ब्रिटिश हुकूमत को शैतान कहा।

गाँधीजी और आचार्य कृपलानी के विचारों में वैषम्य दिखता था। लिहाजा लोगों के जेहन में यह सवाल पैदा होना स्वाभाविक था। आचार्य जे.बी. कृपलानी को व्यक्तित्व से जानकर लोग समझ नहीं पा रहे थे कि निहायत विपरीत विचार वाले व्यक्ति का नेतृत्व इन्होंने क्यों माना है? इसका जवाब देते हुए कृपलानीजी ने गाँधीजी की ताकत की चर्चा की है। यही ताकत उन्हें श्रेष्ठ साबित करती थी। इसी ने कृपलानी जी को प्रेरित किया कि वे गाँधीजी को अपना नेता मानें।

बनारस हिन्दू विश्वविद्यालय के भाषण में गाँधीजी ने स्पष्ट किया था कि अगर उन्हें यह समझ में आ जाए कि अंग्रेजों के रहते देश का उद्धार कतई नहीं होगा तो उनसे भारत से चले जाने हेतु प्रार्थना करने में बिल्कुल आगा-पीछा नहीं करूँगा। ऐसा ही किया भी। इसे समझते ही पूरी प्रतिबद्धता के साथ अँग्रेजी सत्ता को यह अहसास कराने में जुट गए कि उन्हें भारत से सात समुद्र पार चले जाना चाहिए। अपनी इस दृढ़ धारणा के समर्थन में मरने को तत्पर रहने की बात उन्होंने की थी। इस तरह के

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

मरण को श्रेष्ठ भी बताया था। इस पर भी वे बिल्कुल सच्चे साबित हुए। उनके जीवन ने इस धारणा को पुष्ट किया। इसी ने आचार्य कृपलानी सरीखे अनेक लोगों के अन्तःकरण में गाँधी की अगुवाई स्वीकारने का भाव जगाया।

बनारस हिन्दू विश्वविद्यालय के उद्घाटन के दौरान जो माहौल बना था, उससे गाँधीजी का मन उद्विग्न था। इसका कारण था, स्थान-स्थान पर लगाई गई खुफिया पुलिस। आयोजन में वाइसरॉय शामिल हुए थे। उनकी सुरक्षा के मद्देनजर यह तैनाती हुई थी। गाँधी के मुताबिक इसका कारण था—अविश्वास। भारतीय लोगों के प्रति शासकों में अविश्वास। अगर शासक और शासितों में विश्वास होता तो सुरक्षा के इन्तजाम नहीं होते। जगह-जगह खुफिया पुलिस नहीं लगायी जाती। गाँधी इस अविश्वास का कारण पूछते हैं। इसकी वजहों पर विचार करते हैं। एक-दूसरे के प्रति अविश्वास और परिणामस्वरूप सुरक्षा के लिए खुफिया पुलिस की तैनाती गाँधी के हिसाब से मरणान्तक दुख है। वे कहते हैं कि "इस प्रकार मरणान्तक दुःख भोगते हुए जीने की अपेक्षा क्या लार्ड हार्डिंग के लिए सचमुच ही मर जाना अधिक श्रेयस्कर नहीं है। परन्तु एक बलशाली सम्राट के प्रतिनिधि इस प्रकार मर भी नहीं सकते। मृतक की भाँति जीना ही वे शायद जरूरी समझते हों।" विद्यार्थियों की सार्वजनिक सभा को सम्बोधित करते हुए गाँधी यह कह रहे थे। वे ही ऐसा कह सकते थे, सबकी मौजूदगी में। कारण कि उनका मन साफ था। पारे की तरह। सुरक्षा के ऐसे ठोस इन्तजाम के साथ जीना मृतक की तरह जीना है। फिर ऐसे जीवन का क्या मतलब? इस जीवन से श्रेयस्कर है सचमुच मर जाना। वायसराय लार्ड हार्डिंग के लिए सहजतापूर्वक गाँधीजी ने जो कहा, उसे सुनने के लिए मंच पर आसीन लोग तैयार थे? थोड़ी देर बाद भाषण शीघ्र समाप्त करने के लिए कहा गया, उसका राब्ता इससे जुड़ता प्रतीत होता है।

गाँधीजी यह भी पूछते हैं कि खुफिया पुलिस का जुआ हमारे सिर पर लादने का क्या कारण है? जवाब में इसके लिए अराजक दल को जिम्मेदार मानते हैं। गाँधी खुद को अराजक ही कहते हैं, "मैं खुद भी अराजक ही हूँ, पर दूसरे वर्ग का।" इन दोनों अराजक वर्ग की विभाजक रेखा है; हिंसा। गाँधी अराजक थे, अहिंसक अराजक। वे हिंसक अराजक दल की उत्पति का कारण मानते हैं—उतावलेपन का नशा। वे इस समूह को स्पष्टतया कहते हैं, "यदि भारत को अपने विजेताओं पर विजय प्राप्त करनी हो तो आपकी अराजकता के लिए यहाँ जगह नहीं है।" कारण कि हिंसा कायरता का लक्षण है। हिंसा की पैदाइश की बड़ी वजह कायरता है। ईश्वर के प्रति अटूट आस्था वाले गाँधी हिंसा में भरोसा रखने वाले लोगों को कहते हैं, "यदि आपका ईश्वर पर विश्वास हो और यदि आप उसका भय मानते हों तो फिर आपको किसी से डरने का कोई कारण नहीं है, फिर चाहे वे राजा-महाराजा हों, वाइसरॉय हों, खुफिया पुलिस हों अथवा स्वयं सम्राट हों।" गाँधी के मन में हिंसक अराजकतावादियों के स्वदेश-प्रेम के

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

प्रति आदर-भाव था। गहरा सम्मान। उन्होंने कहा है कि "अराजकों के स्वदेश-प्रेम का मैं बड़ा आदर करता हूँ। वे जो स्वदेश के लिए आनन्दपूर्वक मरने के लिए प्रस्तुत रहते हैं, उनकी मैं इज्जत करता हूँ।" गाँधी हिंसक अराजकतावादियों के स्वदेश-प्रेम का सम्मान करते थे। वतन के लिए खुशी-खुशी मरने वाले जज्बे की भी इज्जत करते थे। फिर भी उनके मार्ग से घोर असहमति रखते थे।

गाँधीजी ने भाषण में उन लोगों को सम्बोधित करते हुए कहा कि "मैं उनसे पूछता हूँ कि क्या मृत्युदंड प्राप्त होता है उसे किसी भी प्रकार गौरवपूर्ण माना जा सकता है।" वे स्वयं जवाब भी देते हैं—'नहीं।' वजह बताते हैं कि "कोई धर्मग्रन्थ ऐसे उपाय का अवलम्बन करने की अनुमति नहीं देता।" सवाल उठता है कि कोई धर्मग्रन्थ इसकी इजाजत देता तो क्या वे स्वीकार करते? गाँधी की मनोभूमि से वाकिफ कोई भी व्यक्ति इसका सहज जवाब दे सकता है। वे तब भी इसे हरगिज पसन्द नहीं करते। वे हिंसा कतई स्वीकार नहीं कर सकते थे। गाँधी जो सभ्यता निर्मित करना चाहते थे, उसमें हिंसा के लिए कोई जगह नहीं थी।

गाँधी के सपनों की दुनिया में हिंसा के लिए स्थान नहीं था। भले ही वह हिंसा किसी के भी प्रति हो। किसी पर, किसी तरह की, हिंसा गाँधी को स्वीकार नहीं। दुश्मन के प्रति भी हिंसा मंजूर नहीं। यह हिंसा की संस्कृति को खारिज कर मनुष्यता पर आधारित संस्कृति गढ़ने की आकांक्षा का परिणाम है।

गाँधीजी ने इस भाषण में हिंसा की राह पर चलनेवालों को कायर बताया। पूरी साफगोई से कहा कि "बम फेंकने वाला गुप्त रूप से षडयन्त्र करता है। वह बाहर निकलने से डरता रहता है और पकड़े जाने पर अयोग्य और अतिरिक्त उत्साह का प्रायश्चित्त भोगता है।" अपने विचार के प्रति सच्ची प्रतिबद्धता और उसके लिए मरने को प्रतिष्ठा का मरण कहने वाले गाँधी हिंसक अराजक वर्ग की राह पसन्द क्यों नहीं करते थे? जबकि 'हिंसक अराजक वर्ग के लोग भी अपने विचार के समर्थन में मरने के लिए तत्पर रहते थे। आखिरकार उनका मरण 'प्रतिष्ठा का मरण क्यों नहीं? पूछा जा सकता है कि बम फेंकनेवाले अगर गुप्त रूप से षड्यंत्र नहीं करें और बाहर निकलने से डरें भी नहीं, तो क्या गाँधीजी इसे स्वीकार करते? हरगिज नहीं। क्योंकि बम से होनेवाली हिंसा बीच की दीवार है। गाँधीजी अहिंसा की राह हरगिज नहीं छोड़ते। अहिंसा गाँधी के लिए साधन मात्र नहीं है। अहिंसा साध्य है और कसौटी भी। अहिंसा के प्रतिमान पर गाँधी घटनाओं को परखते हैं और स्वयं को भी।

हिंसा की राह पर चलने वालों को कायर बताना ध्यान देने योग्य है। यह कहकर गाँधीजी ने आम समझ का विलोम प्रस्तावित किया है। हमारी सभ्यता-संस्कृति का विकास जिस दिशा में हुआ है, उससे यह मिथ्या धारणा पुष्ट हुई है कि हिंसा ताकत का पर्याय है, कि हिंसा का मार्ग मजबूती का उदाहरण है, कि हिंसा करने वाले पराक्रमी होते हैं। गाँधीजी की चिन्ता और चिन्तन के केंद्र में, हिंसा को शौर्य

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

माननेवाला, यह झूठा-सच रहा है। वे आजीवन अपने शब्द और कर्म के जरिये इसका प्रतिलोम रचते रहे हैं। यह समझाते रहे हैं कि अहिंसा वीरों का मार्ग है, कि अहिंसा मजबूरी में अपनाया जानेवाला साधन नहीं है, कि अहिंसा की राह पर पराक्रमी और निडर लोग ही चल सकते हैं। अहिंसक संस्कृति की रचना ही मनुष्यता का लक्ष्य होनी चाहिए। गाँधी जैसे व्यक्ति के लिए यह बेहद चिन्ताजनक बात थी कि मनुष्य ऐसी संस्कृति निर्मित—हिंसा को प्रधानता देने वाली—करने की दिशा में अग्रसर हैं। मनुष्य मात्र की भलाई अहिंसक संस्कृति में है, न कि हिंसक। गाँधी हिंसा के उत्स की असली वजह कायरता को भी समाप्त करना चाहते थे। भय के कारण ही हिंसा पनपती और पल्लवित-पुष्पित होती है। निहायत भिन्न परिस्थितियों में भी हिंसा के उत्स का कारण एक ही होता है; भय। भले ही वह भिन्न-भिन्न तरह का भय हो। गाँधी अभय-संस्कृति रचना चाहते थे, जिसमें कोई किसी से भयभीत न हो। जो क्रांतिकारी (गाँधी जिन्हें हिंसक अराजक वर्ग सम्बोधित करते हैं) हिंसा की राह से आजादी पाना चाहते थे, गाँधी के मुताबिक वे पवित्र साध्य के लिए अपवित्र साधन अपना रहे थे। गाँधी जैसे व्यक्तित्व के लिए सोचने की बात यह भी थी कि हिंसा के जरिए प्राप्त स्वराज में हिंसा के लिए जगह रह जाएगी। जो आजादी हिंसा से मिलेगी, उससे हिंसा पूर्णतः समाप्त नहीं होगी। हिंसा से हासिल स्वराज से अहिंसक संस्कृति के पनपने के लिए आवश्यक खाद-पानी मुमकिन नहीं है। गाँधी अहिंसक संस्कृति विकसित होना देखना चाहते थे। दक्षिण अफ्रीका के सत्याग्रह में भी इससे लेशमात्र विलग नहीं हुए थे। जाहिर है, यहाँ भी विचलन सम्भव नहीं था।

गाँधीजी अपने भाषण में, बंग-भंग में, हिंसक आन्दोलनकारियों के दावे की चर्चा कर रहे थे। ऐन तभी मंच पर बैठी एनी बेसेंट ने हस्तक्षेप करते हुए भाषण शीघ्र समाप्त करने के लिए कहा। यह चिन्तनपूर्ण भाषण जिस दिशा में बढ़ रहा था, वह श्रीमती बेसेंट को नागवार गुजरा। क्या उन्हें हिंसक आन्दोलनकारियों की चर्चा उचित नहीं जान पड़ी? एनी बेसेंट की तरह गाँधी भी अहिंसा के प्रतिबद्ध समर्थक थे। गाँधी की जो छवि बनी थी, उसे दक्षिण अफ्रीका में उनकी भूमिका ने गढ़ा था। बेसेंट इससे जानकर न हों, यह मानने की बात नहीं। जाहिर है वे हिंसा का समर्थन नहीं करेंगे, इस तथ्य को भी एनी बेसेंट समझती होंगी। फिर किस बात ने प्रेरित किया कि वे गाँधी का भाषण शीघ्र समाप्त करने के लिए कहें।

निश्चय ही वह बात थी—हिंसक आन्दोलनकारियों की चर्चा के पूर्व की बात, जिसमें वे देश का उद्धार न होने की समझ आने पर अँग्रेजों से बोरिया-बिस्तर समेटकर जाने के लिए कहने और इसके लिए मरने को भी तत्पर रहने को कह रहे थे। साथ ही हिंसक आन्दोलनकारियों के स्वदेश प्रेम और इसके लिए मृत्यु को गले लगाने के प्रति सम्मान की चर्चा भी। युवजनों के बीच सार्वजनिक सभा में ऐसी बातें कहने-सुनने से वाकिफ नहीं था तत्कालीन नेतृत्वकारी वर्ग। वह भी ऐसे आयोजन में जिसमें

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

ब्रिटिश-सत्ता के प्रतिनिधि भाग ले रहे हों! यहाँ तक पहुँचकर गाँधी के भाषण की दिशा साफ हो चुकी थी। बेसेंट सरीखी प्रबुद्ध शख्सियत इसे समझने में चूक नहीं सकतीं थीं!

बंग-भंग के सम्बन्ध में हिंसक आन्दोलनकारियों के दावे की चर्चा गाँधीजी पहली बार कर रहे हों, ऐसा नहीं है। उन्होंने बताया कि ये बातें मिस्टर लॉयन्स की अध्यक्षता में भी कह चुका हूँ। श्रीमती बेसेंट ने गाँधीजी को जो सुझाव दिया, उसका कारण गाँधीजी ने क्या समझा? उन्होंने समझा कि श्रीमती बेसेंट भारत से बहुत अधिक प्रेम करती हैं और वे समझती हैं कि युवकों के सामने इस प्रकार की स्पष्ट बातें कहकर मैं अनुचित काम कर रहा हूँ।

गाँधीजी बेसेंट की इस धारणा से इत्तेफाक नहीं रखते थे। वे इसकी वजह मानते थे–परस्पर अविश्वास। ब्रिटिश सत्ता और भारतवासी एक-दूसरे के प्रति विश्वास के जोड़ से नहीं बँधे थे। गाँधीजी अपना कर्त्तव्य मानते थे, दोनों के भीतर परस्पर प्रीति और विश्वास पैदा करना। बहुतेरे लोग घर की बैठक में ऐसी बातें भले ही करते हों, लेकिन सार्वजनिक तौर पर इससे परहेज करते थे। गाँधीजी इसे दायित्वहीन मानते थे। वे खुले तौर पर, पूरी स्पष्टता से ऐसी बातों की चर्चा श्रेयस्कर मानते थे। वे मानते थे कि सत्ता चलाने वालों से जो भी परेशानी हो, उसे साफ-साफ शब्दों में कहना चाहिए और इसके नतीजा स्वरूप जो कष्ट मिले, उसे भोगने के लिए भी तैयार रहना चाहिए। लेकिन उन्हें गाली नहीं देनी चाहिए।

अँग्रेजी साम्राज्य ने अपनी हुकूमत चलाने के लिए जिस संरचना का निर्माण किया था, उसके मजबूत आधार-स्तम्भ थे–सिविल-सर्वेंट। भारतीय जनता पर होने वाले अत्याचार और शोषण के एक अहम उपकरण भी थे सिविल सर्वेंट। एक बार गाँधीजी से एक सिविल सर्वेंट की मुलाकात हुई। उसने पूछा किए "क्या आपका भी ऐसा ही खयाल है कि हम सभी सिविल-सर्विस वाले बुरे होते हैं और जिन पर शासन करने के लिए हम यहाँ आते हैं, उन पर हम केवल अत्याचार ही करना चाहते हैं।" गाँधी जी ने अस्वीकृति व्यक्त की। इनकी असहमति जानने के बाद उस सिविल-सर्वेंट ने आग्रह किया कि जब कभी "मौका मिले, आप हम अभागे सिविल-सर्वेंटों के पक्ष में लोगों के सामने दो शब्द कहने की कृपा करें।" गाँधी ने इस भाषण में उसके आग्रह पर अमल किया। उन्होंने कहा कि "इंडियन सिविल के बहुत से लोग निःसन्देह उद्धत, अत्याचार प्रिय और अविवेकी होते हैं। इसी तरह के और कितने ही विशेषण उन्हें दिए जा सकते हैं।" परन्तु इसके बाद जो विश्लेषण इन्होंने किया, मौजूद जनता ने उससे असहमति जाहिर की।

गाँधीजी का मानना था कि "कुछ वर्षों तक हमारे देश में रहकर वे और भी ओछी मनोवृत्ति के बन जाते हैं।" इसका विवेचन करते हुए, इन्होंने कहा कि हमारे देश में आने के पहले यदि वे सभ्य और सत्पुरुष थे, यहाँ आकर यदि वे नीति-भ्रष्ट हो गए तो क्या इसका हमारे ही चरित्र का प्रतिबिम्ब मानना चाहिए।

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

श्रोता इससे सहमत नहीं थे। गाँधीजी ने फिर दोहराया कि "आप लोग खुद ही विचार करें कि एक मनुष्य, जो कल तक भला आदमी था, मेरे साथ रहने पर खराब हो जाए तो उसके इस अद्यःपतन के लिए कौन उत्तरदायी होगा? वह या मैं।" सभी सिविल-सर्वेंटों को गलत मानना अनुचित है। साथ ही इनके अद्यःपतन के लिए भारतवासियों को दोषी ठहराना भी उचित नहीं। जिस सिविल-सर्वेंट ने गाँधीजी से, पक्ष में दो शब्द बोलने के लिए, निवेदन किया था। मुमकिन है, वह व्यक्तिगत तौर पर भला व्यक्ति हो। लेकिन जिस साम्राज्य की सत्ता और सुरक्षा के लिए इस पद का सृजन किया गया थाए उसमें भारतवासियों के प्रति अन्याय होना लाजिमी था। सिविल-सर्वेंट ब्रिटिश सत्ता के नुमाइन्दे थे, भारतीय जनता के नहीं। वे अँग्रेजी साम्राज्य के हितों की रक्षा के लिए थे, न कि भारतवासियों की भलाई के लिए। 'अभागा' तो वे कतई नहीं थे। सिविल-सर्वेंट जिस मशीन के पूर्जा के तौर पर काम कर रहे थे, पूरी मशीनरी भारतवासियों का दोहन-शोषण कर 'अभागा' बनाने का काम कर रही थी।

वास्तव में वे 'सिविल-सर्वेंट' थे ही नहीं, भारतीय जनता के लिए तो वे 'किंग' थे या उसकी नुमाइन्दगी करने वाले 'बॉस'। इसलिए कहा जा सकता है कि गाँधीजी का यह मानना पूर्णतया ठीक नहीं है कि "भारत में आने पर खुशामद की जो हवा उन्हें चारों ओर से घेर लेती है, वहीं उनके नीति च्युत होने का कारण है।" सोचने की बात यह भी है कि खुशामद की संस्कृति विकसित करने में अँग्रेजी साम्राज्य और उसकी मशीनरी की भूमिका भी रही है। गाँधीजी आत्मालोचन के एक बड़े उदाहरण हैं। वे खुद को जिम्मेदार साबित करते हैं, दूसरों पर दोषारोपण करने की जगह। इस लिहाज से यह कहना उचित है कि कभी-कभी अपने दोष स्वीकार करना भी अच्छा होता है, पर सदा नहीं। कहना न होगा कि आत्मप्रशंसा जिस प्रकार सकारात्मक मनोवृत्ति नहीं है, उसी प्रकार सदा आत्मग्लानि भी जायज नहीं।

भाषण समापन के पहले गाँधीजी ने स्वराज-प्राप्ति के सम्बन्ध में जो बातें कहीं, वह काबिलेगौर है। उन्होंने कहा कि "यदि किसी दिन हमें स्वराज मिलेगा तो वह अपने ही पुरुषार्थ से मिलेगा। वह दान के रूप में कदापि नहीं मिलने का।" स्वराज-आन्दोलन के सन्दर्भ में यह प्रस्थापना-परिवर्तन करने वाली बात थी। इससे साफ जाहिर होता था कि स्वराज के लिए ब्रिटिश हुकूमत पर निर्भर रहना उचित नहीं।

अगर भारतवासी अपना पुरुषार्थ-प्रदर्शन नहीं करेंगे तो स्वराज दूर की कौड़ी साबित होगी। गाँधीजी ने ब्रिटिश-साम्राज्य के इतिहास की तरफ ध्यान दिलाते हुए कहा कि "ब्रिटिश-साम्राज्य चाहे जितना स्वातन्त्र्य प्रेमी हो, फिर भी स्वतन्त्रता प्राप्ति के लिए, स्वयं उद्योग न करने वालों के, वह कभी स्वतन्त्रता देने वाला नहीं है।" गाँधीजी बोअर-युद्ध का हवाला देकर अपनी बात पुष्ट कर रहे थे, कि श्रीमती बेसेंट के साथ कई बड़े लोग चले गए और भाषण बाधित हो गया।

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

हिन्द स्वराज का पहला पाठ चम्पारण

विजय बहादुर सिंह*

अफ्रीका से लौटे गाँधी का मुम्बई के सुपठ और सुसम्भ्रान्त समाज ने जिस ढंग से स्वागत किया उसे देखकर गाँधी इतने ऊब गए और चिन्तित हुए कि उन्हें अन्ततः कहना ही पड़ गया कि दक्षिण अफ्रीका के भारतीय मजदूरों के बीच जीवन अधिक आत्मीय था। यहाँ तो हम अपने को कुछ पराए-से लोगों के बीच पा रहे हैं। गाँधी की इसी अनुभूति ने उन्हें यह दृष्टि और शक्ति दी होगी कि देश के साधारणजन के मन को बगैर समझे और जाने भारत की सेवा नहीं की जा सकती। गाँधी ने शायद यह भी अनुमान और अनुभव किया हो रामायण और भागवत में राम और कृष्ण की जो चरित-कथा लिखी गई है उसमें वनवासी सामान्यजनों और गोकुल गाँव के ग्वाल-बाल समुदायों का संघर्ष-सहयोग ऐसा किस्सा है जो यह संकेत करता है कि मुक्ति की कोई भी राह बगैर जनसाधारण के सहयोग के सम्भव नहीं/लोक में जिसे चमत्कार समझा और कहा जाता है वह वस्तुतः इसी जन-साधारण के सोए हुए मन का नए सिरे से जागरण है। ऐसा जागरण ही वह आत्मबोध पैदा करता है जिससे वह रोशनी पैदा होती है जो लोकव्यापी अन्धकार को पराजित कर एक प्रकाश युग की शुरुआत करती है। भारत के जीवन में गाँधी यही प्रकाश-पुंज थे। गाँधी की हत्या के बाद पं. नेहरू ने ठीक ही कहा—रोशनी तो चली गई।

गाँधी में यह रोशनी सबसे पहले तो अफ्रीका के भारतीय मजदूरों के बीच रहते हुए आई, पर उसकी दोपहर तो भारत के जन-साधारण लोगों के बीच, उनके साथ किए जा रहे अत्याचारों की चीत्कारों को सुनते-समझते और उनका निवारण करते घटित हुई। उनका यह करिश्मा, जो वस्तुतः करिश्मा से कुछ अधिक था, याद आने पर गीता का यह श्लोक याद करने का मन करता है—यदा यदा हि धर्मस्य...। 'भारतीय चित्त, मानस और काल' शीर्षक से लिखी अपनी छोटी-सी पुस्तिका में धर्मपाल लिखते हैं;

*विजय बहादुर सिंह; 29, निराला नगर, दुष्यन्त कुमार मार्ग, भोपाल-462003 (म.प्र.) मो. 09425030392

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

“1915 में गाँधी जी के मुम्बई उतरने से पहले ही देश में उनसे बहुत बड़ी उम्मीदें लगाई जाने लगी थीं। उस समय के सम्पादकीय आलेखों से लगता है कि उन्हें कुछ अवतार पुरुष-सा समझा जाने लगा था।” ऐसा न होता तो चम्पारण के निलहे मजदूरों और किसानों के शोषण और उनके साथ किए जा रहे अत्याचारों की वेदना-कथा लेकर राजकुमार शुक्ल गाँधी के पीछे-पीछे महीनों क्यों फिरते कि अकेले गाँधी ही हैं जो इस अत्याचार के विरुद्ध न केवल खड़े हो सकते हैं बल्कि उन्हें त्राण भी दिला सकते हैं।

गाँधी जी के पुत्र रामदास की बेटी सुमित्रा कुलकर्णी अपने दादा की जीवनी 'अनमोल विरासत' में दर्ज करती हैं—“1916 में काँग्रेस का अधिवेशन लखनऊ में हुआ था। गाँधी जी भी उसमें शामिल हुए थे। वहीं पर राजकुमार शुक्ल नामक एक किसान युवक उनके पास आया और बिहार में चल रहे घोर अत्याचार का वर्णन करने लगा।...देश सारा गोरों के हाथ में था तो पराई सरकार के कानों तक यह दीन-हीन पुकार या कराहट भी नहीं पहुँच पाती थी।

“राजकुमार शुक्ल अबूझ व्यक्ति थे। न ज्यादा समझते थे और न उनको कोई जानता ही था। उन्होंने अफ्रीका सत्याग्रह के बारे में थोड़ा-बहुत सुन रखा था। उसी सुनी-सुनाई बात पर उन्हें आशा थी कि गाँधी जी शायद कुछ मदद कर पाएँगे। ज्ञान तो कुछ नहीं था लेकिन श्रद्धा और लगन थी। छह महीनों तक यह देहाती व्यक्ति गाँधी जी के पीछे-पीछे कानपुर, अहमदाबाद, कलकत्ता घूमता रहा। लेकिन उसने गाँधी-जी का पीछा न छोड़ा। अन्त में 1917 के आरम्भ में राजकुमार शुक्ल गाँधी जी को कलकत्ता से पटना ले जाने में सफल हुए।”

भारत के जन-सामान्य के मन में गाँधी के प्रति यह विश्वास और उम्मीद गाँधी में प्रतिदिन नई ऊर्जा और आत्मशक्ति भरती गई। और तो और विशिष्टों और अभिजनोंवाली सिमटी-सकुची काँग्रेस के भीतर का चरित्र और वातावरण गाँधी के चलते बदलने लगा और वह बग्घियों से उतर जमीन पर पाँव-पाँव चलने लगी। इतना ही नहीं वह विशिष्ट किस्म के भारतीयों के विशिष्ट अधिकारों की माँग करने वाली राजनीति की जगह लोक की मुक्ति और लोक के स्वराज्य की राजनीति का मंच बन गई। यह गाँधी ही तो थे जिन्होंने पहली बार अँगरेजी परस्त काँग्रेस के मंच पर खड़े हो अपनी गुजराती मिश्रित हिन्दी—सही अर्थों में हिन्दुस्तानी का प्रयोग करना शुरू किया। यों बैरिस्टर गाँधी को बहुतेरे काँग्रेसियों की तुलना में कई गुना अच्छी अँगरेजी आती थी फिर भी विशिष्टों की राजनीति को जन-सामान्य की अपनी राजनीति में ढालने के लिए गाँधी ने भगीरथ जैसी भूमिका निभाई।

किसी भी भारतीय जनसेवी, बौद्धिक या लेखक-कवि को यह कभी नहीं भूलना चाहिए कि भारत का जन-अवाम कभी भी उसे अपना अपनत्व नहीं दे पाता जो अभिजनों जैसा सोचता, बोलता और जीता है। विपरीत इसके वह संस्कृतज्ञ गौतमबुद्ध

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

के पालि भाषा में उतरने का स्वागत करता है। कवियों में तुलसी और ग़ालिब हैं जो संस्कृत और फारसी के ज्ञानी थे फिर भी व्यापक जन-संवाद के लिए जन-भाषा अवधी और रेख़्ता यानी उर्दू में उतरे और लोक के कंठहार ही नहीं हृदय-सम्राट भी बने। इन सबकी वाणी में लोक की अनुभूतियाँ और उसकी उम्मीदें साकार हुईं। गाँधी तो स्वयं इन सबके जीते-जागते प्रमाण थे। वे दर्शन भी थे दृष्टि भी और जीवन-पथ भी। भारत में उनकी साधना का जो सोपान शुरू हुआ, उसकी पहली कक्षा चम्पारण ही थी। यहाँ उन्होंने शोषण और अत्याचार के चरम का साक्षात्कार तो किया ही, चरम दारिद्र्य और असहाय गरीबी को भी अपनी खुली आँखों देखा। सुमित्रा कुलकर्णी भितिहरवा के आस-पास की इस जीती-कराहती गरीबी का हाल बयान करती हुई लिखती हैं—"एक दूसरे गाँव में दो औरतें झोंपड़ी में से निकल ही नहीं रही थीं। क्या मामला था, यह पता लगाने के लिए कस्तूरबा झोंपड़े में चली गईं। अन्दर दो स्त्रियाँ लगभग नग्न हालत में बैठी थीं/उनके पास तन ढँकने को कपड़ा तक नहीं था कि वे बाहर सड़क पर निकल सकतीं। घर का कामकाज भी रात के अँधियारे में कर लेती थीं ताकि शरीर की लाज बची रहे।"

इससे पहले भी एक और गाँव में कस्तूरबा ने एक झोंपड़े के अन्दर जाकर देखा था कि गन्दी रहने और दिखने वाली स्त्रियाँ इस तरह रहने को इसलिए मजबूर थीं कि उनके बदन पर एकमात्र साड़ी ही थी, दूसरी के बिना वे पहली को, या पहनी गई साड़ी को बदलतीं और धोतीं कैसे?

आज इन घटनाओं की याद कर यह समझ में आए बिना नहीं रहता कि स्वच्छता का अभियान गरीबी को दूर किए बिना सफल नहीं होगा। गन्दगी में भला कौन जीना चाहता है, पर एक गरीब समाज के लिए स्वच्छता का राजनीतिक अभियान जले पर नमक छिड़कने जैसा है। पहले गरीबी दूर करो, स्वच्छ होने और रहने का संस्कार अपने-आप आ जाएगा।

गाँधी जी के पवित्र पुरुषार्थ से चम्पारण के किसानों का दुःख तो कम हो गया पर आज जो करोड़ों आत्महत्या कर चुके उनके लिए न लोकसभा गाँधी बनकर आ रही है न अन्य कोई लोकतान्त्रिक संस्था विशिष्ट अभिजनों और माफिया समूहों से ग्रस्त यह लोकतन्त्र इन हत्याओं का अपराधी है या नहीं, इसे अनुभव करने वाला न कोई राजकुमार शुक्ल दिख रहा है, न कोई त्राणकर्ता गाँधी। सब अपनी-अपनी सत्ता-साधना को ही राष्ट्रवाद और देशभक्ति साबित करने में जुटे और निर्मम रूप से मगन हैं। समकालीन भारतीय राजनीति का अब यही चरित्र और चेहरा है। चम्पारण और भितिहरवा की दारुण गरीबी देखकर गाँधी जी को अपना मूँगफली और खजूर का आहार भी महँगा लगता था और संकोच होता था पर आज तो हमारे रहनुमाओं (?) को आदमी तो आदमी, पशुओं के हक के लिए संकल्पित चारा भी सपड़ जाने में संकोच नहीं होता। साठ-सत्तर साल इस लोकतन्त्र में मानव-मानव के बीच की

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

संवेदनाएँ भी नदारद हैं। राष्ट्रीय और राष्ट्रवाद के भारी शोर-शराबे के बीच नदी, जंगल, पहाड़ और खेत-खलिहान जीव-जन्तु तक अपने-अपने अस्तित्व को लेकर चिन्ताग्रस्त हैं। कवि श्री नागार्जुन ने अपनी चर्चित कविता 'बाकी बच गया अंडा' में गाँधी के सपनों की इस दुःखद परिणति पर गहन शोक व्यक्त किया है। कवि-शायर दुष्यन्त कुमार ठीक ही लिख गए—'मस्लेहत-आमेज होते हैं सियासत के कदम/तू न समझेगा सियासत तू अभी इन्सान है।' कवितावली में कवि तुलसीदास ने, "खेती न किसान को, भिखारी को न भीख, बलि, बनिक को बनिज, न चाकर को चाकरी जीविका विहीन लोग सीधमान सोच बस, कहैं एक एकन सों 'कहाँ जाई, का करी' जो मध्य काल में अनुभव किया और लिखा था, लगता है स्थितियाँ कोई खास बदली नहीं हैं/बस कुछ गिने-चुने लोग अपनी-अपनी स्वर्ण-लंकाएँ बना सकने में कामयाब हो गए हैं और उन्हीं के बल पर यह भ्रम पैदा किया जा रहा है कि विकास का ग्राफ ऊपर जा रहा है, देश आगे बढ़ रहा है।

देश कैसे आगे बढ़ता है, देश की शक्तियाँ कैसे जागती हैं देश के लोगों को अन्यायी व्यवस्थाओं और अमानवीय शासकों से कैसे लड़ना चाहिए, इसको गाँधी ने हमें चम्पारण के अपने पहले भारतीय पाठ से सिखाया। उन्होंने समाज के लोक-विमुख आत्मकेन्द्रित हो उठे भद्र और ताकतवर लोगों को जगाया और प्रेरित किया कि पारिवारिक सुख-सुविधा और समृद्धि से बढ़कर है सामाजिक सुख और निरापद व्यवस्था। अपने को अभिजन और अतिविशिष्ट समझने से कहीं श्रेष्ठ और लोकोपकारी है जन-सेवा और जन-समर्पण। यही भारतीय परम्परा है न कि इनके नाम पर राजनीतिक ढोंग।

अक्सर कहा जाता है कि आर्यों से लेकर अँगरेजों तक का सारा भारतीय इतिहास रक्तरंजित अध्यायों की ही कहानी है, पर यह एकदम से भुला दिया जाता है कि वह चाहे बुद्ध का धर्म-प्रवर्तन हो या फिर तीर्थंकर महावीर का, मध्यकाल का भक्ति आन्दोलन हो या फिर उन्नीसवीं सदी का नवजागरण—ये सब अहिंसक सांस्कृतिक अध्याय रहे हैं भारत के। सब जानते हैं वर्तमान भारतीय जीवन और संस्कृति की जड़ें हिंसक युद्धों में नहीं, इन्हीं अहिंसक क्रान्तिकारी प्रस्थानों में रही हैं। आधुनिक समय में गाँधी इसी का पुनरावर्तन करते हैं। वे मानते हैं कि अहिंसा का मार्ग सबसे पहले सत्य का मार्ग है। जिस लोकसेवा और लोक-राजनीति में यह तत्व नहीं होगा, वह लोक को तो धोखा देगी ही/स्वयं के साथ भी छल करेगी। तब लोक उसे अविश्वास, घृणा और भय की दृष्टि से देखेगा।

चम्पारण में उन्होंने श्रीसम्पन्न वकीलों—जिनकी आदतें और खान-पान निराले थे—उनमें से प्रभावती देवी के पिता और नामी वकील ब्रजकिशोर बाबू और बाद में भारत के प्रथम राष्ट्रपति बने राजेन्द्र बाबू को अपने साथ लिया, प्रभावती जी के

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

किशोर काल में ही ब्रह्मचर्य का व्रत लेकर गाँधी के पास और साथ आ गईं। जयप्रकाश तो बाद में उनके जीवन साथी बने।

चम्पारण में गाँधी ने तत्कालीन कानूनों के आधार पर ही निलहे गोरों के खिलाफ सबूत जुटाए, मुकदमा लड़ा, जिसमें आर्थिक मदद मुम्बई के मित्रों और रंगून निवासी मित्र डॉ. प्राण जीवन मेहता ने की। इस लड़ाई में जरूरत पड़ी तो गाँधी ने न्यायालय के कठघरे में खड़े हो तत्कालीन कानूनों के अन्तर्गत अपना जुर्म भी कबूल किया। ऐसे अपराधी को लेकर मजिस्ट्रेट स्वयं अचम्भित और असमंजस की स्थिति में। कानून के सविनय भंग के इस प्रथम किस्से ने गाँधी की राजनीति के चरित्र को परिभाषित किया। 'स्वतन्त्रता आन्दोलन की विचारधारा' शीर्षक अपनी पुस्तक में समाजवादी विचारक मधु लिमये ने लिखा कि तिलक जन-विरोधी ब्रिटिश कानूनों का सैद्धान्तिक स्तर पर विरोध तो करते थे पर व्यावहारिक स्तर पर उन्हें मानते चलते थे जबकि गाँधी नागरिक स्तर पर भी उन्हें मानने को राजी नहीं रहकर जेल जाने के लिए तैयार रहते थे। तिलक और गाँधी की राजनीतिक रणनीति का एक यह ऐतिहासिक फर्क था। इस रूप में गाँधी अत्याचारी शासन और व्यवस्था को आईना दिखाते हुए उसे महसूस कराने का प्रयास करते थे कि वह अपनी गलतियाँ स्वीकारे और बदले।

गाँधी के लिए प्रतिद्वन्द्वी भी शत्रु नहीं था। हाँ, उसका नजरिया जरूर भिन्न होने के नाते नीति-विरोधी और जनविरोधी था जिसे प्रत्येक स्थिति में बदला जाना चाहिए। चम्पारण में यों भी गाँधी यह हल्ला नहीं करने गए थे कि वे लोक-उद्धारक होकर अवतरित हुए हैं। वैसे भी गोरी सरकार को काँग्रेस नामक संस्था से नफरत थी। वह उसे वकीलों के जमावड़े की एक संस्था मानती थी। इसलिए गाँधी वहाँ एक कार्यकर्ता के रूप में ही गए थे और चम्पारण उनके इस कार्यकर्ता की प्रथम प्रयोगशाला था। यहीं उन्होंने पहली बार दरिद्र नारायण का दर्शन किया, जिसकी आराधना करना उनकी राजनीति का जीवन-सोपान बन गया। यहीं गाँधी ने एक ऐसी समाजसेवा की मूर्ति गढ़ी जो त्याग, तपस्या और समर्पण की माँग करती है। पंचसितारा समाजसेवा के ग्लैमरस पाखंड के परे एक ऐसा देशी सेवा-विधान जहाँ सेवक को कठिन जीवन-अभ्यासों में उतरकर हर रोज परीक्षा जैसी देनी पड़ती है। चम्पारण के भितिहरवा आश्रम को मैंने अपनी आँखों दो हजार नौ में देखा। साहित्य अकादेमी, नई दिल्ली ने वहाँ बेतिया में 'हिन्द स्वराज्य' को लेकर एक राष्ट्रीय संगोष्ठी आयोजित की थी जिसमें कई जाने-माने राजनेता, विचारक, सम्पादक और लेखक आमन्त्रित थे। लेखक मित्रों में गाँधी दृष्टि के प्रति गहन आस्था और हिन्दी आलोचना को इस दृष्टि से एक नई पहचान और समृद्धि देने वाले भागलपुर विश्वविद्यालय के हिन्दी आचार्य डॉ. श्री श्रीभगवान सिंह भी थे। आयोजन-स्थल तो बेतिया में था फिर भी भितिहरवा जाकर उस सेवा-भूमि और तपस्या-स्थली को प्रणाम करने का अवसर साहित्य अकादेमी ने हमें दिया। मेरे जीवन की अमिट यादों में जो अटल और अमिट रूप में

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

अन्तिम साँस तक सुरक्षित रहने वाली हैं उनमें भितिहरवा सेवाग्राम, साबरमती आश्रम से जुड़ी हैं जहाँ एक विदेश पलट बैरिस्टर ने अपनी समस्त सुख-सुविधा भूलकर किसी सन्त की तरह देश-सेवा और देशोद्धार की साधना की। कहने को तो गाँधी स्वयं अभिजात खानदान से थे, पर अपना सारा अभिजात त्याग कर उन्होंने देश के कसकते दुःखों को समझने और अत्याचारी विदेशी शासकों से लड़ने का अस्त्र-शस्त्र खोजा, देश की सोई हुई आत्मा को जगाने के लिए आश्रमों की राह खोजी, वह इसलिए अनन्य है कि तमाम प्रकार के प्रदर्शनधर्मी कर्मकांडों के विरुद्ध व्यक्ति और लोक के बुनियादी रूपान्तरण से जुड़ी है। एक गाँधी भक्त कवि भवानी प्रसाद मिश्र ने लिखा है–जिसका दुःख गाना है, उसका दुःख जानो तो। भितिहरवा (चम्पारण) हो या साबरमती (अहमदाबाद) या फिर सेवाग्राम (वर्धा) मेरी अपनी दृष्टि में भारत की वे आधुनिक देव-भूमियाँ हैं जो किन्हीं भी कथित देव-भूमियों से अधिक जागृत और सन्देश-समृद्ध हैं। लेकिन यहाँ का होने के लिए जिस आचार-विचार, त्याग, तपस्या के पथ से गुजरना है उसमें स्वयं को ही आहुति और प्रसाद बनाकर प्रस्तुति होने की शर्त है–'जो घर फूँके आपना चले हमारे साथ।' कबीर और गाँधी जैसे देवों की माँग लड्डू-पेड़े, सोने-चाँदी से पूरी नहीं होती। यहाँ तो सबसे पहले 'अपना' ही घर भस्म करना पड़ता है। पर आज के इस चालाक जमाने में यह कोई क्यों करे। चालाकी और आत्मा की शुद्धता जीवन के दो विपरीत ध्रुव हैं। अब तो चालाकी ही आसान रह गई है। कर्मकांड सहज रह गया है। पाखंड ही जीवन-धर्म हो चुका है तब गाँधी की याद भी धीरे-धीरे इसी जद में आती जा रही है। इस पाखंड की जद से गाँधी की याद को निकाल सकना आज सबसे बड़ी चुनौती है।

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

धर्म निरपेक्षता : बौद्धिक उथलेपन का प्रतीक

डॉ. सदानन्द प्रसाद गुप्त*

निर्मल वर्मा स्वतन्त्रता-प्राप्ति के बाद के उन विरल रचनाकारों में हैं, जिन्होंने अपने विलक्षण गद्य के माध्यम से अनुभूति और अभिव्यक्ति की नई दुनिया का अन्वेषण किया। निर्मल जी ने अपने अनुभव-सम्पन्न और विचार-सम्पन्न गद्य से हिन्दी साहित्य को अविस्मरणीय रूप से समृद्ध किया है। उनके निबन्ध, संस्मरण, यात्रावृत्त, उपन्यास, कहानियाँ, डायरी आदि गद्य विधाएँ अपने क्षेत्र के प्रतिमान हैं। इन विधाओं में निबन्ध साहित्य का एक बड़ा हिस्सा है और महत्त्वपूर्ण हिस्सा है। उनके अधिकांश निबन्ध चिन्तनपरक हैं। गोविन्द मिश्र का मानना है कि निर्मल वर्मा का श्रेष्ठ उनके लेखों में उतरा है। (माध्यम, जनवरी-मार्च 2006, पृ. 09 हिन्दी साहित्य सम्मेलन, प्रयाग)। निर्मल वर्मा ने अपने साक्षात्कारों में निबन्ध लिखने के कारणों पर विस्तार से प्रकाश डाला है। सुकान्त दीपक, सुशील सिद्धार्थ और प्रेम कुमार के साथ बातचीत में उन्होंने उन कारणों का उल्लेख किया है, जिन्होंने उनके भीतर निबन्ध लेखन की प्रेरणा उत्पन्न की। निर्मल वर्मा ने निबन्ध-साहित्य को अपने लेखन का महत्त्वपूर्ण और अनिवार्य हिस्सा माना है। उनके अनुसार–"जब समाज, साहित्य या संस्कृति के कुछ प्रश्न मुझे परेशान करते हैं और मुझे लगता है कि उनके बारे में स्पष्ट चिन्तन की जरूरत है ताकि वैचारिक कुहासे से बाहर जाया जा सके तो निबन्ध लिखने की आन्तरिक विवशता महसूस होती है। इस तरह की प्रश्नाकुलता, जो निजी घेरे से बाहर जाकर समूचे समाज की चिन्ता बनकर मुझे व्यक्तिगत तौर पर परेशान करने लगती है, जैसे धर्म और धर्मनिरपेक्षता का प्रश्न (सुकान्त दीपक में बातचीत। संसार में निर्मल वर्मा पृ. 56)। प्रेम कुमार को दिए अपने साक्षात्कार में निर्मल जी ने विस्तार से अपने निबन्ध लेखन पर प्रकाश डाला है–"एक सीमा पर हमेशा मुझे महसूस हुआ कि अनेक ऐसी बातें, समस्याएँ, प्रश्न मुझे परेशान करते हैं, जिनका देश व जाति की

*डॉ. सदानन्द प्रसाद गुप्त, अवकाशप्राप्त प्रोफेसर : हिन्दी, 65 आई जंगल सालिक राम, गोरखपुर-273014 (उ. प्र.) मो. 9950878347

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

नियति तथा अस्मिता से सीधा-सीधा सम्बन्ध होता है। भारतीय दृष्टि और भारतीयता की समझ के बारे में गलतफहमी जो औपनिवेशिक सत्ता की देन थी, अतीत और परम्परा का वह महत्त्व, जिसे आधुनिकता के आन्दोलन ने कहीं पीछे ठेल दिया था, प्रगतिशील आन्दोलन की सीमाएँ और उनकी भ्रान्तियाँ—ये सब ऐसे प्रश्न थे, जिन्हें मैं कहानियों या उपन्यासों में वस्तुपरकता के साथ प्रकट नहीं कर सकता था। इसके लिए एक नई विधा चुनने की बाध्यता मेरे सामने आई—मुझे लगा चिन्तनपरक निबन्धों को अपनाना उचित होगा। इसलिए मैं अपने लेखन के इस चिन्तन पक्ष को उतना ही महत्त्वपूर्ण मानता हूँ, जितना कि तथाकथित सृजनात्मक पक्ष को (संसार में निर्मल वर्मा, पृ. 197)। इस प्रकार निर्मल वर्मा ने अपने निबन्धों में साहित्य, कला, संस्कृति, भाषा, समाज, परम्परा, समकालीन ज्वलन्त प्रश्न जैसे विषयों पर बहुत ही स्पष्ट एवं दो-टूक अन्दाज में अपने विचार रखे हैं। निर्मल जी की स्पष्टवादिता को उनका दुर्लभ गुण बताते हुए रमेशचन्द्र शाह लिखते हैं—"निर्मल जी में अपनी लेखक बिरादरी के लिए भी काफी असुविधाजनक सच बोलने का नैतिक साहस है (समय-संवादी, पृ. 134, सूर्य प्रकाशन मन्दिर, बीकानेर, संस्करण 2005)। यह सही है कि उन्होंने लेखकीय साहस का जो अप्रतिम उदाहरण प्रस्तुत किया, वह आधुनिक साहित्य में दुर्लभ है। उन्होंने जो समझौताहीन रुख अपनाया और किसी राजनीतिक समीकरण को महत्त्व नहीं दिया, वह आचार्य रामचन्द्र शुक्ल के व्यक्तित्व की याद दिलाता है, जिन्होंने अपने समय में भाषा-साहित्य और संस्कृति के विषय में बिना समझौता किए अपने विचार दृढ़तापूर्वक समाज के समक्ष रखे थे।

निर्मल वर्मा को स्वतन्त्रता-प्राप्ति के बाद निर्मित बौद्धिक गुलामी का वातावरण बहुत बेचैन करता है। इस बौद्धिक ने भारतवासियों की चेतना को कुंठित किया है, उसे इस तरह पंगु बना दिया है कि वह इस गुलामी के बाड़े से निकलना ही नहीं चाहता। इस कारण भारतीय बौद्धिक क्षेत्र में एक प्रकार से कुहरे की स्थिति स्वतन्त्रता-प्राप्ति के इतने दिनों बाद तक बनी हुई है, जहाँ सभी मूल मान्यताएँ धुँधली दिखाई देती हैं। इससे हमारे साहित्य, चिन्तन और विचार को दुनिया विपन्न हुई है और कठिनाई यह है कि हमारा बुद्धिजीवी वर्ग इस वैचारिक विपन्नता के प्रति उदासीन है। निर्मल वर्मा लिखते हैं—आजादी मिलने के बाद हमने अपनी मानसिक गुलामी का एक वृहत् शब्दकोश तैयार किया है, जहाँ अर्थों की व्यवस्था तो है, किन्तु वह व्यवस्था नहीं जिसके अर्थालोक में एक साधारण भारतवासी अपने जीवन की अर्थवत्ता ग्रहण करता है। इससे हमारे समाज का जो अहित हुआ है, वह तो आँखों के सामने है। किन्तु इससे हमारे साहित्य, चिन्तन और विचार की दुनिया कितनी विपन्न हुई है। इसका अनुमान नहीं लगाया जा सकता है।" (मानसिक गुलामी का शब्दकोश, दूसरे शब्दों में, पृ. 107)। निर्मल जी ने इस सन्दर्भ में जिन शब्दों की ओर संकेत किया है, वे प्रमुख शब्द हैं—धर्म निरपेक्षता या सेक्यूलरिज्म, वर्ग-संघर्ष, सर्वहारा तथा समाजवादी न्याय। निर्मल जी की दृष्टि में ये सभी शब्द पश्चिमी चिन्तन से आयातित हैं और जिनका हमारी विचार-परम्परा से

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

कोई सम्बन्ध नहीं है। इसमें धर्म निरपेक्षता शब्द ने हमारे देश की राजनीति को तो प्रदूषित किया ही है, हमारे समाज को बाँटा है, प्रशासन को पंगु बनाया है, हमारे इतिहास को विकृत किया है, भारतीय समाज को आत्म निर्वासन की स्थिति में डाला है। अनुवादजीवी मानसिकता के कारण उन्नीसवीं शताब्दी के आरम्भ से ही यूरोपीय चिन्तन के प्रति व्यापक व्यामोह भारत के तथाकथित पुनर्जागरण के दौर में प्रारम्भ हुआ। प्रसिद्ध गाँधीवादी विचारक धर्मपाल लिखते हैं—"सन् 1803 ई. तक हमारा प्रभावशाली वर्ग मानसिक पराजय स्वीकार कर चुका था। इस वर्ग का एक महत्त्वपूर्ण अंश उत्साहपूर्वक ब्रिटिश जीवन-पद्धति, ब्रिटिश विचार-पद्धति एवं अभिव्यक्ति-पद्धति को ऐसे अपना रहा था, मानो वह बौद्धिक दारिद्र्य से ग्रस्त हो, उसके पास न अपनी प्रभा हो न प्रतिभा, न प्रतिमान।" (भारतीय चित्र मानस एवं काल, पृ. 53, पुनरुत्थान ट्रस्ट, अहमदाबाद 20 मार्च, 2006)। इसी मानसिक पराजय ने हमें चिन्तन के क्षेत्र में अनुवादजीवी बनने को विवश किया। इसी का परिणाम है 'रिलीजन' के परिप्रेक्ष्य में 'धर्म' की व्याख्या। निर्मल वर्मा धर्म के वास्तविक स्वरूप को प्रत्यक्ष करते हुए लिखते हैं—"धर्म सिर्फ व्यक्ति के उन मताग्रहों का पुंज मात्र नहीं है, जिसे अपनी वैधता किसी चर्च, किसी प्रतिष्ठान, किसी पुस्तक से प्राप्त होती है। वह एक आइडियोलॉजी नहीं है। वह शताब्दियों के अर्जित अनुभवों से निचोड़ा हुआ आत्मबोध है, जिसकी कसौटी पर हम झूठ को सच से, न्याय को अन्याय से, सत् को तमस् से अलग करने का प्रयास करते हैं (बीच की राह, दूसरे शब्दों में, पृ. 90)। चन्द्रधर शर्मा गुलेरी ने भी 'धर्म' और मतवाद को एक ही अर्थ में प्रयुक्त किए जाने के परिणामों की ओर संकेत करते हुए 'धर्म' के वास्तविक स्वरूप को प्रत्यक्ष किया है—"मत या सम्प्रदाय के अर्थ में 'धर्म' शब्द का प्रयोग करना भी हमने अधिकतर विदेशियों से ही सीखा है। जब विदेशी भाषाओं के 'मजहब', 'रिलीजन' शब्द यहाँ प्रचलित हुए, तब भूल से या स्पर्धा से हम उनके स्थान में 'धर्म' शब्द का प्रयोग करने लगे। परन्तु हमारे प्राचीन ग्रन्थों में, जो विदेशियों के आने के पूर्व रचे गए थे, कहीं पर भी 'धर्म' शब्द मत, विश्वास या सम्प्रदाय के अर्थ में प्रयुक्त नहीं हुआ, प्रत्युत् उनमें सर्वत्र स्वभाव और कर्तव्य इन दो ही अर्थों में इसका प्रयोग पाया जाता है (धर्म और समाज/चन्द्रधर शर्मा गुलेरी प्रतिनिधि संकलन, पृ. 81, नेशनल बुक ट्रस्ट इंडिया, ए-5 ग्रीन पार्क नई दिल्ली, संस्करण 1997)। इस कारण भारतीय चिन्तन के अनुसार धर्मनिरपेक्ष होना कर्तव्य निरपेक्ष हो जाना है, मूल्य निरपेक्ष हो जाना है। रोय ने भी 'धर्म' और 'रिलीजन' के बीच के मूलभूत अन्तर को बहुत ही स्पष्टता के साथ रखा है—"वास्तव में जब हम मध्यकालीन ईसाई यूरोप और सांस्कृतिक भारतवर्ष की चर्चा करते हैं और दोनों के सन्दर्भ में एक ही शब्द 'धर्म' का उपयोग करते हैं तो भाषा की एक सीमा का आरोप अपने चिन्तन पर कर देते हैं। भारत का 'धर्म' और पश्चिम का 'रिलीजन' न तत्त्वतः एक ही चीज है, न एक ही दृष्टि का या एक ही जीवन-दर्शन का प्रतिबिम्बन करते हैं। 'धर्म' धारण करता है, 'रिलीजन' बाँधता है—दोनों शब्दों की व्युत्पत्ति ही इस भेद को स्पष्ट कर देती है, क्योंकि धर्म-दृष्टि विश्वमात्र की गति करे धर्मदंड के आस-पास घूमने वाला मानती

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

हुई मत, सम्प्रदाय और विश्वास के बारे में पूरी छूट देती थी, इसलिए इस देश में संस्कृति का धार्मिक होना हमारे लौकिक जीवन के लिए बाधा या प्रतिबन्ध न होकर सुरक्षा का आधार बन जाता था और बना रहा। दूसरी ओर पश्चिम के 'रिलीजन' की दृष्टि सबसे पहले मत-विश्वास को बाँधती थी, Credo (a set of belief) उसकी आधारशिला थी, इसलिए आरम्भ से ही उसमें धार्मिक और लौकिक के बीच विरोध का सम्बन्ध बन जाता था, भारतीय दृष्टि से संस्कृति के क्षेत्र में 'धार्मिक बनाम लौकिक' जैसा कोई विरोध सम्बन्ध बनता ही नहीं था, उसका सार्थक होना तो दूर की बात। दूसरी ओर पश्चिम के चिन्तन में आरम्भ से रिलीजियस बनाम सेक्यूलर अथवा सीक्रेट बनाम प्रोफेन का बुनियादी द्वन्द्व रहा'' (व्यक्ति और व्यवस्था : व्यक्ति और समाज, केन्द्र और परिधि, पृ. 160)।

इसी कारण निर्मल वर्मा ने अपने अनेक निबन्धों में यह चिन्ता व्यक्त की है कि 'धर्म' को 'रिलीजन' के परिप्रेक्ष्य में व्याख्यायित करना बहुत ही खतरनाक है और धर्म से निरपेक्ष रहने की बात सोचना आत्मघाती कदम। वे लिखते हैं—''क्या एक भारतीय के लिए 'धर्म' का वही भावार्थ है, जिसका सिक्का 'रिलीजन' की मुहर लगाकर पश्चिमी दुनिया में चलता है? यदि नहीं तो वह शब्द जो भारतीय मनीषा और मानस में इतना गहन और समृद्ध रोल अदा करता है, जो उसके भावनात्मक संसार के केन्द्र में है, उसके प्रति निरपेक्ष रहने के क्या मानी रह जाते हैं? यूरोप के राजनीति शास्त्र में 'सेक्यूलरिज्म' का जो अपना विशिष्ट इतिहास रहा है, उसका हमारी सांस्कृतिक पीठिका से दूर का लेना-देना नहीं है और संस्कृति में 'धर्म' की जो भूमिका रही है, उसकी यूरोप की उस ऐतिहासिक पृष्ठभूमि से कोई तुलना नहीं, जहाँ चर्च और राज्य के बीच बराबर एक आक्रामक विरोध रहा है।'' मानसिक गुलामी का शब्दकोश/दूसरे शब्दों में, पृ. 107)

यूरोप में 'सेक्युलरिज्म' के उद्भव की अपनी पृष्ठभूमि रही है। वस्तुतः यह एक ईसाई अवधारणा है, जो राज्य और चर्च के बीच के अन्तःसम्बन्धों को लेकर चली एक लम्बी टकराहट की परिणति थी। राजनीतिक फलक पर धर्मनिरपेक्षता' शब्द का सर्वप्रथम प्रयोग 1648 ई. में तक हुआ जब यूरोप के गिरिजाघरों की सम्पत्ति पर वहाँ के राजकुमारों का वर्चस्व स्थापित हो गया। ऐसा निरन्तर तीस वर्षों के युद्ध के पश्चात् सम्भव हुआ। इस घटना के बाद पूरे यूरोप में गिरिजाघरों की सम्पत्ति को लेकर एक बहस छिड़ गई। फ्रांस की क्रान्ति के बाद 2 नवम्बर, 1789 को वहाँ की नेशनल एसेम्बली में टैरीलैंड महोदय के द्वारा की गई एक घोषणा के अनुसार गिरिजाघरों की सम्पूर्ण सम्पत्ति का राष्ट्रीयकरण कर लिया गया। पचास वर्ष बाद इंग्लैंड के रेशनलिस्ट आन्दोलन के नेता जार्ज जैकब हॉलियोक ने सन् 1846 ई. में तत्कालीन परिस्थितियों में अपनी विचारधारा को व्यक्त करने के लिए एक नए शब्द सेक्यूलरिज्म का प्रचलन किया था, जिसका मूल अर्थ लौकिक या नैतिक होता है। हम सेक्यूलरिज्म शब्द का बार-बार पाठ करते हैं जिसका प्रयोग भारतीय संविधान के मूल रूप में अनुच्छेद 25 खंड दो के उपखंड

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

(क) में केवल एक बार किया गया हे जिसके अन्तर्गत धर्म की स्वतन्त्रता के अधिकार का उपबन्ध किया गया है। आपातकाल के समय जब समूचा विपक्ष कारागार में था तब प्रधानमन्त्री इन्दिरा गाँधी ने 42वाँ संविधान संशोधन अधिनियम, 1976 के द्वारा संविधान की प्रस्तावना में दो शब्द 'सोशलिस्ट' और 'सेक्यूलर' जोड़ दिया, पर सेक्यूलर को कहीं परिभाषित नहीं किया गया। आज भी यह शब्द अपरिभाषित है।

यह ज्ञात तथ्य है कि भारतवर्ष प्राचीन काल से ही एक धार्मिक देश रहा है। पर यहाँ 'धर्म' का वह अर्थ नहीं रहा है, जो सामी संस्कृति में प्रचलित है। यहाँ सर्वत्र कर्तव्य या स्वभाव के रूप में इसका प्रयोग होता रहा है। इसलिए यहाँ धर्म के बिना जी पाना लोगों के लिए सम्भव नहीं है। पश्चिम की तरह भारत में धर्म और राज्य में कभी कोई गठबन्धन नहीं बना। धर्म की अवधारणा ने लोक को हानि नहीं पहुँचाई, वह सदैव निरपेक्ष सत्ता के तौर पर रहा और यदा-कदा राज्य की निगरानी करता रहा। पश्चिम की तरह भारत के किसी धर्म-गुरु ने कभी किसी राष्ट्र-राज्य का सर्वोच्च पदाधिकारी होना स्वीकार नहीं किया। अधिक-से-अधिक किसी ऋषि-मुनि, सन्त, योगी आदि ने संरक्षक होना जरूर स्वीकार किया। राज्य इनके लिए भोग की वस्तु नहीं था, अपितु दायित्व था। इसके विपरीत पश्चिम में तो चर्च, वेटिकन, पोप ने सत्ता पर ही कब्जा कर लिया। पोप तो पापमुक्ति के प्रमाण-पत्र भी बाँटने लगे और वेटिकन तो एक देश बन गया, जिसके राष्ट्राध्यक्ष पोप हो गए। इसलिए पश्चिमी संस्कृति में आगे चलकर धर्म और राजसत्ता को अलग करना पड़ा। पश्चिम में धर्म के नाम पर बहुत अत्याचार हुए। भारत में कोई ऐसा उदाहरण नहीं मिलता, कि किसी नवीन अवधारणा वाले व्यक्ति को जिन्दा जला दिया गया हो। मगर पश्चिम में अनेक व्यक्ति जिन्दा जलाए गए। इंक्विजिशन की आग भारत में नहीं पश्चिम में जलाई गई। भारत में धर्म और सत्ता विज्ञान का सहयात्री रहा है। इसलिए भारत में धर्म से दूर रहने या उससे तटस्थ रहने की या उससे निरपेक्ष रहने की आवश्यकता प्रतीत नहीं हुई। भारतीय संस्कृति में जिन चार पुरुषार्थों की चर्चा की गई है, उनमें सबसे पहला पुरुषार्थ 'धर्म' ही है। इसलिए किसी भी भारतीय के लिए धर्म निरपेक्ष होना एक अजीब विडम्बनात्मक स्थिति है। अतः 'धर्म निरपेक्षता' एक अभारतीय अवधारणा है। इसे यहाँ स्थापित करने की चेष्टा में अँग्रेजी भाषी तथाकथित अभिजात वर्ग का योगदान है, जो अँग्रेजी में सोचता है, अँग्रेजी में बोलता है, अँग्रेजी में लिखता है, पश्चिमी विचारों का भारत में उल्था करता है। वस्तुतः ऐसे लोगों का जीवन अँग्रेजियत के लिए ही समर्पित है। निर्मल वर्मा भी मानते हैं कि इस तथाकथित 'सेक्यूलरिज्म' ने पश्चिम शिक्षित भारतीयों की मानसिकता को प्रदूषित किया है—"हमारे तथाकथित सेक्यूलर राजनीति के साथ एक बड़ा पाखंड जुड़ा हुआ है, जिसने हमारी मानसिकता—खासकर आधुनिक पश्चिम शिक्षित भारतीयों की मानसिकता को इस तरह प्रदूषित कर दिया है कि जहाँ-जहाँ सच बोलने का जोखिम उठाना पड़ता है ठीक वहाँ चुप्पी के रिक्त स्थान दिखाई देते हैं (हमारी चुनी हुई चुप्पियाँ दूसरे शब्दों में, पृ. 113)।

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

निमर्ल वर्मा ने लगातार इस बात पर बल दिया कि भारतीय परम्परा में 'धर्म' का वह संस्थागत अर्थ नहीं है जो 'रिलीजन' शब्द में निहित है—"भारतीय परम्परा में सहज रूप में उस धर्म निरपेक्षता के तत्त्व मौजूद थे, जो हमने आजादी के बाद अपने संविधान में लागू किए... भारतीय परम्परा में धर्म का वह संस्थागत अर्थ नहीं है, जो 'रिलीजन' शब्द में निहित है। यदि आप इस्लाम को संस्थानिकी कृत (Institutionalise) धर्म मानकर उसे भारतीय समाज में एक अलग और विशेष दर्जा देते हैं तो स्वाभाविक रूप से यह तर्कपरक होगा कि आपको हिन्दुओं को भी अपनी सहज भारतीय अस्मिता को छोड़कर इंस्टीट्यूशनल धर्म के रूप में स्वीकार करना होगा जो कि वह है नहीं (धर्म और धर्मनिरपेक्षता, दूसरे शब्दों में, पृ. 228)। निर्मल वर्मा का यह कहना एकदम सही है कि 'धर्मनिरपेक्षता' शब्द का भारतीय परम्परा से कोई सम्बन्ध नहीं है—"हिन्दुस्तान में धार्मिक परम्परा का बोध लोगों के जीवन की समरसता में रचा-बसा है...इस दृष्टि से भारतीय चरित्र के लिए 'धर्मनिरपेक्षता' या 'सेक्यूलरिज्म' असहज और आरोपित है...साम्प्रदायिकता और सेक्यूलरिज्म—दोनों ही सहज साम्प्रदायिक मर्यादा के अपदस्थ और भ्रष्ट रूप हैं, जिनका भारतीय संस्कृति के परम्परागत मनीषा से कोई सम्बन्ध नहीं है।" धर्म, लोकतन्त्र और साम्प्रदायिकता आदि अन्त और आरम्भ, पृ. 55 संस्करण 2001)। इसी कारण निर्मल वर्मा बार-बार इस बात की ओर संकेत करते हैं कि इस 'धर्मनिरपेक्षता' शब्द ने ही साम्प्रदायिकता की स्थिति उत्पन्न की है। वे आग्रह करते हैं कि भारतीयों के जीवन में सहज रूप से रचे-बसे धर्मावलम्बन के भाव को छद्म साम्प्रदायिकता से अलग करना होगा, जो असहज है और बाहर से आरोपित है। इस दृष्टि से भारतीय चरित्र के लिए धर्म निरपेक्षता' या सेक्यूलरिज्म भी असहज और आरोपित है (क्यों भारतीय संस्कृति को बचाना जरूरी है, शताब्दी के ढलते वर्षों में, पृ. 173)। निर्मल वर्मा बराबर इस बात पर बल देते हैं कि साम्प्रदायिकता और सेक्यूलरिज्म दोनों ही सहज धार्मिक मर्यादा के अपदस्थ और अवमूल्यित रूप हैं।

धर्मनिरपेक्षता की अवधारणा ने स्वातन्त्र्योत्तर भारत में बड़े खतरनाक परिणामों को जन्म दिया है। इसने हमारी राजनीति, समाज-व्यवस्था, प्रशासन तन्त्र, साहित्य तथा संस्कृति को विकृत किया है। निर्मल जी इन सभी खतरनाक परिणामों के प्रति चिन्ता व्यक्त करते हैं। वे बहुत ही अफसोस के साथ लिखते हैं कि एक भारतीय के लिए धर्मनिरपेक्षता आत्मनिर्वासन की अवस्था बनकर रह गई है। निर्मल वर्मा इसका सारा दोष सत्ताधीशों को देते हैं—"हमारे सत्ता-गुरु शासकों ने स्वतन्त्रता के बाद भारतीय जन-साधारण को एक ऐसे धर्म से निरपेक्ष होने के लिए बाध्य किया, जिसका उनसे कोई लेना-देना नहीं था और इस प्रक्रिया में उन्हें एक ऐसे सेक्यूलर व्यवस्था में रहने के लिए विवश किया जहाँ स्वयं उनकी धार्मिक आस्थाएँ एक हाशिए की चीज बनकर रह गईं। धर्म निरपेक्षता इस अर्थ में एक भारतीय के लिए आत्म निर्वासन की अवस्था बनकर रह गई (धर्म और धर्म-निरपेक्षता, आदि अनन्त और आरम्भ, पृ. 89)। निर्मल जी की दृष्टि में धर्म निरपेक्षता का एक बड़ा दुष्परिणाम समाज को

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

ख़तरनाक ढंग से अल्पसंख्यक और बहुसंख्यक में विभाजित करने के रूप में सामने आया। निर्मल वर्मा इस विभाजन को अनुचित एवं भ्रामक मानते हैं।

वे इसे भी अनुचित बताते हैं कि भारत में अल्पसंख्यक का मतलब इस्लाम मतानुयायी होना है जबकि यथार्थतः वे अल्पसंख्यक नहीं रह गए हैं। वे इस विडम्बनापूर्ण स्थिति की ओर संकेत करते हुए कहते हैं कि कश्मीर में हिन्दुओं और सिक्खों को कोई अधिकार प्राप्त नहीं है तथा शेष भारत में षड्यन्त्रपूर्वक हिन्दुओं को विभिन्न जातियों-अगड़े-पिछड़े-दलित में बाँटकर उन्हें हाशिए पर ढकेला जा रहा है और उन्हें असली अल्पसंख्यक बनाया जा रहा है (धर्म, लोकतन्त्र और साम्प्रदायिकता, आदि, अन्त और आरम्भ, पृ. 55)। यह राजनीतिज्ञों तथा उनके पिछलग्गू बुद्धिजीवियों के जघन्य और घृणास्पद चरित्र का निकृष्टतम उदाहरण है। सेक्यूलरिज्म की झंडाबरदार राजनीतिक पार्टियाँ किस प्रकार धार्मिक आस्था का शोषण करती रही हैं उसकी भर्त्सना करते हुए निर्मल वर्मा मानो समाज को सचेत करना चाहते हैं—"राष्ट्रीय स्तर पर मनुष्य की धार्मिक आस्था का शोषण हर सेक्यूलर पार्टी अपने निहित स्वार्थों के लिए करती है। अल्पसंख्यकों को राष्ट्र के भीतर हमेशा अल्पसंख्यक बनाए रखना ताकि वे अपने को हमेशा असुरक्षित महसूस करते रहें और इस असुरक्षा बोध को अपने वोटों से भुनाते रहें, जिसका परिणाम आज हम भुगत रहे हैं। यह संरक्षण और सुरक्षा के नाम पर भारत के सामाजिक-राजनीतिक जीवन को हमेशा के लिए विभाजित रखने की स्वार्थपरक मानसिकता थी" (धर्म और धर्म निरपेक्षता, आदि, अन्त और आरम्भ, पृ. 95) निर्मल वर्मा के कथन की प्रामाणिकता तब और अधिक पुष्ट होती है जब हम विभिन्न राजनीतिक दलों और अन्य संगठनों के चरित्र का विश्लेषण करते हैं। जैसे काँग्रेस के लिए सेक्यूलरिज्म अल्पसंख्यकों को, जो मुस्लिम समुदाय के लिए ही रूढ़ हो गया है, पर जो वास्तव में अल्पसंख्यक नहीं हैं, डराने का हथियार है, समाजवादी पार्टी तथा बहुजन समाज पार्टी और जनता दल के लिए मुस्लिम वोटों को हथियाने का उपकरण है, अधिकांश स्वयंसेवी संगठनों के लिए एक प्रोजेक्ट मात्र है तथा तथाकथित बुद्धिजीवियों के लिए संगोष्ठियों और सेमिनारों में न समाप्त होने वाला विषय है, जिसके सहारे वे अपनी रोजी-रोटी चलाते हैं, भाषण देते हैं, लेख लिखते हैं। यही कारण है कि निर्मल वर्मा का मानना है कि हमारे समाज में धर्मनिरपेक्षता का आन्दोलन दरअसल मुक्ति का आन्दोलन न होकर उन धार्मिक विश्वासों के विघटन को व्यक्त करता है जो एक समय में भारतीय जनता को इस धरती पर रहने का आश्वासन देते थे (कहानी : एक शुद्ध विधा?, ढलान से उतरते हुए, पृ. 29, संस्करण 1988 राजकमल प्रकाशन, नई दिल्ली)।

दरअसल, धर्मनिरपेक्षता आधुनिक भारतीय समाज में विशेषकर बौद्धिक समुदाय और राजनीतिज्ञों का जबर्दस्त पाखंड बनकर रह गया है। हमारे बुद्धिजीवी और राजनेता बार-बार धर्म को राजनीति से अलग करने की रट लगाए रहते हैं, उन पर टिप्पणी करते हुए निर्मल वर्मा लिखते हैं—"धर्म को राजनीति से अलग करने वाले

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

हमारे प्रवक्ता हर मौके पर अपनी सुविधा-स्वार्थ के लिए धर्म के हर क्षेत्र में हस्तक्षेप कर सकते हैं, किन्तु वह हमारी धर्म-परम्परा को इतना क्षीण, निस्तेज और निर्जीव जरूर कर देना चाहते हैं कि वह राजनीति पर किसी तरह का कोई नैतिक अंकुश न लागू कर सके। धर्म को समाज से निष्कासित करने के बाद जो आत्मशून्यता फैलती है, उसमें अनेक बीमारियों के बीज चाहे वह भौतिक लोलुपता हो, वैचारिक कट्टरता हो, उपभोगी मनोवृत्ति हो—मौजूद रहते हैं (बीच की एक राह, दूसरे शब्दों में, पृ. 91)। इस प्रकार निर्मल जी इस बात पर बार-बार बल देते हैं कि जिस धर्मनिरपेक्षता को हम लोगों पर जबरन थोपने की कोशिश कर रहे हैं, वह एक विकृति को जन्म दे रही है और वह विकृति है साम्प्रदायिकता (साहित्य हमारी आत्मा का ब्लू फिल्म है, संसार में, निर्मल वर्मा पृ. 63, संस्करण 2006)।

धर्मनिरपेक्षता एक प्रकार से मूल्यहीनता का पर्याय है। निर्मल वर्मा लिखते हैं—धर्म निरपेक्षता का विकृत रूप है—सनकी स्वार्थपरक मूल्यहीनता। पिछले तीस वर्षों में भारत में जिस भौतिक, परजीवी, आधुनिक जीवन-शैली का विकास हुआ है, उसी के भीतर साम्प्रदायिक असहिष्णुता और धर्मनिरपेक्षी भौतिकता के विषैले तत्त्व जन्मे और पनपे हैं। (क्यों भारतीय संस्कृति को बचाना जरूरी है?, शताब्दी के ढलते वर्षों में, पृ. 175)। धर्मनिरपेक्षता की इस अवधारणा ने हमारे समाज में विविध धार्मिक विश्वासों के मुक्त आदान-प्रदान को बाधित किया है। निर्मल वर्मा लिखते हैं—'स्वतन्त्र भारत में 'धर्मनिरपेक्षता' के नाम पर हमने आस्था और जिज्ञासा की खिड़कियों पर परदे गिरा दिए हैं। मनुष्य का धर्म उसका व्यक्तिगत सरोकार बनकर रह गया है। हमारे सार्वजनिक जीवन में विविध धार्मिक विश्वासों का मुक्त आदान-प्रदान नष्ट हो चुका है। हमें डर लगता है कि यदि हम खुलकर विभिन्न धार्मिक विश्वासों पर बातचीत करेंगे तो 'साम्प्रदायिकता' के दोषी ठहराए जाएँगे...गाँधी जी ने तो धर्मनिरपेक्षता के आधार पर नहीं, हर भारतीय की धार्मिक अस्मिता को स्वीकार करके इस देश में राष्ट्रीय भावना को जाग्रत किया था। हिन्दुत्व के केन्द्र बिन्दु पर उन्होंने अन्य सब धर्मों को सम्मान दिया था। (संवाद मर्यादाएँ, कला का जोखिम, पृ. 55, संस्करण 1984)। गाँधी जी ऐसा करने में इसलिए सफल हुए, क्योंकि हिन्दुत्व में अन्य मतों के स्वीकार का भाव सदैव विद्यमान रहा है। यह इसलिए भी सम्भव हुआ, क्योंकि हिन्दू धर्म की इमारत किसी मत-विश्वास या एकान्तवादी मान्यता पर नहीं बनाई गई है, बल्कि सृष्टि मात्र के साथ सम्बन्ध पर आधारित है (धर्मनिरपेक्षता के दर्जे, केन्द्र और परिधि (अज्ञेय), पृ. 203)। निर्मल वर्मा स्वातन्त्र्योत्तर समाज में व्याप्त हिंसा और असहिष्णुता के वातावरण के लिए 'सेक्यूलर' मानसिकता को ही जिम्मेदार मानते हैं (भारतीय लेखक का स्वप्न और जिम्मेदारी, भारत और यूरोप : प्रतिश्रुति के क्षेत्र, पृ. 118)।

इसलिए भारतीय समाज में धर्मनिरपेक्षता की आयातित अवधारणा को आरोपित करने के लिए निर्मल वर्मा जहाँ एक ओर सत्तालोलुप राजनीतिज्ञों को कठघरे में खड़ा करते हैं, वहीं इसकी जिम्मेदारी पश्चिमी मानसिकता में ढले भारतीय बुद्धिजीवियों पर

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

भी डालते हैं। उनकी दृष्टि में तथाकथित भारतीय बुद्धिजीवियों ने भारत के लोकमानस को विकृत करने का प्रयास किया है। उनका कथन द्रष्टव्य है—"भारत के बाहरी शिक्षित वर्ग पर पश्चिम की उदारवादी लोकतान्त्रिक धारा का प्रभाव हमेशा रहा है, जिसकी अभिव्यक्ति एक ओर समाजवाद और दूसरी ओर धर्म-निरपेक्षतावाद में हुई है। आज हमारे समाज में दोनों की जो दयनीय भूमिका देखने में आती है, वह हमारे बौद्धिक उथलेपन की निशानी है। बरसों से समाजवादी आन्दोलन, जो पश्चिम की नकल में—हमारे समाज को वर्गों में बाँटता रहा है, वह उतना ही कृत्रिम है, जितना वह धर्मनिरपेक्षतावाद जो भारतीय समाज के धार्मिक स्वभाव को नकारकर उसे अल्पसंख्यक और बहुसंख्यक सम्प्रदायों में विभाजित करने की चेष्टा करता रहा है। दोनों ने ही हमारी संस्कृति के उस लोक मानस को विकृत करने का प्रयास किया है, जहाँ लोकतन्त्र की मर्यादाएँ पिछले दो हजार वर्षों के दौरान एक विशिष्ट भारतीय परिवेश में विकसित हुई थीं। (वही, पृ. 117)। इस परिस्थिति के लिए पश्चिमी भाषा और शिक्षा से सम्पन्न बुद्धिजीवी वर्ग उत्तरदायी है, जिसने अपने अज्ञान की आड़ में समाजवाद, सेक्यूलरिज्म के तथाकथित क्रान्तिकारी नारों से अपने ही समाज की मूल मर्यादाओं को नष्ट करने का प्रयास किया है (वही, पृ. 118)। इस सन्दर्भ में तथाकथित बुद्धिजिवी वर्ग की भूमिका बहुत ही निराशाजनक है। उन्होंने सेक्यूलरिज्म के नकली नारों से देश की जातीय समग्रता को भग्न करने की भरपूर चेष्टा की है। इसके लिए सेक्यूलरिज्म के पक्ष में नारा लगाने वाला राजनेता वर्ग और बुद्धिजिवी समान रूप से अपराधी है। जिस प्रकार विकास के नाम पर इस वर्ग ने मनुष्य और प्रकृति के सहज सम्बन्ध को खंडित किया, ठीक उसी तरह एक तथाकथित 'सेक्यूलर' राज्यसत्ता के नाम पर उसने एक भारतीय के धर्म संस्कार और उसके सभ्यता-बोध के बीच जो सम्बन्ध सदियों से चला आ रहा था, उसे भी खंडित किया (भारतीय जीवन की निराशाएँ, भारत और यूरोप : प्रतिश्रुति के क्षेत्र, पृ. 62)। निर्मल वर्मा इसे बौद्धिक दिवालियेपन और आत्मविस्मृति का प्रमाण मानते हैं, जिसकी मिसाल दुनिया में और कहीं देखने को नहीं मिलती। स्वतन्त्रता-प्राप्ति के बाद सत्तारूढ़ हुए वर्ग ने अपने तथाकथित धर्मनिरपेक्षी (जिसे धर्म अज्ञानी कहना अधिक उपयुक्त होगा) उत्साह में पश्चिम की भौंड़ी नकल करते हुए भारत के सार्वजनिक जीवन से इसके परम्परागत सभ्यता बोध को प्रतिक्रियावादी और पिछड़ा मानकर बहिष्कृत कर दिया (धर्म और धर्म निरपेक्षता, आदि, अन्त और आरम्भ, संस्करण 2001, पृ. 94)।

इस धर्मनिरपेक्षता शब्द के अतिशय प्रयोग ने राजनीति को तो प्रदूषित किया ही, समाज-व्यवस्था को भी नष्ट करने में कोई कसर नहीं छोड़ी, साथ ही साहित्य, इतिहास, संस्कृति, पत्रकारिता की दुनिया को विकृत किया, अपनी परम्परागत समृद्ध विरासत चिकित्सा की भारतीय पद्धति को उपेक्षित किया। समाज को अल्पसंख्यक- बहुसंख्यक समुदाय में बाँटने का यह परिणाम हुआ कि अल्पसंख्यकवाद धर्मनिरपेक्षता का पैमाना बन गया और बहुसंख्यक समुदाय की भावनाओं-संवेदनाओं के प्रति रुझान को

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

साम्प्रदायिकता की कसौटी माना जाने लगा। यह यहाँ तक हुआ कि 'हिन्दू' शब्द का उच्चारण ही साम्प्रदायिकता का प्रमाण हो गया और मुसलमान शब्द की रट धर्मनिरपेक्षता की कसौटी। परिणाम यह हुआ कि हिन्दू जीवन-पद्धति के अनुयायी अपने को हिन्दू कहने में संकोच का अनुभव करने लगे। इसका इतिहास और संस्कृति की दुनिया पर बड़ा घातक प्रभाव पड़ा। वैदिक-साहित्य, उपनिषद्, रामायण, महाभारत का नाम लेना भी साम्प्रदायिकता के घेरे में आने लगा। रामविलास शर्मा ने बौद्धिक जगत् की इस विपन्न स्थिति पर टिप्पणी करते हुए लिखा है—"हिटलर के अभ्युदय के समय जो स्थिति जर्मनी के वामपक्ष की थी, उससे मिलती-जुलती स्थिति बीसवीं सदी के अन्त में भारत के सौर विशेष रूप से हिन्दी प्रदेश के वामपक्ष की है। प्राचीन संस्कृति पर गर्व करना तो बहुत दूर की बात है, उसका नाम लेने से भी कुछ लोगों को उबकाई आने लगती है। अँग्रेजी राज कायम होने से पहले ज्ञान-विज्ञान के क्षेत्र में भारत की कोई भी उपलब्धि हो उसका जिक्र करते ही मार्क्सवादी मित्र कहते हैं कि यह पुनरुत्थानवादी है (जातीय संस्कृति और साम्राज्यवाद, भारतीय साहित्य की भूमिका, पृ. 340, राजकमल प्रकाशन, नई दिल्ली, संस्करण 1996)। इसी बौद्धिक विपन्नता की चर्चा भगवान सिंह ने भी की है—"ऋग्वेद में इस बात के अनेक प्रमाण हैं कि धरती घूमती है। परन्तु यदि किसी ने दावा कर दिया कि ऋग्वैदिक काल में भारतीय चिन्तकों को इस बात का ज्ञान था कि धरती घूमती है तो उसको पुनरुत्थानवादी ही नहीं उससे भी कुछ गर्हित सिद्ध किया जाना निश्चित है। इस नकारात्मक दृष्टि के लिए सबसे अधिक जिम्मेदार हमारे वे इतिहासकार रहे हैं, जिनसे ही हम इस इतिहास के उद्धार की अपेक्षा कर सकते थे (आमुख, भारतीय सभ्यता की निर्मिति, पृ. 13/इतिहास बोध प्रकाशन, इलाहाबाद)।

इस बिडम्बनापूर्ण स्थिति का एक परिणाम यह भी हुआ कि हिन्दू संस्कृति पर आधारित रचनाएँ भी साम्प्रदायिकता के घेरे में आ गईं—तुलसीदास, भूषण, भारतेन्दु, मैथिलीशरण गुप्त, जयशंकर प्रसाद यहाँ तक कि निराला भी हिन्दूवादी और साम्प्रदायिक रचनाकार घोषित कर दिए गए तथा मुस्लिम साम्प्रदायिकता का खुलकर पक्ष लेने वाले, शिकवा और जवाबे शिकवा के रचयिता, पाकिस्तान के सर्वप्रथम कल्पक इकबाल और ढाली सेक्यूलर। इतिहास में अकबर और औरंगजेब सेक्यूलर और महान् शासक हो गए तथा महाराणा प्रताप और शिवाजी साम्प्रदायिक। यह बौद्धिक षड्यन्त्र न्यस्त स्वार्थ के कारण स्वतन्त्रता पूर्व रचा गया था, जो स्वतंत्रता के बाद भी चलता रहा। इसने भारतीय जनमानस में जहाँ एक ओर आत्महीनता का संचार किया, वहीं विभ्रम की स्थिति उत्पन्न करके समाज को बाँट दिया। इसे ही निर्मल वर्मा ने आत्म-निर्वासन की स्थिति कहा है। इस आत्मनिर्वासन की स्थिति से निकलना बहुत आवश्यक है। इसके लिए जरूरी है कि धर्मनिरपेक्षता की विकृति से शिक्षा, संस्कृति, राजनीति को अलग किया जाए। यदि ऐसा नहीं हुआ तो भारतीय समाज में असहिष्णुता की वृद्धि होगी और आने वाली पीढ़ियाँ इसके भयंकर परिणाम की ज्वाला में और अधिक झुलसने के लिए अभिशप्त होंगी।

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

इस्लाम और मुसलमान

शंकर शरण*

एक विचार, विचारधारा या मतवाद तथा एक व्यक्ति या जन समुदाय में बुनियादी अंतर होता है। तदनुरूप उन दोनों के प्रति व्यवहार में भी अंतर होना ही चाहिए।

इस्लाम (जिसे हाल तक इस के अधिक सही नाम से पुकारा जाता थाः मोहम्मेडनिज्म या मुहम्मदी मत) के मामले में प्रायः यह बात भुला दी जाती है। इस्लाम को मानने वाला व्यक्ति उस से उसी तरह बँधा जुड़ा नहीं है, जैसे उस की त्वचा का रंग या नस्ल। जैसे, कोई काला या गोरा है, तो वह आजन्म वैसा ही रहेगा। इसी तरह, कोई स्लाव या मंगोल नस्ल का है, तो उस के व्यक्तित्व का यह तत्व बदल नहीं सकता। किंतु इस्लाम एक मत है, इसे स्वीकारने वाले नए लोग आते हैं, तो इसे छोड़ कर जाने वाले भी हैं। अर्थात्, यह किसी के साथ जैविक जैसा स्थाई गुण नहीं है। यह स्वैच्छिक चुनाव है। धर्मांतरण के आवाहन भी इसी का प्रमाण हैं। अतः इस्लाम का जैवीकरण करने की भूल नहीं करनी चाहिए।

मतवाद, सिद्धांत, विचारधारा एक चीज है, मनुष्य दूसरी चीज। इसलिए मतवाद से हमारा बर्ताव और उसे मानने वाले मनुष्य से बर्ताव एक ही नहीं हो सकता। वैसे भी, जो मतवाद खुल कर राजनीति में संलग्न हो, जिस में दबदबे, डॉमिनेंस, राज्य, शासन, कानून, युद्ध, टैक्स, बैंकिंग, आदि की शब्दावली प्रमुखता से स्थापित हो, वह सर्वप्रथम राजनीतिक विचारधारा है, जिस की आलोचना करना तो मनुष्य का जन्म सिद्ध अधिकार है! यह अधिकार न देने की जिद रखना स्वतः उस मतवाद का तानाशाही चरित्र प्रमाणित करेगा। इस पर चुप्पी उस तानाशाही को मान्यता देना हुआ, जो हर हाल में हानिकारक है।

इस्लाम की आलोचना को किसी समुदाय की 'भावना' को चोट पहुँचाना कहना कोरा अज्ञान या छलपूर्ण चतुराई है। किसी मत, विचार, सिद्धांत की उपयुक्तता का निर्णय भावना से नहीं होता। विशेषकर, ऐसा मत जो स्वयं को सत्य, बल्कि 'एक

* संपर्क : 4/44, एन.सी.ई.आर.टी. आवास, अरविन्दो मार्ग, नई दिल्ली-1110016

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

मात्र' सत्य कहता हो, उसे तो सत्य की कसौटी पर खरा उतरना होगा। अन्यथा यह जबर्दस्ती हुई, जो उस के खतरनाक तानाशाही राजनीतिक चरित्र की ही पुष्टि करेगी।

इसीलिए, भारत के संदर्भ में हिन्दू मुस्लिम सह अस्तित्व को सदा, सर्वदा के लिए स्थाई मान कर कोई समाधान नहीं सोचना चाहिए। विशेषकर तब, जब हिन्दू मुस्लिम के अंतर पर कभी खुल कर विमर्श किया ही नहीं जाता। उस पर एक तरह का प्रतिबंध लगा रहा है। जबकि यह गंभीर बिन्दु है, जिस में कई समस्याओं की जड़ छिपी हुई है। भारत और पाकिस्तान को, बल्कि भारत में भी हिन्दू और मुसलमानों को अलग करने वाली चीज केवल इस्लाम है। इस के सिवा हर चीज में वे एक जैसे हैं, क्योंकि वे एक ही ऐतिहासिक, नस्ली, सांस्कृतिक, भाषाई समूह हैं। भारत (और पाकिस्तान, बंगलादेश) के आम मुसलमान बाहर से आए लोग नहीं, न वे हमेशा से मुसलमान थे।

यही नहीं, यहाँ हिन्दू मुस्लिम आपसी संबंध बार वार बदलते रहे हैं। अतः अभी यह जहाँ, जैसा है, वैसा ही स्थाई मानकर चलना बड़े भ्रम का शिकार होना है। हाल का इतिहास गवाह है कि गाँधीजी, नेहरू और पूरी कांग्रेस ने इसी भ्रम में करोडों हिन्दुओं सिखों को अनजाने तबाह किया। आज सभी मानते हैं कि 1947 के देश विभाजन से 'वैसा होगा', यह किसी ने कल्पना नहीं की थी! सच तो यह है कि उस के बाद पाकिस्तान द्वारा 1948, 1965, 1971 और 1999 के आक्रमणों की भी नेहरू और कांग्रेस ने आशा नहीं की थी। फिर, भारतीय शासन में कश्मीर से हिन्दू मार भगा दिए जाएंगे, इस की भी कल्पना नहीं की गयी थी।

प्रश्न है, क्यों नहीं की गयी थी, या क्यों नहीं कर सकेघ् उत्तर उसी बिन्दु में है जिसे ऊपर उठाया गया। मतवाद से बर्ताव, और उस मत को मानने वाले से बर्ताव में अंतर न रखने से यह भूल हुई। हिन्दू मुस्लिम सह अस्तित्व को स्थाई मानने से भूल हुई। क्योंकि किसी मतवाद विशेष का चरित्र ही इसे खारिज कर सकता है। यदि कोई मतवाद दूसरे मतों का कोई अधिकार स्वीकार ही नहीं करता, तो वह सह अस्तित्व को भी स्वीकार नहीं करता। तब वह निरंतर उसे तोड़ने, बदलने के लिए प्रयत्नशील रहेगा। इसी तथ्य को नोट नहीं करने से गाँधीजी और कांग्रेस से वह भूल हुई, जैसी आज भी की जा रही है।

मुस्लिम गैरमुस्लिम सहअस्तित्व स्थाई नहीं है। इस्लाम और लोकतंत्र साथ नहीं रह सकता। शरीयत या इन्सानियत, दोनों में से एक ही बचेगी। यही वह मतवादी गुत्थी है, जिसे सुलझाए विना किसी भी समाधान की आशा दुराशा रहेगी। इस्लाम को कृत्रिम, वाह्य मतवाद न मानने, और उसे मुस्लिम समुदाय का अंतर्गठित, जैविक, अविभाज्य अंग मानने से ही मामला नस्ली जैसा रूप ले लेता है। मानो दो समुदायों में भेद और विवाद स्थाई हो। जबकि यहाँ करोडों मुसलमान दस ही पीढ़ी पहले मुसलमान नहीं थे। खुद जिन्ना और इकबाल, यानी पाकिस्तान के संस्थापक, के पूर्वज तीन ही पीढ़ी पहले हिन्दू थे।

अतः समझना होगा कि एकाधिकार, विशेषाधिकार और अलगाववाद इस्लामी मतवाद का अविभाज्य अंग है, जो लोकतंत्र और मानवीय विवेक, दोनों के विरुद्ध

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

पड़ता है। क्योंकि वह दूसरों को किसी हाल में बर्दाश्त नहीं करता। लाचारी और चीज़ है, लेकिन इस से भी यही दिखता है कि मौका मिलते ही वर्चस्व, विशेषाधिकार या अलगाव की लड़ाई शुरू हो जाएगी। यह इतना पक्का है कि इस्लाम के अंदर भी मतभेद स्वीकार्य नहीं है। इसीलिए शिया, अहमदिया, बंगाली, हजारा, यजदी, आदि का सामूहिक संहार होता है। एक जगह नहीं, हर देश में, जहाँ भी ताकत बढ़ी या मौका मिला, इस्लाम यही करता रहा है। इसलिए, वर्चस्व, एकाधिकार और दूसरों को मिटाना इस्लाम का मूल सिद्धांत है। कुरान और हदीस में इस के अंतहीन आवाहन हैं। उसे झुठलाने, लीपा पोती करने, मीठी व्याख्या करने, आदि से आज तक कोई लाभ नहीं हुआ है, सिवा खुद भ्रमित रहने और दूसरों को भ्रमित करने के। वह मधुर व्याख्याएं प्रायः कोई मुसलमान नहीं मानता, जो खुद मूल किताबें पढ़ ले। इसीलिए आधिकारिक इस्लामी संस्थान, बड़े ईमाम, अयातुल्ला प्रायः वह लीपापोती वाली बातें कभी नहीं करते, जो बौद्धिक बहस मुबाहसों में लेखक, नेता, प्रोफेसर आदि करते रहते हैं। इस्लाम की बातें बिलकुल साफ, सीधी और संक्षिप्त हैं, जिसे न समझना जानबूझ कर नासमझ बनना है।

दूसरे मतों, धर्मों, विचारों के साथ सह अस्तित्व को खुद इस्लाम जोर देकर खारिज करता है। अतः यह स्पष्ट जानना चाहिए कि इस्लामी मतवाद के साथ किसी मनुष्य का संबंध वैचारिक स्वीकार्यता पर निर्भर है। यदि कोई हिन्दू से मुसलमान बना था, तो वह उसी रास्ते से वापस भी आ सकता है। इस्लाम से वह अपना संबंध तोड़ सकता है। निस्संदेह, इस्लाम इसकी इजाजत नहीं देता!

आगे बढ़ने से पहले यह जान लेना उपयोगी होगा कि इस्लाम के संबंध में ऐसी बातें दुनिया के महानतम दार्शनिकों, चिंतकों और विश्व प्रसिद्ध नेताओं ने भी कही हैं। आज नहीं, सदियों पहले से, विभिन्न देशों, कालों में, जिन में खुद मुस्लिम नेता व विद्वान भी रहे हैं। उन महानों में कुछ नाम इस प्रकार हैं—तॉकेविले, मांटेस्क्यू, शॉपेनहावर, वाल्टेयर, दान्ते, मुस्तफा कमाल पाशा, बर्ट्रेंड रसेल, विंस्टन चर्चिल, जॉन एडम्स, डेविड ह्यूम, मुहम्मद इब्न जकरिया राजी, एडवर्ड गिब्बन, बर्नार्ड शॉ, मार्क ट्वेन, उमर खैयाम, थॉमस कार्लाइल, विलियम ग्लैडस्टोन, स्वामी दयानन्द सरस्वती, रवीन्द्रनाथ टैगोर, आदि। इस से इतना समझ लेना चाहिए कि इस्लाम के प्रति आलोचनात्मक, सत्यनिष्ठ बातें कहने का आग्रह कोई हमारा नया प्रयत्न नहीं है। बल्कि पुराने सच को ही फिर से याद करने जैसा है, क्योंकि यह आवश्यक और आज के लिए अति प्रासंगिक है।

यह सामान्य तथ्य है, जिसे मानने में शायद ही किसी को आपत्ति होगी कि कोई सच्चा ज्ञान—चाहे वह सामाजिक हो, या वैज्ञानिक, दार्शनिक, धार्मिक—वह स्वतः अपने बूते खड़ा होता है, या बूता न होने पर गिरता, ढहता भी है। किसी सच्चे सिद्धांत को मानने, मनवाने के लिए हिंसा नहीं करनी पड़ती। जैसे, गुरुत्वाकर्षण का सिद्धांत या योग विज्ञान। इसे लोग मानें, इस के लिए किसी वैज्ञानिक या योगी को धमकी

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

देने की जरूरत नहीं है! बल्कि उसे इस से कोई मतलब ही नहीं है कि लोग उसे मानते हैं या नहीं। अर्थात्, वैचारिक, धार्मिक अवधारणाएं यदि सत्य या उपयोगी हैं, तो अपनी सत्ता स्वयं मनवा सकती हैं। उस के लिए उन्हें अपने अनुयायियों, विश्वासियों द्वारा किसी मदद की जरूरत नहीं होती। जैसे, उपनिषद् या गीता का ज्ञान स्वयं अपनी उपयोगिता सिद्ध करता रहा है। उसे दुनिया में फैलाने, पढ़ाने के लिए किसी को लाठी या बंदूक दिखाने की आवश्यकता कभी नहीं पड़ी। और वह उपनिषद् और गीता मानवता के साथ हजारों वर्षों से है। यह उस की अपनी सामर्थ्य है।

जबकि कुरान में मौजूद अल्लाह और उस का पैगंबर, दोनों ही इस दृष्टि से पूर्णतः दुर्बल हैं। बिना हिंसा बल और उस के प्रयोग के वे चार कदम भी चलने में निहायत लाचार दिखते हैं। कुरान में दर्जनों ऐसी आयतें हैं जो गैर मुसलमानों को मार डालने और उन के प्रति साधिकार हिंसा का आदेश देती हैं। मुहम्मद की कोई भी जीवनी उठाएं, उस में उन के द्वारा लड़े गए युद्धों का वर्णन सविस्तार मिलता है। वे युद्ध भी अधिकांश दूसरों पर हमले और छल बल हिंसा द्वारा अधिकार जमाने के हैं, दूसरों द्वारा हमले पर बचाव के नहीं। युद्ध और विस्तार के इस दृश्य की तुलना में मुहम्मद को कहीं दार्शनिक प्रवचन देते या लोगों को अपने विचारों से कायल कर लेने का कोई उदाहरण शायद ही मिलता है।

इसी से यह बात समझी जा सकती है कि इस्लाम किसी को अपने घेरे से बाहर जाने की इजाजत क्यों नहीं देता, जबकि बाहर के लोगों को अंदर लाने के लिए सदैव लालायित रहता है। यह आरंभ से ही एक राजनीतिक विचारधारा है, कोई आध्यात्मिक, दार्शनिक चीज नहीं। इस सचाई की परख चौदह सौ वर्षों के संपूर्ण इस्लामी इतिहास से हो सकती है। जिस तरह खुद उस के संस्थापक मुहम्मद को अपना दावा तलवार के बल पर ही मनवाना पड़ा, उसी तरह आज भी इस्लामी नेता, शासक, आलिम, प्रवक्ता, सभी केवल हिंसा और हिंसा की धमकी के सिवा कोई उपाय नहीं जानते। मुसलमानों को भी अपने अधीन रखने के लिए, उन की शंकाओं, आलोचनाओं को दबाने के लिए उन के पास मौत के फतवे के सिवा कोई उपाय नहीं। ऐसे मतवाद को स्थाई मानना बड़ी भारी भूल है। मानवीय विवेक इस के जाले झाड़ को आज नहीं कल साफ कर हटा देगा। जैसे, उस ने कम्युनिज्म का हटाया।

इसलिए, हिन्दू मुस्लिम संबंधों की समस्या को स्थाई सह अस्तित्व की दृष्टि से समझना, तय करना भूल है। इस का सैनिक तरीके या कानूनी उपायों से भी समाधान चाहना भी बेकार की बातें हैं। ऐसी कल्पनाएँ अज्ञानवश की जाती हैं।

इस्लाम के साथ बर्ताव संख्या बल पर नहीं, चेतना के बल पर करना सर्वाधिक उपयुक्त है। लोग किसी दिन इस्लाम में आए, और एक दिन छोड़ कर जाएंगे। यह परिवर्तनशीलता का अटल नियम है। यदि यह न होता, तो किसी शंका पर खुद मुसलमान लेखकों, कवियों, विचारकों, का कत्ल करना और उन पर मौत के फतवे देने की कोई जरूरत नहीं थी। यह परिवर्तन रोकने का ही प्रयास है। मगर यह दयनीय है, जिसे समझने

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

और प्रकृति अनुरूप चलने देने पर जोर देने की जरूरत है। स्वेच्छा, न कि बल प्रयोग मानव समुदाय के सहज विकास की प्रवृत्ति है। इसे समर्थन देना चाहिए।

हिन्दू लोग भारत और सारी दुनिया में विभिन्न समुदायों के साथ रहते हैं। कहीं उन का झगड़ा किसी और समुदाय के साथ नहीं होता। तब मुसलमानों से ही क्यों होता है। दूसरी ओर, मुसलमानों का सारी दुनिया में हर कहीं, हर समुदाय के साथ झगड़ा है। कहीं वे शांति से रहते नहीं दिखते। ईसाई, यहूदी, बौद्ध, सिख, हर किसी से उन की लड़ाई चल रही है। इस की कोई व्याख्या नहीं, सिवा इस के कि इस्लाम का मूल सिद्धांत दूसरों के साथ स्थायी दुश्मनी है। पूरी कुरान में जो सब से अधिक दुहराई बात है, वह यही कि गैर मुस्लिमों को खत्म करो, उन्हें हीन अवस्था में रखो या उन्हें इस्लामी दायरे में लाओ। कुरान में 70 से अधिक आयतें ऐसे आवाहन करती हैं। दुनिया भर में मुसलमानों की लड़ाई की जड़ यही है।

मुसलमानों को इन आवाहनों की व्यर्थता से अवगत कराना ही एक मात्र उपाय है। इस की व्यर्थता समझना सरल भी है। जब आप जोर जबर्दस्ती किसी को मुसलमान बनाते रहे, उसी बल पर अपने अंदर रखते रहे—इस्लाम छोड़ने पर मौत की सजा का यही मतलब है—तब दूसरों से शिकायत की तुक ही क्या है? जब आपके पास ताकत थी, तो आपने अरब ही नहीं, यूरोप, अफ्रीका, और एसिया, जहाँ तक संभव हुआ, सब को खत्म किया, या मुसलमान बनाया। सारी आधिकारिक इस्लामी किताबें गर्व से इस का बयान करती हैं!

आज जिहादी खुली लड़ाई नहीं जीत सकते, इसलिए आतंकी हमले चल रहे हैं। यदि खुले सैनिक बल पर जीत सकते, तो सदियों पहले इधर हिन्दुस्तान, उधर रूस और स्पेन में इस्लामी सेनाएँ रुक नहीं गई होतीं। न ऑटोमन साम्राज्य और खलीफत खत्म हुई होती।

फिर सन् 1924 में तुर्की में, विश्व इस्लाम के खलीफा के केंद्र में, मुस्तफा कमाल पाशा ने उस खलीफत को यह कह कर खत्म किया कि इस्लाम और कुरान 'मृत' हो चुके हैं! पाशा ने सीधे आदेश दे कर तुर्की से विश्व इस्लाम के खलीफा के साथ साथ शरीयत, अरबी भाषा और इस्लामी वेश वूषा को देश निकाला दे दिया था। यह एक आधुनिक, लोकप्रिय मुसलमान ने किया था! भारत के मुहम्मद अली जिन्ना भी कमाल पाशा के दीवाने थे। क्या पता, यदि गाँधी राजनीति में न आए होते, या उन्होंने जिन्ना को उपेक्षित, तिरस्कृत न किया होता, तो आज भारत, और दुनिया की तस्वीर क्या होती!

फिर न केवल खुद सब से बड़े और लोकप्रिय तुर्क नेता ने इस्लाम को तुर्की से बाहर कर दिया था, बल्कि आज भी तुर्की में शरीयत का शासन नहीं है। चाहे, इस्लामवादी उस का प्रयत्न करते रहे हैं।

फिर सारा क्रोध ही इस बात पर है कि 'एक मात्र सत्य' का कुछ नहीं बन रहा। जबकि जिन काफिरों को मिट्टी में मिल जाना चाहिए था, वे हर चीज में आगे हैं। इतने

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

आगे कि हर चीज उन्हीं से लेनी, खरीदनी, माँगनी पड़ रही है। विज्ञान तकनीक की सारी उन्नति और सुविधा के सारे आविष्कार यूरोपियनों, अमरीकियों, एसियाइयों की देन हैं, जिन का उपभोग दुनिया भर के मुस्लिम भी करते हैं। लेकिन इस के लिए किसी को 'थैंक्यू' कहने के बजाए, सब को कोसने की मानसिकता है। इस मनोरोग को परखना चाहिए। मुस्लिम समाजों की अशान्ति चौदह सौ वर्ष पुराने विश्वास और आज की सचाई में ताल मेल न बिठा सकने की वजह से हैं। बाकी सारे कारण गौण या मनगढ़ंत हैं।

भारत में इस्लाम से वापसी की बात काल्पनिक समाधान नहीं है। सवा सौ वर्ष पहले स्वामी दयानन्द सरस्वती ने इसे सफलतापूर्वक, और शान्तिपूर्वक कर के दिखाया था। आर्य समाज का 'शुद्धि आंदोलन' यही था। जरूर कुछ आर्य समाजियों को इस के लिए बलिदान देना पड़ा। लेकिन वह तो उस की तुलना में शून्य था, जो उसे रोक कर गाँधीजी की 'सर्व धर्म सम भाव' की खाम ख्याली शुरू करने के कारण हुआ और आज भी हो रहा है।

इस्लामी जिद और दुराग्रहों को निरंतर आदर, और वरीयता देते जाने का ही फल पाकिस्तान बनना था, जिस के बाद करोडों लोग तबाह हुए। उस की तुलना में आर्य समाज के कुछ लोगों का अपना बलिदान कुछ न था! नोट करने की बात यह भी है, कि स्वामी दयानन्द का सम्मान बड़े बड़े मुस्लिम भी करते थे। उन पर सर सैयद की श्रद्धांजलि पढ़कर देखें। सचाई और साफगोई पर टिकने का यह स्वभाविक फल होता है। जबकि गाँधीजी की अस्थि प्रवाहित करने की इजाजत भी पाकिस्तान में नहीं मिली, जीवन काल में तो उन्हें मुस्लिमों का समर्थन नहीं ही मिला, जिन्हें जीतने की चाह में उन्होंने देश और अपना, दोनों का बलिदान कर दिया।

वस्तुतः यही समीकरण समझना जरूरी है। इस्लाम पर आलोचनात्मक विमर्श और सामुदायिक हिंसा में विपरीत अनुपात का संबंध है। इस्लाम पर जितनी ही खुली आलोचनात्मक बातचीत होगी, उतनी ही आपसी समझ बढ़ेगी, और हिंसा का कारण लुप्त होता जाएगा। इस के विपरीत, जितना ही इस्लाम को माँगों, निर्देशों, कानूनों पर चुप्पी रखी जाएगी, सामुदायिक तनाव, हिंसा को रोकना कठिन होता जाएगा। बल्कि, खुद इस्लामी फिरकों की आपसी हिंसा भी बढ़ेगी। क्योंकि 'इस्लामी शुद्धता' की माँग अंतहीन है। उसे संतुष्ट किया ही नहीं जा सकता।

व्यवहार में भी देखें कि इस्लाम की आलोचना करने वालों ने एक भी मुसलमान को शारीरिक चोट नहीं पहुँचाई। वे सदैव, निरपवाद रूप से मुस्लिमों के प्रति सदभावपूर्ण रहे। दयानन्द सरस्वती, विवेकानन्द, श्रीअरविन्द, टैगोर से लेकर आज राम स्वरूप, सीताराम गोयल, कोएनराड एल्स्ट, आदि सभी आलोचक निहायत अहिंसक लोग रहे हैं। इस के विपरीत, इस्लाम को भरपूर श्रद्धा सुमन चढ़ाने वाले जॉर्ज बुश, ब्लेयर से लेकर सद्दाम, खुमैनी, बगदादी, और तालिबान, जमात उल दावा, लश्करे-तैयूयबा, जैशे मुहम्मद, हिजबुल मुजाहिदीन, इस्लामी स्टेट, आदि लोगों, संगठनों ने ही हजारों मुसलमानों को मारा है।

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

इस प्रकार, इस्लाम की आलोचना करना वास्तव में संपूर्ण इंसानियत के हित में है, जिस में मुसलमान भी आते हैं। इस के विपरीत, पहले शरीयत की फिक्र करना पूरी इन्सानियत के विरुद्ध जाता है, जिस में मुसलमान भी मारे जाते हैं। इस सरल गणित को न देखना बुद्धि विरोधी है। मानवता के विरुद्ध तो है ही।

भारत में सही काम अभी तक नहीं हो सका, इस के मुख्य अपराधी वे सेक्यूलर प्रोफेसर, लेखक, संपादक हैं जिन्होंने इस्लाम के इतिहास और मतवाद पर विमर्श को जबरन दबा कर रखा। खुद मुसलमानों को भी बोलने नहीं दिया, जो अपनी मुक्ति की आवाज उठाते रहे हैं। अतः इस्लाम की रक्षा, वर्चस्व, आदर, आदि नाम पर जो भी हिंसा होती रही है, उस के मुख्य अपराधी वही सफेदपोश, भले दिखने वाले सेक्यूलर बौद्धिक हैं, जिन्होंने शरीयत का पक्ष लेकर इन्सानियत के स्वरों का सदैव दमन किया।

अतः इन्सानियत के पक्ष में जरूरी है कि इस्लाम के सिद्धांत व्यवहार पर विमर्श का रास्ता खोला जाए। तभी वह बौद्धिक जड़ता टूटनी शुरू होगी, जो हर प्रकार के जिहादी, आतंकी तैयार करती है। जिहादी आतंकवाद मुख्यतः दिमागी चीज है, जिस का इलाज सैनिक बल से नहीं, चेतना में बदलाव से ही हो सकता है। इस के लिए खुली बात चीत के प्रयास को हर संभव समर्थन दिया जाना चाहिए। वास्तविक समानता, स्वतंत्रता और भाईचारे के लिए यह निहायत जरूरी है।

यह बिलकुल साफ समाधान है। खासकर, जब दुनिया भर के अनेक प्रबुद्ध मुस्लिमों ने बार बार इस की माँग की है। गत सौ सालों में ऐसे विद्वान, जानकार मुसलमानों की अच्छी संख्या है जिन्होंने समय समय पर इस्लाम में सुधार या उस से मुक्ति की चाह व्यक्त की है। अनेकों ने खुद इस्लाम से नाता तोड़ने की घोषणाएं की हैं। इब्न वराक, अनवर शेख, वफा सुल्तान, आदि कुछ नाम तो जाने माने हैं।

गैर मुस्लिम बुद्धिजीवियों, नेताओं, सत्ताओं द्वारा वैसे मुक्त मुसलमानों की उपेक्षा करना, और ऐसे लोगों का बौद्धिक दमन करना साफ अन्याय भी है। जबकि ऐसे लोगों ने अपनी ओर से कई गुना साहस दिखाया और खतरा उठाया है। उन की तुलना में हिन्दू सेक्यूलर नेता या हिन्दूवादी संगठनों द्वारा तो बहुत कम साहस की जरूरत है। उन्हें तो उन मुस्लिमों का स्वागत करना चाहिए जो बौद्धिक जड़ता से मुक्त होकर खुले विचार विमर्श की माँग कर रहे हैं।

समय आ गया है कि इन्सानियत पूरे मुस्लिम समुदाय पर अपना दावा करे। उसे शरीयत की कैद से आजाद होने में मदद करे। इस में कुछ भी अनुचित नहीं है। 'आया है जो जाएगा' का सिद्धांत शासनों, विचारधाराओं, मतवादों पर भी लागू होता है। कोई उस से परे नहीं।

मानवता एक है, दो नहीं। लेकिन 'बिलीवर' और 'अनबिलीवर', 'मोमिन' और 'काफिर', 'दारुल हरब' और 'दारुल इस्लाम' की शब्दावलियाँ ही इसे खंडित करती है। इसे समझे और दृढ़तापूर्वक खारिज किए बिना किसी स्थायी समाधान की आशा नहीं की जा सकती।

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

गंगा की निर्मलता, पावनता एवं संस्कृति के प्रतीक—मनीषी

डॉ. कमल किशोर गोयनका

भारत के कुछ प्रान्तों के पूर्व राज्यपाल, कोलकाता विश्वविद्यालय के पूर्व आचार्य तथा हिन्दी के विख्यात साहित्यकार श्रद्धेय विष्णुकान्त शास्त्री को मैं जब भी स्मरण करता हूँ अथवा वे जब भी अपने साहित्यिक या राजनीतिक कृतित्व के कारण मेरे सम्मुख होते हैं तो गंगा की निर्मलता, पावनता और निरन्तर प्रवाहित होने वाली उसकी सांस्कृतिक धारा का बिम्ब मेरी आत्मा में उतरने लगता है और मुझे गहरी प्रतीति से भर जाता है। भारतीय ऋषियों और मनीषियों ने मनुष्य के श्रेष्ठ मनुष्यत्व तथा विद्यमान देवत्व को प्राकृतिक उपादानों से अभिव्यक्त करने का प्रयत्न किया है। आचार्य विष्णुकान्त जी शास्त्री ऐसे ही श्रेष्ठ मनुष्य हैं जिनके साहचर्य से देवत्व की अनुभूति होती है और वह गंगा के निर्मल, पावन और संस्कृतिमय व्यक्तित्व से ही स्पष्ट हो सकती है। गंगा की यह भी विशेषता है कि वह विश्व के सर्वोच्च पर्वत-माला से जन्मी है और लम्बी यात्रा के बाद सागर की अतल गहराइयों में विलीन हो जाती है। आचार्य विष्णुकान्त जी शास्त्री के व्यक्तित्व एवं कृतित्व में भी हिमालय जैसी ऊँचाई और गरिमा है तथा सागर जैसी अथाह गम्भीरता है। इस प्रकार उनका व्यक्तित्व हिमालय, गंगा और सागर का समुच्चय है जो मेरे युग में एक असाधारण घटना है। वे एक असाधारण व्यक्तित्व के धनी हैं, परन्तु उनका असाधारणत्व साधारणता से उत्पन्न होता है। महात्मा गाँधी जैसे साधारण होने के कारण ही असाधारण थे, वैसे ही शास्त्री जी भी अपने साधारणत्व में ही विशिष्ट और असाधारण हैं। शास्त्री जी के सम्पर्क में आने वाले प्रत्येक व्यक्ति का यही अनुभव है कि वे अत्यन्त सहज, सरल और सामान्य मनुष्य हैं और उनमें अहं, अपने को श्रेष्ठ समझने

* डॉ. कमल किशोर गोयनका, उपाध्यक्ष, केन्द्रीय हिन्दी शिक्षण मंडल, हिन्दी संस्थान मार्ग, आगरा 282005 (भारत); पता : A-98, अशोक विहार, फेज प्रथम, दिल्ली-110052, फोन : 27219251 तथा 27132906

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

का भाव उनमें दूर-दूर तक भी नहीं है। इसीलिए वे अजातशत्रु हैं, वे सबके मित्र हैं, हित-चिन्तक हैं, सबका कल्याण चाहते हैं, सबको अपना स्नेह और आशीर्वाद देते हैं और सच तो यह है कि वे उन सभी के हैं जो मनुष्य हैं, देश-प्रेमी हैं, भारत माता के सेवक हैं, देश की अस्मिता और संस्कृति के रक्षक हैं। उनके लिए धर्म, जाति, भाषा, क्षेत्र आदि की संकीर्णता और बन्धन निरर्थक हैं, बस महत्त्वपूर्ण है मनुष्यता, समाज का कल्याण, राष्ट्र-चेतना और संस्कृति की रक्षा। इसीलिए मुझे शास्त्री जी का जीवन, विचार और कर्म गंगा के समान लगता है। उनका साहचर्य और भावनाओं-विचारों का संस्पर्श सभी को निर्मल और पावन बना देता है और भारत राष्ट्र एवं उसकी संस्कृति के प्रति समर्पित बना देता है।

आचार्य विष्णुकान्त शास्त्री जी से मेरा सम्पर्क लगभग तीस वर्ष पुराना है। मैंने सन् 1970-71 में प्रेमचन्द पर अपना पी-एच.डी. का शोध-प्रबन्ध विश्वविद्यालय में जमा कर दिया था और अपनी नई योजना पर सोच-विचार तथा विचार-विमर्श कर रहा था। तभी मैंने शास्त्री जी को पत्र लिखा था और उनका अनुमोदन मिला था। उस समय तक मैं शास्त्री जी के एक-दो व्याख्यान सुन चुका था और उनकी ख्याति दिल्ली विश्वविद्यालय के अध्यापकों तथा हिन्दी-संसार तक हो चुकी थी। प्रो. कल्याणमल लोढ़ा जी से जब-तब भेंट होती रहती थी तथा वे 'भारतीय साहित्य परिषद्' के अधिवेशनों में भी प्रायः आते थे और तब अवश्य ही शास्त्री जी की चर्चा होती और वे उनकी खूब प्रशंसा करते। इस प्रकार शास्त्री जी मेरे मन के उस स्थान पर बैठ चुके थे जहाँ बैठे व्यक्ति से श्रद्धा ही हो सकती है तथा उसे पथ-पदर्शक ही बनाया जा सकता है। मुझे आज भी अपनी इस आकांक्षा का स्मरण है जब मेरे मन में आचार्य हजारीप्रसाद द्विवेदी तथा आचार्य विष्णुकान्त शास्त्री का शिष्य बनने की इच्छा उत्पन्न हुई थी। मैं डॉ. नगेन्द्र का शिष्य था, लेकिन वे शिष्यों को दूर रखते थे और शिष्य भी उनके व्यक्तित्व से भयभीत रहते थे। डॉ. नगेन्द्र के साथ शिष्यों का सहज-सीधा संवाद असम्भव ही था, जबकि आचार्य हजारीप्रसाद द्विवेदी तथा आचार्य विष्णुकान्त शास्त्री भारत की उस गुरुकुल परम्परा के आचार्य थे जिनके लिए सभी शिष्य उनके परिवार के ही अंग थे और वे अपने शिष्यों के व्यक्तित्व के समग्र विकास को शिक्षण का अनिवार्य हिस्सा मानते थे। मैं आज जो कुछ भी हूँ, जैसा कुछ भी हूँ तथा जो कुछ भी थोड़ा-सा कर पाया हूँ, निश्चय वह उससे बेहतर होता यदि मैं आचार्य विष्णुकान्त शास्त्री जैसे गुरु का शिष्य होता। मेरा विश्वास है, इस जन्म में नहीं तो आगामी जीवन में मुझे ऐसा सौभाग्य मिलेगा।

आचार्य विष्णुकान्त शास्त्री जी से मेरा सम्पर्क सातवें दशक में हो चुका था। प्रेमचन्द पर मुझे पी-एच.डी. की उपाधि दिल्ली विश्वविद्यालय से मिल चुकी थी और मैं अपनी नई योजना का प्रारूप तैयार कर रहा था कि मैकमिलन कम्पनी ने अपना हिन्दी प्रकाशन खोला और मेरे मित्र विश्वप्रकाश गुप्त उसके इंचार्ज बने। उन्होंने मुझे

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

हिन्दी पुस्तकों के प्रकाशन की एक बड़ी योजना बनाने के लिए कहा तो मैंने उन्हें 24 पुस्तकों की एक प्रकाशन-माला का प्रारूप बनाकर दिया। इस योजना के प्रो. विजयेन्द्र स्नातक और मैं दो सम्पादक बने। इसके साथ ही 'प्रेमचन्द विश्वकोश' की योजना भी चल रही थी। मैं चाहता था कि शास्त्री जी इन दोनों ही योजनाओं को अपना आशीर्वाद दें। इस सम्बन्ध में मैंने उन्हें पत्र भेजा और उन्होंने 20 जुलाई, 1975 को लिखे पत्र में लिखा, "भविष्य में अवकाश रहा तो मैकमिलन की योजना के लिए लिखूँगा। 'प्रेमचन्द साहित्य कोश' के लिए 'प्रेमचन्द और बँगला साहित्य' पर एक टिप्पणी लिखकर यथासमय भेजूँगा।" यह शास्त्री जी का गुण ही है कि वे एक साधारण अध्यापक की प्रार्थना को भी सम्मान देते हैं, यद्यपि मैकमिलन की योजना बीच में ही खत्म कर दी गई। मैकमिलन में हिन्दी विभाग के इंचार्ज डॉ. माहेश्वर बने और वे कम्युनिस्ट थे और कम्युनिस्ट लेखक ही उनके विशेषज्ञ तथा परामर्शदाता थे। वे मेरे जैसे राष्ट्रवादी लेखक को बरदाश्त नहीं कर पाए और दो पुस्तकों के प्रकाशन के बाद उन्होंने योजना ही समाप्त कर दी। यह कम्युनिस्ट माफिया का मुझ पर पहला आक्रमण था जिससे महीनों की मेहनत और एक महत्त्वपूर्ण पुस्तक-माला जन्म लेते ही नष्ट हो गई। कम्युनिस्ट फासीवाद का यही चेहरा आज की भारत सरकार के सहयोगी कम्युनिस्टों का भी है जो सुरजीत सिंह के शब्दों में किसी दूसरे विचार के लोगों को पद एवं सत्ता में सहन नहीं कर सकते। डॉ. माहेश्वर के इस फैसले से एक लाभ अवश्य हुआ कि मैं पूरी तौर पर 'प्रेमचन्द विश्वकोश' की योजना पर लग गया। इसके बाद मैं 27 जुलाई, 1975 को इन्दिरा गाँधी की इमरजेंन्सी में गिरफ्तार हुआ और लगभग दो महीनों के बाद जमानत पर रिहा हुआ और फिर मैं प्रेमचन्द के कार्य में ही मग्न हो गया।

प्रेमचन्द की जन्म-शताब्दी सन् 1980 में होगी, इसे ध्यान में रखकर मैंने दिल्ली में 'प्रेमचन्द जन्म-शताब्दी राष्ट्रीय समिति' का गठन किया और जैनेन्द्र कुमार को अध्यक्ष बनाया एवं उनके आग्रह पर तत्कालीन प्रधानमन्त्री इन्दिरा गाँधी इसकी संरक्षक बनीं। इसका एक बड़ा कार्यक्रम नई दिल्ली फिक्की हॉल में हुआ और अमृतराय ने मेरी 'प्रेमचन्द विश्वकोश' के आरम्भिक दो खंडों का विमोचन किया और इसी ग्रन्थ पर भारतीय भाषा परिषद्, कोलकाता ने 11 जनवरी, 1984 को 'नथमल भुवालका पुरस्कार' देने की घोषणा की तो शास्त्री जी ने मुझे इसी तिथि को अपने पत्र में बधाई देते हुए लिखा, "'प्रेमचन्द विश्वकोश' को पुरस्कृत कर भारतीय भाषा परिषद् ने गम्भीर शोधवृत्ति को सम्मानित किया है। मुझे इस निर्णय से हार्दिक प्रसन्नता हुई है। फरवरी के प्रथम सप्ताह में आप कलकत्ते आएँगे ही, तब मिलकर और बातें होंगी ही। 'प्रेमचन्द विश्वकोश' की विवेचनात्मक संस्तुति उस उत्सव में करने का दायित्व मुझे ही सौंपा गया है, इसकी भी मुझे प्रसन्नता है।" मेरे लिए यह अकल्पनीय था, परन्तु इसमें शास्त्री जी का स्नेह और आशीर्वाद था जो ईश्वर की कृपा से मुझे सहज

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

रूप में प्राप्त हो रहा था। इस पुरस्कार-समारोह में देश के राष्ट्रपति जैल सिंह पहुँचे और उन्होंने पुरस्कृत एवं सम्मानित किया। इस अवसर पर शास्त्री जी से भेंट हुई और उन्होंने आशीर्वाद प्रदान किया और कुछ समय बाद 'प्रेमचन्द विश्वकोश' पर उनका विस्तृत लेख प्रकाशित हुआ और उसका शीर्षक था 'प्रेमचन्द विश्वकोश' : दृढ़निष्ठा का साहसिक प्रयोग'। इस लेख के अन्त में शास्त्री जी ने लिखा, "प्रेमचन्द शतवार्षिकी के अन्तर्गत सारे देश में छोटे-बड़े समारोह हुए, कई प्रकाशन हुए। सबका अपना-अपना महत्त्व है, किन्तु यह निर्विवाद कहा जा सकता है कि डॉ. कमल किशोर गोयनका द्वारा परिकल्पित, लिखित एवं सम्पादित 'प्रेमचन्द विश्वकोश' इस शतवार्षिकी की सबसे महत्त्वपूर्ण उपलब्धि है। हिन्दी में यह अपने प्रकार का पहला कार्य होने पर भी डॉ. गोयनका ने जिस पूर्णता के साथ उसे प्रस्तुत किया है, वह उनकी मौलिक सूझ-बूझ एवं प्रेमचन्द के प्रति उनकी समर्पित निष्ठा का द्योतक है। वास्तव में, यह डॉ. गोयनका की दृढ़ निष्ठा का साहसिक प्रयोग है, क्योंकि इस महान कार्य में आने वाले बड़े-बड़े संकटों को झेलते हुए वे दृढ़ निष्ठा से अनेक वर्षों तक इस कार्य को पूरा करने में लगे रहे। प्रेमचन्द शतवार्षिकी के अवसर पर उनके जीवन एवं साहित्य के अनुरूप ही समर्पित यह श्रद्धांजलि—'प्रेमचन्द विश्वकोश', प्रेमचन्द के साथ ही सदैव याद की जाती रहेगी।" शास्त्री जी के इस लेख तक 'प्रेमचन्द विश्वकोश' पर कुछ समीक्षाएँ छप चुकी थीं, परन्तु शास्त्री जी के इन शब्दों से मुझे जो बल एवं सन्तोष मिला और अपने कार्य पर जो विश्वास उत्पन्न हुआ, उसे शब्दों में वर्णित करना सम्भव नहीं है।

आचार्य विष्णुकान्त शास्त्री के प्रोत्साहन, समर्थन और आशीर्वाद के कारण मुझे प्रेमचन्द पर अपनी स्थापनाओं को लिखने और विरोधियों का सामना करने का साहस उत्पन्न हुआ। प्रेमचन्द जन्म-शताब्दी तक यह स्पष्ट हो चुका था कि देश के कम्युनिस्ट लेखक मेरे शोध एवं नई स्थापनाओं पर राजनीतिक स्वार्थों के कारण एकजुट होकर उन पर आक्रमण करने लगे थे और वे मेरी स्थापनाओं का उत्तर न देकर मेरा चरित्रहनन करने में लग गए थे। मैंने अपने दस्तावेजों से उनके जीवन के अनेक झूठे मिथकों को तोड़ा था तथा उन्हें कम्युनिस्ट लेखक बनाने के कम्युनिस्टी षड्यन्त्र का पर्दाफाश करते हुए प्रेमचन्द की भारतीयता की वास्तविक मूर्ति को स्थापित किया था। प्रेमचन्द को लेकर हिन्दी के तथाकथित प्रगतिशील लेखकों, समीक्षकों तथा कम्युनिस्ट नेताओं के छल-कपटपूर्ण स्थापनाओं को सरेआम चुनौती देने का यह पहला अवसर था और वे इस दुस्साहस को सहन करने को तैयार न थे। डॉ. सुधीश पचौरी ने सन् 1978 में 'आलोचना' में मुझे 'गाय छाप' लेखक लिखा और कुछ वर्षों के बाद मुझ पर प्रेमचन्द को 'हिन्दू' बनाने का आरोप लगाया। मलयज ने अपनी डायरी के सन् 1979 के एक पृष्ठ में मेरी नई स्थापनाओं की चर्चा के साथ लिखा कि गोयनका जनसंघी हैं, इस कारण वे ऐसा लिखेंगे ही। हैदराबाद में आयोजित एक प्रेमचन्द-शताब्दी कार्यक्रम में तो वामपन्थी लेखक वेणुगोपाल ने तो मुझे देख लेने तक की धमकी दे दी।

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

उस कार्यक्रम में डॉ. नामवर सिंह भी थे और उन्होंने अपने भाषण में यह कहा कि 'गोदान' का होरी एक हिन्दू किसान है और यह होरी ही प्रेमचन्द हैं। मैंने तत्काल खड़े होकर कहा कि मैं डॉ. नामवर सिंह के इस नए चिन्तन का समर्थन करता हूँ तो वेणुगोपाल ने मंच पर आकर बौखलाते हुए कहा कि डॉ. नामवर सिंह बताएँ कि वे गोयनका के करीब आए हैं या गोयनका उनके करीब आए हैं? इसके बाद गोष्ठी के अन्त में उन्होंने मुझे देख लेने तक की धमकी तक दे डाली। ऐसी अनेक घटनाएँ विगत तीस-पैंतीस वर्षों में मेरे साथ घटित हुई हैं, परन्तु यहाँ एक घटना का और उल्लेख करना आवश्यक है। अमृतसर में डॉ. रमेश कुन्तल मेघ ने प्रेमचन्द-शताब्दी पर कार्यक्रम किया तो मुझे भी आमन्त्रित किया। इस कार्यक्रम में भी प्रेमचन्द पर मेरा कार्य और मेरी स्थापनाएँ ही केन्द्र में रहीं। अनेक वामपन्थी लेखकों एवं प्रोफेसरों ने मुझ पर चोटें कीं, परन्तु वामपन्थी प्रोफेसर एवं समीक्षक डॉ. शिव कुमार मिश्र ने कहा कि हमारी तकलीफ यह है कि गोयनका ने प्रेमचन्द पर जो कार्य किया वह हमने क्यों नहीं किया? इस प्रश्न का उत्तर आज तक भी हिन्दी के वामपन्थी लेखक नहीं दे पाए, यद्यपि शास्त्री जी ने इसका उत्तर दे दिया था कि दृढ़ निष्ठा, साहस और कठोर परिश्रम से ही ऐसा कार्य हो सकता है।

'प्रेमचन्द विश्वकोश' के दो खंड प्रकाशित होने के बाद मैंने कुछ और योजनाओं पर भी काम शुरू कर दिया था। पं. हजारी प्रसाद द्विवदी का 19 मई, 1979 को देहान्त हो गया तो मैंने उनके संस्मरणों को एकत्र करना शुरू किया तो आचार्य विष्णुकान्त शास्त्री से सम्पर्क करना अनिवार्य था। मैं जैसा पहले लिख चुका हूँ कि मेरे लिए दोनों आचार्य गुरु-तुल्य थे तथा मुझे ज्ञात था कि शास्त्री जी के द्विवेदी जी से बड़े आत्मीय सम्बन्ध रहे हैं। इन दोनों विद्वानों में ऐसे सम्बन्ध होना स्वाभाविक था, क्योंकि आयु-भेद एवं पद-भेद होने पर भी दोनों में समान गुण थे। शास्त्री जी जब एम.ए. के छात्र थे, तब से उनके द्विवेदी जी से सम्बन्ध बने और जीवन-पर्यन्त बने रहे। अतः मैंने शास्त्री जी को पत्र लिखा कि वे द्विवेदी जी पर लिखे अपने संस्मरणों को 'हजारी प्रसाद द्विवेदी : कुछ संस्मरण' पुस्तक में संकलित करने की अनुमति प्रदान करें। शास्त्री जी ने मुझे अपने 18 अगस्त, 1982 के उत्तर में लिखा, "आपके उद्यम पर मुग्ध हूँ। 'सारिका' के दफ्तर से समीक्षा के मूल रूप का उद्धार करने के लिए धन्यवाद। हस्ताक्षर कर भेज रहा हूँ। आचार्य द्विवेदी जी पर मेरे दो संस्मरण हैं। एक मेरी पुस्तक 'संस्मरण को पाथेय बनने दो' में छपा है। दूसरा संस्मरण आचार्य द्विवेदी के महाप्रयाण के बाद मैंने 'रविवार' के लिए सुरेन्द्र प्रताप के अनुरोध पर लिखा था, उसमें छपा भी था। आप चाहें तो मेरे दोनों संस्मरण अपनी पुस्तक में छाप लें, चाहे तो जो प्रिय लगे, उसे छापें।" यह संस्मरण की पुस्तक सन् 1982 में प्रकाशित हुई और समीक्षकों ने शास्त्री जी के संस्मरणों की बड़ी सराहना की, लेकिन मेरे लिए यह गर्व की बात थी कि शास्त्री जी मेरे प्रत्येक कार्य में प्रोत्साहन और सहयोग दे रहे थे और हर कदम पर मेरी पीठ ठोंक रहे थे।

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

आचार्य विष्णुकान्त शास्त्री जी से मैं अब इतनी आत्मीयता अनुभव करने लगा था कि मुझे उनमें अपने संरक्षक होने की प्रतीति होने लगी थी। शास्त्री जी अब जब भी दिल्ली आते तो मुझे पोस्टकार्ड लिखकर सूचना देते और प्रायः उनसें भेंट होती तो मेरे कार्यों के बारे में पूछते और मेरी पदोन्नति के सम्बन्ध में भी वे बराबर जानना चाहते। एक बार कुछ ऐसा संयोग हुआ कि मेरे आग्रह पर वे मेरे घर आने को तैयार हो गए। असल में उस दिन उनके पास कुछ समय था और मेरी कॉलोनी अशोक विहार के निकट की एक अन्य कॉलोनी शक्ति नगर में सम्भवतः उन्हें अपनी पुत्री से भी मिलना था। यह मेरा सौभाग्य ही था कि ईश्वर ने ऐसा संयोग बनाया। हम दोनों पहले ऑटो में शक्ति नगर आए और फिर वे मेरे साथ मेरे घर अशोक विहार गए। मेरा पूरा परिवार उनकी प्रतीक्षा में था ही। वे काफी समय तक रहे, पत्नी और बच्चों से बातें कीं और वे इतने सहज हो गए कि पत्नी ने अपनी कुछ जिज्ञासाएँ उनके सम्मुख रखीं। पत्नी ने एक प्रश्न पूछा कि मैं जब पूजा के समय ध्यान करती हूँ तो मन तरह-तरह की बातें सोचने लगता है और ध्यान भंग हो जाता है। अतः इस मन को कैसे एकाग्र किया जाए? शास्त्री जी कुछ मुस्कराए और बोले, "यह तो बड़े-बड़े ऋषियों के साथ भी होता है। मेरे साथ भी होता है। मन चंचल है, वह एक बिन्दु पर टिका नहीं रह सकता, लेकिन बार-बार अभ्यास से उसे अपने अनुकूल बनाया जा सकता है। मन की चंचलता से डरना नहीं चाहिए और न ही भागना चाहिए, बस बराबर प्रयत्नशील रहना चाहिए।" पत्नी आज भी शास्त्री जी के इस समाधान को याद करती हैं और उनके ज्ञान, स्नेह तथा आशीर्वाद की अनुभूति का वर्णन करती हैं। ऐसे ही अपनत्व, आत्मीयता तथा पारिवारिकता का मैंने उस समय अनुभव किया जब भाजपा के शासन-काल में संस्कृति मन्त्रालय में उनसे भेंट हुई और वे मुझे डॉ. मुरली मनोहर जोशी से मिलाने ले गए। शास्त्री जी ने डॉ. जोशी से मेरा परिचय देते हुए कहा, "ये कमल किशोर गोयनका हैं जिन्होंने हिन्दी के विश्व-विख्यात साहित्यकार प्रेमचन्द को कम्युनिस्ट खेमे से निकालकर भारतीयता की धारा में स्थापित किया है।" डॉ. जोशी का उत्तर मेरे लिए अप्रत्याशित था। वे बोले, "शास्त्री जी, मैं गोयनका के नाम और काम दोनों को जानता हूँ। इन्होंने जो कार्य किया है, वह ऐतिहासिक है और उससे प्रेमचन्द की वास्तविक मूर्ति सामने आई है।" इसके उपरान्त कुछ समय तक बातचीत होती रही, चाय आयी और मैं अपनी खोज के संकटों तथा कम्युनिस्टों के आक्रमणों का इतिहास बताता रहा। शास्त्री जी चाहते थे कि मेरे शोध-कार्य को देखते हुए मुझे शीघ्र ही प्रोफेसर हो जाना चाहिए था। उन्होंने अपना यह मन्तव्य भी डॉ. मुरली मनोहर जोशी के सम्मुख रखा और उसके बाद भी वे निरन्तर इसकी पूछताछ करते रहे। शास्त्री जी का आशीर्वाद मेरे साथ था, परन्तु ईश्वर की इच्छा कुछ और थी। शास्त्री जी ने मुझे 21 अगस्त, 1987 को अपने में लिखा भी था, "प्रभु कृपा से आप सानन्द रहें और शीघ्र ही अपना न्यायोचित स्थान प्राप्त करें।" परन्तु हिन्दी का

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

कम्युनिस्ट माफिया शैतान की शक्ति और स्टालिन के फासीवाद का अनुयायी है। उन्होंने हर बार मेरा विरोध किया और इंटरव्यू में सर्वाधिक अंक प्राप्त करने पर भी एक कम्युनिस्ट प्रोफेसर ने चयन-समिति में कहा कि हम गोयनका को प्रोफेसर नहीं होने देंगे। इस एक कम्युनिस्ट प्रोफेसर की धमकी और हथकंडेबाजी ने चयन-समिति के अन्य सदस्यों को नपुंसक बना दिया और कुलपति ने फिर किसी की नियुक्ति नहीं की। कम्युनिस्ट अपनी योजना में सफल हुए और न्याय का चेहरा अन्याय एवं फासीवाद ने काला कर दिया। कम्युनिस्ट माफिया आज भी ऐसा ही व्यवहार कर रहा है और अभी ऐसे कम्युनिस्ट अध्यापकों को हिन्दी विभाग में नियुक्त किया गया है जो सत्ता के मुखबिर रहे हैं, जो अपने दुर्व्यवहारों के कारण बदनाम हैं तथा जिन पर आर्थिक साधनों के दुरुपयोग के आरोप हैं। यह कम्युनिस्टी न्याय है कि जो कम्युनिस्ट राजनीति के खिलाड़ी और भारतीयता के शत्रु हैं, वे ही प्रोफेसर-रीडर बनने के योग्य हैं।

इन सब घटनाओं के बीच प्रेमचन्द पर मेरा कार्य निरन्तर चलता रहा और आचार्य विष्णुकान्त शास्त्री द्वारा उसका किया गया मूल्यांकन भी मुझे तथा हिन्दी-संसार को मिलता रहा। यह मेरा सौभाग्य था कि उन्होंने मेरी अन्य दो पुस्तकों पर भी समीक्षात्मक लेख लिखे, बल्कि यह कहना उचित होगा कि उन्हें अपना आशीर्वाद प्रदान किया। मेरी एक पुस्तक 'प्रेमचन्द : चित्रात्मक जीवनी' सन् 1986 में छपी थी और उस पर अपना अभिमत देते हुए शास्त्री जी ने लिखा था, "फिर डॉ. कमल किशोर गोयनका जैसे शोधक तथ्य-संग्रही और प्रेमचन्द के प्रति श्रद्धालु विद्वान की लेखनी से प्रसूत प्रेमचन्द की जीवनी और भी अधिक महत्त्वपूर्ण हो जाती है, क्योंकि उसकी विश्वसनीयता में रंचमात्र सन्देह नहीं किया जा सकता है। डॉ. गोयनका 'प्रेमचन्द विश्वकोश' के प्रथम भाग के रूप में प्रेमचन्द की तारीखवार जीवनी प्रस्तुत करने का भगीरथ प्रयास सफलतापूर्वक सम्पन्न कर चुके थे। हिन्दी साहित्य में इस प्रकार की जीवनी के लेखन का सूत्रपात करने का ऐतिहासिक श्रेय डॉ. कमलकिशोर गोयनका को ही प्राप्त है। डॉ. गोयनका ने अब प्रेमचन्द की संक्षिप्त जीवनी को चित्रात्मक बनाकर प्रस्तुत करने का उपयोगी और स्तुत्य कार्य किया है।" इसी प्रकार सन् 1988 में मेरी पुस्तक 'प्रेमचन्द का अप्राप्य साहित्य' (दो भाग) जब भारतीय ज्ञानपीठ, नई दिल्ली से प्रकाशित हुई तो शास्त्री जी ने इस पर अपनी विस्तृत टिप्पणी 'शोध-साधना की अद्भुत उपलब्धि : प्रेमचन्द का अप्राप्य साहित्य' शीर्षक से प्रकाशित हुई। शास्त्री जी ने अपनी टिप्पणी में लिखा, "ऊँचे लक्ष्य को दृष्टि के सम्मुख रखकर निष्ठापूर्वक की गई शोध-साधना की उपलब्धि कितनी असाधारण एवं अद्भुत हो सकती है, इसका उज्ज्वल दृष्टान्त है डॉ. कमल किशोर गोयनका द्वारा दो खंडों में सम्पादित 'प्रेमचन्द का अप्राप्य साहित्य'। इस ऐतिहासिक महत्त्व की भेंट के लिए निश्चय ही सम्पूर्ण साहित्य-जगत डॉ. गोयनका का चिर ऋणी रहेगा।" शास्त्री जी ने अपने इस

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

लेख में एक महत्त्वपूर्ण कार्य यह भी किया कि उन्होंने मेरे कम्युनिस्ट आलोचकों के आरोपों का सबल तर्कों से उत्तर दिया। शास्त्री जी ने लिखा कि गोयनका ने प्रेमचन्द की मूर्ति का भंजन नहीं किया, बल्कि उनकी वास्तविक मूर्ति को उजागर किया है तथा गोयनका प्रेमचन्द में हिन्दू जीवन-दर्शन का प्रभाव देखते हैं तो क्या गलत करते हैं। प्रेमचन्द पर हिन्दू जीवन-दर्शन का प्रभाव था, यह एकदम सत्य है। शास्त्री जी ने मार्क्सवादियों के उस आरोप का भी उत्तर दिया कि गोयनका प्रेमचन्द की मार्क्सवादी छवि से टकराते हैं तो वे ठीक करते हैं, क्योंकि उनके प्रेमचन्द को मार्क्सवादी बनाने के झूठ का पर्दाफाश करना जरूरी था। शास्त्री जी के इस लेख ने मेरी शक्ति और साहस को बढ़ावा और मुझे लगा कि मार्क्सवादियों के छल-कपट और राजनीतिक स्वार्थों की इस लड़ाई में मैं अकेला नहीं हूँ। मेरे साथ जब शास्त्री जी जैसे सेनापति हैं तो मुझ सिपाही को निर्भय होकर तथ्यों एवं तर्कों की तलवार से इस मार्क्सवादी साजिश और अज्ञान के रावण को नष्ट करके ही दम लेना होगा।

आचार्य विष्णुकान्त शास्त्री हिमालच प्रदेश एवं उत्तर प्रदेश के राज्यपाल बने तो मन गर्व से भर गया। शास्त्री जी जैसे सरस्वती-पुरुष, हिन्दू संस्कृति के प्रतीक, सौम्य-शान्त-शालीन् एवं निष्कलुष व्यक्तित्व, सांस्कृतिक राष्ट्रवाद की व्यावहारिक मूर्ति, सत्ता एवं प्रभुता से निर्लिप्ति तथा सबके बनकर चलने वाले व्यक्ति का राज्यपाल बनना भारतीय लोकतन्त्र की उच्चता का प्रमाण है। हम सब यह मानते हैं कि राज्यपाल या राष्ट्रपति बनना उनके जीवन का लक्ष्य कभी नहीं रहा, बल्कि आचार्य एवं साहित्यकार के रूप में सरस्वती की साधना में ही वे परमानन्द का अनुभव करते हैं, लेकिन वे दायित्व तथा चुनौतियों से पलायन करने वाले व्यक्ति भी नहीं हैं। उन्होंने राज्यपाल के दायित्व को स्वीकार किया और अपने कार्यों तथा व्यक्तित्व से यह सिद्ध कर दिया कि उन्होंने लोकतान्त्रिक नियमों का पालन किया और राज्यपाल के पद को गरिमा प्रदान की। वे जब लखनऊ में थे तो शास्त्री जी ने मेरे कार्यक्रम की अध्यक्षता की और मैंने उन्हें अपनी कुछ नई पुस्तकें भेंट कीं। मैं तब शास्त्री जी से अलग से मिलना चाहता था, परन्तु उनके कार्यालय ने समय नहीं दिया। मैं भी संकोच में था और अग्रिम सूचना नहीं दे पाया था। इसकी जानकारी मैंने उन्हें तब दी जब वे राज्यपाल के पद से मुक्त होकर कोलकाता पहुँचे। शास्त्री जी का 24 अगस्त, 2004 को उत्तर मिला और उन्होंने लिखा, "लखनऊ में आपसे भेंट नहीं हो सकी, यह मेरे लिए पीड़ा की बात है। आपने यदि फोन या पत्र लिखकर मिलने का समय निश्चित किया होता तो अवश्य भेंट होती। मैं तो प्रतिदिन मित्रों से मिलता ही रहता था और अब आप जब कोलकाता पधारें, आपका स्वागत है।" शास्त्री जी इस शालीनता, विनम्रता और बड़प्पन के सम्मुख केवल नतमस्तक ही हुआ जा सकता है।

मैं जनवरी, 2004 के आरम्भ में अपने अमेरिका-प्रवास के बाद लौटा तो 'दैनिक जागरण' में प्रत्येक रविवार को साहित्य पर लेख लिखता रहा। इन लेखों के विषय

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

साहित्य से सम्बन्धित होते थे और इनमें हिन्दी के मार्क्सवादियों के तरह-तरह के चेहरों से भी नकाब को उठाया जाता था। इन्हीं में से कुछ लेख मैंने उन्हें सम्मति के लिए भेजे थे। शास्त्री जी को ये लेख मिले तो उन्होंने अपने 28 अगस्त, 2004 के पत्र में मुझे लिखा, "दिल्ली 'जागरण' में प्रकाशित आपके द्वारा प्रेषित आपके आलेख पढ़कर हर्ष से पुलकित हो उठा। आपने इतने अच्छे ढंग से गलत बातों का खंडन और सही बातों का समर्थन किया है कि देखते ही बनता है। आपने साहित्यिक साम्राज्यवादियों और कलियुगी अवतारों को उनकी वास्तविकता का बोध करा दिया है। यह बात अलग है कि कुछ लोग नासमझी को ही समझदारी माने बैठे हैं, उनका आप कुछ नहीं कर सकते। प्रेमचन्द के प्रति आपकी असीम श्रद्धा भी कई आलेखों में प्रकट हुई है। सचमुच 'रंगभूमि' को जलाना कदाचार है और उसे 'बीजेपी की साजिश' बताना नैतिक भ्रष्टाचार है।" इसी प्रकार छोटी खाटू हिन्दी पुस्तकालय, छोटी खाटू (नागौर, राजस्थान) ने 30 अक्टूबर, 2004 को मुझे 'दीनदयाल उपाध्याय साहित्य पुरस्कार' दिया तो शास्त्री जी ने अपने 19 अक्टूबर एवं 9 नवम्बर, 2004 के पत्रों में लिखा, "आदरणीय जुगल जी से यह जानकर आन्तरिक प्रसन्नता हुई कि 'छोटी खाटू पुस्तकालय दीनदयाल उपाध्याय साहित्य सम्मान' से विभूषित कर रहा है। आपके कार्य सचमुच सरस्वती के भंडार को समृद्ध करने वाले हैं। प्रेमचन्द पर जितना विशद एवं मौलिक कार्य आपने किया है, उतना किसी और ने नहीं किया है। सच तो यह है कि सम्मानकर्ता पिछड़ गए। आपको काफी पहले यह सम्मान प्राप्त होना चाहिए था।"

मैंने आरम्भ में कहा था कि आचार्य विष्णुकान्त शास्त्री जी का व्यक्तित्व एवं कृतित्व गंगा की तरह निर्मल, पावन और संस्कृतिमय है और है हिमालय की धवलता, शीतलता, भव्यता और परहितता तथा सागर की अनन्त विचार-तरंगें, अथाहता और गम्भीरता। हिन्दू संस्कृति की एक अजस्र धारा उनके मानस में प्रवाहित रहती है। वे भारत के ऐसे सरस्वती पुत्र और संस्कृति-पुरुष हैं जो इधर दुर्लभ हैं। मुझे वे यदि गुरु रूप में मिले होते और मुझे उनका शिष्य होने का सौभाग्य मिलता तो निश्चय ही मैं इतना खोटा सोना नहीं होता, लेकिन ईश्वर की कृपा से मुझे उन जैसे सन्त का जो भी संसर्ग मिला, उससे मुझे अपने मार्ग पर चलने का बल और विश्वास मिला। मेरे प्रायः प्रत्येक कार्य पर उनकी दृष्टि रही और उचित कार्यों पर वे पीठ थपथपाते रहे। मेरे जीवन में शास्त्री जी का जो स्थान है, उसका वर्णन असम्भव ही है। बस अन्त में मैं यही कह सकता हूँ कि यदि मुझे उनका वरदहस्त न मिला होता तो सम्भवतः मैं मार्क्सवादियों के आरोपों और आक्रमणों के सम्मुख भाग खड़ा होता। आचार्य विष्णुकान्त शास्त्री जी मेरे प्रकाश-स्तम्भ ही नहीं शक्ति स्तम्भ भी हैं और मैं इसी प्रकाश तथा शक्ति स्रोत के साथ शेष जीवन जीना चाहता हूँ। प्रभु करें, ऐसा ही हो।

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

'विमर्श अवधारणा, स्वरूप और प्रकार

डॉ. सूर्यनारायण रणसुभे*

अवधारणा और स्वरूप : विमर्श शब्द की अवधारणा जानने हेतु उसके कोशगत अर्थ को पहले जान लेंगे। 'हिन्दी शब्द कोश' (रामचन्द्र वर्मा) में विमर्श के कुल छह अर्थ दिए गए हैं–1. मन में होने वाली अहंभाव की स्फूर्ति, 2. विचार या विवेचन, 3. आलोचना, 4. परीक्षा, 5. परामर्श, 6. नाटक की पाँच सन्धियों में से एक, जिसमें बीज का अधिक विकास होता है, परन्तु फल-प्राप्ति से पहले शाप आदि के रूप में विघ्न आने लगते हैं। उपर्युक्त छह अर्थों में से अन्तिम अर्थ नाटक की कथावस्तु की समीक्षा से सम्बन्धित है, इसलिए वह हमारे विवेचन की दृष्टि से काम का नहीं है। अन्य पाँच अर्थों का सम्बन्ध विमर्श की अवधारणा से है। इसमें भी पहला अर्थ विमर्श शब्द की नींव ही है। चौथा अर्थ 'परीक्षा भी' हमारे विवेचन की दृष्टि से बहुत काम का नहीं है। तो कुल चार अर्थ शेष रह जाते हैं–1. मन में होने वाली अहंभाव की स्फूर्ति, 2. विचार या विवेचन, 3. आलोचना, 4. परामर्श।

इन चार अर्थों के विवेचन से विमर्श शब्द की अवधारणा अधिक स्पष्ट हो सकती है। जो पहला अर्थ है, उसमें थोड़ा-सा परिवर्तन कर हमें उसे स्वीकारना होगा। मन में होने वाली अहंभाव की स्फूर्ति इस अर्थ में जो अहं शब्द है उसका अर्थ अहंकार न लेते हुए, खुद के प्रति मनुष्य होने का अहसास इस अर्थ में लें तो अस्मिता की अवधारणा स्पष्ट हो सकती है। अहं के दो अर्थ शब्दकोश में मिलते हैं–अहंकार और अभिमान। पहले अर्थ में जो अहं शब्द है उसका अर्थ हमें अभिमान इस अर्थ में लेना है। खुद के प्रति अभिमान! मैं भी मनुष्य हूँ का अभिमान। अपने प्रति अभिमान का सम्बन्ध व्यक्ति की अस्मिता के साथ आता है। इस प्रकार विमर्श का संबंध अस्मिता के साथ जुड़ जाता है। व्यक्ति की अस्मिता का सम्बन्ध सामुदायिक अस्मिता के साथ जुड़ा रहता है। सामुदायिक अस्मिता से जोड़कर ही इस प्रश्न की चर्चा की

---

*डॉ. सूर्यनारायण रणसुभे 'निकष', 19 अजिंकयसिटी, आम्बाजोगाई रोड, लातूर-413512; मो. 09423735393

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

जानी चाहिए, की भी जाती है। इस दृष्टि से विमर्श में अस्मिता का विचार या विवेचन होता है, सामुदायिक अस्मिता से सम्बन्धित प्रश्नों की, समस्याओं की, परम्पराओं की यहाँ आलोचना होती है, इन सब का परामर्श यहाँ लिया जाता है।

तो कुल मिलाकर विमर्श शब्द का अर्थ होता है कि व्यक्ति के बहाने सामुदायिक अस्मिता का विवेचन, विचार, समीक्षा या आलोचना। विश्व के अनेक देशों में उस देश के आर्थिक और सामाजिक दृष्टि से उपेक्षित शोषित, गुलाम तबकों पर कभी गम्भीरता से विवेचन ही नहीं हुआ। यह वर्ग हमेशा दोयम रूप में अथवा तथाकथित प्रस्थापित वर्ग की दया पर ही जीता रहा। बीसवीं सदी में जब शिक्षा के दरवाजे सभी के लिए खोल दिए गए, जब व्यक्तित्व विकास के सभी अवसर सबको उपलब्ध कराए गए, तब इस वर्ग के भीतर अपने अस्तित्व और अस्मिता को लेकर अनेक प्रश्न उठने लगे। यह वर्ग अपने खोए हुए मानवाधिकारों की माँग करने लगा। परिणामतः इस वर्ग की दशा पर प्रस्थापित और उपेक्षित दोनों वर्गों में जो बहस शुरू हुई उसी को 'विमर्श' कहा जाता है। ध्यान रखें कि विमर्श का अस्मिता के साथ, मानवाधिकारों के साथ गहरा सम्बन्ध है। अपने व्यक्तित्व और अस्तित्व के प्रति अभिमान रखते हुए जब स्त्री इस पुरुष प्रधान व्यवस्था में अपना अवकाश (स्पेस) ढूँढ़ने लगती है, तब नए विमर्श की शुरुआत हो जाती है। इस दृष्टि से विमर्श का सम्बन्ध अपनी पहचान के साथ भी है। अपनी अस्मिता की तलाश के साथ भी है। केवल व्यक्तिगत रूप में अपनी पहचान नहीं अपितु अपने जैसे सम्पूर्ण समूह की पहचान या समूह की अस्मिता से सम्बन्धित यह प्रश्न है।

वास्तव में भारत में विमर्श शब्द का प्रयोग अँग्रेजी के डिसकोर्स इस शब्द के लिए किया गया है। क्योंकि यूरोप में भी वहाँ अब तक नकारे गए तथा पूँजीवादी व्यवस्था में शोषित वर्ग को लेकर जोरों से बहस शुरू हुई थी। इस बहस के लिए वहाँ डिसकोर्स शब्द का प्रयोग किया जाता रहा है। इसी डिसकोर्स शब्द के लिए हिन्दी में विमर्श शब्द का प्रचलन हुआ। आज हिन्दी और मराठी समीक्षा में इस प्रकार की बहस के लिए विमर्श शब्द का ही प्रचलन हो चुका है।

ऑक्सफोर्ड के शब्दकोश में डिसकोर्स का अर्थ दिया गया है—सम्भाषण, प्रवचन, व्याख्यान तथा किसी विषय पर महत्त्वपूर्ण तथा गम्भीर स्वरूप का विवेचन या भाषण। विमर्श के जो छह विभिन्न अर्थ हिन्दी में हैं, उतने विभिन्न अर्थ अँग्रेजी शब्द डिसकोर्स के नहीं हैं। यहाँ दिए गए अर्थ में सम्भाषण तथा किसी महत्त्वपूर्ण विषय पर गम्भीर स्वरूप का विवेचन या भाषण ये दो ही अर्थ हमारी दृष्टि से महत्त्वपूर्ण हैं। डिसकोर्स में इस बात पर महत्त्व दिया जाता है कि किसी एक विषय पर जहाँ गम्भीर ऐसी चर्चा चलती रहती है, उसे विमर्श या डिसकोर्स कहा जाए। शब्दकोशों में जो अर्थ दिए गए हैं, उनका अर्थविस्तार कालान्तर में होता रहता है। इस शब्द को लेकर भी यही हुआ। किसी विषय पर जब अनेक अध्येता अपने-अपने विचार व्यक्त करने लगते हैं, तो उसे

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

'विमर्श' कहा जाने लगा है। इस पूरे विमर्श में अनेकों के सहभाग की जरूरत होती है। आज विमर्श का सम्बन्ध गहरे रूप से व्यक्ति की, समूह की अस्मिता के साथ जोड़ा गया है। ठीक इसी प्रकार विमर्श का सम्बन्ध दबे कुचले, शोषित, श्रमिक स्त्री-पुरुषों के साथ भी जुड़ गया है। वास्तव में यह अर्थ संकोच ही है। क्योंकि विमर्श तो विश्व में फैले किसी भी विषय को लेकर शुरू हो सकता है। परन्तु आज विमर्श का सम्बन्ध परम्परा द्वारा नकारे गए वर्ग के साथ जुड़ गया है। इस सम्पूर्ण विवेचन से विमर्श की अवधारणा इन लक्षणों के आधार पर स्पष्ट की जा सकती है–

1. विमर्श में किसी एक विचार पर गम्भीरता से चर्चा होती है। 2. विमर्श में सम्बन्धित विचार या विषय के विविध आयामों पर विवेचन होता है। 3. उस विषय या विचार की आलोचना भी हो सकती है। 4. विमर्श की शुरुआत व्यक्ति के मानवाधिकार की माँग से होती है और 5. विमर्श का सम्बन्ध सामुदायिक अस्मिता के साथ होता है।

प्रकार : हिन्दी साहित्य के सन्दर्भ में सोचा जाए तो साधारणतया 1970 से यहाँ दलित और स्त्री-विमर्श की शुरुआत हो जाती है, और भारत के सन्दर्भ में सोचा जाए तो महाराष्ट्र तथा दक्षिण के प्रदेशों में उन्नीसवीं शती के उत्तरार्द्ध में ही दलित और स्त्री की अस्मिता को लेकर गम्भीर बहस शुरू हो चुकी थी। महात्मा जोतिबा फुले पहले व्यक्ति थे, जिन्होंने इस सम्बन्ध में पहली बार इन दो वर्गों की अस्मिता को लेकर कई प्रश्न उठाए। बीसवीं सदी में डॉ. बाबा साहब अम्बेडकर जी इस बहस को आगे बढ़ाते हैं। यह दूसरी बात है कि उस काल में इसे विमर्श नहीं कहा जाता था। वास्तव में यह था तो विमर्श ही। फुले और अम्बेडकर के इस विवेचन की नींव पर 1960 के बाद मराठी में दलित-विमर्श तथा स्त्री-विमर्श की शुरुआत हो जाती है। जैसा कि प्रस्तावना में कहा गया कि वास्तव में विमर्श का प्रश्न व्यक्ति की अस्मिता के साथ जुड़ा हुआ प्रश्न है। हिन्दी में प्रसिद्ध आलोचक श्री जगदीश्वर चतुर्वेदी अपने एक लेख 'नामवर सिंह और अस्मिता-विमर्श' (वाक् त्रैमासिक, पृ. 66) में आलोचकों का ध्यान इस ओर आकृष्ट करते हैं कि "आधुनिक काल के इतिहास का आरम्भ ही अस्मिता की राजनीति से होता है। यह निजी अस्मिता नहीं है, सामुदायिक अस्मिता है।"

अस्मिता का यह प्रश्न इस देश में मुख्यतः दलित और स्त्री के साथ जुड़ा हुआ है। क्योंकि यहाँ की धार्मिक, सांस्कृतिक और सामाजिक संरचना में इन दोनों को न कोई स्थान था और न किसी प्रकार की भूमिका। दलित सामाजिक बन्धनों में जकड़ा हुआ था तो स्त्री घर के भीतर गुलाम की तरह बन्द थी। स्वतन्त्रता के बाद, संवैधानिक व्यवस्था के कारण, समतावादी समाज-व्यवस्था के लक्ष्य को सामने रखने के कारण इस देश के सभी वर्गों, वर्णों, जातियों और स्त्रियों को व्यक्तित्व विकास के सभी अवसर उपलब्ध कराए जाने लगे। परिणामतः शिक्षा के दरवाजे सभी के लिए खुल गए। शिक्षा का सबसे बड़ा प्रभाव व्यक्ति की सोच पर होने लगता है। इस शिक्षा

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

का ही परिणाम हुआ कि दलित और स्त्री को अपनी अस्मिता का अहसास होने लगा, अपने खोए हुए अथवा छिन लिये गए मानवाधिकार की माँग वे करने लगे। भूतकाल में अपनी स्थिति को जान लेने के लिए उन्होंने भूतकाल का उत्खनन शुरू किया, पुरुष सत्ताक तथा वर्ग-जाति व्यवस्था प्रधान समाज संरचना को वे कई प्रश्न पूछने लगे। प्रस्थापित व्यवस्था को बदल देने के लिए, इस व्यवस्था में अपने लिए जगह माँगने के लिए उन्होंने अपने अब तक के जीवन की, इतिहास की, परम्परा की, धर्म की, जो विवेचना की ओर इसके आधार पर उन पर हो चुके या होने वाले अन्यायों का जो लेखा-जोखा प्रस्तुत किया, वही विमर्श नाम से पहचाना जाने लगा। अर्थात् विमर्श का यह आरम्भिक दौर था। भविष्य में जो-जो भी वर्ग अपनी अस्मिता को लेकर तथा व्यवस्था में अपने स्थान को लेकर सामने आएगा और उसे प्रमाणों द्वारा सिद्ध करेगा, वह सब विमर्श के अन्तर्गत ही आ जाएगा। इस कारण विमर्श के इतने ही निश्चित प्रकार हैं, ऐसा कहा नहीं जा सकता।

इस वक्त हिन्दी में मुख्यतः दलित और स्त्री-विमर्श की चर्चा ही अधिक है। इसके अलावा इस देश में जो अन्य धर्मिय हैं, उनमें भी एक अभिजनों का वर्ग है और एक बहुजनों का! बहुजनों का यह वर्ग अब तक उपेक्षित था, शोषित था। शिक्षा की सुविधा के कारण वह भी सक्रिय हो उठा है। भारतीय मुसलमानों में अब तक जो पूर्णरूप से पिछड़ा और शोषित मुसलमानों का वर्ग है, वह संगठित हो रहा है। महाराष्ट्र में यह तबका मुस्लिम ओबीसी के रूप में सामने आ रहा है तो हिन्दी प्रदेश में पसमान्दा वर्ग के रूप में संगठित हो रहा है। इन सबकी समस्याओं पर बहस जारी है। इसे भी विमर्श के अन्तर्गत ले सकते हैं।

'विमर्श' की परम्परा : विश्वप्रसिद्ध अर्थशास्त्री तथा नोबल पुरस्कार प्राप्त अध्येता डॉ. अमर्त्य सेन ने अपनी एक पुस्तक में यह प्रमाणित किया है विश्व के अनेक देशों की तुलना में, भारत में एक-दूसरे के साथ निरन्तर संवाद की लम्बी परम्परा रही है। बौद्धकाल में बौद्धसंघों में सभी अध्येता एक स्थान पर इकट्ठे होकर किसी एक विषय पर गम्भीर चर्चा करते थे। उनके इन विषयों में विविधता थी। इसके अलावा भारत में शास्त्रार्थ की एक लम्बी परम्परा मिलती है।

शास्त्रार्थ वास्तव में विमर्श का ही दूसरा नाम है। यह दूसरी बात है कि इनके शास्त्रार्थ के विषय अध्यात्म से सम्बन्धित होते थे। उसका सम्बन्ध प्रत्यक्ष-भौतिक जगत से बहुत कम होता था। दूसरी ओर चार्वाकों और बौद्धों में शास्त्रार्थों की परम्परा भी थी जिनके विषय भौतिक जीवन से सम्बन्धित होते थे। ईसापूर्व शती में, इन शास्त्रार्थों में सभी वर्गों, जातियों तथा स्त्रियों का भी सहभाग होता था। जैसे-जैसे यहाँ पुरुष सत्ताक व्यवस्था तथा वर्ग और जातिवादी व्यवस्था दृढ़ होती गई, स्त्रियों को और पंचम्वर्णियों को इससे अलग रखा जाने लगा। बाद में तो यह शास्त्रार्थ या विमर्श केवल दो वर्णों के पुरुषों तक ही सीमित रहा।

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

और ऐसे यह शास्त्रार्थ की परम्परा एक सीमित वर्ग में और वह भी आध्यात्मिक विषयों तक सीमित हो गई। ईसापूर्व पाँचवीं सदी से लेकर बारहवीं सदी तक अर्थात् करीब 1700 वर्षों तक यहाँ स्त्री और अन्य तीन वर्णों के स्त्री-पुरुष इस विमर्श से बहिष्कृत ही थे। मध्यकाल में सन्तों ने फिर से सबको सामिल कर विभिन्न प्रश्नों पर बहस शुरू कर दी थी—ऐसे प्रमाण भक्ति साहित्य के निर्गुण सम्प्रदाय में और उसके भी पूर्व सिद्ध नाथ सम्प्रदाय में मिलते हैं। यहाँ भी कुछ अपवाद छोड़ दें तो स्त्री बहिष्कृत ही थी। इस संक्षिप्त विवेचन से हम यह निष्कर्ष निकाल सकते हैं कि यहाँ विमर्श की परम्परा बड़ी लम्बी, प्रदीर्घ ऐसी रही है। आरम्भ में यह विमर्श समाज के सभी बुद्धिजीवियों तक व्यापक था। बाद में यह सीमित-सा होने लगता है। स्त्री और दलित अर्थात् समाज के बहुजन को इन विमर्शों से दूर ही रखा गया था। यह स्थिति उन्नीसवीं सदी तक रही। अँग्रेजों के आने के बाद, यहाँ जिस यूरोपीय ज्ञान-विज्ञान की शिक्षा का आरम्भ हुआ, उससे तत्कालीन अभिजन प्रभावित हुए। उन्होंने यह आधुनिक शिक्षा ग्रहण की। परिणामस्वरूप तत्कालीन भारतीय समाज संरचना पर, उसमें स्त्री और दलित की स्थिति को लेकर उनमें गम्भीर ऐसा विमर्श शुरू हुआ। नवजागरण काल में दलित और स्त्री को लेकर उनकी अवस्था और मानवाधिकारों को लेकर विमर्श तो हो रहा था, परन्तु इस विमर्श में न स्त्री थी और न दलित। यह सम्पूर्ण विमर्श अभिजनों तक, सवर्णों तक सीमित था। यहाँ सारी चर्चा यथार्थ कम और आदर्शवादी अधिक थी। इसी आधुनिक काल में आर्यसमाज ने इस विमर्श को और अधिक व्यापक पैमाना दिया। आर्यसमाज के संस्थापक महर्षि दयानन्द ने अपने जीवन में अनेक शास्त्रार्थ किए। ये शास्त्रार्थ मुख्य रूप से जन्माधिष्ठित वर्णव्यवस्था, मूर्तिपूजा तथा कर्मकाण्डों को लेकर थे। उन्होंने स्त्री-शिक्षा पर भी बहस की। एक सीमा में ही क्यों न हो वे स्त्री-शिक्षा के, विधवा-विवाह के समर्थक थे। जातिव्यवस्था के जबरदस्त विरोधी थे। इसी काल के महात्मा जोतिबा फुले ने भी महाराष्ट्र में दलित तथा स्त्री प्रश्नों को लेकर विमर्श शुरू किया। उन्होंने दलित के स्थान पर बहुजन शब्द का प्रयोग किया है। वे इन दोनों की अस्मिता का प्रश्न लगातार उठा रहे थे। इस अर्थ में महात्मा जोतिबा फुले महर्षि दयानन्द सरस्वती से चार कदम आगे थे। क्योंकि उन्होंने वर्ण-व्यवस्था को पूर्णरूप से नकारा। स्त्री की स्वतन्त्रता का, उसकी अस्मिता का सम्मान किया। आज के दलित और स्त्री-विमर्श की नींव में महात्मा जोतिबा फुले और डॉ. बाबा साहब अम्बेडकर के विचार हैं—इसे हम न भूलें।

स्वातन्त्र्योत्तर काल में विमर्श : राजनीतिक स्वतन्त्रता के बाद डॉ. बाबा साहब अम्बेडकर द्वारा जिस संविधान का निर्माण किया गया, उसके कारण इस देश के सभी नागरिकों को शिक्षा की सुविधाएँ उपलब्ध होने लगीं। संविधान सभा में दीर्घकाल तक जो बहसें हुईं, वह वास्तव में इस देश के भविष्य को लेकर किया गया विमर्श ही था। संविधान सभा ने इसे स्वीकारा कि इस देश की समाज-व्यवस्था श्रेणीबद्ध थी और है,

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

विषमता से ग्रसित थी और है इसी कारण ऐसी जटिल श्रेणीबद्ध समाज-व्यवस्था के स्थान पर समतावादी समाज रचना का निर्माण ही इस देश का लक्ष्य रहेगा, उसी दृष्टि से संविधान की अनेक धाराएँ लिखी गईं। यहाँ के नकारे गए, श्रमिक, शोषित, दलित, आदिवासी वर्ग को शिक्षा हेतु अनेक सुविधाएँ प्रदान करना तथा दलित, आदिवासी और स्त्री शिक्षित होने के बाद उन्हें नौकरियों में आरक्षण देकर आर्थिक दृष्टि से उन्हें स्वावलम्बी बनाने का भी लक्ष्य रखा गया। प्रत्येक राज्य सरकार का यह दायित्व माना गया कि वे अपने राज्य के दलित, आदिवासी और स्त्रियों के लिए कल्याणकारी योजनाएँ बनाएँ तथा उन्हें ईमानदारी से कार्यान्वित करें। बहुत धीमी गति से क्यों न हो यह प्रक्रिया यहाँ शुरू हो जाती है। 1950 में संविधान लागू हो जाता है। 1952 में पहला चुनाव होता है। स्वतन्त्र भारत की पहली सरकार बन जाती है। संविधान की धाराओं के तहत् शिक्षा-क्षेत्र में दलित और स्त्री को स्थान आरक्षित किए जाते हैं। 1952-55 के समय जिन दलितों और स्त्रियों ने शिक्षा लेना शुरू किया था वे 1960-70 के करीब उपाधि लेकर विश्वविद्यालय के बाहर प्रत्यक्ष जीवन-संघर्ष में प्रवेश करते हैं। यहाँ इस बात को स्पष्ट करना जरूरी है कि स्वतन्त्रता-पूर्व काल में 1857 के बाद यहाँ सीमित मात्रा में क्यों न हो शिक्षा की व्यवस्था थी। परन्तु उस काल में यह शिक्षा केवल दो वर्णों तक ही सीमित थी। महात्मा जोतिबा फुले, डॉ. बाबा साहब अम्बेडकर और आर्य समाज के कारण बहुजनों ने शिक्षा लेना शुरू किया था। परन्तु तब दलित और स्त्री-विमर्श की शुरुआत नहीं हुई थी। क्योंकि ये शिक्षित या तो आर्थिक दृष्टि से सम्पन्न घरों से आए थे। उनकी सारी चिन्ताएँ और उनके विमर्श सामुदायिक विमर्श का हिस्सा नहीं बन सके यह यथार्थ स्थिति है।

विमर्श के आरम्भिक दौर में इस वर्ग की जो अभिव्यक्ति हुई, उसमें आक्रामकता रही है, कुछ सीमा तक वह आज भी है। वेदना और विद्रोह विमर्श के स्थायी भाव होते हैं। ये भाव तब तक व्यक्त होते रहेंगे, जब तक इस वर्ग के साथ समानता का व्यवहार नहीं किया जाएगा। अर्थात् इस प्रकार का व्यवहार दोनों ओर से अपेक्षित है। अगर हम दलित और स्त्री-विमर्श की अब तक की यात्रा को समझने का प्रयत्न करेंगे तो उसमें मुख्य रूप से तीन प्रकार के स्वर क्रमशः मिलते रहेंगे। अभिव्यक्ति और आचरण के स्तर पर इन स्वरों में थोड़ी-सी भिन्नता भी दिखलाई देंगी। अभिव्यक्ति स्तर पर आरम्भ में परम्परा के प्रति भयंकर आक्रोश था, चिढ़ थी, तिरस्कार था। जिस व्यवस्था ने उनको इस स्तर तक पहुँचाया, जिस व्यवस्था ने उनके मानवाधिकारों को छीन लिया, जिस व्यवस्था ने उन्हें पूर्णतः गुलाम बनाया, उसके प्रति चिढ़ होना स्वाभाविक स्थिति है। इसमें सक्रिय संवेदनशील स्त्री-पुरुष इतिहास और परम्परा का उत्खनन करते हैं। परम्परा ने, इतिहास ने, धर्म ने उन्हें क्या दिया, इसकी खोज वे करते हैं, भूतकाल में हमें कहीं स्थान दिया गया था क्या इसकी छानबीन भी वे करते हैं। वास्तव में इस प्रकार के विमर्श में अतीत का अनुसन्धान ही किया जाता है। महात्मा फुले ने यह किया, डॉ.

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

बाबा साहब अम्बेडकर ने यह किया। अतीत में उनके साथ जो भी घटित हुआ, उसके आधार पर वे उस अतीत को ही नकारते हैं, भले ही वह अतीत दलितेतरों और पुरुषों के लिए स्वर्णयुग रहा हो। विमर्श के दूसरे दौर में वे अपने वर्तमान की ओर तटस्थता से देखते हैं। उनके साथ आज भी जो व्यवहार, आचरण किया जा रहा है, उसको पूरी तटस्थता से देखने का उनका प्रयत्न होता है। सारी संवैधानिक सुरक्षितता के बावजूद आज भी देश में, देहातों में जो घटनाएँ उनके साथ घटित हो रही हैं, उसका विवेचन और विश्लेषण वे करते हैं तथा उसके आधार पर इस निष्कर्ष पर पहुँचते हैं कि आज भी सवर्णों और पुरुषों की मानसिकता में बहुत गुणात्मक अन्तर नहीं हुआ है। पहला स्वर–अधिक तीखा और आक्रामक है तो दूसरा स्वर एक तटस्थ ऐसे व्यक्ति का है। देखिए, ऐसा आज भी घटित हो रहा है, आपकी क्या प्रतिक्रिया है?. क्या यह सब औचित्यपूर्ण है? यह दूसरा स्वर सवर्णों और पुरुषों को आत्मपरीक्षण के लिए ललकारता है। विमर्श का जो तीसरा स्वर है, जो अभी बहुत धीमा है, वह खुद के आत्म-परीक्षण का है। अपने अन्तर्विरोधों को, विसंगतियों को पहचानने का यह प्रामाणिक प्रयत्न है। ठीक है, व्यवस्था तो अमानवीय है, उसने दलित और स्त्री के मानवाधिकारों को छिन लिया था। स्वतन्त्रता के बाद इन दो वर्गों को जो सुविधाएँ मिलीं, उससे इन वर्गों की मानसिकता में कहाँ तक बुनियादी परिवर्तन हुआ, ऐसा यह प्रश्न है। मुक्तिबोध के शब्दों में खुद को तलाशने और तराशने का यह प्रयत्न है। हम कहाँ थे, कहाँ आ गए हैं, कहाँ पहुँचना है ये इस विमर्श के तीन बुनियादी प्रश्न हैं। हम कहाँ थे इसकी खोज हुई है, अभी भी हो रही है, होनी भी चाहिए, इसी खोज में आक्रोश रहा है, विद्रोह रहा है, वेदना भी रही है। कहाँ हैं–की खोज धीमी गति से जारी है। यह आत्मपरीक्षण की स्थिति है। इस पूरी प्रक्रिया में दलित सनातनी सवर्ण बने वह केवल मनुष्य बने इसका आग्रह है। इसी खोज के परिणामस्वरूप डॉ. शरणकुमार लिंबाळे जी ने दलित ब्राह्मण शब्द का ईजाद किया। स्त्री-विमर्श में यह प्रश्न भी उठाया जा रहा है कि पुरुषसत्तात्मक व्यवस्था का विरोध करते-करते स्त्री पुरुष न बन जाए। मतलब फिर से मातृसत्तात्मक व्यवस्था लाने का आग्रह न हो। न पुरुष सत्तात्मक व्यवस्था हो न मातृसत्तात्मक, न वर्ण-व्यवस्था हो और न वर्ण-व्यवस्था का उल्टा रूप–मतलब दलित शीर्षस्थान पर और ब्राह्मण निम्न स्थान पर वास्तव में हम सबको विशुद्ध मानवतावादी-समतावादी व्यवस्था तक पहुँचना है। वही हमारा लक्ष्य है। इन सारे विमर्शों का गन्तव्य स्थान विशुद्ध मानवता का, समतावादी व्यवस्था का है।

बीसवीं सदी के उत्तरार्द्ध के विश्वप्रसिद्ध दार्शनिक मिशेल फूको ने एक स्थान पर लिखा है कि कोई भी चीज तब तक समस्या नहीं बनती या समस्या का रूप ग्रहण नहीं करती, जब तक वह विमर्श में प्रवेश न कर ले। (सन्दर्भ वाक् त्रैमासिक अंक 12, पृ. 28) फूको ने इस छोटे-से वाक्य में यह संकेत दिया है कि विमर्शों का जन्म कैसे और कब होता है। समस्या के जन्म के लिए सबसे पहली जरूरत यह होती है कि उस

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

समस्या पर लगातार बहस हो। समाज के बुद्धिजीवी तबके से लेकर सामान्य लोगों में जब तक उस पर निरन्तर बहस नहीं होती, तब तक उसे तत्कालीन व्यवस्था या शासन समस्या के रूप में ग्रहण नहीं करती।

उसे समस्या के रूप में प्रस्तुत करने का काम तत्कालीन व्यवस्था की विसंगतियों को जो पहचान पाते हैं, उन्हें ही यह सम्भव होता है। जो व्यवस्था का उदात्तीकरण करते हुए जीते हैं अथवा जो व्यवस्था की अमानवीयता को पहचान नहीं पाते अथवा जिनके हितसम्बन्ध उस व्यवस्था में सुरक्षित होते हैं, वे कभी भी इसे समस्या के रूप में पहचान नहीं पाते। वह समस्या न बने इसलिए वे उस पर विमर्श करना भी टालने लगते हैं। दूसरी ओर से सोचें तो जिनकी यह समस्या होती है, वे अगर संवेदनशून्य हों अथवा व्यवस्था उन्हें संवेदनशून्य कर चुकी हो तो वे भी इस पर कभी न सोचेंगे और न बहस करेंगे। विमर्श तो तभी होगा न जब उसे यह तीव्रता से अहसास हो कि इस व्यवस्था ने मेरे मानवाधिकारों को छिन लिया है। डॉ. बाबा साहब अम्बेडकर ने यही तो कहा कि गुलाम को गुलामी का अहसास करा दो कि फिर आगे की प्रक्रिया गुलामी से मुक्त होने की शुरू हो जाएगी। भारत के सन्दर्भ में सोचें तो यह स्पष्ट होगा कि यहाँ के भाग्यवादी तथा पुनर्जन्म के सिद्धान्त ने दलित और स्त्री के सोचने की ऊर्जा को ही खत्म कर दिया था। हमारी यह नियति है, हमारे भाग्य में ऐसा ही लिखा हुआ है, इस जन्म में अपने कर्तव्य ईमानदारी से (पति सेवा तथा अन्य वर्णियों की सेवा) निःवार्थ भाव से करने के बाद अगले जन्म में इस गुलामी से मुक्ति मिलेगी, स्वर्ग मिलेगा, ऐसी सोच लिये पीढ़ी-दर-पीढ़ी दलित और स्त्री जी रहे थे। हमारी इस गुलामी के मूल में यहाँ की व्यवस्था है, पुरुषसत्ताक और वर्णवादी समाज-व्यवस्था है, इसका अहसास ही नहीं करा दिया गया था। परिणामतः यह समस्या है ऐसा न बुद्धिजीवियों को लगा और न शृंखलाओं में कैद दलित या स्त्री को नवजागरण काल में जब राजा राममोहन राय को स्त्री पर होने वाले इन अन्यायों का अहसास हुआ, जब उन्हें लगा कि इनके मानवाधिकार छिन लिये गए हैं, तब उन्होंने कोलकाता के भद्र समाज में इस पर बहस शुरू की। ब्रह्म समाज में ऐसे विषयों पर लगातार बहसें हो रही थीं। इस पर तत्कालीन पत्रिकाओं में लिखा जा रहा था, इन बहसों या विमर्शों के कारण ही आगे चलकर इसे हिन्दू समाज की एक समस्या के रूप में देखा जाने लगा। तत्कालीन साहित्य में इसकी अभिव्यक्ति भी हुई। यह दूसरी बात है कि उस वक्त न विमर्श शब्द का प्रयोग हुआ और न डिसकोर्स का। अलबत्ता शास्त्रार्थ शब्द का प्रयोग लगातार होता रहा। महात्मा जोतिबा फुले तत्कालीन समाज-व्यवस्था में लगातार बहुजनों की अस्मिता को लेकर, उनकी शिक्षा को लेकर, उनकी दुर्दशा को लेकर व्याख्यान दे रहे थे, पण्डितों से बहस कर रहे थे, पत्रिकाओं में लेख लिख रहे थे। इसी कारण वे इसे तत्कालीन अँग्रेजी सत्ता के सम्मुख बहुजनों की शिक्षा की समस्या रख सके। ठीक यही स्थिति डॉ. बाबा साहब अम्बेडकर की है। दलितों की समस्या को समस्या रूप में डॉ.

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

बाबा साहब तभी रखते हैं, जब उन्होंने हिन्दू समाज की संरचना का गम्भीर अध्ययन किया था। अमेरिका के कोलम्बो विश्वविद्यालय में बैठकर वे जाति-व्यवस्था से सम्बन्धित नई स्थापनाएँ प्रस्तुत कर रहे थे। वे इस विषय पर लगातार बहस कर रहे थे, लिख रहे थे। महात्मा गाँधी से लेकर तत्कालीन धर्मप्रमुखों से भी वे आज की भाषा में विमर्श कर रहे थे। इसी कारण तो इसे एक गम्भीर समस्या के रूप में अँग्रेजी सत्ता को तथा बाद में गाँधी को स्वीकार करना पड़ा। इस प्रकार प्रत्येक परिवर्तनवादी आन्दोलन के मूल में सम्बन्धित विषय पर विमर्श की जरूरत होती है। विमर्श परिवर्तन की प्रक्रिया की नींव में होता है। किसी एक के कहने से परिवर्तन की प्रक्रिया का आरम्भ नहीं होता। अपितु उस बात पर, उस माँग पर अधिकारों पर लम्बी बहसें होना जरूरी हो जाता है। ऐसी बहसों के बाद वह समस्या का रूप धारण कर लेता है। उस समस्या से पीड़ित लोग संगठित होने लगते हैं। क्योंकि ऐसे विमर्श के कारण ही उन्हें इस बात का अहसास होता है कि उनकी असली समस्या क्या है और उससे निकलने का मार्ग कहाँ है, तभी वे सब परिवर्तन के लिए संगठित होने लगते हैं।

साहित्यकारों और बुद्धिजीवियों की भूमिका इस पूरी प्रक्रिया में महत्त्वपूर्ण होती है। जब समाज के किसी एक तबके की यथार्थ समस्या सामने आने लगती है, तब उस समस्या के सभी पहलुओं पर विमर्श कर उसकी आवश्यकता का प्रतिपादन करने की जिम्मेदारी साहित्यकारों और बुद्धिजीवियों पर होती है। फुले के शब्दों में कहना हो तो वह उस विषय पर विमर्श द्वारा उसे समस्या के रूप में प्रस्तुत करने लगता है, तब तत्कालीन समाज को, सत्ता को, व्यवस्था को उस समस्या की ओर ध्यान देना ही पड़ता है। इसी प्रक्रिया के तहत् साहित्य में नए विमर्शों का उदय होता है। हिन्दी साहित्य में दलित और स्त्री-विमर्श का उदय कब हुआ, इसका इतिहास देखना भी जरूरी है। यूँ तो, द्विवेदी काल से दलित और स्त्री जीवन पर चर्चा हो रही थी। परन्तु इस चर्चा ने कभी विमर्श का रूप धारण नहीं किया।

गाँधी युग में भी दलित और स्त्री जीवन पर बातें हो रही थीं। उस चर्चा में या इनकी ओर देखने की दृष्टि में या तो दयाभाव या अथवा अति आदर्शवादी भाव। मैथिलीशरण गुप्त की कविताओं में, खंड काव्यों में स्त्रियों से सम्बन्धित जो दृष्टिकोण है, वह अतिआदर्शवादी, वायवी है। स्त्री या दलित की दशा की ओर समस्या के रूप में देखा नहीं जाता था। सामन्ती मानसिकता ही वहाँ काम कर रही थी। वास्तव में उस काल में दलित और स्त्री व्यवस्था के सम्मुख समस्या के रूप में खड़े ही नहीं थे। दूसरी सच्चाई यह है कि स्त्री और दलित स्वयं कहाँ मुखर थे? कोई दूसरे ही इनके बारे में बोल रहे थे। उनकी इस स्थिति को लेकर विमर्श ही शुरू नहीं हुआ था। वास्तव में दलित और स्त्री इन दोनों की स्थिति पर डॉ. बाबा साहब अम्बेडकर ही विमर्श शुरू कर देते हैं। 1920 से 1956 तक वे लगातार इन दो प्रश्नों पर बोल रहे थे, लिख रहे थे परिणामस्वरूप तत्कालीन बुद्धिजीवियों को भी इन प्रश्नों की दखल लेनी पड़ी।

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

अलबत्ता सुश्री महादेवी वर्मा ने 'शृंखला की कड़ियाँ' में 1942 में स्त्री-विमर्श की शुरुआत की थी। यह विमर्श केवल उन तक सीमित था। तत्कालीन तथाकथित हिन्दी भाषी बुद्धिजीवी महिलाओं ने इस विमर्श की गम्भीरता से नोटिस नहीं ली है। डॉ. बाबा साहब अम्बेडकर के कारण महाराष्ट्र में दलित-विमर्श की शुरुआत हो जाती है। उधर तमिळनाडु में रामस्वामी नायकर पेरियार ने दक्षिण में दलित-विमर्श की शुरुआत की थी। हिन्दी प्रवेश में अछूतानन्द यही काम कर रहे थे। परन्तु तत्कालीन सवर्णों ने उनके इस विमर्श को गम्भीरता से नहीं लिया। दलित और स्त्री दोनों के प्रश्न मनुष्य के बुनियादी मानवाधिकारों से जुड़े हुए हैं। इस कारण संवेदनशील साहित्यकारों के ये सोच के विषय होने चाहिए। परन्तु इस देश के सभी बुद्धिजीवियों की दृष्टि से दलित और स्त्री-विमर्श के विषय थे ही नहीं। जब इन दोनों की व्यवस्थाएँ, यातनाएँ, इनका विद्रोह, इनकी वेदना सर्जनात्मक साहित्य में प्रगट होने लगी, हिन्दी के बुद्धिजीवियों का ध्यान इनकी ओर चला जाता और ये विमर्श के केन्द्र में आ जाते हैं। या यह कहिए कि मजबूरी से क्यों न हो उन्हें इसे विमर्श के केन्द्र में लाना पड़ा। यह स्पष्ट है कि साहित्य में नए विमर्शों का आगमन तभी हो जाता है जब समाज में उस विषय को लेकर सजगता बढ़ती है, उस समस्या से पीड़ित लोग जब संगठित होकर अपने मानवाधिकारों की माँग करने लगते हैं। जब वे अपनी अनुभूतियों को पूरे तीखेपन के साथ व्यक्त करने लगते हैं। जब वे तत्कालीन व्यवस्था के सम्मुख चुनौती बनकर खड़े हो जाते हैं। जब उनकी स्थिति पर बहस शुरू हो जाती है और ऐसी बहस या विमर्श के कारण उनके प्रश्न समस्या का रूप ग्रहण करने लगते हैं।

साहित्य में अक्सर ऐसा होता है कि पहले संवेदनशील लेखक सर्जनात्मक रचनाओं द्वारा अपनी व्यथा को, अपनी अस्मिता पर पहुँचे आघात को व्यक्त करता है, बाद में उस पर बहस शुरू हो जाती है। इसलिए साहित्य में नए विमर्श तभी शुरू हो जाते हैं जब सर्जनात्मक स्तर पर व्यथा वेदना व्यक्त हो जाए। समीक्षक उस व्यथा-वेदना के जड़ तक पहुँचने के लिए उस पर बहस करने लगता है। उनके आयामों से उस पर विमर्श शुरू हो जाता है। इस दृष्टि से देखें तो हिन्दी में दलित-विमर्श तभी से शुरू हो जाता है जब दलित संवेदना की अभिव्यक्ति होने लगती है। जब स्त्रियाँ बेबाक पद्धति से लिखने लगती हैं। विमर्श की इस प्रक्रिया को लेकर इसके जन्म की एक सैद्धान्तिकी बनाना कठिन है। क्योंकि इसके जन्म का कोई एक कारण तो नहीं होता। मराठी में फुले और अम्बेडकर के विचारों पर बीसवीं सदी के दूसरे-तीसरे दशक से ही विमर्श शुरू हो चुका था। फुले और अम्बेडकर इसे समस्या के रूप में प्रस्तुत कर चुके थे। परन्तु दलित संवेदना की अभिव्यक्ति बीसवीं सदी के छठे दशक से शुरू हो जाती है।

मराठी में पहले विमर्श बाद में साहित्य और फिर विमर्श ऐसी स्थिति है। इसके ठीक उलटे हिन्दी में पहले सर्जनात्मक साहित्य और बाद में विमर्श ऐसा चित्र है। यहाँ एक अन्य पहलू की ओर भी ध्यान देना जरूरी है। विमर्श की अन्तरराष्ट्रीयता। दलित

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

और स्त्री-विमर्श ये जितने राष्ट्रीय या स्थानिक हैं, उतने ही वे अन्तरराष्ट्रीय भी हैं। विश्व में वंश, रंग या प्रदेश के नाम पर किसी एक तबके के मानवाधिकारों को छीन लेने की, उन्हें गुलामी में रखने की परम्परा रही है। यूरोप में विशेषकर अमेरिका में रंग के नाम पर नीग्रो के साथ यह हुआ तो जर्मनी में यहूदियों के साथ। धर्म या सत्ता के नाम पर यहाँ की स्त्रियों के मानवाधिकार छीन लिये गए। उपेक्षितों, श्रमिकों, पतितों, दलितों के साथ यही हुआ। इसका प्रमाण यह है कि बीसवीं सदी में अमेरिका में नीग्रो विमर्श के केन्द्र में था।

अपने मानवाधिकारों के लिए वे संगठित हो रहे थे। सर्जनात्मक स्तर पर साहित्य की अनेक विधाओं में वे खुद को व्यक्त कर रहे थे। इसमें कोई सन्देह नहीं कि मराठी दलित-साहित्य के जो अनेक प्रेरणास्रोत हैं, उनमें नीग्रो साहित्य भी है। ठीक इसी तरह विश्व-भर की स्त्री बीसवीं सदी में अपने अधिकारों के प्रति सजग होकर संगठित होने लगती है। पुरुष सत्तात्मक समाज व्यवस्था की ओर वह एक चुनौती के रूप में खड़ी हो जाती है। स्त्री-विषयक जो वैचारिक लेखन यूरोप की भाषाओं में हुआ, वह यहाँ स्त्री-विमर्श के लिए एक उर्जास्रोत के रूप में कार्य कर रहा है। यह सही है कि प्रत्येक समस्या के मूल में स्थानिक कारण होते हैं, उस भाषिक समाज की संस्कृति, वहाँ का धर्म, परम्परा, रूढ़ियाँ कारणीभूत होती हैं, परन्तु उसी समय वह समस्या अन्तरराष्ट्रीय स्तर की भी हो जाती है। क्योंकि अन्ततः वहाँ का धर्म, परम्परा, रूढ़ियाँ कारणीभूत होती हैं, परन्तु उसी समय वह समस्या अन्तरराष्ट्रीय स्तर की भी हो जाती है। क्योंकि अन्ततः विश्व में सभी ओर स्त्री-पुरुष हैं इसके कारण उनकी समस्याओं में, उन पर होने वाले विमर्शों में कहीं-न-कहीं समानता भी होगी ही। प्रत्येक काल के साहित्य में नए विमर्शों का उदय होते रहता है।

नवजागरण काल में स्त्री-शिक्षा यह विमर्श का विषय था। बाद के कालखंड में राजनीतिक स्वतन्त्रता, हिन्दू-मुस्लिम प्रश्न तथा दलितों के राजनीतिक अधिकार ये प्रश्न विमर्श के केन्द्र में थे। वर्तमान युग में दलित और स्त्री के मानवाधिकारों का, समतावादी समाज का प्रश्न विमर्श के केन्द्र में है। बहुत धीमे स्वर में आदिवासी जीवन भी विमर्श के केन्द्र में आ रहा है। अल्पसंख्यकों में जो पिछड़े हैं, उन पर भी बहस शुरू हो चुकी है। इसके अलावा तृतीयपन्थी या नपुंसक लिंगी के मानवाधिकारों के प्रश्न पर भी विमर्श जारी है। समलिंगी विवाह पर भी कभी-कभार बहसें होती हैं।

कुल मिलाकर यह कहा जा सकता है कि कल तक समाज के जिस तबके को हाशिए में डाल दिया गया था, वह पूरे आत्मविश्वास के साथ केन्द्र की ओर बढ़ रहा है। अपनी अवस्था को लेकर वह बेचैन था और है। अब वह समाज में अपनी जगह ढूँढ़ रहा है, संगठन और विमर्श द्वारा वह केन्द्र में आना चाह रहा है। जब भी ऐसे हाशिए का समाज केन्द्र में आने के लिए प्रयत्नशील हो जाता है, तभी साहित्य में नए विमर्श का उदय होने लगता है।

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

भारतमाता की जय : एक विमर्श

विजय रंजन*

निर्विवादतः वर्तमान में हमारे राष्ट्र का सांस्कृतिक परिदृश्य यह निनादित करने में समर्थ है कि हममें से बहुलांश दम्भ करने के लिए तो भारत जैसे महान् देश के नागरिक हैं किन्तु वे भारत, भारतीयता और राष्ट्रवाद सदृश अस्मिताओं के मूल तत्त्वों से अनभिज्ञ हैं। यदि यह अनभिज्ञता सघन न होती तो सम्भवतः 9 फरवरी 2016 का जे. एन. यू. दुष्कांड और भारतमाता की जय पर विवाद उत्पन्न नहीं होता। अतः यह प्रश्न सारहीन है कि भारतमाता की जय बोलने पर बल दिया जाना आवश्यक क्यों है।

वस्तुतः भारतमाता की जय एक ऐसा राष्ट्रवादी जयघोष है जिसके निहितार्थ बहु-आयामी हैं। आचार्य अभिनव गुप्त के 'ध्वन्यालोक' के ब्याज से कह सकते हैं कि सामान्यतया वाक् व्यक्ति के अन्तर्मन में उपजे भाव की अभिव्यक्ति को प्रकट करता है। इस प्रकार सन्दर्भगत जयघोष राष्ट्रिक के राष्ट्र-प्रेम को दर्शाने के साथ-साथ उसके अन्तर्मन में उपजे भाव की थाह भी प्रदर्शित करता है। शब्द की वैखरी, मध्यमा, परा और पश्यन्ती शक्तियों से निःसृत अर्थ अभिधा के साथ-साथ लक्षणा और व्यंजना में भी बहुत कुछ कहते हैं। भारतमाता की जय के सन्दर्भ में भी इस शब्द-बन्ध के व्यंजना और लक्षणा अर्थ महत्त्वपूर्ण हैं। तदनुसार विवेचना करें तो स्पष्ट होगा कि जय कोई तभी प्राप्त करता है, जब भौतिक और नैतिक रूप में वह सबल हो। इस तरह 'भारतमाता की जय' शब्दान्तर से भारत के सबल होने की कामना है। तथैव, सन्दर्भगत जयघोष से इनकार का अर्थ भयावह अर्थोन्मीलन ध्वनित करता है। लेकिन कोई बेशर्म हठधर्मी पर कटिबद्ध हो जाए तो कैसे बताएँगे आप उसे कि यह जयघोष आवश्यक क्यों है? प्रसंगित 'क्यों' निस्सार तभी होगा जब प्रश्नकर्त्ता के अन्तर्मन से तद्गत प्रश्नावलि दूर कर दी जाए। एतदर्थ प्रश्नकर्ता को बताया जाना अपरिहार्य है कि 'भारत'-भूमि माता का सम्मान प्राप्त करने योग्य क्यों है, भारत' का अर्थ-निक्षेप क्या है और, इस जयघोष का तात्पर्य-विन्यास कहाँ तक है?

* विजय रंजन, सम्पादक : अवध-अर्चना, 4/14/41ए महताब बाग, अवधपुरी कालोनी फेज-2, फैजाबाद-224001, (उ.प्र.) मो. 09415056436; ई-मेल ranjanvijay@gmail.com

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

दुर्योग से 15 अगस्त 1947 के पूर्व विगत 900 वर्षों के दासता-काल में हमारे जो सत्ताधारी सत्तासीन रहे, वे भारत या कि भारत माता की जय के हामी नहीं रहे। 15 अगस्त 1947 को राजनीतिक स्वतंत्रता-प्राप्ति के पश्चात् भी हमारे पश्चिमोन्मुखी कर्णधार इस विषय में उदासीन रहे। इस उदासीनता से आज का सच यही है कि बहु-बहुलांश भारतीय यह जानते ही नहीं कि भारत है क्या?

भारत को कतिपय विदेशी सपेरों, जादूगर और नाचनेवालियों का देश या कि चरवाहों का गीत गानेवालों का देश या कि सती प्रथा, घोटुल जैसी प्रथाओं का देश बताते हैं। भारत के मूल निवासी आर्यों को आक्रमणकारी विदेशी बताते हुए भारत को अनेक राष्ट्र/समाज/संस्कृतियों का समवाय भी बताते हैं वे! क्या यही है भारत? नहीं न!

निश्चित रूप से 3287590 वर्ग कि.मी. तक विस्तीर्ण या कि पूर्वांचल की 7 बहनों के प्रदेशों से पंजाब तक और कश्मीर से कन्याकुमारी तक विस्तीर्ण या कि 127 करोड़ जन के निवास का देश; इतना भर भी नहीं है भारत?

और, कैसियस की 'इंडिका', हेरोडोटस की 'हिस्टारिका', मेगस्थनीज़ की 'इंडिका', हीकेटियस मिलेटस के 'जियोग्रॉफिया' या कि अलबरूनी, प्रथम शती ई.पू. के चीनी यात्री सुमाचीन या बाद के फाह्यान, ह्वेन्सांग आदि द्वारा विवरणित देश मात्र भी नहीं है भारत। कोलम्बस, वास्कोडिगामा प्रभृति समुद्री यात्रियों के सपनों का सम्पदा-सम्पन्न देश तक सीमित भी नहीं है यह। और न ही लगभग 900 वर्ष लगातार विदेशी आधिपत्य में रहने वाला देश या कि वह देश जिसे 15 अगस्त 1947 को विदेशी दासता से स्वयं सम्प्रभु राजनीतिक सत्ता हस्तान्तरित हुई थी, इतना भर है भारत?

नहीं, इन सबका समुच्चय/समवाय मात्र भी नहीं है 'भारत'। तब स्वाभाविक प्रश्न उभरता है कि 'क्या है भारत'?

अति संक्षिप्तप्ततः कहना होगा कि **आदिकाल से सात्त्विक रागात्मक रचनाधर्मिता वाली प्रज्ञा-प्रदायी देवी भारती (सरस्वती) से सम्पृक्त है 'भा + रत'। अर्थात् 'निरन्तर प्रकाश (ज्ञान) की खोज में निरत' रहनेवाला देश है यह। तदनुसार प्रकाश-खोजी सात्विक रचनाधर्मी संस्कृति का देश और, विशिष्ट संस्कारों एवम् विशिष्ट सांस्कृतिक संचेतनावाला समाज/राष्ट्र रहा है 'भारत'।' भारतीयता की पहचान देवी भारती से ही संयुत है।**

ध्यातव्य है कि जिस देश-समाज में सन्तान का नामकरण भी व्युत्पत्तिशास्त्र के अनुसार किया जाता है, उस देश का नाम 'भारत' अकारण नहीं रखा गया। महाकवि कालिदास के अनुसार हर राष्ट्र की एक विशिष्ट प्रकृति, उसका एक विशिष्ट शील, उसकी एक विशेष ऋता होती है। यहाँ की विशिष्ट ऋता, विशिष्ट शील, विशेष प्रकृति के आधार पर ही रखा गया प्रतीत होता है भारत का नाम। पश्चिम में भू-क्षेत्र, जैविक

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

सम्पदा, जनसंख्या, सेना, कोष, सम्प्रभुता आदि के सहयुजन वाली इयत्ता को भले राष्ट्र-राज्य या राज्य-देश माना जाए लेकिन, हिमालय से आसमुद्र, कामरूप से कच्छ, कन्याकुमारी से कश्मीर तक परिव्याप्त विशिष्ट ऋता वाला देश 'भारत' भू-क्षेत्र, वनसम्पदा, नदी, पर्वत, खनिज, पशु-पक्षी आदि जैविक सम्पदा और जनसंख्या के सहयुजन वाले भू-क्षेत्र से कहीं आगे है भारतत्व और तद्गत भारत की इयत्ता। भारतीय मनीषा के अनुसार उपरि-अंकित **भू-क्षेत्र आदि मात्र 'मृण्मय भारत'** या **कि भारत का 'अन्नमय कोष' है ; यहाँ की विशिष्ट संचेतना 'भारतत्व'** (भ + ा + र + त + त्व अर्थात् प्रकाश-निरतता) **यहाँ का 'प्राणमय कोष'** है जबकि **यहाँ की भास्वद् सारस्वत भा + रती चिन्मयता भारत का 'मनोमय कोष'** है। **यहाँ का मानवहिती उच्चकोटिक दर्शन-योग-अध्यात्म, विशिष्ट शिक्षा** और **विशिष्ट संस्कृति भारत का 'विज्ञानमय कोष' है।**

निरुक्त प्रभृति ग्रन्थ का आश्रय लेकर 'भारत' को देखें तो स्पष्ट होगा कि **भारत है भा + रत या कि 'भ + ा + र + त' का समुच्चय। भ** का अर्थ है **प्रकाश अर्थात् वह अवयव जो विश्व को ज्योतित करता है, जो ज्ञान भी** प्रदान **करता है, ज्योति (रोशनी) और ऊर्जा भी। जो सत्त्व भी है और** सत्त्व का **उद्गाता भी। जो अंधकार-वेधक, तमस-वेधक भी है और तमस-वृत्ति** का **निवारक भी। ऐसे सद्गुणों के प्रतीक 'भ' के 'भ-त्व' को उभारने के** क्रम में **तद्गत अर्थवाचन वाली 'आ' की मात्रा 'ा' से संयुक्त करने के पश्चात्** उसे **'रत' से सम्पृक्त करके विनिर्मित होता है 'भारत'; अर्थात् प्रकाश को** उभारने **में रत (संलग्न) अर्थवाचन का साक्षात् प्रतीक है 'भारत'। यह** प्रकाश-निरतता **यहाँ का प्रमुख आत्मतत्त्व है।**

निरुक्त के अनुसार **'भारत' का अर्थ 'सूर्य को आगे लाने में** निरत' (सूर्योपासक) के अर्थ में है।

ऋक् (2/7/1 एवं 5, 4/75/4, 61/6/19-45) में **ऊर्जाप्रदायी,** दोशघ्न **अग्नि** को **भारत** कहा गया। **वैदिक ग्रन्थों** में और **श्रीमद्भगवद्गीता** में भी 'भारत' शब्द का अनेकशः प्रयोग है। उन सभी स्थलों पर 'भारत' एक देश या राष्ट्र के रूप में नहीं अपितु एक **'सचेतन ज्ञानोन्मुख सत्ता'** के रूप में प्रोक्त है।

भारत के नामकरण के विषय में कहते हैं कि नए स्वर्ग की रचना की सामर्थ्य रखने वाले और गायत्री मंत्र की विरचना पूर्ण करने वाले ऋषि **विश्वामित्र** के दौहित्र शाकुन्तल **भरत** के नाम पर या कि जैनियों के आदितीर्थंकर **ऋषभदेव** के संस्कारी वीर पुत्र **भरत** के नाम पर नामकृत हुआ था भारत। **'ऐतरेय ब्राह्मण'** में दौश्यन्ति को यहाँ का राजा बताते हुए भरत कहा गया। वहीं, **'महाकर्म भरतस्य न पूर्वे नापरे जनाः'** श्लोक के अनुसार जनों में अप्रतिम महान् कर्म करने वाले को भरत कहा गया। कुछ विद्वान् भारत का नामांकन सौवीर नरेश रहूगण को ज्ञानोपदेश देने वाले जड़भरत

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

के नाम पर किया गया बताते हैं। सम्भव है सरस्वती-प्रदेश कैकय से लेकर गंगा-तीरे तक विस्तृत कोशल से सम्बद्ध राजकुमार भरत जिनके अग्रज राम ने दक्षिणापथ से भी अन्याय-अत्याचार को मिटाकर श्रेष्ठ संस्कारों वाली संस्कृति से दक्षिणापथ को ओत-प्रोत कर दिया–ऐसे रामानुज **भरत** के नाम पर नामांकित हुआ हो भारत। लाला **सीताराम** लिखित **'अवध का इतिहास'** स्वीकारें तो कह सकते हैं कि चन्द्रवंशी शाकुन्तल **भरत** से बहुत पहले पुरूरवा के अग्नि-ध्वंस को कारित करने वाले 'भरत गण' के आदि-पुरुष **'भरत'** के नाम पर इस देश को 'भारत' कहा गया। प्रसिद्ध भाषाविद् डॉ. सुकुमार सेन के **'भारतीय साहित्य'** के अनुसार भी **'भरत'** नामक एक आर्य जनजाति के नाम पर नामित किया गया था भारत। यह जनजाति पाणिनि के समय जनपथ में फैल गई थी। यह भरत जाति साहित्य, संगीत, नाटक आदि में अति प्रवीण थी। **वायुपुराण** में लोक का भरण करने वाले को 'भारत' कहा गया है। वायुपुराण में ही प्रथम मानव (प्रथम होमोसैपियन्स सैपियन्स) **मनु** को भरत कहा गया। प्रतीततः जाग्रत बुद्धि वाला प्रथम होमोसैपियन्स सैपियन्स जिसने 'कबीला' की संस्थापना की; उसके सुरक्षा/संरक्षा पोषण की व्यवस्था की, वही थे **मनु** जिन्हें **भरत** कहते हुए उनके नाम पर उनके गुणों को चरितार्थ करने वाले देश को 'भारत' कहा गया।

प्रकट है कि 'भरत' चाहे कोई भी माना जाए, भरत के उपरिअंकित विशिष्ट गुण जहाँ यत्र-तत्र-सर्वत्र परिव्याप्त हैं, उस देश (=वर्ष) को 'भारत' कहा गया है हमारे वाङ्मयों में।

जहाँ तक देश **'भारत'** के लिए **'भारतवर्ष'** शब्द के प्रयुक्त होने का प्रश्न है, इस फलक पर द्रष्टव्य है कि प्राचीनकाल में इस भूखंड (=वर्ष) को 'अजनाभ वर्ष' कहते थे। अजनाभ वर्ष अर्थात् आदि **सिसृक्षा की कारयित्री शक्ति** 'अज' की नाभि-भूमि अर्थात् सृष्टि-विधाता की धरती।

शब्द 'भारतवर्ष' का सविस्तार उल्लेख **महाभारत, मत्स्यपुराण, मार्कण्डेयपुराण, वायुपुराण, विष्णुपुराण** आदि में है–

"उत्तरं यत्समुद्रस्य हिमाद्रिंश्चैव दक्षिणम्।
वर्षं तद्भारतं नाम भारती यत्र सन्ततिः ।।" — *विष्णुपुराण*

"उत्तरं यत्समुद्रस्य हिमवद्दक्षिणं च यत् ।।
वर्षं यद् भारतं नाम यत्रेयं भारती प्रजा ।" — *वायुपुराण*

"एतत्तु भारतवर्षः चतुःसंस्थानं संज्ञितम्।
दक्षिणापरतो यस्य पूर्वे चैव महोदधिः।।
हिमवानुत्तरेणास्य कार्मुकस्य यथागुणः।।" — *मार्कण्डेय पुराण*

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

"अत्रापि भारतं श्रेष्ठं जम्बूद्वीपे महामुने।
यतो हि कर्मभूरेषां ततोन्यां भोगभूमयः।।" — *विष्णुपुराण*

"यत्र ते भारता जाता भारतान्वय वर्द्धना।
भारताद् भारती कीर्ति येनेदं भारतं कुलम्।
अपि ये चैव पूर्वे वै भारतो इति विश्रुतः।" — *मत्स्यपुराण*

"अपरे ये च पूर्वे च भारताः इति विश्रुताः।
भरतस्यान्वाये हि देवकल्पाः महौजसः।।" — *महाभारत*

उपर्युक्त श्लोकों में भारतवर्ष की केवल सारस्वतता या/और भौगोलिक सीमा ही इंगित नहीं है अपितु इनमें 'भारतीयता क्या है', 'भारतीय के कर्तव्य क्या हैं'–आदि भी सूत्र रूप में निहित हैं। **'भारती-कीर्ति'** एवं **'भारतन्वय के वर्धनं'** का उपरि-अंकित निर्देश बताता है कि **सत्त्वशील भारती के सद्गुणों से अर्थात् सत्त्व,** ऋत, नय, **रचनाधर्मिता, शिवत्व, सार्वसुन्दरम् आदि से आसिक्त देवी सरस्वती** (भारती) से **समेकित 'भारतान्वयता' का प्रसार करने वाला और ऐसे सारस्वत** सद्गुणों का **संवर्धन करने वाला ही 'भारतीय' है। ऐसा व्यक्ति ही 'भारतौविश्रुता'** हो **सकता है। भास्वद् दैवीय चिन्मयता का यही संस्कार भारत और** भारतीय की **रेखांकनीय विशिष्टता, विशिष्ट ऋता है।**

उपर्युक्त श्लोकों से प्रकट है यह भी कि भारत की सन्तति को 'भारती' कहा गया है। 'भारती' नाम उस देवी का है जो आपादमस्तक सत्त्व की देवी हैं, जो रचनाधर्मिता, प्रबोधन, शुभता, शुभ्रता, सत्, ऋत, लोक-कल्याण सदृश सद्गुणों से सम्पन्न सर्वपूज्या देवी हैं। वे साहित्य, संगीत, कला, धी, ज्ञान, प्रज्ञा और ऋतम्भरिक प्रज्ञा की प्रदात्री भी हैं। ऐसी देवी सरस्वती की ही सन्तति-प्रसन्तति हैं 'भारतीय'। भारती के नाम से समेकित होते ही हर भारतीय (व्यक्ति हो या विचार या वस्तु) के लिए अपरिहार्य हो जाता है कि वह देवी भारती (देवी सरस्वती) के सद्गुणों से आच्छादित हो।

देवी सरस्वती सार्वकल्याणी हैं। वाच्-वाक् स्वरूप में देवी भारती 'व्यक्ति-व्यक्ति' और 'व्यक्ति-समाज' के सौमनस्यपूर्ण अन्तःसम्बन्धों की कारक हैं। काव्य में स्वर प्रवृत्त होने पर वे लोकयात्रा सुप्रवर्तन का पथ प्रशस्त करती हैं। सम्भवतः इसीलिए **विश्व के सभी संस्कृति-सम्पन्न समाजों में देवी सरस्वती किसी-न-किसी** रूप में **विद्यमान हैं और पूज्या भी हैं।** सामी जगत् में देवी इन्हेंदुआना, जापान में देवी बेंजाइतेन, चीन में नीला देवी, तिब्बत में नील सरस्वती, इंग्लैण्ड में म्यूजेस, इटली में फेमिना, यूनान में मुख्यतया सैफो आदि के स्वरूपों में देवी सरस्वती अपने सारस्वत सद्गुणों के आधार पर आविश्व आदरणीया और सम्पूज्या हैं। तदनुरूप सारस्वत तत्त्व के संस्कारों वाली सर्वव्याप्त देवी भारती (सरस्वती) के नाम से समेकित हैं 'भारतीय'।

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

देवी सरस्वती (भारती) की संचेतना से सम्पृक्त और **'भ+ा+र+त+त्व' (भा+रत+त्व) वाला भारत ही वास्तव में 'चिन्मय भारत' है जो श्रेष्ठ है, देव-कल्प है, महौजस** है। महाभारत (भीष्म पर्व) में भारत को देवकल्प महौजस बताते हुए इसे देवताओं सहित देवराज इन्द्र का प्रिय, धर्मालु और शक्तिशाली सम्राटों का प्रिय बताया गया– **'अन्येषां च महाराज...सर्वेषामेव राजेन्द्र प्रियं भारत भारतम्।"**

शबर के **जैमिनीभाष्य** के श्लोक 10/1/35 के अनुसार हिमवत् से कुमारी अन्तरीप तक एक देश, एक भाषा थी। इसे भारत कहा गया। **'बृहत्संहिता'** के नक्षत्र कूर्माध्याय 14/1-33 में वर्णित 'भारतवर्ष' वर्तमान भारत से बहुत बड़ा प्रक्षेत्र था। उसमें गान्धार से लेकर दक्षिण-पूर्व के अनेक देश मलाया, सुमात्रा, जावा आदि को भारतवर्ष में समाहित बताया गया है। **'राजतरंगिणी'** आदि ग्रन्थों में भी भारत के विस्तार का विन्यास विवरणित है। **महाभारत में "यदिदं भारतवर्षे यत्रेदम् मूर्च्छितम्** बलम्...' के श्लोक में **'कुरु पांचालाः शाल्व माद्रेय जांगलाः कश्मीराः सिन्धु** सौवीराः...**आन्ध्रश्च कुलूताश्च शैबला बाहलीकाः'** तक विस्तृत बताया गया भारत। यह कमोबेश वर्तमान के भारत-पाकिस्तान-बाँग्ला देश तक के क्षेत्र-विस्तार तक विस्तृत था। महाभारत का भारत आर्यावर्त या ब्रह्मावर्त से भी विस्तृत था। प्रख्यात संस्कृत आचार्य **पी. वी. काणे** भी **'धर्मशास्त्र का इतिहास'** में लिखते हैं–**"प्रतीत** होता है **कि प्राचीन भारतवर्ष का केवल 9वाँ भाग आज का भारतवर्ष है। अन्य** आठ भाग **वे देश-द्वीप हैं जो आज के भारत के दक्षिण-पूर्व में पड़ते हैं।"**

उपर्युक्तानुसार, प्राचीन वाङ्मय को स्वीकारें तो धरातलीय स्तर पर भारतवर्ष अति विस्तृत भू-भाग था। यह सम्भवतः तब की बात होगी जब टेथिस सागर बहुत सीमित था।

कुबेरनाथ राय प्रभृति अनेक अधुना विद्वान् मनीषी 'भारत' को मात्र मृण्मय सत्ता न मानकर इसे विशिष्ट संस्कारों से सुसम्पन्न एक **विशिष्ट बोधसत्ता : 'चिन्मय सत्ता'** के रूप में स्वीकारते हैं। इन पंक्तियों का लेखक भी इसी अभिमत का है।

और, **ऋग्वेद, महाभारत, मत्स्यपुराण, वायुपुराण** आदि से लेकर **कुबेरनाथ** राय आदि अधुना विद्वानों तक को समेकित करें तो अवगत होगा कि कतिपय **विशिष्ट संस्कार, श्रेष्ठ संस्कार, चिन्मयी संस्कार, सिसृक्षा संस्कार, अन्धकार-विनाशक प्रकाशोन्मुख संस्कार, सारस्वत संस्कार** आदि से सुसंस्कारित दिदृक्षा वाले देश को ही 'भारतवर्ष' कहा गया।

संपिण्डिततः, कह सकते हैं कि प्राचीनकाल से अद्यतन चिन्मय भारत की बीजरूपीय विद्यमानता और तद्गत शाश्वतता के सम्बल से **'चिन्मय भारत'** और **'मृण्मय भारत'** के साथ ही **'शाश्वत भारत'** भी अस्तित्ववान् है यहाँ।

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

वायुपुराण, मत्स्यपुराण, विष्णुपुराण, ऐतरेय ब्राह्मण, महाभारत, बृहत्संहिता के रचयितागण आदि ही नहीं, अपितु विवेकानन्द, महर्षि अरविन्द, डॉ. राधाकृष्णन्, डॉ. सम्पूर्णानन्द प्रभृति अनेक अधुना विचारक मनीषी भी शब्दान्तर से 'चिन्मय भारत' को ही उपास्य मानते हैं। **'गायन्ति देवाः किल गीतिकानि'** सदृश प्रशंसा 'शाश्वत भारत' की ही की गई है। **दाराशिकोह, थोरो, शोपेनहावर, रोम्या रोलाँ, कामिल बुल्के, सिस्टर निवेदिता** आदि भी इसी 'शाश्वत भारत', 'चिन्मय भारत' से अभिभूत हुए थे।

और, **आलोच्य सन्दर्भों में विदेशी साक्ष्यों** को ही प्रमाण मानना हो तो द्रष्टव्य है कि पारसी धर्मग्रन्थ **जेन्द-अवेस्ता** के एक भाग **'बेंदिदाद'** के प्रथम अध्याय के 18वें पद में भारतवासियों के लिए 'हिन्दू' शब्द मिलता है—**"जिसे हम भारत कहते हैं वह ईरान से पूर्व का भूखंड है, उसे बेंदिदाद में विश्व का सर्वोत्तम 15वाँ प्रदेश 'हफ्तहिन्दुकन' कहा गया है।"** (**बेंदिदाद** : अँग्रेजी अनुवादक **बेहरामगोर अंकलेस्परिया**, के. आर. कामा इंस्टीट्यूट 1949)। अन्य ग्रन्थ **'मेहरयास्त'** और **'शातीर'** में भी कमोबेश ऐसा ही वर्णन है। 'शातीर' में सम्राट **गुष्ताव** और जरथुष्ट के बीच वार्त्तालाप में भी इस भूमि को **'हिन्दू देश'** कहा गया है। सन्दर्भगत 'हिन्दू' शब्द 'बेंदिदाद', 'मेहरयास्त', 'शातीर' आदि में **सम्मान्य अर्थों में** प्रयुक्त है; वह **अहल-ए-किताब** है। 'लुटेरा', 'डाकू', 'काफिर', 'दुज्दी', 'गुलाम' के अर्थ में प्रयुक्त **नहीं है 'हिन्दू' शब्द प्राचीन अरबी-फारसी ग्रन्थों में।** प्राचीन अरबी-फारसी मनीषा से **ऐसे सम्मान्य अर्थों** वाले **'अहल-ए-किताब हिन्दुओं'** का देश रहा है **'हिन्दीक या हिन्द'**। सामी धर्म-दर्शन के आविर्भाव के बहुत पूर्व और हजरत ईसा, मूसा, मोहम्मद साहब के उद्‌भव के बहुत-बहुत पूर्व 486 ई. पू. के **पर्सिपोलिस** स्तम्भ में भी 'हिन्दू' के गुणगान उल्लिखित हैं। **हीकेटियस मिलेटस, हेरोडोटस, कैसियस, सुमाचीन, फाह्यान, ह्वेन्सांग, मेगस्थनीज़, अलबरूनी** आदि के ग्रन्थों से भी भारत/हिन्दुस्तान का सम्मान्य एवं गौरवपूर्ण विन्यास-विस्तार आकलित किया जा सकता है। बिड़ला मन्दिर नई दिल्ली के खम्भों पर अंकित एक आलेख के अनुसार 1800 ईसा पूर्व के प्राचीन अरबी ग्रन्थ **'सेअरूल ओकुल'** के पृ. 257 पर लबी-बिन-ए-अख़्तब-बिन-ए-तुरफा की लम्बी कविता में इस भूमि को 'हिन्दू देश' कहा गया।

जहाँ तक **भारतवासियों** को 'हिन्दू' और **भारत** को **हिन्दुस्थान**/हिन्दुस्तान कहने का प्रश्न है, उस सन्दर्भ में उल्लेख्य है कि हमारे यहाँ **'बृहस्पति आगम'** नामक ग्रन्थ के अनुसार 'हिमालय' से 'हि', इन्दु सरोवर (कन्याकुमारी अन्तरीप) से 'न्दु' लेकर देवनिर्मित विस्तृत स्थल का नाम बना **'हिन्दुस्थान'**। ऐसे अनेक ग्रन्थ हैं जो ईरान से पश्चिम भू-क्षेत्र को समुद्र पर्यन्त 'हिन्दुस्थान' बताते हैं। **इसी 'हिन्दुस्थान' को प्राचीन आर्ष ग्रन्थों में 'भारत'/'भारतवर्ष' बताया गया है।**

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

बताते चलें कि यहाँ केवल भारत, भारतत्व और भारतीयता को अनुशीलित किया जा रहा है। इन पंक्तियों का लेखक भारत के 'हिन्दुस्थान', 'हिन्दुस्तान' होने पर बल नहीं देना चाहता, इसलिए कि 'हिन्दू' की ध्वनि सुनते ही छद्म-धर्मनिरपेक्षी कलप उठेंगे। फिर भी कहना होगा कि भारत की उपरि-इंगित महानता, महत्ता को भुला दिया गया है–इसी से कारित हो रहा है 'भारतमाता की जय' सम्बन्धी विवाद।

जहाँ तक 'भारतमाता की जय' का प्रश्न है, उस सन्दर्भ में प्रथम तथ्य है कि 'भारत माता की जय' एक प्रतीक है उस भावना का जिसके माध्यम से प्रकट होता है कि भारत-भारतीयता के प्रति, भारत-राष्ट्र के प्रति, राष्ट्र की जय के प्रति कितना अनुरागी है भारतीय राष्ट्रिक? कितना सम्मान है उसके मन में इन इयत्ताओं के प्रति, इनकी अस्मिताओं के प्रति? वास्तव में इन तथ्यों पर विवाद तो वही प्रस्तुत करेंगे जिनके मन में राष्ट्र और राष्ट्रवाद आदि के बारे में संशय है।

तथ्यतया 'राष्ट्रीय' अस्मिताओं से ममत्व का भावबोध का सांस्कारिक सैद्धान्तिक उद्घोष है 'भारतमाता की जय'।

विदित हो कि 10,000 वर्ष प्राचीन ग्रन्थ **ऋग्वेद** में आविश्व प्रथम बार 'राष्ट्र' शब्द का प्रयोग किया गया **'अहम् राष्ट्री संगमनी...'** ऋग्वेदोक्त सूक्त में (कहीं-कहीं **अहम् राष्ट्रे संगमनी. पाठ मिलता है)**। वैदिक संस्कृत में **राष्ट्री** शब्द **राष्ट्र** के सप्तमी विभक्ति के एकवचनीय **राष्ट्रे** के अर्थ में ही प्रयुक्त होता था। ऋग्वेद में **'संगच्छध्वं संवदध्वं सं वो मनांसि जानताम्, देवाभागं यथा पूर्वे संजानाना उपासते'** (ऋक् 10.191.2) एवं **'समानो मन्त्रः समितिः समानी समानं मनः सहचित्तमेषाम्, समान मन्त्रमभिमन्त्रये वः समानेन वो हविषा जुहोमि** '(ऋक् 10. 191.3) सदृश ऋचाएँ गुंजायमान हैं। **अथर्ववेद** 29/1 में भी कहा गया–'**ब्रह्मण्स्पति राष्ट्राय वर्धय** (ज्ञानीजन राष्ट्र के लिए आगे बढ़ें)।' **यजुर्वेद** में अनेक स्थलों पर विभिन्न स्वरूपों में **'राष्ट्र'** शब्द प्रयुक्त है। **'ऋग्वेद** में एक ऋचा में स्पष्ट रूप से कहा गया कि–**"मातृभूमि, मातृभाषा और स्वसंस्कृति से प्रेम करना धर्म है।"**

पाश्चात्य राष्ट्रवादी विचारक **जोसेफ मैजिनी** मानते हैं कि **राष्ट्र एक ऐसा ध्येय है जो बन्धुत्व के रूप में एकात्म मानवता के समान लक्ष्य का परिपूरक है।** पाश्चात्य राजनीतिशास्त्री **जे. एच. रोज** का मानना था कि–**"'राष्ट्रवाद' हृदयों की ऐसी एकता है जो एक बार बनकर नहीं टूटती। 'राष्ट्र सर्वोपरि है'–इन तीन शब्दों में ही 'राष्ट्रवाद' का सम्पूर्ण अर्थ निहित है।"** इनसाइक्लोपीडिया ब्रिटेनिका के अनुसार–**'राष्ट्रवाद' एक ऐसी मनोदशा है जिसमें व्यक्ति अपने राष्ट्र-राज्य के प्रति उच्चतर भक्ति-भावना का अनुभव करता है।** राष्ट्रवाद से सम्बन्धित अनेक विषयों की फ्रेंच लेखक **अर्नेस्ट रेनन** की कृति (अँग्रेजी अनुवाद : **'व्हाट इज नेशन'**) में सविस्तार विवेचना की गई है। श्री रेनन के अनुसार–**"राष्ट्र एक आध्यात्मिक सिद्धान्त है। इतिहास की जटिलताओं का हासिल, न कि धरा**

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

पर एकजुट हुए जमावड़ों का सिलसिला।" ++++ **"राष्ट्र की तामीर के लिए एक भाषा, एक धर्म या एक आर्थिक हितों वाला समुदाय जरूरी नहीं, जरूरी एक विचार, सच्चा भाव और मूल्य होना चाहिए।"** प्रख्यात चीनी राष्ट्रवादी राष्ट्रपति **सुनयात सेन** का मानना था–**"राष्ट्रवाद केवल एक नकारात्मक अवधारणा नहीं अपितु यह देशवासियों को सकारात्मक मूल्यों के लिए संगठित करने वाली शक्ति भी बन सकती है।"**

इस तरह 'राष्ट्रवाद' औपनिवेशिक लूट-खसोट का विरोध या कि विदेशी सत्ता का विरोध मात्र भी नहीं है वरन् राष्ट्र के प्रति एक सकारात्मक उद्भावना है।

संपिण्डिततः **'राष्ट्रवाद'** राष्ट्र-कल्याण, राष्ट्रप्रेम या देशप्रेम मात्र तक सीमित नहीं है बल्कि यह 'भौतिक एकात्म' की भावना है; राष्ट्र से राष्ट्रिक के एकात्म की भावना। इस उद्भावना से स्थानिक सभ्यताओं, आचार, वेषभूषा आदि में किंचित् भिन्नता होने की दशा में भी सभ्यता और संस्कृति समन्वयकारिता से 'समरूप-समरस' बन जाती है जिससे संश्लिष्ट स्वरूप में जन्मता है राष्ट्रवादी एकात्म। देशप्रेम, राष्ट्रप्रेम, राष्ट्रहित–संरक्षा आदि के भाव राष्ट्रवाद के फलित हैं। विदेशीय का विरोध भी राष्ट्रवादी उद्भावना से ही वाचाल होता है। ऐसे राष्ट्रवादी-अनुबंधों से भी सम्पृक्त है 'भारतमाता की जय'।

विदित हो कि राष्ट्रवादी उद्भास वाचाल करने के लिए चीन, जापान ही नहीं अपितु सभी राष्ट्रों में **आविश्व अपने-अपने ढंग से अपने राष्ट्र की** जय का **जयकारा उचारा जाता है 'लांग लिव कंट्री' या किसी समरूपी जयघोष** के स्वरों में। 'भारत माता की जय' का उच्चार भी ऐसा ही एक उद्भास है।

'भारत माता की जय' के घोष के अन्य पक्ष भी देखें–

एक तो, **'समानो मन्त्रः समितिः समानी समानं...'** और **'संगच्छध्वं संवदध्वं सं वो मनांसि...'** सदृश **ऋग्वेदीय** ऋचाओं में जो आसंगता दृश्यमान है उसका भी उद्भास है यह जयघोष। **मैक्डूगल** ने भी 'सामान्य मन (Common mind)' को समाज के निर्माण के लिए वांछनीय बताया है। समाज से ही कालान्तर में राज्य का निर्माण हुआ और राष्ट्र का भी। निर्विवादतः किसी समाज/देश को 'राष्ट्र' बनाने के लिए राष्ट्रिकों में 'सामान्य मन' का होना अति वांछनीय है। राष्ट्र/देश/समाज के स्थायित्व के लिए भी 'समान मन' की आवश्यकता अन्यान्य परिप्रेक्ष्यों की अपेक्षा कहीं अधिक है। कोई राष्ट्र वास्तविक अर्थों में तब तक 'राष्ट्र' नहीं बन सकता जब तक उसके सभी राष्ट्रिकों का मनोमय-कोश राष्ट्रीय संस्कारों से समरैखिक न हो जाए। सन्दर्भगत जयघोष प्रयोज्य समरैखिकता का अभिज्ञापन भी है। अन्यथा की दशा में राष्ट्र राष्ट्र नहीं होगा वरन् जनसंकुल का एक जमावड़ा बनकर रह जाएगा।

दूसरे, उपरि-उल्लिखित ऋग्वैदिक ऋचा **'अहम् राष्ट्री संगमनी...'** में ऋक् वेदकार **'राष्ट्रम् संगमनी'** नहीं कहते, वरन् वे 'अहम् राष्ट्रे संगमनी...' कहते हैं।

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

इसमें राष्ट्र के एकवचन सप्तमी विभक्ति में 'राष्ट्रे' है जो 'राष्ट्र में' के अर्थवाचक सन्दर्भ में प्रयुक्त है अर्थात् **राष्ट्र को राष्ट्रिक (राष्ट्रवासी) के साथ संगमन नहीं** करना है अपितु **राष्ट्रिक को राष्ट्र के साथ राष्ट्र में संगमन करना अपेक्षित है।** इस ऋक्-निर्देश के अनुसार **सभी राष्ट्रिकों की मानसिकता ऐसी होनी चाहिए कि** वे **राष्ट्र के साथ संगमन, सहगमन कर सकें।** सन्दर्भगत सहगमन का परिचायक भी है सन्दर्भगत जयकारा।

जहाँ तक 'भारत' को 'माता' मानने की बात है--उस धरातल पर द्रष्टव्य है कि माता के प्रति हर धर्म-संस्कृति, हर समाज में सम्मान और आन्तरिक लगाव विद्यमान माना गया है इसलिए कि माता सन्तान को पोषण, संरक्षा और विकास का संसाधन प्रदान करती है। आविश्व शायद ही कोई ऐसा धर्म, संस्कृति या समाज हो जिसमें माता अनादरेण्य मानी जाती हो या उसके सुख-दुःख की चिन्ता न की जाती हो। माता द्वारा किए जाने वाले उपकारों के प्रतिदान में माता को मात्र आदरेण्य ही नहीं अपितु पूज्या भी माना जाता है। जन्मभूमि भी माता जैसा ही पोषण एवं संरक्षा आदि प्रदान करती है। इसीलिए भारतीय मनीषा जननी एवम् जन्मभूमि को समतुल्यतः स्वर्ग से भी बड़ा मान प्रदान करती है—**"जननी जन्मभूमिश्च स्वर्गादपि गरीयसी।"** राष्ट्र जिसमें जन्मभूमि समाहित है और जो जन्मभूमि की स्वयमूसम्प्रभु वैधानिक सत्ता है—वह स्वतः आदरेण्य और पूज्य सिद्ध हो जाता है। आदि-महाकवि वाल्मीकि के युग से जन्मभूमि को माता के समतुल्य माना जाता रहा है यहाँ। **अथर्ववेद** के युग में जब भारत-राष्ट्र का विस्तार सम्पूर्ण पृथ्वी पर था जब कोई दूसरा राष्ट्र अस्तित्व में नहीं था, तब से माता भूमिः **पुत्रो अहम् पृथिव्या** सर्वमान्य रहा है यहाँ। यूरोप में मदरलैंड और सामी जगत् में मादरे-वतन वाले अर्थों में ही आदृत की जाती है भारत में भारतमाता। ख्यात शायर मुनव्वर राणा ने अपनी शायरी में 'माता' को देवी-समान सम्मान दिया है तो क्या वे काफिर हैं?

निश्चित रूप से भारतमाता के रूप में भारत के भौगोलिक नक्शे में शक्तिमती देवी दुर्गा की प्रकल्पना और तद्वत भारतमाता की मूर्ति की संकल्पना 1935 के आस पास राष्ट्रवादी महामना मालवीय प्रभृति मनीषियों ने प्रकल्पित की और भारतमाता मन्दिर की संस्थापना भी तभी हुई। भारतमाता के सगुणाकार स्वरूप की आवश्यकता सम्भवतः प्रतीत हुई इसलिए कि सगुणाकार उपासना सहज होती है। देवी दुर्गा, देवी भारती का ही अपररूप हैं। देवी भारती से सम्पृक्तता ही पहचान हो जिसकी वह भारत यहाँ की धरती को देवी माता के समान पूज्या मानता है तो इसमें आश्चर्य क्या? तदपि सच है कि 33 देवी-देवताओं में भारतमाता नामक कोई देवी-देवता नहीं है और वास्तव में भारतमाता मूर्ति या मन्दिर तक सीमित भी नहीं हैं। यही सच है यह भी कि भारत माता की जय का चलन 1935 या बाद के वर्षों का अवदान नहीं है। 1935 के बहुत-बहुत पूर्व से प्रचलित है यह उद्घोष यहाँ। सगुणाकार उपासना के विरोधी भी

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

उच्चारित करते रहे हैं यह उद्घोष। स्वतन्त्रता आन्दोलन में तो बहु-बहु उच्चारित रहा यह। तब, इतिहासतः और तत्त्वतः 'भारत माता की जय' का उद्घोष मूर्तिपूजा कहाँ है? यह तो एक अमूर्त जयघोष है।

प्रकटतः ऐसे बहाने बचकाने हैं जो 'भारत माता की जय' से परहेज करने वालों को अराष्ट्रवादी सिद्ध करते हैं।

जहाँ तक **'भारत माता की जय' के बजाय 'जय हिन्द'** कहने का प्रश्न है, **हिन्द और भारत में अन्तर क्या है? पर्सीपोलिस के स्तम्भ हों या गुष्ताव-जरथुष्ट की वार्ता या कि ईरान, इराक, मिस्र, अरब, यूनान आदि के इतिहास,** वहाँ **भारत-भूमि को हिन्द ही कहा जाता रहा है। तब 'जय भारत'** के बजाय **'जयहिन्द' कहना तो वैसा ही है जैसे गुड़ खाएँ गुलगुलों से परहेज करें।**

और, जहाँ तक **धार्मिक कुतर्क** : एक खुदा के अलावा दूसरे किसी की पूजा न करने के तर्क का प्रश्न है, पूछना होगा कि पीर-फकीर की दरगाह पर ऐसे कथित धर्मालु जियारत करते हैं या नहीं? तब यह बहाना क्यों? हिन्दू धर्मपुरुष राम की शान में कसीदे पढ़ने वाले अल्लामा इकबाल हों या सै. महफूज हसन रिजवी या सैकड़ों शायर—क्या वे सभी काफिर हैं? नहीं, भारतमाता की जय का घोष किसी दृष्टि से न कुफ्र है, न पाप, प्रत्युत् यह राष्ट्रिक के राष्ट्रवादी, राष्ट्रप्रेमी और राष्ट्र से सममनस्क होने के साथ-साथ उसके राष्ट्र-कल्याण से आसंग होने का उद्भास मात्र है। ऐसे उद्भास उच्चार का अस्वीकार भारत राष्ट्र के भा+रत+त्व के प्रतिकूल भी है।

तथ्यतः 9 फरवरी को जे. एन. यू. में जो कुछ हुआ, उसके सापेक्ष ऐसे उद्भास/उच्चार तो अपरिहार्य सिद्ध हो जाते हैं। यह दुष्कांड अपघटित नहीं हुआ होता तो भी नहीं भूलना चाहिए कि शान्ति-काल में भी राष्ट्र की सेना द्वारा शक्ति-प्रदर्शन और तद्गत अभ्यास-प्रदर्शन सामान्य चलन में है। 'भारत माता की जय' सदृश उच्चार/उद्भास राष्ट्रवादिता के प्रदर्शन के लिटमस-पेपर तो हैं ही, वहीं वे राष्ट्रवाद की शक्ति के परिचायक भी हैं और राष्ट्रवाद के शक्ति-प्रदाता भी। इस तरह 'भारत माता की जय' से इनकार को राष्ट्रवाद से प्रकारान्तरतः भारतीय राष्ट्रिकता से और भारतीयता से स्वयम् के भारतीय होने के न-कार के रूप में लिया जाना चाहिए। विधिक रूप में ऐसे न-कार भारतीय दंड संहिता के अनुच्छेद 124-ए के अन्तर्गत राजद्रोह भले न हों, वे भारतीय संविधान के अनुच्छेद 51-क का आपराधिक अराष्ट्रीय उल्लंघन अवश्य हैं।

तेनेव, उपर्युक्त आलोक में 'भारत माता की जय' के न-कार में ध्वनित अराष्ट्रवाद को वर्तमान में हमारे देश में पनपती अराष्ट्रीयता की दुन्दुभि मानते हुए अराष्ट्रवादी शक्तियों के उन्मीलन और सममनस्क राष्ट्र की संस्थापना हेतु भारत माता की जय से परहेज का निवारण अपरिहार्य है।

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

लोक जगत में जगतीकरण की सेंध

डॉ. श्यामबाबू शर्मा*

'पीछे लागा जाइ था लोक वेद के साथि'[1]

महात्मा कबीर की स्पष्ट घोषणा है कि वे वेदों, धर्म ग्रंथों और पोथियों को यह महत्त्व नहीं देते जो लोक से प्राप्त ज्ञान को। और यह उनका लोकवेद सर्वोपरि। लोक के प्रवाह में जो सहज निर्मलता और ताजगी होती है वह अनायास उसकी भाषा, साहित्य और लोक को भी प्राप्त होती है। मानव के उन्नयन और उसके गरिमापूर्ण जीवन की चरितार्थता में उसकी भूमिका निर्विवाद है। वेद-पुराण और स्मृति ग्रंथों की दुहाई देने वाले बाबा तुलसी भी वेद मत के साथ लोक मत को समादर स्थान देते हैं। चित्रकूट की महासभा में विद्वान पंडित, राजनीतिज्ञ, माताएं और अयोध्या का जनमानस राम को वापस चलने की प्रार्थना अपने-अपने तरीकों से करता है परंतु...'राम ते अधिक राम कर नामू' । पिता की आज्ञा का उल्लंघन...? भरत की भ्रातृभक्ति एवं उनके चरम त्याग के वशीभूत मुनि वशिष्ठ को उनके अयोध्या वापस लौटने के लिए वेदों के दर्शन के साथ साधुमत और लोकमत के अनुसरण का परामर्श देना पड़ता है—

भरत बिनय सादर सुनिअ करिअ विचारु बहोरि
करब साधुमत लोकमत नृपनय निगम निचोरि॥[2]

इतना आदरणीय सम्माननीय हमारा यह लोक, सामाजिक, सांस्कृतिक चेतना की गंगोत्री सदृश निस्संदेह आज नाना प्रदूषणों, अपवर्जकों और जहरीले आयातित रसायनों से ग्रस्त होता जा रहा है। भोगवाद के अंधानुकरण से अपवित्र लोक के अनेक स्रोतों में अर्थ केंद्रीयता की भूमिका पर विचार करना सामयिक संदर्भ बन चुका है।

'लोक आनंदाः च मोदाः च मुदाः च मुदः प्रमुदः आसते। (ऋग्वेद 9वाँ मंडल-7,9,11); आनंद मोद और प्रमुद की आप्त मनः अवस्थाओं में लोक की विद्यमानता है। 'लोक' शब्द एक विराट समाज की ओर संकेत करता है। आचार्य हजारी प्रसाद द्विवेदी के अनुसार यह लोक परिष्कृत होता है और स्वाभाविक जीवन

*डॉ. श्यामबाबू शर्मा, एकेडमिक काउंसिलर, इग्नू, शिलांग; पताः 85/1, अंजलि काम्पलेक्स, शिलांग-793001(मेघालय), मो. 9863531572.

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

जीते हुए श्रम के बलबूते उत्पादन करता हुआ दूसरों का भरण-पोषण करता है। इसका सीधा संबंध जीवन से है। प्रकृति और परिवेश से ही उर्वर जुझारूपन और शक्ति ग्रहण करता मांगलिक परिवेश का निर्माण करता है। जीवन को नश्वर मानते हुए भी यह उसे अन्यात्मक नहीं मानता।

कुछ वर्ष पूर्व 'वॉल स्ट्रीट पर कब्जा करो' की मांग के साथ असंतोष और आक्रोश की आग स्पेन, फ्रांस और ब्रिटेन होती हुई पूँजीवाद के गढ़ अमेरिका तक जा पहुँची। 'वॉल स्ट्रीट' अर्थात् दुनिया का सबसे मशहूर और ताकतवर शेयर बाजार। तीसरी दुनिया के देशों में भी अपने-अपने ढंग से इसके पर्यायों पर निशाना साधा गया। इसके पहले भी भूमंडलीकरण के विरोध में आंदोलन होते रहे हैं परंतु उनमें शामिल लोग आदर्शवादी या अराजकतावादी के रूप में पहचाने गये। जोड़-घटाना यह कि जिन आर्थिक नीतियों के चलते वह अपना डंका पीटे जा रहा था वे ही सुमधुर व बजाय कनफोडू-विस्फोटक हो गईं। लेकिन तान तो छिड़ चुकी है और जीवन के प्रत्येक क्षेत्र में गुनगुना ही नहीं रही बल्कि जबरदस्त ब्रेक डांस कर रही है। क्या भवन-भाषा और क्या भूषा-भोजन, भजन तक इसकी गिरफ्त में। एक 'ग्लोबल पावर स्ट्रक्चर' हमारी अभ्यस्त जीवन शैलियों को पूरी तरह बदलने की तैयारी कर रहा है। बिना रक्तपात और रोक-टोक के लूट का दूसरा नाम है—भूमंडलीकरण। यह छीना-झपटी मात्र भौतिक सुख संपदा और मानवीय संसाधनों तक सीमित रहती तो कदाचित भरपाई करना सहज होता परंतु यह बेशकीमती लोक को भी खाये जाती है। सांस्कृतिक वैविध्य का विरोधी यह दर्शन हमारी लोकसंस्कृति को दुर्बल करता जा रहा है। इसने संवेदनशीलता और लोक के विचारों का रकवा कम किया है, अपने गृह की सुध से परे। 'पर' का आयतन 'स्व' की संकीर्णता में। सांस्कृतिक तहस-नहस को इसने एक सुंदर खेल बना दिया है। विकास का ढोंगी। मनुष्य एक को प्रोडक्ट और कंज्यूमरमें तब्दील करने वाला बहुरुपिया एक तरह का नव उपनिवेशवाद ही है। यह अपना विजय रथ मीडिया, बाजार, विश्व बैंक तथा डब्ल्यू टी.ओ. आदि अस्त्रों-दिव्यास्त्रों का संधान करते आगे बढ़ा रहा है।

पूंजी के शातिराना दर्शन के विश्वग्राम की बेहद आकर्षक झाँकी है। विचित्र यह कि—भाई नवीन वसुधैव कुटुंबकम् की यही अवधारणा है। इतनी गहरी साजिश हमारी सभ्यता-संस्कृति सह रही है, झेल रही है। उदारमना सहृदयों के लिए तो यह संपूर्ण वसुंधरा ही परिवार है। उदारवादी चिंतकों ने इसको अपनी सुविधानुसार अपने पाले के फायदों के लिए रीडिफाइन कर लिया और परिणाम? संस्कृतियों का समन्वय वसुधैव कुटुंबकम और इनका सामरिक-वैचारिक दासत्व ही भूमंडलीकरण है। कहां चूके हम कि पंचमकार (भवन, भाषा, भूषा, भोजन और भजन) के अधुनातन वज्रयानी साधक बन गये। रेव की वेबूस ने चिंतन और वैचारिकता को काट-छांटकर चिप में लाकर ही संतोष नहीं किया, सेल्फी बना दिया। यात्रा जारी है। जूठन को एडवांस की संज्ञा देने वाले....विद्वजनों को दंडवत! उदारीकरण से आई उस उधारीय उधारीय संस्कृति को सैल्यूट जिससे हम मॉडर्न कहलाए। बाहर से चकाचक, अंदर से स्खलित। सबकुछ...शेष।

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

नीली रोशनियों की बांहों में नववधू सी मुस्कराती बाजार का समय है यह और तमाम प्रतिभाएं इसकी चाकर-आशिक। हडपो, झपटो और डपटो नवीन लोक के प्रस्थान बिंदु है। हमारे घरों की सीढ़ियां सड़क तक आ गई हैं और लिप्साएं अपराध तक ये क्या कम प्रगति है! नव वज्रयानी साधक ग्लोबल विलेज की चौखट पर जाप करने पर आमादा हैं। अब हम जीते हैं तो केवल बाजार के लिए और चाहते हैं तो केवल समृद्धि। हमारा, मूल्यगत पराभव और सांस्कृतिक अस्मिता का लोप इस करदर कि अब हमें याद दिलाया जाता है कि आज मदर्स डे है, फादर्स डे। नवीन त्यौहार नवीन रूपों में। कंपनियां मॉलामॉल-विश कीजिए। उसके एक दिन पहले ही संदेशा कि 'ऑल कॉल्स एंड एस. एम.एस. विल बी चार्ज्ड ऐज पर बेस टैरिफ ऑन एकाउंट ऑफ ब्लैक डे।' हमें मां की, पिता की याद दिलाने वाले इतने हितैषी-किसके हमारे या अपने? याद कीजिए कि कभी हमने अपने माता-पिता को यह कहते पाया हो कि मैं तुम्हें...। बच्चों के सामने पूरी मर्यादा होती थी। पीढ़ी परिवर्तन ऐसा कि अब उन्हें प्रायः आंखों की ओट लेनी पड़ जाती है। औपचारिकताओं का अट्टहास कि पति-पत्नी के पवित्र रिश्तों में भी गिफ्ट्स का आदान-प्रदान। सवाल कर दिए जाते हैं कि यह संस्कारों का प्रकटीकरण है तो ऐसे उधारीय संस्कारों को दूर से ही साष्टांग नमस्कार। बचपन में हमारे बाबा-दादा बताया करते थे कि फलां से खेत-खलिहान के झगड़े के चलते बात-व्यवहार बंद था। कभी उनके सबसे पूज्य रिश्तेदार का आगमन हुआ। वे घरभूल गए और चौधारि में बैठे बाबा से पूछा-वात-बतकही में मालूम पड़ा कि ये तो उनके दामाद जी हैं। तुरंत हांक लगाई गई कि नातेदार आए हैं। शरबत पानी आता और घर के किसी बच्चे को आदेश दे दिया जाता कि 'भइया को उन बाबा के दुवारे पहुंचा। आओ-सादर। यह दामाद पूरे गांव का दामाद होता था। आपसी खींच-तान अपनी जगह और सामाजिक व्यवहार अपने स्थान पर। पड़ोसी की बिटिया विवाह योग्य होती तो चिंता होती कि सुयोग्य वर तलाशना है। कहीं पता चलता तो—भइया देख लिया जाय। यह सब आज शायद कहानीनुमा लग रहा हो परंतु कुछ दिन पहले यही हमारी समृद्धता थी। समृद्ध लोक। अब हमें अपनी खबर नहीं, पड़ोसी तक कैसे पहुंचे?

उपभोक्तावाद तथा बाजारवाद के कारण जिस तरह सांस्कृतिक, सामाजिक, पारिवारिक मूल्यों का क्षरण हो रहा है उसकामुकाबला साहित्य की प्राचीनतम विधा बखूबी कररही है। नेम, फेम और मनी का जो जुनून इंसान पर सवार है उसमें एक दूसरे की खैरियत जानने का रुटीन गायब है। इतना एकाकीपन कि—

बाबा को जानता था सारा शहर
पिता को भी चार मोहल्ले के लोग जानते थे
मुझे नहीं जानता मेरा पड़ोसी मेर नाम से
अब सिर्फ एलबम में रहते हैं
परिवार के लोग एक साथ
टूटने की इस प्रक्रिया में क्या-क्या टूटा है
कोई नहीं सोचता[8]

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

अब घ्झर नहीं, मकान हैं। बस्तियां नहीं बसतीं। सीमेंट के जंगल हैं और उनमें लाशों के झुरमुट। श्रीकांत वार्मा ने बहुत पहले इस छीजते लोक जीवन पर चिंता व्यक्त कीथी। कृत्रिमता और बनावट की बुनावटों में उलझा जन निस्तेज हांफ रहा है। सब कुछ इतना पास-पास परंतु—

इतने मकान पास-पास सटे-सटे
मगर प्रेम नहीं
इतना घनत्व
इतनी संकुलता
इतनी एकता
मगर सभी कटे-कटे
सहमति नहीं, भाषा नहीं, प्रस्ताव नहीं
एकसाथ उठी हुई मुट्ठियां नहीं
केवल क्रोच-चीख
इतनी समीपता
इतना नैकट्य
इतना सहवास
किंतु स्पर्श में
पुलक नहीं[4]

मुंह उतरे हुए हैं और विश्वयारीकी लगाम से हांकते हुए आयातित संस्कृति से कोड़ा कासने की कोशिशें तेज हैं। भारतेंदुजी ने कहा था कि परदेशी माल और पदरेशी वस्तु (विचार) पर भरोसा मत करो लेकिन हम हउसे-फउसे इसकी ओर हपटे जा रहे हैं। 'जहां देखी तवा परात वहां बिताई सारी रात।' बाजारवाद के कसते शिकंजे तथा समरूपीकरण के चलते पूरी दुनिया में सांस्कृतिक विविधता के विरुद्ध समानता का प्रच्छन्न प्रयास लगता है, विश्व बाजार। व्याख्याओं का अधिकार इसके पास है और लोकप्रियता का अचूक, अति आकर्षक जगत। इस नितांत बनावटी नवीन लोक में मनुष्य के रन्ध्र-रन्ध्र को संक्रमित करने का मधुर रसायन है। रचनात्मकता और कला के तमाम रूप सिकुड़ते जा रहे हैं। आत्मनिष्ठ, अकेले, संवेदनहीन, स्वार्थपरायणोन्मुख मनुष्य का सामाजिक थका-थका सा लगता है। कला में कीमत की बैलेंसशीट। पहले हम जरूरत पड़ने पर बाजार जाते थे अब बाजार दरवाजे...नहीं घर तक घुस गया है। क्लिक करें डिलिवरी लें फिर विचार कि प्रोडक्ट का यूज कैसे, क्यों, कब, कहां? लोक को मिट्टी से उखाड़ा दिया है इसने। आयातित इत्र छिड़ककर मदहोश करने का इंतजाम। हमारा अपना बासी इनका फटाफट वाला फास्ट फूड। हमारे कुएं, चापाकल दूषित रसायनों के भंडार, पैक्ड बाटल्ड हाइजीनिक! पारंपरिक पिछड़े, संस्कारों का श्राद्ध करने वाले एडवांस! अष्टभुजा शुक्ल की पंक्तियां याद आ रही हैं—

एक हाथ में पेप्सी कोला
दूजे में कंडोम

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

तीजे में रमपुरिया चाकू
चौथे में हरि ओम
कितना ललित ललाम यार है
भारत घोड़े पर सवार है
एड्स और समलैंगिकता की
रहे सलामत जोड़ी
विश्व ग्राम की समता में
हमने सीमाएं तोड़ी[5]

घर्षण, मिश्रण और प्रदूषण के इस दौर में जीवन को शांति और संबल देने वाली लोकविधाओं का अनुसरण करने वाला 'पिछड़ा' है। बाजार के सेठों ने इसे अपने ढंग से विज्ञापित किया। मुठभेड़ के बजाय मार्गांतरीकरण का बढ़िया विकल्प चुना गया। उन्होंने लोक के सहज स्वाभाविक उन्मेष को गलोबल हाअ में प्रदर्शनीय बिक्री के एक माल के रूप में बदल दिया जिसकी रचना समूह से इतर भीड़ के आनंदोल्लास के लिए की जाने लगी। लोक पूंजी के क्षत-विक्षत दागों से कषाय होने लगा। बावजूद इसके कहा जाता रहा ...' दाम अच्छे हैं।' सार संक्षेप यह कि लोक का औद्योगीकरण फल-फूल रहा है। इसकी कलमें मधुर हैं, सुस्वादु हैं। यह दीगर कि इसके साइड इफेक्ट्स ऐसे कि सभ्य समाज उच्चारण नहीं करना चाहता।

प्लूटो की राय थी कि वस्तुगत रूप से अपने आंतरिक चरित्र में जो चीज सच नहीं है वह मनुष्य के लिए आत्मगत रूप से अच्छी और सच्ची नहीं हो सकती। नग्न स्वार्थ के हृदय शून्य व्यवहार के सिवा मनुष्यों के बीच और दूसरे संबंधों, सरोकारों का सेस कम होना आश्चर्य पैदा नहीं करते। सामूहिकता के ह्रास, विशेषीकरण के अभ्युदय और जीवन के पक्षों के अंतरावलंबन के बदलते स्वरूपों ने लोक कला के प्रकार्यों के लिए प्रकार प्रकट किए। सामाजिक सुखों, दुखों को अभिव्यक्त करने वाले विविध पक्षों यथा लोक-नाट्य, लोकनृत्य और लोकगीत को चटख रासायनिक रंगों में सराबोर कर प्रस्तुत किया गया। अब अम्मा के सोहर, लाचारी, गारी उन्हीं के साथ विदा हो गए लगते थ्हैं। बिरहा, पचरा, कत्थक, नकटउरा, जात्रा, ललिते, नौटंकी तथा बहुरूपिया, रामलीला, भड़ैती, कठपुतलियां कहां खो गईं? प्रदर्शनकारी कला या परफार्मिंग आर्ट के समय में हमें दर्शक बनाए रखने के लिए मल्टीप्लेक्स हैं, फार्मूला मन की रेसें हैं, हिंसक पहलवानी के बाहुबलियों का पराक्रम-प्रदर्शन है। भकुआई नजरों से हम इनकी भाटगीरी करते नहीं थक रहे। कुरुचि में रुचि का रसास्वदन! विचलन और उबकाई तक को कैश कराने की कोशिशें—

अम्मा अब तो दुख
बाजार में बिकता है
दुख के खरीददार भी बहुत हो गए आजकल
बड़े-बड़े ज्ञानी ध्यानी तक ले जाते हैं

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

और जिन्हें
सब कुछ खरीदने कीआदत
छुटपन से ही पड़ी हुई है
उसको पहले वे खरीदते हैं
फिर थोड़ा काट-छांटकर
रंग रोगन से उसकी चुभती सी आकृति को
दर्शनीय मुद्रा देते हैं[6]

माता के परसे की, मधा के बरसे की महक...कहां है? जीने की सारी कवायदें टेरर मार्केट के विलास में। हम परजीवी और वे वैम्पायर। बड़ा लुटेरा समय है-

छीन लिया है इसने
बच्चे के खिलौने और मासूमियत
दादी की लोरियां और किस्से
उत्सवों का उल्लास
स्नेहीजनों का हास-परिहास[7]

जीवन के तमाम व्यापार उग्र से उग्रतर होते जा रहे हैं। वाल्टर बेंजामिन न कहा था कि बर्बरता का इतिहास संस्कृति में नई खोज के लिए जमीन तैयार करता है। हमने पूजा को प्रतिमा से, प्रतिमा को पंडाल से, पंडाल को बिजुरिया चकाचौंध से, चकाचौंध को अश्लील गीतों से, गीतों को कनफोडू संगीत से, संगीत को भौंड़े नाच से, नाच को छिछोरी फब्तियों से, अपमानित किया है। हमारे दशहरे, होलियों ईद, मुहर्रम, बैशाखियों और दीवालियों पर क्रूरतम प्रहार जारी है। मीडिया तुरही तान देकर इसका पथ प्रशस्त करने वाला साबित हुआ है। बटोरने का संस्कार आज के लोक का लोकाचार बनता जा रहा है।

मनुष्य और प्रकृति परिवर्तनशील हैं इसलिए हम यह आशा कर सकते हैं कि हवस और आत्मकेंद्रित लोक की बर्बरता से हम मानवीय, परोपकारोन्मुख उदात्त लोक की ओर वापस लौटेंगे।

संदर्भ

1. कबीर, आचार्य हजारी प्रसाद द्विवेदी, पृ. 255
2. रामचरितमानस, गोस्वामी तुलसीदास, अयोध्या कांड, दोहा-268
3. दो पंक्तियों के बीच, राजेश जोशी, पृ. 55
4. माया दर्पण, श्रीकांत वर्मा, पृ.64
5. दुःस्वप्न भी आते हैं, अष्टभुजा शुक्ल, पृ. 77
6. अम्मा से बातें औरकुछ लंबीकविताएं, भगवत राव, पृ. 52
7. बाघ दुहने का कौशल, रमण कुमार सिह, पृ. 31

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

डिप्टी नज़ीर अहमद के उपन्यासों में सामाजिक मूल्य

सेराज अहमद अंसारी*

'मूल्य' का शाब्दिक अर्थ दाम, क़ीमत इत्यादि होता है और क्रय-विक्रय के लिए प्रयुक्त किया जाता है। दूसरे अर्थ में समाज के द्वारा बनाए गए उन मानदंडों का उल्लेख है जिसके विकास से बेहतर समाज का निर्माण किया जाता है। इस शोध-पत्र में दूसरे अर्थ की उपयोगिता सार्थक है। मूल्य एक व्यवस्था है जिसके बिना किसी देश, वर्ग, जाति, धर्म, अथवा व्यक्ति के अस्तित्व पर प्रश्नचिह्न लगाया जा सकता है।

'मूल्य' किसी एक शक्ल में निरूपित नहीं होता, यथा समय इसका रूप परिवर्तित होता रहता है। उदहारण के लिए, अगर केवल व्यक्ति विशेष को ले लिया जाए तो गतिविधियों के अनुसार उसके मूल्य में परिवर्तन होता है। सामाजिक, राजनीतिक, व्यावसायिक, धार्मिक इत्यादि मूल्यों के व्यवहार में भिन्नता होती है।

'मूल्य' का जीवन और जीवन का साहित्य से गहरा सम्बन्ध है। साहित्य को उर्दू में 'अदब' कहते हैं जिसके स्वयं अर्थ में ही मूल्य समाहित है। उपन्यास साहित्य का अभिन्न अंग है। उर्दू उपन्यासों के इतिहास का आरम्भ डिप्टी नज़ीर अहमद के उपन्यासों से होता है। डिप्टी साहब ने न केवल उपन्यास लिखने बल्कि उसके द्वारा मूल्यों को समाज में फैलाने का भी कार्य किया है।

नज़ीर अहमद ने सात उपन्यास लिखे –'मिरातुल ओरूस', 'बनातुन नअश', 'तौबतुन नोसूह', 'फसानाए मुब्तला', 'इब्नुल वक्त', 'रुयाए, सादेका', और 'अयामी'।

डिप्टी साहब ने जब लिखना शुरू किया था, पहली जंगे आज़ादी के बाद का समय था। भारतीय फौज हार चुकी थी और अँग्रेज़ों का वर्चस्व सम्पूर्ण रूप से यहाँ के लोगों पर क़ायम हो गया था। उनका दुष्प्रभाव सामाजिक, राजनीतिक, आर्थिक,

*उर्दू विभाग, हैदराबाद विश्वविद्यालय, मो. न. 8332855410, 8484080671;
e-mail: serajahmadnsr70@gmail.com

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

धार्मिक, व्यावसायिक, विद्या के क्षेत्र इत्यादि हर तरह के विभागों पर पड़ा। उपनिवेशवाद हावी हो गया था। हिन्दुस्तानियों में आत्मविश्वास, दृढ़निश्चय, एक-दूसरे के प्रति सम्मान एवं जीने का हौसला समाप्त होने लगा था। अन्धविश्वास, भ्रूणहत्या, अशिक्षा एवं अराजकता बढ़ने लगी थी। ऐसे में बुद्धिजीवी वर्ग को ये समझना बहुत मुश्किल हो गया था कि समाज में फैली विसंगतियों का उपचार कैसे किया जाए।

युद्ध के बाद बहुत से ऐसे बुद्धिजीवियों ने जन्म लिया जिन्होंने न केवल समाज में चेतना पैदा की बल्कि आज़ादी की भूमि भी तैयार की। उनमें एक नाम मौलवी नज़ीर अहमद का है। मौलवी साहब का जन्म 1836 ई. में यूपी के ज़िला बिजनौर में हुआ। शिक्षा-दीक्षा के लिए अपने गुरु मौलवी अब्दुल खालिक़ के साथ दिल्ली चले आए। दिल्ली कॉलेज से पढ़ाई पूर्ण होने के बाद नज़ीर अहमद पंजाब में डिप्टी इंस्पेक्टर बना दिए गए। तरक्क़ी पाकर तहसीलदार फिर ऑफ़िसर नियुक्त किए गए। कुछ दिनों बाद सालारजंग प्रथम ने हैदराबाद बुला लिया, मेहनत, ईमानदारी और लगन को देखकर मालगोदाम का अध्यक्ष बना दिया। उसकी मृत्यु के बाद मौलवी साहब दिल्ली चले आए और अपना सारा जीवन पठन-पाठन और सामाजिक कार्य में व्यतीत किया। 1897 ई. में उन्हें 'शमशुल ओलमा' की उपाधि मिली और 1902 ई. में एडेबरा यूनिवर्सिटी से L.L.D. की मानद उपाधि से नवाज़ा गया। 1912 ई. में मौलवी साहब इस दार-ए-फ़ानी से कूच कर गए।

मौलवी साहब बहुत-सी किताबों के लेखक हैं, लेकिन उनकी ख्याति का मूल कारण उनके उपन्यास हैं जो मूल्यों से भरे पड़े हैं। उन्होंने अपना प्रथम उपन्यास 'मिरातुल ओरूस' 1869 ई. में लिखा। इसका शाब्दिक अर्थ 'दुल्हन का आईना' है जो लड़कियों की शिक्षा और उनके हुनरमन्द होने पर आधारित है। इसमें असग़री और अकबरी दो लड़कियों की कहानी प्रस्तुत की गई है, जिसमें एक को क़ाबिल, बुद्धिमान, पढ़ी-लिखी, समझदार, दूरन्देश और दूसरी को कामचोर, अनपढ़, जाहिल, घमंडी और मूर्ख दिखाया गया है। एक अपनी जेहालत से अच्छी-भली जिन्दगी नष्ट कर लेती है और दूसरी अपनी बुद्धिमानी से कमज़ोर और ग़रीब घर को इस तरह सजाती और सँवारती है कि घर की खोई हुई मर्यादा वापस आ जाती है।

इस उपन्यास में दो स्त्रियों की स्थिति दिखाकर पाठक का ध्यान मूल्यों की तरफ़ आकर्षित किया गया है। मौलवी साहब ने उन मूल्यों को प्रस्तुत किया है जिनके न पालन करने से एक का जीवन नर्क और दूसरी का स्वर्ग बन जाता है। मैंने पहले ही कहा था कि मूल्य, समय और व्यक्ति प्रधान होता है। उस समय लड़कियों के लिए जिन मूल्यों की ज्यादा ज़रूरत थी वह तालीम और घर-गृहस्थी से सम्बन्धित थीं। असग़री के पिता उसे एक पत्र लिखते हैं जिसमें ससुराल में अच्छा जीवन व्यतीत करने के मूल्य बयान किए गए हैं :

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

'बाज़ बहुएँ इस तरह की मग़रूर होती हैं कि ससुराल में कैसा ही अच्छा खाना और कैसा ही अच्छा कपड़ा उनको मिले हमेशा हिक़ारत से देखती हैं। ऐसी बातों से मियाँ की दिलशिकनी होती है। असग़री तुमको इसका बहुत एह्तेयात चाहिए। ससुराल की हर एक चीज़ क़ाबिल-ए-क़द्र है और तुम को हमेशा खाना खाकर और कपड़े पहनकर बशाशत ज़ाहिर करनी चाहिए।...दुल्हन को इस बात का ख्याल भी ज़रूर रखना चाहिए कि ससुराल में बे-दिली से न रहे।...ज्यादा मैके का शौक़ ज़ाहिर करना ससुराल वालों को ज़रूर नापसन्द होता है।

गुफ़्तगू में दर्जा ओस्त मल्हूज़ रहे यानी न इतनी बहुत कि खुद-ब-खुद बक बक, न इतनी कम कि मगरूर समझा जाए। बहुत बकने का अंजाम बुरा होता है।...छोटों पर मेहरबानी और बड़ों का अदब हर दिल अज़ीज़ होने के वास्ते बड़ी उम्दा तदबीर है। अपना कोई काम दूसरों के ज़िम्मे नहीं रखना चाहिए और अपनी किसी चीज़ को बे-ख़बरी से न पड़ा रहने दो कि दूसरे उसको उठा लेंगे। जब दो आदमी चुपके चुपके आपस में बातें करें, उनसे अलाहिदा हो जाना चाहिए। फिर उनकी तफ़्तीश भी मत करो कि ये आपस में क्या कहते थे और खामखाह ये भी मत समझो कि कुछ हमारा तज़्किरा था।"[1]

उक्त मूल्यों को मौलवी साहब ने लड़कियों के लिए लिखा है, लेकिन अगर ध्यान से देखा जाए तो ये किसी के भी जीवन का हिस्सा हो सकते हैं।

मौलवी साहब का दूसरा उपन्यास 'बनातुन नअश' है जिसे 'मिरातुल ओरूस' का विस्तार माना जाता है। इसमें उस लड़की का उल्लेख है जो अमीरज़ादी है और एक ही धर्म की दूसरी जाति की लड़कियों को हेकारत की दृष्टि से देखती है। असग़री जो पहले उपन्यास की नायिका है इस तरह के मूल्यों का ज्ञान देती है कि शादी होने तक उसकी अधिकतर खामियाँ दूर हो जाती हैं। मौलवी साहब ने सामाजिक मूल्यों को इस तरह कहानी में पिरोया है कि वह कहानियाँ आज भी लड़कियों को अपने हुस्न-ओ- सोलूक को सँवारने का बेहतरीन जरिया बन गई हैं। हुस्नआरा मुसलमानों में अशराफ़ घराने और शहर की रहने वाली, लाड़-प्यार से पली बढ़ी लड़की है। उसे असग़री के मकतब में लाया जाता है तो वह दूसरी लड़कियों से नफ़रत करती है, लेकिन जब अपनी पढ़ाई समाप्त करती है असगरी की बताई मूल्यों को धारण कर एक सलीक़ा मन्द लड़की हो चुकी होती है।

नज़ीर अहमद ने जिन मूल्यों को अपने उपन्यास में प्रस्तुत किया है वे ज़िन्दगी और समाज के हर शोबे को प्रकाशित करते हैं। आम तौर से आज के ज़माने में ऐसा आदमी बड़ी आसानी से मिला जाएगा जो दो लोगों या परिवार को आपस में लड़ाकर काफ़ी खुश होता है, लेकिन मौलवी साहब के उपन्यास की एक पात्र महमूदा कहती है :

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

'ऐसी भी कोई कम्बख्त होगी जिस को दो आदमियों की लड़ाई में मज़ा मिलता होगा? आदमी तो आदमी जानवरों को लड़ाना भी बड़ा गुनाह लिखा है।'[2] (pg 122, Banatun naash, pdf, Iqbal cyber library)

मौलवी साहब चूंके मज़हबी आदमी थे, इसलिए उनकी लिखावट पर इसका साफ़ प्रभाव दिखाई पड़ता है। जिन मूल्यों को उन्होंने अपने उपन्यासों में समाहित किया है वे इस्लामिक प्रिंसिपल्स से उद्धृत हैं। उनका तीसरा उपन्यास 'तौबतुन नोसूह' है। ये एक ऐसे मनुष्य की कहानी है जिसको बचपन से शादी और फिर लड़के-बच्चे होने तक मज़हब का ध्यान नहीं आता। एक दिन वह हैज़ा की बीमारी में मुब्तला होता है और जब ठीक होता है तो इस तरह परिवर्तित होता है कि परिवार के सारे लोग आश्चर्यचकित हो जाते हैं। वह सभी को मज़हब पर चलने और नमाज़ पढ़ने की दीक्षा देने लगता है। पत्नी, लड़कियाँ और छोटा लड़का बड़ी आसानी से पिता की बातों को स्वीकार कर लेते हैं, लेकिन बड़ा लड़का अस्वीकार कर देता है। जिस तरह पहले दो उपन्यासों में मौलवी साहब ने लड़कियों की शिक्षा-दीक्षा की बात की है इसमें लड़कों को नेक और आज्ञाकारी होने की नसीहत की है। मुख्य पात्र कलीम है जो नोसूह का बड़ा बेटा है। वह पिता की आज्ञा मानने को तैयार नहीं होता।

जिस तरह के मूल्यों की आशा आज पिता अपने पुत्र से करता है वह उस समय भिन्न थी। क़ाबिल और कामयाब होने की परिभाषा अलग थी। उस समय ज्ञान नौकरी मात्र का साधन नहीं था। इस उपन्यास में जिन मूल्यों का उल्लेख है वे सामाजिक हैं, जिनसे लोगों में सद्भाव बना रहता है। एक उद्धरण प्रस्तुत है–

"बेटा : अगर आप मुझको इसका सबब बयान करने से मआफ़ रखते तो बेहतर था।

बाप : नहीं ज़रूर है कि मैं तुम्हारे न जाने का सबब मालूम करूँ?

बेटा : इसमें एक शख़्स की शिकायत होगी और हज़रात बी ने मुझको गीबत और चुग्ली की ममानियत की है।" (पेज : 68, तौबतुन नोसूह, डिप्टी नज़ीर अहमद)

उक्त उद्धरण में जिस चुग्ली और गीबत की बात की गई है वह समाज में फैलती बुराई की एक जड़ है। इसके अतिरिक्त मौलवी साहब ने चार और उपन्यास लिखे जो अलग-अलग विषयों और मूल्यों पर आधारित हैं। 'फसानाए मुब्तला' में मुसलमानों की बिगड़ी हुई स्थिति पर दृष्टि डाली गई है। इसमें उन्होंने यह बताने की कोशिश की है कि बाप-दादा की कमाई-इज्ज़त पर इतराने से ज्यादा स्वयं मेहनत करना ज्यादा अच्छा है। ये उपन्यास ऐसे समय में लिखा जा रहा था जब 1857 की जंग की पराजय के बाद मुसलमानों की जागीरें छिन रही थीं, लोग असहाय थे, मुल्क में जहाँ-जहाँ मुसलमानों की हुकूमत थी वहाँ जुल्म-ओ-जब्र के पहाड़ तोड़े जा रहे थे। अँग्रेज़ों ने हिन्दुस्तान मुसमानों से हासिल किया था इसलिए उन्हें महसूस होता था कि उनके असल दुश्मन यही लोग हैं। ऐसे हालात में अपने उन पूर्वजों जिनके हाथ में

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

मुल्क की बागडोर लगभग एक हज़ार साल तक रही, का गुणगान करना स्वाभाविक है। इस तरह समाज में ऐसे लोगों की संख्या ज्यादा हो गई थी जो मेहनत-ओ-मशक्कत करने के बजाय अपने बुजुर्गों की बहादुरी के क़सीदे पढ़ने में मशगूल थे। मुब्तला एक ऐसा पात्र है जो खुद कुछ नहीं करता, लेकिन पूर्वजों की प्रशंसा करना नहीं भूलता। पिता बचपन में ही स्वर्गवासी हो गए, पत्नी का भी हाल कुछ उसी के मिज़ाज से मिलता-जुलता था। इसके बाद दूसरी शादी एक तवाएफ़ से कर ली और दोनों बीवियों की चपकालस ने मुबतला को मौत की नींद सुला दी। इस उपन्यास में मौलवी साहब ने अपनी बात कहने के लिए मीर तकी का सहारा लिया है जो एक मुस्लेह (सुधारक) की हैसियत रखता है।

मुब्तला और आरिफ के बीच वार्तालाप में इस्लामिक सिद्धान्तों को व्याख्यायित किया गया है। ये बात बड़ी आसानी से कह दिया जाता है कि मुसलमान चार शादी कर सकता है और कभी-कभी तो इस तरह उस पर ज़ोर दिया जाता है जैसे चार शादी करना ही इस्लाम है, और अगर किसी ने नहीं किया तो वह गुनाहगार होगा। जब मुब्तला दूसरी शादी करना चाहता है तो आरिफ पूछता है, तुम किस बात को सनद मानकर ऐसा क़दम उठा रहे हो, तो मुब्तला जवाब में कुरान का उदहारण प्रस्तुत करता है। वह कहता है–

"मेरा क्या मक्दूर है कि आपको समझाऊँ मगर तादाद-ए-निकाह की सनद तो कुरान की वही एक मशहूर आयत है।" "व इन खिफ्तुम अल्ला तुक्सेतु फिल्यतामा फंकेहू मा ताब लकुम मिन नेसाये मसना व सोलास व रोबअ" आरिफ़, लेकिन उसी के आगे फ़रमाते हैं–"फ़ईन खिफ्तुम अल्ला तआलौ अफ्वह्तः" यानी अगर तुमको खौफ़ हो कि मुतअद्दिद बीवियों में बराबरी न कर सकोगे तो एक ही बीवी करो। इसी सूरह (There are 114 chapters in the Quran, according to Surah) और इसी पारे (according to para there are 30 chapters in the Quran) में और आगे चलकर "व लन तसतत्तीऊ बैनन निसा ...यानी तुम बहुतेरा चाहो मगर तुमसे हो ही न सकेगा कि औरतों में बराबरी कर सको "पस सारे के सारे भी एक तरफ़ अब उन दोनों बातों को मिलाओ कि बराबर न कर सको तो एक करो" (फ़साना-ए-मुबतला, डिप्टी नज़ीर अहमद, पेज : 83)

उपर्युक्त तथ्यों के अनुसार.ये बात बड़ी ज़िम्मेदारी से कही जा सकती है कि मौलवी साहब ने अपने इस उपन्यास के जरिये लोगों में इस्लाम के सही सिद्धान्तों और मूल्यों को फैलाने का प्रयास किया है।

'इब्नुल वक्त' में एक ऐसे हिन्दुस्तानी मुसलमान का ज़िक्र है जिसकी सोच भीड़ से अलग थी। मुसलमानों को अपनी हुकूमत खोने का बहुत मलाल था। अँग्रेज़ों ने मुसलमानों से हुकूमत छीनी थी इसलिए अपना खुला दुश्मन मुसलमानों को समझते थे। लोग अँग्रेज़ी और अँग्रेज़ों का लिबास पहनना कुफ्र समझते थे। ऐसे हालात में

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

कोई ऐसा नहीं था जो दोनों के बीच की दूरी को कम कर सके। इस उपन्यास में इब्नुल वक्त एक ऐसा किरदार है जो नमाज़, रोज़ा, ज़कात इत्यादि जैसे सभी इस्लामी अमल को पूरा करता है, लेकिन अँग्रेज़ी पढ़ना, अँग्रेज़ों के साथ उठना-बैठना और अँग्रेज़ी वस्त्र धारण करना गुनाह नहीं समझता है। दोनों कुरान-ओ-अहादीस के सिद्धान्तों और मूल्यों के आधार पर अपनी बहस को आगे बढ़ाते हैं। इब्नुल वक्त एक ऐसे कॉलेज का मंसूबा बनाता है जिसमें हर तरह की ज़बान और विषय पढ़ाया जा सके। उर्दू अदब के आलोचकों की राय है की मौलवी साहब ने सर सैयद को नज़र में रखकर अपने इस उपन्यास का ताना-बाना तैयार किया था।

'रुयाप, सादेका' में एक ही जाति के विभिन्न सम्प्रदायों को इकठ्ठा करने के मूल्यों को प्रस्तुत किया है। जिस समय में मौलवी साहब उपन्यास रक़म कर रहे थे मुसलमानों में भी बहुत तेज़ी से साम्प्रदायिकता बढ़ रही थी। वहाबी, बरैलवी और देवबन्दी का झगड़ा शुरू हो गया था। हर कोई अपनी ढाई ईंट की मस्जिद बनाकर अलग इबादत करना चाहता था। उसके अनुसार उससे अच्छा और जन्नती मुसलमान हो ही नहीं सकता था और ये सिलसिला आज भी जारी व सारी है। ऐसी हालत में डिप्टी साहब ने इस्लामिक सिद्धान्तों और मूल्यों के ज़रिए लोगों में सदभाव और मुहब्बत पैदा करने की कोशिश की है।

'अयामी' उनका अन्तिम उपन्यास है जिसमें बेवा औरतों की दुबारा शादी की वकालत और उनकी इस्लाह की नसीहत की है। हिन्दुस्तानी समाज में फैले ग़लत परम्परा की वजह से बहुत से मुसलमान घरानों में भी तलाक शुदा या बेवा औरत की दुबारा शादी सही नहीं मानी जाती थी। ये बात समाज के बुद्धिजीवियों को बहुत खलती थी जिसका नतीजा ये हुआ की डिप्टी साहब को अयामी जैसा उपन्यास लिखना पड़ा।

मौलवी साहब ने जितने उपन्यास लिखे हैं सभी कम-ओ-बेश इस्म बा मुसम्मा (जैसा नाम वैसा काम) हैं। 'मिरातुल ओरूस' उनका पहला उपन्यास है जिसका अर्थ है 'दुल्हन का जोड़ा'। इस उपन्यास में डिप्टी साहब ने ऐसी ही बातें पेश की हैं जिसका सम्बन्ध दुल्हन से है। 'बनातुन-नअश' का अर्थ 'सात सितारों का झुमका' है, इसमें एक घमंडी और जाहिल लड़की को ज्ञान और हुनर से सजाकर क़ाबिल और हुनरमन्द बनाया जाता है। इसी तरह मौलवी साहब के उपन्यास की ये खासियत है कि उनका पात्र अपने नाम के अनुसार कार्य करता हुआ नज़र आता है।

इसके अतिरिक्त डिप्टी साहब के उपन्यासों में ऐसे बहुत से सामाजिक मूल्य हैं जिनको धारण कर समाज को बेहतर और सुन्दर बनाया जा सकता है।

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

जन्मभूमि से विदेश तक

श्रीरंजन सूरिदेव*

नवः प्रकाशित 'सागर के आर-पार' जैसी यात्रा-संस्मरणात्मक कृति एवं 'जननी जन्मभूमिश्च' जैसी आत्मचरित-गर्भित संस्मरणात्मक भ्रमण वृत्तात्मक कृति की प्रस्तुति द्वारा विदुषी लेखिका माधुरीनाथ ने हिन्दी के यात्रा-साहित्य को ततोऽधिक समृद्ध किया है। समृद्धि के साथ-साथ उसे वैविध्य-पूर्णता भी प्रदान की है।

माधुरीनाथ की इन कृतियों का मुख्य उद्देश्य उनकी अपनी जीवन-कथा का वर्णन है, जिनमें उन्होंने व्यापक रूप से अपनी जीवन-यात्रा की बात कही है, जो रमणीय और रुचिर भी है। साथ ही, इसमें उनके अपने जीवनेतिहास की उन विविध घटनाओं और परिस्थितियों का भी वर्णन सुन्दरता से रम्य-सुगम्य भाषा-शैली में संस्थापित किया गया है, जिन्होंने लेखिका के जीवन को प्रभावित, संचालित और नियन्त्रित भी किया है।

लेखिका ने जो स्वयं देखा है या अनुभव किया है, उसी का अंकन किया है, इसीलिए उनका यह आत्म-संस्मरण जितना विश्वसनीय है, उतना प्रामाणिक भी है। इस कृति का 'सागर के आर-पार' नाम भी सार्थक है; क्योंकि इस कृति की लेखिका ने स्वयं लिखा है कि 'सागर के आर-पार के देशों में जाकर मैंने जो कुछ भी देखा, सुना और अनुभव किया, उन्हीं का संकलन यह पुस्तक है और यह मेरे अनुभवों का सार-स्वरूप है, जिसे मैंने आत्मीय प्रियजनों को समर्पित किया है।'

लेखिका के भ्रमण के इच्छित सागर-पार के देशों में सिंगापुर के अलावा यूरोप के रोम, फ्लोरेन्स, पेरिस, टोरंटो, पटाया, बैंकॉक, थाईलैंड, रमादा आदि सम्मिलित हैं।

सांस्कृतिक मानसिकता के स्तर पर लेखिका ने विदेश के विभिन्न स्थानों की संस्कृति का विशद चिन्तन भारतीय संस्कृति के परिप्रेक्ष्य में किया है, और उसे ही इस

---

*डॉ. श्रीरंजन सूरिदेव, शुभैषणा, एमको फैक्टरी कैम्पस, श्रीनगर कॉलोनी, निकट, संस्कार स्कूल, ...पुर, पटना - 800006; मो. 09334493466

समीक्षित पुस्तकें : 'जननी जन्मभूमिश्च' तथा 'सागर के आर-पार', लेखिका : माधुरी नाथ

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

कृति के माध्यम से हिन्दी पाठकों के लिए उनकी देशाटन की अन्तःप्रवृत्ति को प्रोत्साहित करने तथा विदेशी देशों के पर्यटन के प्रति उनके रुचि को जगाने का लेखिका का यह सारस्वत प्रयास जितना आशंसनीय है, उतना प्रशंसनीय भी है।

यथोक्त विदेशी देशों के भ्रमण के बाद लेखिका की मनोवृत्ति ने विदेशी देशों की संस्कृति को भारतीय संस्कृति की तुलना में उन्नत नहीं पाया, वरन् भारतीय संस्कृति को ही सर्वोन्नत अनुभव किया है। लेखिका ने लिखा भी है—घर वापस आने के बाद उन्हें अपना घर ही प्यारा लगा। ऐसा इसलिए हुआ कि लेखिका स्वयं भारतीय मिट्टी के जीवन्त विग्रह है, अतएव उन्हें यूरोपीय कृत्रिम संस्कृति अपने सहज-सुन्दर भारतीय संस्कृति की तुलना में अधिक श्रेष्ठ नहीं लगा। इसी कटु सत्य के अनुभव को लेखिका ने अपनी इस कमनीय कृति में आरेखित किया है।

कुल मिलाकर भारतीय संस्कृति की सहज विशिष्टता तथा विदेशी देशों की कृत्रिम जीवन-शैली की तुलनात्मक दृष्टि से किया गया यह अध्ययन अवश्य ही लोकप्रिय होगा, इसमें सन्देह नहीं।

इसी प्रकार, माधुरीनाथ की द्वितीय कृति 'जननी जन्मभूमिश्च' में मातृ-महिमा की श्रेण्यता समुद्भावित हुई है। यद्यपि यह कृति भी संस्मरणात्मक यात्रावृत्त की ही मनोरम कृतियों में अन्यतम है, साथ ही इससे भी संस्मरण-साहित्य सातिशय समृद्ध हुआ है। इसमें लेखिका की निवास भूमि राँची से विभिन्न धर्म एवं संस्कृति-प्रधान नगरों, जैसे दिल्ली, जयपुर, धर्मशाला, ऊटी, मैसूर बँगलूरु, गोवा, वृन्दावन, आगरा, पुरी, देवघर : वैद्यनाथधाम, मनाली, वैष्णो देवी तक की यात्रा का रोचक वर्णन प्रसाद पूर्ण भाषा-शैली में प्रस्तुत हुआ है।

इस प्रकार यात्राप्रिय या यायावरीय मनोवृत्ति की लेखिका ने अपनी यात्रा के क्रम में यात्रा के निमित्त स्वीकृत विभिन्न देशों में यथादृष्ट स्थिति के गुण और दोष दोनों का नीर-क्षीर न्याय से प्रत्यक्ष अनुभव करके उसे इन दोनों कृतियों में अक्षरित किया है। अतः उनका यह संस्मरण औपन्यासिक आस्वाद से संकलित है। साथ ही ये दोनों कृतियाँ संस्मरण-लेखन के क्षेत्र में प्रेरणादायी दिशा-निर्देशात्मक महत्त्व भी आयत्त करती हैं।

आशा है, माधुरीनाथ का यह यथोक्त यात्रावृत्त सारस्वत वाङ्मय तप के रूप में स्वाध्याय-प्रेमी पाठकों द्वारा साग्रह समादृत होगा।

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

असम की बराक घाटी और हिन्दी

कस्तूरी चक्रवर्ती*

बराक घाटी एक नया नाम है, जो भारत स्वतन्त्र होने के बाद प्रचलन में आया है। स्वतन्त्रता से पहले असम में दो प्रधान नदियाँ थीं—ब्रह्मपुत्र और सुरमा। इन्हीं के आधार पर असम भू-भाग को भी दो नामों से जाना जाता था—ब्रह्मपुत्र घाटी और सुरमा घाटी। सुरमा घाटी में सिलहट और काछाड़ के जिले थे। आजादी, भारत को हिन्दुस्तान और पाकिस्तान, दो टुकड़ों में बाँटकर मिली थी। इस बँटवारे में सुरमा नदी सिलहट के साथ पूर्व पाकिस्तान में चली गई। सिलहट के चार थाने (जो हिन्दुस्तान के हिस्से में आए थे) काछाड़ में मिला दिए गए। कुछ दिनों तक 'काछाड़' नाम ही चलता रहा। धीरे-धीरे घाटी के कायम रखने के लिए ही—इस क्षेत्र की प्रधान नदी बराक के नाम पर 'बराक घाटी' नाम चल पड़ा। आज बराक घाटी के नाम से जाने-जाने वाले पूरे क्षेत्र में तीन जिले हैं—

(1) काछाड़, (2) करीमगंज और (3) हाइलाकन्दी।

1876 ई. में बंकिमचन्द्र चटर्जी ने 'बंगदर्शन' में लिखा था—"हिन्दी शिक्षा ना कोरिले कोनों क्रमे ई चलिबे ना।" डॉ. सुनीति कुमार चटर्जी के शब्दों में—"हिन्दी एक महान् सम्पर्क साधक भाषा है।" नेताजी सुभाचन्द्र बोस ने कहा था—हिन्दी में वह गुण है जिससे देश क्या पूरे विश्व की भाषा बन सकती है। आजादी के बाद हमारे देश के नेताओं और महापुरुषों ने (महात्मा गाँधी, विनोबा भावे, राजर्षि टंडन, सरदार पटेल, डॉ. राजेन्द्र प्रसाद, पं. जवाहरलाल नेहरू, लाल बहादुर शास्त्री आदि) हिन्दी के गौरव और महिमा को पहचाना, जिससे हिन्दी राष्ट्रभाषा के पद पर आसीन हो गई।

हिन्दी की इस सहज व्यापकता को विदेशियों ने भी पहचाना था। अँग्रेजों के जमाने में तो भारत-सेवा हेतु आने वाले प्रत्येक अँग्रेज को रोमन उर्दू के रूप में कम-से-कम तीन महीने तक हिन्दी सीखनी पड़ती थी। बोलचाल में हिन्दी का काम-चलाऊ ज्ञान प्राप्त कर लेने के बाद ही सेवा-स्थल पर भेजा जाता था। भारत में नवजागरण

*कस्तूरी चक्रवर्ती, हिन्दी विभागाध्यक्ष, कोकराझार गवमेंट कॉलेज, कोकराझार, असम

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

और स्वतन्त्रता की चेतना, प्रारम्भ काल से ही समूचे राष्ट्र को जानने और समझने के लिए एक सामान्य भाषा की आवश्यकता का अनुभव किया जाने लगा। अखिल भारतीय काँग्रेस के 18 रचनात्मक कार्यक्रमों में एक कार्यक्रम हिन्दी प्रचार का भी रखा गया। सारे देश में औपचारिक रूप से हिन्दी का प्रचार-प्रसार कार्य चलने लगा और स्वतन्त्रता-प्राप्ति के बाद भारत के संविधान में हिन्दी को भारत की 'राजभाषा' का दर्जा मिला।

बराक घाटी में आम जनता की बोलचाल की भाषा में पाए जाने वाले कई शब्दों के आधार पर ऐसा अनुमान होता है कि हिन्दी, यहाँ अँग्रेजों के आने से पहले ही पहुँच चुकी थी। हाँ, अँग्रेजों के आने पर खासकर सन् 1854 में 'चाय' का आविष्कार होने के बाद हिन्दी भाषी श्रमिकों की काफी बड़ी जमात काछाड़ में प्रविष्ट हुई। अँग्रेजों के साथ कई सम्पन्न हिन्दीभाषा व्यवसायी परिवार भी आए, जिनके पृष्ठपोषण में, श्रमिक समान के सहयोग से काछाड़ में हिन्दी का एक रूप प्रचलित हुआ जो 'बाबू हिन्दी' के नाम से जाना गया। बाबू हिन्दी का यह रूप काछाड़ के चाय बागानों, बाजारों आदि में आज भी वर्तमान है।

सन् 1928 में राष्ट्रभाषा के रूप में औपचारिक हिन्दी के प्रचार के लिए उत्तर प्रदेश के बलिया जिले के रहने वाले पंडित केदारनाथ त्रिपाठी सिलचर आये और अपने अध्यवसाय से 'छोटेलाल हिन्दी पाठशाला' नामक एक हिन्दी प्राथमिक विद्यालय की स्थापना की। सन् 1939 में केदारनाथ जी अस्वस्थ होकर बलिया वापस चले गए और फिर लौट नहीं पाए, क्योंकि उनका देहान्त हो गया।

पंडित केदारनाथ जी के गुजर जाने के बाद छोटेलाल हिन्दी पाठशाला की स्थिति डावाँडोल हो गई। सन् 1945 तक आते-आते वह टूटने के कगार पर पहुँच गई। यहाँ तक कि 19 जुलाई, सन् 1945 को पाठशाला की प्रबन्ध समिति में प्रस्ताव पारित करके शिक्षा का माध्यम बँगला कर दिया गया। कक्षा एक, दो और तीन में रोज एक घंटा हिन्दी पढ़ाने के लिए रखा गया। छोटेलाल हिन्दी पाठशाला की नींव बड़े ही शुभ मुहूर्त में रखी गई थी। शिक्षकों की लगन और उत्साह के बल पर एक साल के भीतर ही बँगला कक्षाओं के समान हिन्दी माध्यम की भी कक्षाएँ खुल गईं। सन् 1946 से आज तक छोटेलाल हिन्दी पाठशाला उसी रूप में (हिन्दी और बँगला के दो विभाग तथा हिन्दी में बँगला और बँगला में हिन्दी पढ़ाई) चल रही है।

सन् 1948 में असम के हिन्दी प्रचार को और सरकारी तौर पर ध्यान दिया गया। मुख्यमन्त्री स्वर्गीय गोपीनाथ बरदलै जी के प्रेरणा से सरकारी उच्च माध्यमिक विद्यालयों में हिन्दी के अध्यापक रखे गए। बराक घाटी के भी सिलचर, करीमगंज और हाइलाकान्दी के तीन सरकारी उच्च माध्यमिक विद्यालयों में हिन्दी पढ़ाई जाने लगी। सन् 1952 में सरकार की ओर से चौथी से लेकर आठवीं कक्षा तक हिन्दी अनिवार्य

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

विषय बना दी गई। फलस्वरूप अन्य माध्यमिक विद्यालयों में भी हिन्दी अध्यापक और अध्यापिकाओं की नियुक्तियाँ होने लगीं।

प्रशिक्षण के लिए सिलचर नार्मल स्कूल और बुनियादी प्रशिक्षण विद्यालयों में हिन्दी अध्यापक नियुक्त किए गए। आज असम में हिन्दी शिक्षा की सरकारी शिक्षा नीति में कुछ परिवर्तन हो गया है, फिर भी बराक घाटी के प्रत्येक माध्यमिक विद्यालय में एक से लेकर तीन तक की संख्या में हिन्दी अध्यापक कार्यरत हैं।

सन् 1952 में ही बराक घाटी में हिन्दी शिक्षा और प्रचार-प्रसार को एक व्यवस्थित गति देने के मकसद से सिलचर में राष्ट्रभाषा-विद्यापीठ की स्थापना हुई। विद्यापीठ ने शुरू से ही हिन्दी के दोनों रूपों (शिक्षा का माध्यम और संविधान परिभाषित राष्ट्रभाषा) पर ध्यान दिया। राष्ट्रभाषा के रूप में असम राष्ट्रभाषा प्रचार समिति परिचालित परीक्षाओं के केन्द्र चलाए गए। शिक्षा के माध्यम के रूप में केन्द्र में एक प्राथमिक विद्यालय चलाने के अलावा दरवी, बद्रीवस्ती आदि कई जगहों पर और भी कई प्राथमिक विद्यालय खुलवाए गए। शिक्षा विभाग के सौजन्य से इन विद्यालयों में एक समान पाठ्य-पुस्तकों की पढ़ाई और प्रश्न-पत्रों से परीक्षा की व्यवस्था की गई थी। सन् 1961 में हिन्दी-विद्यालय संगठन समिति के गठन के बाद विद्यापीठ अपने परिसर में ही सीमित हो गया। सन् 1967 में विद्यापीठ के निजी विधान का पंजीकरण हुआ। एक स्वतन्त्र गैर-सरकारी शैक्षणिक संस्थान के रूप में राष्ट्रभाषा विद्यापीठ आगे बढ़ा।

सन् 1960 के आस-पास असम सरकार ने अपनी भाषानीति निर्धारित की। इस नीति के अनुसार असम के विद्यालयों में 'असमिया' सभी के लिए अनिवार्य विषय हो गई। अन्य भाषा-भाषियों को लगा कि उनको अपनी मातृभाषा सीखने के अधिकार से वंचित किया जा रहा है। यह भाषा आन्दोलन की शुरुआत थी। सभी वर्ग के लोगों में अपनी भाषा के विकास की एक चेतना जागृत हो गई। भाषा के आधार पर असम से अलग होकर मेघालय और मिजोरम के दो स्वतन्त्र राज्य बन गए। काछाड़ यानी सिलचर की प्रधान भाषा बँगला है। बँगला भाषा की रक्षा के लिए जोरदार आन्दोलन छिड़ा। 19 मई, सन् 1961 को 11 शहीदों ने भाषा के नाम पर अपनी शहादत दी। आखिर काछाड़ के लिए बँगला भाषा स्वीकार कर ली गई। बँगला भाषा के आन्दोलन का प्रभाव क्षेत्र अन्य भाषा-भाषी समाज पर भी पड़ा।

काछाड़ में हिन्दी भाषी समाज की जनसंख्या करीब पाँच लाख से भी अधिक है। अपनी भाषा के प्रति नई जागृति की हिलोर हिन्दी भाषा समाज में भी आई, जिसके परिणामस्वरूप काछाड़ चाय श्रमिक यूनियन के नेताओं के प्रयास से सन् 1961 में घाटी के शीलकुड़ी चाय बागान के पूर्व प्रबन्धक राधेश्याम शर्मा जी को अध्यक्ष और विश्वनाथ उपाध्याय जी को सचिव चुनकर एक हिन्दी विद्यालय संगठन समिति का गठन हुआ।

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

हिन्दी विद्यालय संगठन समिति के प्रयास से बराक घाटी के विभिन्न स्थानों पर करीब 100 प्राथमिक विद्यालय और कई माध्यमिक विद्यालय खोले गए। सन् 1986 में समिति ने अपनी रजत जयन्ती मनाई, जिसके सम्मेलनों में तत्कालीन राज्यपाल भीष्मनारायण सिंह, पूर्व केन्द्रीय राज्यमन्त्री सन्तोष मोहन देव, अन्तरराष्ट्रीय ख्याति के विद्वान विद्यानिवास मिश्र जैसे हस्तियों ने शिरकत की थी। इस सम्मेलन ने हिन्दी भाषी समाज को चेतना की नई स्फूर्ति से भर दिया।

वर्तमान बराक घाटी में सरकारी शिक्षा विभाग के अतिरिक्त हिन्दी कार्य करने वाली प्रमुख संस्थाएँ हैं–

हिन्दी विद्यालय संगठन, राष्ट्रभाषा विद्यापीठ, सिलचर, असम राष्ट्रभाषा प्रचार समिति, राष्ट्रभाषा प्रचार समिति, वर्धा, मणिपुर हिन्दी प्रचार परिषद् और हिन्दी साहित्य सम्मेलन, प्रयाग तथा बालार्क प्रकाशन। सामान्य शिक्षा के क्षेत्र में भी आज बराक घाटी में प्राथमिक स्तर से विश्वविद्यालय तक हिन्दी पढ़ने की सुविधा प्राप्त है। अतः निर्विवाद कह सकते हैं कि बराक घाटी में हिन्दी का भविष्य उज्ज्वल है।

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

महर्षि मेँहीँ की भक्ति साधना

डॉ. छोटे लाल बहरदार*

श्रद्धा और विश्वास रूप को भक्ति कहते हैं। तात्पर्य यह है कि श्रद्धा और विश्वासपूर्वक आत्म-निवेदन ही भक्ति है। सेवा करने का अर्थ वाह्य सेवा नहीं बल्कि "ऐसी सेवा कि अपने को समर्पण कर दे, आत्म निवेदन है।"[1] लेकिन ऐसी सेवा-भावना शीघ्र नहीं आती है। इसके लिए दृष्टियोग और शब्द-योग की साधना करनी पड़ती है। महर्षि मेँहीँ के सारे प्रवचन श्रद्धा और विश्वास के साथ आत्म-निवेदन ही हैं। श्रद्धा में प्रेम संयुक्त रहता है इसलिए महर्षि साहब की विनती है कि "प्रेम-भक्ति गुरु दीजिए।"[2] साथ ही उसने सीख दी है कि "अति अटल श्रद्धा प्रेम से, गुरु भक्ति करनी चाहिए।"[3] अतएव, भक्ति का मूल अर्थ है श्रद्धा एवं विश्वास के साथ मन, वचन एवं कर्म से ईश्वर के लिए आत्म-निवेदन।

भक्ति की अनेक परिभाषाएँ भी दी गई हैं। भागवत पुराणकार ने भक्ति के स्वरूपों की चर्चा करते हुए भगवान के प्रति अव्यवहिता तथा अहेतुकी भक्ति को भक्ति बतलाया गया है। नारद भक्ति-सूत्र के अनुसार परमात्मा के प्रति परम प्रेम रूप भाव ही अमृत स्वरूप भक्ति है। मध्वाचार्य "भगवान में ज्ञान एवं विचारपूर्वक सुदृढ़ और सतत स्नेह को भक्ति का लक्षण मानते हैं। उनकी दृष्टि में मोक्ष लाभ का सरलतम उपाय भक्ति है। डॉ. हजारी प्रसाद द्विवेदी के कथनानुसार भक्ति भगवान के प्रति अनन्यगामी एकान्त प्रेम का नाम है। आचार्य रामचन्द्र शुक्ल ने धर्म की रसात्मक अनुभूति को भक्ति का नाम दिया है।"[4] प्रायः सभी आचार्यों ने भक्ति को एक भाव माना है और प्रसंगानुसार रति, अनुरक्ति, प्रेम, परम प्रेम, आसक्ति, स्नेह आदि शब्दों का प्रयोग किया है। साथ ही इन भावों का आलम्बन ईश्वर है। भाव का आलम्बन यदि ईश्वर है तो वह भाव ही भक्ति है। ऐसी भक्ति से मानव के भीतर उदात्त भावना जगाती है और नर में नारायण की अनुभूति होती है।

*डॉ. छोटे लाल बहरदार, राष्ट्रपति पुरस्कृत पूर्वप्राचार्य + 2 बी.बी.एम. उच्च विद्यालय, पूर्णियाँ-854301 (बिहार)

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

महर्षि अपने साहित्य में भाव भक्ति को स्वीकारा है। इसलिए उसने "आरती तन मन्दिर में कीजै"[5] की शिक्षा दी है। ईश्वर के शरण जाना, ईश्वर का गुणगान करना, ईश्वर को समर्पित हो जाना आदि वैष्णवी भक्ति महर्षि साहब की रचनाओं में भी है—"मैंहीं कहत शरण गेहे"[6] "गुरु करऊँ विनती चरण पड़ि।"[7] सामाजिकता की दृष्टि से मैंहीं की भक्ति में सामाजिक पथ भी अति प्रबल है। महर्षि साहब की शिक्षा है कि "काम, क्रोध, मोह, अहंकार, चिढ़, द्वेष आदि मनोविकारों से खूब बचते रहना चाहिए और दयाशील, सन्तोष, क्षमा, नम्रता आदि मन के उत्तम और सात्त्विक गुणों को धारण करते रहना साधक के पक्ष में अत्यन्त हितकर है।"[8]

महर्षि साहब ने नवधाभक्ति की महत्ता स्वीकार की है—"पहली से पाँचवीं भक्ति तक स्थूल भक्ति है। मन्त्र-जल स्थूल ज्ञान में होता है। इसके आगे छठी भक्ति में दमशील बनने को कहते हैं अर्थात् इन्द्रियों को रोकने का स्वभाव वाला होने को कहते हैं।"[9]

"महर्षि भक्ति के दो सोपान मानते हैं—(1) सगुण, (2) निर्गुण। इन्हीं दो सोपानों पर क्रमशः आरूढ़ होकर साधक परमात्मा तक पहुँचता है। इसलिए भक्त के लिए पहले सगुण भक्ति अपेक्षित है।"[10]

सत्संग से मानव के हृदय में भक्ति-भावना अंकुरित होती है, ज्ञानोदय होता है एवं मानव परमतत्त्व के लिए ऊर्ध्वगामी बनता है। अतएव सत्संग एक ऐसी धरती है जिस पर चलकर ही मानव भक्ति-तत्त्व को प्राप्त करता है। इसलिए सन्त कबीर और महर्षि मैंहीं दोनों ने सत्संग की अनिवार्यता पर बल दिया है। महर्षि मैंहीं मानव को सदैव सत्संग और ध्यान में संलग्न रहने की शिक्षा देते हुए कहते—"सत्संग नित अरू ध्यान नित, रहिये करत संलग्न हो।"[11] "क्योंकि रोज सत्संग करने से मानव के सभी कार्य पूर्ण होते हैं—"नित प्रति सत्संग कर ले प्यारा, तेरा कार सटै सारा।"[12] महर्षि जी आजीवन घूम-घूम कर सत्संग के द्वारा मानव को ज्ञान बाँटते रहे। उनका सम्पूर्ण साहित्य ही सत्संग है।

गुरु परमत्त्व—महल के द्वार हैं। बिना गुरु की कृपा हुए मानव इस महल में प्रवेश नहीं कर पाता है। गुरु की कृपा से ही मानव के भीतर ज्ञान और भक्ति के बीच अंकुरित होते हैं। मानव के भीतर प्रकाश का प्रस्फुटन होता है। निस्सन्देह गुरु की सर्वोपरि महत्ता एवं आवश्यकता है।

मैंहीं जी ईश्वर को श्रेष्ठ गुरु मानते हैं—प्रभु से गुरु अधिक जगत विख्यात अहे। बिन गुरु प्रभु नहिं मिलै यद्यपि घट माँहि रहे।"[13] गुरु की ही दया-दृष्टि से मानव सांसारिक बाधाओं से दूर हटता है। मानव की सभी मनोकामना पूर्ण होती है। महर्षि मैंहीं साहित्य में गुरु स्तुति भरी हुई है। गुरु याचना से सम्बन्धित अत्यधिक पद हैं।

महर्षि मैंहीं साहित्य में कबीर की अपेक्षा पाप की विवेचना अधिक हुई है। महर्षि ने स्पष्ट शब्दों में कहा है कि "जो पाप में रहता है तो भक्ति में नहीं रहता है।

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

भक्ति में रहता है तो पाप में नहीं रहता है। जो भक्ति करता है पापों को छोड़ता है।"[14] इसलिए स्वयं सचेत रहो और पापों से बचने के लिए शक्ति लगाओ। इतना ही नहीं उन्होंने मानव को अमूल्य सीख दी है कि "संसार" में रहने का अच्छा ढंग है "व्यभिचार, चोरी, नशा, हिंसा और झूठ इन पाँच पापों को त्याग कर रहो।"[15]

महर्षि मेँहीँ की भक्ति में इन दुर्गुणों को त्यागने की शिक्षा दी गई है। "काम, क्रोध, मोह, अहंकार, चिढ़, द्वेष आदि मनोविकारों से खूब बचते रहना चाहिए।"[16] दारू, गाँजा, भाँग, अफीम, ताड़ी, चंडू, मदक, कोकिन, तम्बाकू आदि सभी नशे को तजना चाहिए। आचरण की शुद्धता के सम्बन्ध में महर्षि जी कहते हैं "मन पवित्र करो, क्योंकि पवित्र मन वाले को ही समाधि लगती है। सब कोई सदाचार का पालन करो। पवित्र काम के पवित्र आचरण करो।"[17]

महर्षि के भक्ति का आकलन करने पर विदित होता है कि उन्हें ईश्वर के अस्तित्व में असीम विश्वास है। उनकी सीख है कि एक सर्वेश्वर पर अचल विश्वास, पूर्ण भरोसा तथा अपने अन्तर में ही उनकी प्राप्ति का दृढ़ निश्चय रखना चाहिए।

महर्षि साहित्य पर विचार करने से ज्ञात होता है कि मेँहीँ साहब ने स्मरणादि की भक्ति की है। वे साफ-साफ कहते हैं कि ईश्वर भजन करो, इसी से सब क्लेश मिट जाएँगे। जप भी स्मरण भक्ति का एक स्वरूप है। क्योंकि "जप करने से साधक की वृत्ति ईश्वर की ओर जाएगी।"[18] महर्षि के अनुसार ईश्वर भक्ति के लिए तीन कर्म आवश्यक हैं—स्तुति, प्रार्थना और उपासना। स्मरण भक्ति के ही संकेतक है क्योंकि इससे ईश्वर का स्मरण होता है और स्मरणकर्ता धीरे-धीरे उर्ध्वगति को प्राप्त होता है।

महर्षि मेँहीँ ने अपने साहित्य में "सुरत" शब्द का प्रयोग किया है। कबीर साहब जिसे "सुरति" कहते हैं। उसे ही मेँहीँ साहब "सुरत" कहते हैं। सुरत या आत्मा गगन पर चढ़कर हर्षित होती है, क्योंकि आत्मा अपने-अपने उस परमात्मा में मिल जाती है। इसलिए उसने कहा है कि "मीन सुरत शब्द जल मिली एकहि।"[19]

महर्षि मेँहीँ के साहित्य में प्रपत्ति मार्ग की भक्ति दीख पड़ती है। महर्षि मेँही भगवान के शरणागत होने के लिए अपने गुरु से प्रार्थना करते हैं—"चरण-शरण अब आए तुम्हारी, सुनिए अर्ज दुखियन मुख की।"[20] महर्षि जी ने कबीर की भाँति "गुरु करऊँ विनती चरण पड़ि"[21] कर प्रपत्ति मार्ग की भक्ति की है। महर्षि जी एक सर्वेश्वर पर ही अचल विश्वास पूर्ण भरोसा करते हैं।

महर्षि मेँहीँ गंगा, यमुना और सरस्वती के संगम पर ध्यान करते हैं, क्योंकि कबीर को भाँति महर्षि मेँहीँ भी जुगनू जोति, मीठी मुरली अनेक नाद ही देखते-सुनते हैं। इसके साथ ही महर्षि मेँहीँ क्रमबद्ध शून्य, महाशून्य और भँवर गुफा में पटने की बात कहते हैं। साथ ही कबीर दास गगन, सहस्रार, ब्रह्मरन्ध्र आदि को शून्य मानते हैं, लेकिन महर्षि मेँहीँ इन सबों की अलग-अलग स्थिति मानते हैं जहाँ साधक अपनी भक्ति-साधना से क्रमशः पहुँचता है।

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

महर्षि मेँहीं ने जाग्रत, स्वप्न, सुषुप्ति के बाद तुरीयावस्था को चौथे पद कहा है। इस पद या अवस्था की विशेषता वे बताते हैं कि "जैसे संसार बहुत लम्बा-चौड़ा है, उसी तरह चौथी अवस्था का देश भी बहुत बड़ा है। चौथी अवस्था में जाओ तो पता चलेगा कि तब हम कभी मरते या जनमते नहीं हैं।

"सूरत स्थूल से सूक्ष्म में, सूक्ष्म से कारण में उत्तरोत्तर सिमटते-सिमटते, परदों को भेदते-भेदते त्रयवर्ग-पर या चतुर्थ वर्ग में पहुँच जाती है और परम प्रभु से जा मिलती है।"[21]

मानव को काम, क्रोध, मद, लोभ की पीड़ा नहीं होना चाहिए। वे स्पष्ट कहते हैं कि "कोई उपासक बनिए, साम्प्रदायिकता के फेर में नहीं आइए।"[22]

ज्ञान और भक्ति में एक गहरा सम्बन्ध है। क्योंकि ईश्वर-भक्ति करने के लिए ईश्वर-स्वरूप का ज्ञान आवश्यक है। स्वरूप निर्णय हुए बिना उसकी भक्ति कैसे की जाए, विदित नहीं हो सकता है। बिना ज्ञान के भक्ति नहीं हो सकती है और बिना भक्ति के ज्ञान नहीं हो सकता है। इसलिए ज्ञानार्जन पर अत्यधिक बल दिया गया है। ईश्वर का ज्ञान, जीव का ज्ञान, उनसे मिलने का ज्ञान जरूरी है। ईश्वर से मिलने के लिए योग भी आवश्यक है। अतएव ईश्वर के स्वरूप के बारे में ज्ञान प्राप्त कर उससे मिलाप, योग के लिए साधक भक्त प्रयास करता है, यही उसकी भक्ति है।

भक्ति एक कठिन साधना है। इसमें साधक को ज्ञानार्जन कर सांसारिक बाधाओं से लड़ना पड़ता है और फिर कुंडलिनी जाग्रत कर षट् चक्रों को भेदता हुआ पवन को शून्य में ले जाना पड़ता है। वस्तुतः मूलाधार चक्र से शून्य तक के रास्ते में साधक को अनेक कठिनाइयों का सामना करना पड़ता है। भक्ति का मार्ग लम्बा है और रास्ते विकट है। भक्ति की कठिनता को अनुभव कर महर्षि मेँहीं ने मर्द बनने की शिक्षा दी है। क्योंकि मर्द ही कठिन-से-कठिन बाधाओं का सामना कर सकता है। महर्षि साहब ने यह भी कहा कि सांसारिक कष्टों को झेले बिना भक्ति नहीं होगी, प्रभु की प्राप्ति नहीं होगी।

ज्ञान, भक्ति और योग तीनों एक संग है। तीनों के अभ्यास से ही साधना पूर्ण होती है और ईश्वर की प्राप्ति होती है। भक्ति की पूर्णता मोक्ष में होती है। जब तक साधक अपनी भक्ति-साधना से मोक्ष नहीं पा लेता है, तब तक भक्ति अपूर्ण रहती है और साधक बारम्बार मोक्ष के लिए जन्म लेता रहता है। बारम्बार जन्म लेने के बन्धन से मुक्त होना मोक्ष है। शरीर और संसार से छूटने को मोक्ष कहते हैं। महर्षि जी कहते हैं, "मुक्ति वह है जब कि जीव ब्रह्मत्व को प्राप्त कर लेता है। जैसे नमक जल में घुलकर एक हो जाता है। इस तरह जब जीव उससे अन्य नहीं रह जाता है, तब मुक्ति होती है।"[23] "सब आवरणों को पार किए बिना न परम प्रभु मिलेंगे और न परम मुक्ति मिलेगी। इसलिए दोनों को प्राप्त करने का एक ही साधन है। ईश्वर-भक्ति का साधन कहो, दोनों एक ही बात है।"[24]

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

महर्षि मेँहीँ कहते हैं कि "जीवनकाल में मुक्ति नहीं हो तो मरने पर मुक्ति हो, यह सम्भव नहीं है। इसके साथ ही महर्षि साहब जीवन मुक्ति को सर्वोपरि मानत हुए कहा है–"शरीर छूटने पर मुक्ति होगी, ऐसा नहीं। पहले जीवन मुक्ति होगी, पीछे विदेह मुक्ति।"[25] अतएव, जीवन काल की मुक्ति असली मुक्ति है।

सन्दर्भ

1. महर्षि मेँहीँ – सत्संग सुधा, भाग-2, पृ. 46
2. महर्षि मेँहीँ – पदावली, पृ. 9
3. महर्षि मेँहीँ – पदावली, पृ. 6
4. डॉ. हरवंश लाल शर्मा – मध्यकालीन निर्गुण भक्ति साधना, पृ. 3-4
5. महर्षि मेँहीँ – पदावली, पृ. 106
6. महर्षि मेँहीँ – पदावली, पृ. 58
7. महर्षि मेँहीँ – पदावली, पृ. 24
8. सन्तसेवी महाराज – अभिनन्दन ग्रन्थ, पृ. 174
9. महर्षि मेँहीँ – सत्संग सुधा, भाग-4, पृ. 6
10. डॉ. नागेश्वर चौधरी 'नागेश' – महर्षि मेँहीँ, पृ. 124
11. महर्षि मेँहीँ – पदावली, पृ. 7
12. महर्षि मेँहीँ – पदावली, पृ. 102
13. महर्षि मेँहीँ – पदावली, पृ. 81
14. महर्षि मेँहीँ – ईश्वर ज्ञान योग ईश्वर भक्ति, पृ. 47
15. महर्षि मेँहीँ – सत्संग सुधा, भाग-1 पृ. 119
16. सन्त सेवी जी महाराज – अभिनन्दन ग्रन्थ, पृ. 174
17. महर्षि मेँहीँ – ज्ञान योग ईश्वर भक्ति, पृ. 48
18. महर्षि मेँहीँ – महर्षि मेँहीँ पदावली, पृ. 100, 72
19. महर्षि मेँहीँ – पदावली, पृ. 79
20. महर्षि मेँहीँ – पदावली, पृ. 21
21. महर्षि मेँहीँ – विनय पत्रिकासार सटीक, पृ. 15
22. महर्षि मेँहीँ – सत्संग सुधा, भाग-1, पृ. 12
23. महर्षि मेँहीँ – सत्संग सुधा, भाग-2, पृ. 42, 29
24. महर्षि मेँहीँ – मोक्ष दर्शन, पृ. 35
25. महर्षि मेँहीँ – सत्संग सुधा, भाग-1, पृ. 103

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

पाठकीय प्रतिक्रिया

चिन्तन-सृजन के अंक समय पर मिल जाते हैं, हार्दिक धन्यवाद स्वीकार करें।

साहित्य, समाज एवं राजनीति की गतिविधियों से परिचय कराने वाली यह पत्रिका उनकी दशा एवं दिशा का भी दिग्दर्शन कराती है। पाठकों के ज्ञान-वर्धन की दिशा में आपका यह प्रयाश स्तुत्य है। आश्चर्यजनक और अद्‌भुत भी।— डॉ. माधुरी **नाथ, पूर्व हिन्दी विभागाध्यक्ष एवं पूर्व सदस्य, अभिषद् राँची विश्वविद्यालय, अध्यक्ष, अ.भा.सा. परिषद् (झारखण्ड), राँची।**

आपकी सम्पादकीय मनीषा से मण्डित 'चिन्तन-सृजन' के वर्ष 13 का अंक 4 (अप्रैल-जून, 2016) प्राप्त कर एक अपूर्व सारस्वत उपलब्धि का बोध हुआ। यह एक त्रैमासिक पत्रिका है, पर आकृति और प्रकृति से पुस्तकीय गरिमा आयत्त करती है। इसमें सम्मिलित प्रत्येक आलेख प्रज्ञाप्रौढ लेखनी से प्रसूत हैं। उत्तम चिकने कागज पर सर्वशुद्ध और स्वच्छ मुद्रण इस पत्रिका की अपनी अन्यत्र दुर्लभ पहचान है। इस अंक की प्रत्येक पंक्ति प्रांजल सम्पादकीय मनीषा की उद्‌घोषिका है।

इस अंक में ग्यारह आलेख और पुस्तकों की समीक्षाएँ आकलित हैं, जो गम्भीरता से पठनीय हैं। मन और बुद्धि को पूर्णतः जागरूक रखकर पढ़ने वाले पाठकों को ही इसकी यथा प्रस्तुत सामग्री के हार्दका हृदयंगम होना सम्भव है। अन्यथा 'ग्रामं गच्छन् तृणं स्पृशति' कहावत चरितार्थ होगी।

'बचकानी हरकतें' सम्पादकीय अग्रलेख का शीर्षक हलका लगता है, पर उसमें निहित विषय-वस्तु प्रभावक तो है ही, प्रहारक भी है—नावक के तीर की तरह 'देखन में छोटो लगैं, घाव करैं गम्भीर' जैसे हैं। उदाहरणस्वरूप श्री जिया लाल आर्य का आलेख 'भारतीय समाज में विधवा का स्थान' देखने में तो छोटा है, पर उसकी वर्ण्यवस्तु चिन्तन की हथौड़ी जैसी है। मैंने अपने ब्राह्मण-समाज में एक विधवा की दुर्दशा देखी है। समाज के क्रूर सदस्यों ने उस विधवा को दण्ड प्रहार से आहत तो किया ही, विष्ठा घोलकर जबरदस्ती पिलाने का जघन्य कर्म भी किया; क्योंकि वह विधवा उन लोगों की दृष्टि में डायन थी। यह घिनौना सिलसिला समाज में आज भी किसी-न-किसी रूप में कायम है।

आज भी, यदि कोई विधवा युवती है तो समाज का न केवल युवा वर्ग, अपितु तथाकथित वयोवृद्ध वर्ग भी उसे चरित्रहीन मानकर उसपर काम लोलुप दृष्टि गड़ाये रहते हैं। ऐसे समाज में विधवा का जीना प्रत्यक्ष नारकीय कष्ट भुगतने के समान है।

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

इसी प्रकार, प्राचीन (अब अस्तंगत) सती-प्रथा भी विधवा नारी के दारूण यन्त्रणामय जीवन जीने को संकेतित करती है। श्री आर्यजी को भारतीय विधवा की प्राचीन स्थिति की दारुणता पर और खुलकर लेखनी चलानी चाहिए। क्योंकि, विधवा हमारे अपने समाज की ही अतिशय गौरवमयी जननी के समान है। 'जननी जन्मभूमिश्च स्वर्गादपि गरीयसी।'

'चिन्तन-सृजन' पत्रिका साहित्यिक पत्रकारिता की शीर्षण्य स्थिति की समुद्घोषणा करती है। इसमें प्रकाशित साहित्यिक सामग्री हिन्दी-साहित्य की समकालिक स्थिति की विशेषता से अवगत कराती है। पं. सदल मिश्र की हिन्दी का पूर्ण और प्रौढ विकास 'चिन्तन-सृजन' में आकर परिणत और परिपुष्टवय हो गया है।

यथाप्राप्त अप्रैल-जून, 2016 का अंक महार्घ है। इसमें भाषा और साहित्य की समृद्ध स्थिति और विषय का गाम्भीर्थ देख-पढ़कर हिन्दी के प्रति गौरव का अनुभव हुआ है।

इस अंक में सम्मिलित आलेखोत्तर 'पुस्तक-समीक्षा' स्तम्भ में, प्रथम आलेख में मुद्रण की अशुद्धि इस पत्रिका के गौरव पर प्रश्नचिन्ह लगाती है। इसमें मुद्रित अनेक शब्द भ्रान्त हैं। जैसेः औपनिसद् (शुद्धः औपनिषद्), गीता के प्रसिद्ध श्लोक की नितान्त भ्रान्तता, अन्तदृष्टया (शुद्धः अन्तर्दृष्टियों), दृष्टया (शुद्धः दृष्ट्या), ईशावास्योपनिशद् (शुद्धः ईशावास्योपनिषद्), तेन त्यक्तेन् (शुद्धः तेन त्यक्तेन), ऋत् (शुद्धः ऋत), पाप-पूण्य (शुद्धः पाप-पुण्य) आदि शाब्दिक प्रायोगिक स्खलन ध्यातब्य है। लोक-सम्मत लोक सम्मत् हो गया है हलन्त अनावश्यक है।

यों, आलेख का विषय महनीय तथा उसकी प्रति-पाठन शैली पाण्डित्यपूर्ण और विशद है। मैं विद्वान् लेखक पं. अम्बिकादत्त शर्मा के प्रति विनयावनत हूँ और प्रशंसामुखर भी। — **साहित्यवाचस्पति डॉ. श्रीरंजन सूरिदेव, प्रधानमंत्रीः बिहार-हिन्दी साहित्य-सम्मेलन, पटना, एम.ए. (प्राकृत-जैनशास्त्र, संस्कृत एवं हिन्दी), स्वर्णपदक-प्राप्त, पी.एच.डी. साहित्य-आयुर्वेद-पुराण-पालि-जैनदर्शनाचार्य, व्याकरणतीर्थ, साहित्यरत्न, साहित्यालंकार, पूर्व-व्याख्यताः प्राकृत, प्राकृत-शोध-संस्थान, वैशाली, पूर्व-उपनिदेशक (शोध) एवं सम्पादकः 'परिषद्-पत्रिका' बिहार-राष्ट्रभाषा-परिषद्, पटना। पताः 'शुभैषणा', एमको फैक्टरी कैम्पस, श्रीनगर कॉलोनी, निकट संस्कार स्कूल, सन्दलपुर, पो. महेन्द्रू, पटना-800006; मो.09334493466.**

'जुलाई' सितम्बर 2015 अंक पढ़कर लगा कि न कोई शोध पत्रिका इतना स्तरीय, विचारोत्तेजक निबंध निकाल पाती है और न कोई समाज वैज्ञानिक इतनी दूर तक समाज की नब्ज टटोल सकता है। सभी लेख लंबी टिप्पणी, प्रतिक्रिया के लायक हैं पर मैं संक्षिप्त टिप्पणी द्वारा अपना विचार व्यक्त करता हूँ। नोवेल पुरस्कार विजेता अमर्त्य

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

सेन ने भारतीय इतिहास अनुसंधान परिषद् के प्रमुख के तौर पर येलयाप्रागदा सुदर्शन राव को नियुक्त किए जाने पर टिप्पणी की है कि वे इतिहास में अनुसंधान के लिए भले ही नहीं जानेजाते हों लेकिन हिंदुत्व के बारे में उनके विचार सब जानते हैं। उन्होंने हिंदुत्ववादी एजेंडों की प्राथमिकता की बात अपनी पुस्तक 'कंट्री ऑफ फर्स्ट व्वायज' में भी व्यक्त की है। अमर्त्य सेन को इस प्रकार की टिप्पणियों से परहेज करना चाहिए।

रमेशचंद्र शाह ने अपनी स्मृति के परिवेश में वसे अज्ञेय को स्मरण किया है। पहला ही उद्धरण कविता की सृजन प्रक्रिया की अंतर्यात्रा करता है—इसलिए कि इलियट के अनुसार भोगनेवाली मनीषा और सृजन करनेवाली मनीषा में अंतर होता है और यह अंतर जितना गहराता है कविता उतनी ही प्रभावक होती है। अतः मन के भावों का तत्काल प्रस्फुटन सच्ची कविता नहीं हो सकती है। अज्ञेय के कविकर्म, सृजनप्रक्रिया एवं व्यक्तित्व की अंतर्यात्रा के लिए यह संस्मरण पाथेय बन गया है।

कवि कमलेश के काब्य संसार का मूल्यांकन करते हैं प्रयाग शुक्ल। 'कवि कमलेश का संसार' में एक बार प्रयाग जी ने उनके, 'सम्मुख सभागार में' कविता के लिए आमंत्रित किया। वह कविता पाठ कर इतना प्रसन्न और भावुक हो गए कि 'खुले में आवास' (2008) के आभार में उन्होंने उस काव्य पाठ पर टिप्पणी की''इस वर्ष यानी 2007 में जब यह काब्य पाठ आयोजित हुए तो उन्होंने मुझे (कमलेश जी को) कविता की लीक पर वापस डाल दिया'' (पृ. 21) महापुरुष किए गए कार्य की प्रशंसा ही नहीं करते न उसके सूत्रधार के प्रति कृतज्ञता का भाव भी व्यक्त करते हैं। कमलेश के व्यक्ति और उनकी कविता की सही परख और प्रशंसा यहाँ उल्लेखनीय है।

प्रभाकर श्रोत्रिय ने सार्वजनिक जीवन में मूल्यनिष्ठता पर गंभीरता से विचार किया है। मैंने जब 'मानव मूल्य विश्वकोश' का संपादन किया था, तो मुझे इसका बोध हुआ था। हमारे सारे संबंध क्रिया-व्यापार, क्रिया-प्रतिक्रिया मूल्याधारित हैं कि उससे किसी का अहित नहीं हो, किसी को पीड़ा नहीं पहुँचे। श्रोत्रिय जी युग की नब्ज पहचानते हैं। जानते हैं कि आसानी से मूल्याधारित वातावरण नहीं बन सकता। अतएव वह स्पष्ट कहते हैं: ''मुझे लगता है कि मूल्य के पक्ष में एक वातावरण बनाना पड़ेगा, उन्हे धारण करनेवालों को प्रोत्साहित करना होगा।'' (पृ. 34)

कामायनीकार की कामना थी:

औरों को हँसते देखो मनु हँसो और सुख पाओ,
अपने सुख को विस्तृत कर जो जग को सुखी बनाओ।

सभी लेख, समीक्षाएँ प्रेरक, दिशादर्शक और दृगोन्मिलक हैं। लेखकगण बधाई के पात्र हैं और संपादक के लिए धन्यवाद के शब्द हलके लगते हैं। – **प्रो. मृत्युंजय उपाध्याय, बृन्दावन, राजेन्द्र पथ, धनबाद-826001, झारखण्ड, मो. 8296987528**6.

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

प्राप्ति-स्वीकार

पिछले अंकों में सूचीबद्ध पुस्तकों/पत्रिकाओं के अतिरिक्त प्राप्त नयी पुस्तकें/पत्रिकाएँः

पुस्तकें:

हंस के लेंगे हिन्दुस्तान, संपादकः नीलकंठ, प्रकाशकः गीता प्रकाशन, रामकोट, हैदराबाद, प्रथम संस्करणः 2016, पृष्ठः 224, मूल्यः 200.00 रुपये।

इंद्र धनुष के रंग, संपादकः डॉ. देवेन्द्र आर्य, प्रकाशकः साहित्य सहकार प्रकाशन, 29/62, गली न. 11, विश्वास नगर, दिल्ली-110032, प्रथम संस्करणः 2016, पृष्ठः 112, मूल्यः 300.00 रुपये।

जहाँ से उजास मेरी प्रेरणाएँ, संपादकः राजी सेठ, वाणी प्रकाशन, 4695, 21-ए, दरियागंज, नयी दिल्ली-110002, प्रथम संस्करणः 2014, पृष्ठः 148, मूल्यः 125.00 रुपये।

राजी सेठ की यादगारी कहानियाँ, संपादकः राजी सेठ, प्रकाशकः हिन्द पॉकेट बुक्स प्राइवेट लिमिटेड, जे-40, जोरबाग लेन, नई दिल्ली-110003, प्रथम संस्करणः 2014, पृष्ठः 176, मूल्यः 135.00 रुपये।

प्रतिरोध की ऊर्जस्वल चेतना, संपादकः आनन्दप्रकाश त्रिपाठी, प्रकाशकः नमन प्रकाशन, 4231/1, अंसारी रोड, दरियागंज, नयी दिल्ली-110002, प्रथम संस्करणः 2015, पृष्ठः 190, मूल्यः 395.00 रुपये।

भारतीय राष्ट्रवाद के दो स्वर, संपादकः प्रमोद कुमार, प्रकाशकः अनुज्ञा बुक्स, 1/10206, वेस्ट गोरख पार्क, शाहदरा, दिल्ली-110032, प्रथम संस्करणः 2015, पृष्ठः 64, मूल्यः 75.00 रुपये।

पत्रिकाएँ:

तत्त्व-सिन्धु, वर्ष-3 फरवरी, 2016, संपादकः राकेश मिश्र; प्रकाशकः कुमारस्वामी फाउण्डेशन, लखनऊ, ई-1, रामकृष्णपुरम्, कल्याणपुर (पश्चिम), पो. विकासनगर, लखनऊ-226022, पृष्ठः 196, मूल्यः 100/- रुपये।

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

गवेषणा अनुप्रयुक्त भाषाविज्ञान, भाषाशिक्षण तथा साहित्य चिंतन की त्रैमासिक शोध-पत्रिका, अंक-106 (जनवरी-मार्च, 2016); प्रधान संपादकः नन्द किशोर पाण्डेय, प्रकाशकः सचिव, केंद्रीय हिंदी शिक्षण मंडल, आगरा; पृष्ठः 190, मूल्यः 40/- रुपये।

तत्सम निरंतर, वर्ष-3 अंक-1 फरवरी-2016, संपादकः डॉ. सत्यप्रकाश सिंह; प्रकाशकः बी-49, दिव्यनगर, पो. खोराबार, गोरखपुर-273010 (उ.प्र.), पृष्ठः 88, मूल्यः 100/- रुपये।

चौराहा साहित्य और संस्कृति की अर्द्धवार्षिक पत्रिका, अंक-7 जुलाई-दिसम्बर, 2016, संपादकः अंजना वर्मा,

प्रकाशकः कृष्णा टोला, ब्रह्मपुरा, मुजफ्फरपुर-842003, पृष्ठः 72, मूल्यः 35/- रुपये।

पूर्वोत्तर साहित्य विमर्श (विमर्श केंद्रित भाषा, साहित्य एवं संस्कृति का संवाहक), अंक-5 वर्ष-4 जनवरी-मार्च, 2016, संपादकः डॉ. हरेराम पाठक, प्रकाशकः 'पूर्वोत्तर साहित्य विमर्श संस्थान', डिगबोई (असम), पृष्ठः 56, मूल्यः 30/- रुपये।

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

केन्द्रीय हिंदी संस्थान

मानव संसधन विकास मंत्रालय, भारत सरकार

संपर्कः हिंदी संस्थान मार्ग, आगरा-282005, फोनः 0562-2530684,
वेवसाइटः www.indisansthan.org, www.khsindia.org

संक्षिप्त परिचय

केन्द्रीय हिंदी संस्थान, आगरा मानव संसधन विकास मंत्रालय, भारत सरकार के शिक्षा विभाग द्वारा 1961 ई. में स्थापित एक स्वायत्त शैक्षिक संस्था है। इसका संचालन स्वायत्त संगठन केन्द्रीय हिंदी शिक्षण मंडल द्वारा किया जाता है। संस्थान का मुख्यालय आगरा में स्थित है और इसके आठ क्षेत्रीय केंद्रः दिल्ली, हैदराबाद, गुवाहटी, शिलांग, मैसूर, दीमापुर, भुवनेश्वर तथा अहमदाबाद में हैं।

संस्था के प्रमूख उद्देश्य

■ भारतीय संविधान के अनुच्छेद 351 के अनुपालन में अखिल भारतीय भाषा के रूप में हिंदी का विकास और प्रसार की दृष्टि से उपयोगी शैक्षणिक पाठ्यक्रमों की प्रस्तुति एवं संचालन। ■ विभिन्न स्तरों पर गुणवतापूर्ण हिंदी शिक्षण का प्रसार, हिंदी शिक्षकों का प्रशिक्षण, हिंदी भाषा और साहित्य के उच्चतर अध्ययन का प्रबंधन, हिंदी के साथ विभिन्न भारतीय भाषाओं के तुलनात्मक भाषा वैज्ञानिक अध्ययन को प्रोत्साहन और हिंदी भाषा एवं शिक्षण से जुड़े विविध अनुसंधान कार्यों का आयोजन। ■ अपने विभिन्न पाठ्यक्रमों में अध्ययनरत विद्यार्थियों के लिए परीक्षा आयोजन तथा उपाधि वितरण। ■ संस्थान की प्रकृति एवं उद्देश्यों के अनुरूप उन अन्य संस्थओं के साथ जुड़ना या सदस्यता ग्रहण करना या सहयोग करना या सम्मिलित होना, जिनके उद्देश्य संस्थान के उद्देश्यों से मिलते-जुलते हो और इन समान उद्देश्यों वाले संस्थाओं को संबद्धता प्रदान करना। ■ समय-समय पर विषयानुसार अध्येतावृत्ति (फैलोशिप) छात्रवृत्ति और पुरस्कार, सम्मान पदक की स्थापना कर हिंदी से संबंधित कार्यो को प्रोत्साहन आदि।

संस्थान के कार्य

• शिक्षणपरक कार्यक्रमः (i) विदेशी विद्यार्थियों के लिए हिंदी शिक्षण, (ii) हिंदीतर राज्यों के विद्यार्थियों के लिए अध्यापक प्रशिक्षण पाठ्यक्रम, (iii) नवीकरण एवं संवद्धनात्मक कार्यक्रम, (iv) दूरस्थ शिक्षण कार्यक्रम (स्ववित्तपोशित), (v) जंनसचार एवं पत्रकारिता, अनुवाद अध्ययन और अनुप्रयुक्त हिंदी भाषाविज्ञान के सांध्यकालीन पाठ्यक्रम (स्ववित्तपोषित)
• अनुसंधानपरक कार्यक्रमः (i) हिंदी शिक्षण की अधुनातन प्रविधियों के विकास के लिए शोध, (ii) हिंदी भाषा और अन्य भारतीय भाषाओं का तुलनात्मक व्यतिरेती अध्ययन, (iii) हिंदी भाषा और साहित्य के क्षेत्र में आधारभूत एवं अनुप्रयक्त अनुसंधान, (iv) हिंदी भाषा के आधुनिकीकरण और भाषा प्रोद्योगिकी के विकास के उद्देश्य से अनुसंधान, (v)

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

हिंदी का समाज भाषा वैज्ञानिक सर्वेक्षण और अध्ययन, (vi) प्रयोजनमूलक हिंदी से संबंधित शोधकार्य। अनुसंधानपरक कार्यों के दौरा द्वितीय भाषा एवं विदेशी भाषा के रूप में हिंदी शिक्षण के लिए उपयोगी शिक्षण सामग्री का निर्माण।

● **शिक्षण सामग्री निर्माण और भाषा विकासः** (i) हिंदीतर राज्यों और जनजाति क्षेत्र के विद्यालयों के लिए हिंदी शिक्षण सामग्री निर्माण, (ii) हिंदीतर राज्यों के लिए हिंदी का व्यतिरेकी व्याकरण एवं द्विभाषी अध्येता कोशों का निर्माण, (iii) विदेशी भाषा के रूप में हिंदी शिक्षण पाठ्यपुस्तकों का निर्माण, (iv) कंप्यूटर साधित हिंदी भाषा शिक्षण सामग्री का निर्माण, (v) दृश्य-रव्य माध्यमों से हिंदी शिक्षण संबंधी पाठ्यसामग्री का निर्माण, (vi) हिंदी तथा हिंदीतर भारतीय भाषाओं के द्विभाषी/त्रिभाषी शब्दकाशों का निर्माण।

संस्थान के प्रकाशनः हिंदी भाषा एवं साहित्य, भाषाविज्ञान, अनुप्रयुक्त भाषाविज्ञान, तुलनात्मक एवं व्यतिरेकी अध्ययन, भाषा एवं साहित्य शिक्षण, कोश विज्ञान आदि के संबद्ध विभिन्न विषयों पर उपयोगी पुस्तकों का प्रकाशन। अब तक 150 से अधिक पुस्तकें प्रकाशित। विभिन्न स्तरों एवं अनेक प्रयोजनों की पाठ्यपुस्तकों, सहायक सामग्री तथा अध्यापक निर्देशिकाओं का प्रकाशन। त्रैमासिक पत्रिका - 'गवेषणा', 'मीडिया' और 'समन्वय पूर्वोत्तर' का प्रकाशन।

पुस्तकालयः भाषाविज्ञान, अनुप्रयुक्त भाषाविज्ञान, भाषा शिक्षण और हिंदी साहित्य के विभिन्न विषयों की पुस्तकों के विशेषीकृत संग्रह की दृष्टि से हिंदी के सर्वश्रेष्ठ पुस्तकालयों में से एक। लगभग एक लाख पुस्तकें। लगभग 75 पत्र-पत्रिकाएँ (शोधपरक एवं अन्य)।

संस्थान से संबद्ध प्रशिक्षण महाविद्यालयः हिंदी शिक्षण-प्रशिक्षण के स्तर को समुन्नत करने तथा पाठ्यक्रम में एकरूपता लाने के उद्देश्य से उत्तर गुवाहाटी (असम), आइजोल (मिजोरम), मैसूर (कर्नाटक), दीमापुर (नागालैंड) के राजकीय हिंदी शिक्षक-प्रशिक्षण महाविद्यालयों को संस्थान से संबद्ध किया गया है।

योजनाएँः ■ भारतीय सांस्क तिक केंद्र, कोलंबो में सिंहली विद्यार्थियों के लिए केन्द्रीय हिंदी संस्थान के पाठ्यक्रम की 2007-08 से शुरूआत। ■ अफगानिस्तान के नानहर विश्वविद्यालय (जलालाबाद) में संस्थान द्वारा निर्मित बी.ए. का पाठ्यक्रम 2007-08 से प्रारंभ। ■ विश्व के कई अन्य देशों (चेक, स्लोवानिया, यू.एम.ए., यू.के., मॉरिशस, बेल्जियम, रूस आदि) के साथ शैक्षिणिक सहयोग और हिंदी पाठ्यक्रम संचालन के संबंध जारी। ■ हिंदी के बहुआयामी संबर्धन के लिए हिंदी कॉर्पोश परियोजना, हिंदी लोक शब्दकोष परियोजना, भाषा-साहित्य सीडी निर्माण परियोजना, पूर्वोत्तर लोक साहित्य परियोजना, लघु हिंदी विश्वकोष परियोजना पर कार्य।

- डॉ. कमल किशोर गोयनका
उपाध्यक्ष, केन्द्रीय हिंदी शिक्षण मंडल
ई-मेलः kkgoyanka@gmail.com

- प्रो. नन्द किशोर पाण्डेय
निदेशक
ई-मेलः nkpandey65@gmail.com
directorofkhs@yahoo.co.in

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

सेवा में,

आस्था भारती
27/201 ईस्ट एंड अपार्टमेन्ट,
मयूर विहार फेस-1 विस्तार,
दिल्ली-110 096.

महोदय,

मैं त्रैमासिक पत्रिका चिन्तन-सृजन का ग्राहक बनना चाहता हूँ। इस हेतु.................रुपये चेक/बैंक ड्राफ्ट सलग्न है। यह शुल्क एक वर्ष/तीन वर्ष के लिए है (टिक करें)।

नाम : ....

....

पता (शहर, पिन कोड अवश्य लिखें) : ....

....

फोन न. : ....

ई-मेल : ....

भवदीय .

(हस्ताक्षर)

नोट: 1. चेक/बैंक ड्राफ्ट "आस्था भारती" के नाम से होना चाहिए तथा नई दिल्ली/दिल्ली में देय होना चाहिए।
पत्रिका चेक के भुगतान के बाद साधारण डाक से भेजी जाएगी।
2. चिन्तन-सृजन की शुल्क निम्न है।

वार्षिक मूल्य:

व्यक्तियों के लिए	60.00 रुपए	**एक प्रति का मूल्य**	
संस्थाओं और पुस्तकालयों के लिए	150.00 रुपए	व्यक्तियों के लिए	20.00 रुपए
		संस्थाओं के लिए	40.00 रुपए

तीन वर्ष:

व्यक्तियों के लिए	180.00 रुपए
संस्थाओं और पुस्तकालयों के लिए	400.00 रुपए

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

LIBRARY
Gurukul Kangri Vishwavidyalaya
HARDWAR

चिन्तन-सृजन

त्रैमासिक

वर्ष 14 अंक 3 जनवरी-मार्च 2017

सम्पादकीय परामर्शदात्री समिति

लोकेश चन्द्र

यशदेव शल्य

जे.एन.राय

रमेशचन्द्र शाह

सम्पादक

बी. बी. कुमार

आस्था भारती

दिल्ली

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

वार्षिक मूल्य :

व्यक्तियों के लिए	60.00 रुपए
संस्थाओं और पुस्तकालयों के लिए	150.00 रुपए
विदेशों में	$ 15

एक प्रति का मूल्य

व्यक्तियों के लिए	20. 00 रुपए
संस्थाओं के लिए	40.00 रुपए
विदेशों में	$ 4

विज्ञापन दरें :

बाहरी कवर	20,000.00 रुपए
अन्दर कवर	15,000.00 रुपए
अन्दर पूरा पृष्ठ	10,000.00 रुपए
अन्दर का आधा पृष्ठ	7,000.00 रुपए

प्रकाशन के लिए केन्द्रयी हिन्दी संस्थान, आगरा द्वारा आंशिक आर्थिक सहायता प्राप्त

आस्था भारती
रजिस्टर्ड कार्यालय :
27/201 ईस्ट एंड अपार्टमेण्ट
मयूर विहार फेस-1 विस्तार
दिल्ली-110 096

कार्य-संचालन कार्यालय :
23/203 ईस्ट एंड अपार्टमेण्ट
मयूर विहार फेस-1 विस्तार
दिल्ली-110 096
से आस्था भारती के लिए डॉ. लता सिंह, आई.ए.एस. (सेवा-निवृत्त), सचिव द्वारा प्रकाशित तथा विकास कम्प्यूटर एण्ड प्रिण्टर्स, 1/10753, सुभाष पार्क, नवीन शाहदरा, दिल्ली-32 द्वारा मुद्रित। फोन : 011-22712454

ई.मेल : asthabharati1@gmail.com
वेब साइट : asthabharati.org

चिन्तन-सृजन में प्रकाशित सामग्री में दृष्टि, विचार और अभिमत लेखकों के हैं। सम्पादक की सहमति अनिवार्य नहीं है।

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

विषय-क्रम

सम्पादकीय परिप्रेक्ष्य 5

1. इक्कीसवीं सदी में गाँधी 7
रमेशचन्द्र शाह

2. बच्चों का व्यवहार ठीक करने के लिए जरूरी है कि पहले बड़े अपना व्यवहार ठीक करें 17
सीताराम गुप्ता

3. कुशलता और कौशल की अवधारणा 22
आनन्द प्रकाश, अनीश मिश्र

4. ललित निबंध 28
निज कवित्त केहि लाग न नीका
श्रीराम परिहार

5. चैतन्य महाप्रभु की शिक्षा में अभिव्यक्त सामाजिक समरसता 34
सुनील बाबुराव कुलकर्णी

6. प्रकृति-सम्पृक्त भारतीय धर्म-परम्परा 52
(श्रीमती) बिनय षडंगी राजाराम

7. भारतीय दर्शन : रहस्यवाद 66
नरेश कुमार अम्बष्टा

8. चित्र-विचित्र 73
माधुरी नाथ

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

9. महावीर और गाँधी की समानान्तर धर्म-दृष्टि 81
श्रीरंजन सूरिदेव

10. सन्त रैदास आज के सन्दर्भ में 85
जिया लाल आर्य

11. हिन्दू धर्म में राम 89
केशीकान्त शकुन

12. मूल्य : बहुकोणीय विवेचन 94
प्रदीप जुगरान

13. आलेख 98
पण्डित विद्यानिवास मिश्र के ललित निबन्ध 'छितवन की छाँह' में लोक-संस्कृति का सौन्दर्य 98
शिवनारायण

14. भारतीय सेक्युलरवाद के मायने 108
निशीथ राय

15. अल्लामः इकबाल का एक रूप यह भी 113
कृपाशंकर सिंह

16. नवलेखन की चुनौतियाँ : अभिप्राय और आयाम 119
नन्दलाल मेहता 'वागीश'

17. समीक्षा 125
"आध्यात्मिक आक्रमण और घर वापसी"
एम.एल. खरे

18. पुस्तक-समीक्षा 127
प्रेमचन्द साहित्य विशेषज्ञ : डॉ. कमल किशोर गोयनका
कृष्ण वीर सिंह सिकरवार

पाठकीय प्रतिक्रिया 129

प्राप्ति-स्वीकार 130

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

सम्पादकीय परिप्रेक्ष्य

2017 के चुनावः राजनीति बदलाव की दिशा और दशा

पिछले दिनों हुए पाँच राज्यों के विधान सभाओं के चुनाव परिणाम देश की राजनीति में आए महत बदलाव की दिशा एवं दशा की तरफ इंगित करते हैं, जो निम्नलिखित हैं:

- जनता ने परिवारवाद की राजनीति को बहुत हद तक नकारा है।
- उसी प्रकार जाति आधारित राजनीति का निषेध भी हुआ है।
- इस चुनाव में व्होट बैंक की राजनीति की बड़ी हार हुयी है।
- जनता का झुकाव एक हद तक अपराधी उम्मीदवारों को नकारने का रहा है।
- चुनाव परिणाम, विशेषतः उत्तर प्रदेश एवं उत्तराखण्ड के चुनाव परिणाम, इस बात का संकेत देते हैं कि सचेत जनमत ने एकजूट होकर ऐसी सरकार कि लिए मतदान किया है, जो निर्बाध तरीके से अपना काम कर सके।
- इस चुनाव के परिणाम जनता की राजनीतिक परिपक्वता का संकेत देते हैं।
- इस चुनाव में सामाजिक विभाजन की राजनीति को अस्वीकृति मिली है।
- जनता ने इस चुनाव में सार्थक पहल करने वाले राजनीतिक दलों/नेताओं को स्वीकार किया है, और ऐसे दलों/नेताओं को नकारा है जिनकी पहल, जिनकी सोच, नकारात्मक रही है, या जिन्होंने विकास एवं प्रशासन का कार्य ठीक से नहीं किया।
- इस चुनाव में जनता ने प्रधानमंत्री की कर्मठता उनके कार्य, उनकी पहल को अभूतपूर्व समर्थन दिया है। फिर इसमें भारतीय जनता पार्टी के अध्यक्ष एवं कार्यकर्ताओं एवं राष्ट्रीय स्वयं सेवक संघ का योगदान तो रहा ही है।
- इस देश में प्रचारतंत्र/मीडिया एवं बौद्धिकों का एक वर्ग लगातार भावनात्मक बातों को उठाकर या गलत प्रचार द्वारा भ्रम फैलाने का काम करता रहा है। जनता उनके बहकावे में नहीं आयी जो उसकी राजनीतिक परिपक्वता का परिचायक है।

यह देश पिछले कुछ समय से नीतिगत पहल के क्षेत्र में जड़ता का शिकार रहा है, जो बड़ी घातक बात रही है। प्रधानमंत्री नरेन्द्र मोदी ने इस जड़ता को लगातार तोड़ा है। उनकी कई पहल ऐसी हुई है, जिसका तत्काल प्रभाव दिखने लगा है; कई समय-साध्य हैं। फिर ऐसी पहल के क्षेत्र में आवश्यक नहीं की पूरी सफलता का

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

भरोसा हो, तभी पहल की जाय। जोखिम उठाकर पहल करने की क्षमता भारत जैसे महान देश के नेता में तो होनी ही चाहिए; जैसा कि प्रधानमंत्री ने नोट-बंदी की पहल करके दिखाया है। और फिर तमाम आलोचनाओं के होते हुए भी, जनता ने उनका समर्थन किया।

मोटे तौर पर कहा जाय तो इस चुनाव के परिणाम ने इस देश की जनता को आश्वस्त किया है, लोग खुश हैं। आखिर लोग उस दल को अपना मत क्यों दें जो किसी बेहद नासमझ नेता को अपने माथे पर लादे घूमते रहते हैं; उस नेता को जो लगातार बचकानी हरकत करता है, जिसे देश और उसकी समस्याओं की समझ नहीं। जो ऐसे व्यक्ति से मिलने तथा उसका पृष्ट-पोषण करने दौड़ पड़ता है, जो देश तोड़ने के नारे लगाता है। आशा है कि इस चुनाव से निकले संकेत से शिक्षा लेकर राजनीतिक दल अपनी सोच, एवं अपनी कार्य-पद्धति में बदलाव लायेंगे; देश की राजनीतिक संस्कृति में अपेक्षित बदलाव लाने की पहल होगी। जहाँ तक भाजपा का सवाल है, राज्य सभा में उसकी स्थिति सुधरेगी; फिर राष्ट्रपति के चुनाव की उसकी पहल आसान होगी।

फिर भाजपा द्वारा मुख्यमंत्रियों के चुनाव से दो संकेत निकलते हैं, जिनका उल्लेख आवश्यक है। पहला यह कि योगी आदित्यनाथ का चुनाव यह कड़ा संकेत देता है कि चुनी हुई पार्टी का अपना एजेण्डा होता है, वह विरोधियों के एजेण्डा की पूर्ति के लिए चुनकर नहीं आयी है। दूसरा कि अपेक्षाकृत अनजान व्यक्ति को मुख्यमंत्री बनाकर दल के अंदर की खेमेवाली को नियंत्रित किया जा सकता है।

— ब्रज बिहारी कुमार

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

इक्कीसवीं सदी में गाँधी

रमेशचन्द्र शाह*

दो अनमेल संस्कृतियों की टकराहट खच्चर सरीखे बाँझपन को जन्म देती है—ऐसा पिछली सदी के एक महाकवि येट्स का कहना था। उसे जहाँ एक ओर भारतीय संस्कृति के जीवन्त प्रतिनिधियों से जबर्दस्त प्रेरणा मिलती थी—वहीं दूसरी तरफ स्वयं भारतीय बुद्धिजीवियों का पाश्चात्य संस्कृति के प्रति हीनभाव ग्रस्त नकलचीपन उसे विस्मित-विक्षुब्ध करता था। वह स्वाधीनता-संग्राम का दौर था, जब एक-से-एक विभूतियाँ हमारे बीच मौजूद थीं। आज वह फसल सूख चुकी है। कोई गाँधी, कोई अरविन्द अब हमारे बीच अवतरित होने से रहा। पर हम इस तरह सोचें ही क्यों? एक साधारण भारतीय, एक साधारण यूरोपीयन या साधारण चीनी-जापानी के बरक्स कहाँ खड़ा है—यह क्यों नहीं पूछते? आखिर महात्मा गाँधी इस जनसामान्य के साधारण जनता के ही तो प्रतिनिधि थे। भारत के समूचे इतिहास में जनसामान्य का उन सरीखा प्रभावशाली प्रतिनिधि और नेता कभी कोई हुआ? तब फिर?

यह हमारा सार्वजनिक दुर्भाग्य है कि समकालीन राजनीति में ही नहीं, शिक्षा, प्रशासन और संस्कृति के क्षेत्रों में भी घटिया लोगों का बढ़ता वर्चस्व हमारे भ्रष्टाचार-लिप्त चरित्र की ही पुष्टि करता प्रतीत हो रहा है। अक्सर लगता है कि हम किस भारतीय संस्कृति की बात कर रहे हैं? सत्य, तप, आवर्ती काल, अहिंसा, करुणा, आन्तरिक स्वाधीनता जैसे मूल्य, जो सदियों-सहस्राब्दियों तक इस देश की रीढ़ बने रहे, वे आज हमारे आचरण में, सामूहिक जीवन में, कहाँ तक प्रभावी हैं? कुशल तो हर तरफ विपरीत ही जान पड़ती है। धर्म, जो हमारे लोक-जीवन का नियामक रहा; अध्यात्म, जिसने हमें अतुलनीय आन्तरिक स्वाधीनता और खुलापन दिया; और घोर पराधीनता के लम्बे दौर में भी—आत्मविस्मृति और रूढ़िग्रस्तता की दलदल के बीचोबीच भी—हमें अपनी पहचान खोने से बचाए रखा, वह आज हमारे प्रबुद्ध वर्गों में अर्थात्—नेताओं-अफसरों-पूँजीपतियों, सामाजिक कार्यकर्ताओं की गतिविधियों में भी कहीं भी क्रियाशील

*सम्पर्क : एम-4, निराला नगर, भदभदा रोड (दुष्यन्त मार्ग), भोपाल—462003 (म.प्र.)

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

दिखता है क्या? रहा साहित्य, उसमें भी न हमारी आस्था दिखती है, न अनास्था। न हमारे भीतर जो आध्यात्मिक सूनापन और उजाड़ घर करता जा रहा है, उसी का सन्ताप दिखता है। यहाँ तक कि हमारी क्या चिन्ता होनी चाहिए, यह चिंता भी नहीं दिखती। शिक्षकों तथा साहित्यिकों-पत्रकारों का आचरण भी जनसाधारण के लिए प्रेरणाप्रद और मार्गदर्शक नहीं प्रतीत होता। उल्टे, अक्सर यही लगने लगता है कि इस व्यापक मूल्य-भ्रंश या कहें मूल्यमूढ़ता का संक्रमण तो उन्हीं को सबसे ज्यादा व्याप रहा है। दहशत होती है देखकर, कि हमारा अधिसंख्य बुद्धिजीवी वर्ग—हमारा प्रोफेसर, डॉक्टर, वकील और मीडियामैन यानी पत्रकार तक वास्तविक सामाजिक संवेदना से इस कदर शून्य, अपने व्यवसाय-स्वधर्म के न्यूनतम मापदण्डों से भी इतना नीचे गिरा हुआ तथा नैतिक आध्यात्मिक दृष्टि से इतना दरिद्र हो सकता है।

निश्चय ही ये लक्षण अच्छे नहीं हैं। स्वतन्त्रता की दहलीज पर ही महात्मा गाँधी ने जो बात इस कदर साफगोई के साथ कह दी थी—वह आज किस कदर सच्ची साबित हो रही है? उन्होंने कहा था—"इस देश का कठोर हृदय बुद्धिजीवी मेरे जीवन का सबसे लम्बा दुःस्वप्न रहा है और आगे भी इस दुःस्वप्न की परछाई और लम्बी खिंचती जानी है।" राजनीति में ऐसा कड़वा सच इस तरह बोल देना आसान नहीं होता।

इतना ही नहीं, दूसरी तरफ हमें यह भी याद होना चाहिए कि उन्हीं गाँधी जी ने चालीस के दशक में अपनी 'हिमालयी भूल' (ब्लण्डर) का सार्वजनिक स्वीकार करते हुए क्या कहा था? उन्होंने कहा था कि "उन्होंने जो अपने लोगों को अहिंसा के उच्चतम मानदण्डों पर खरा उतरने लायक चरित्र का धनी माना-समझा—वह उनकी बड़ी भारी गलती थी। भ्रान्ति थी।" हालाँकि यहाँ पर तस्वीर का दूसरा पहलू भी आँखों से ओझल नहीं होना चाहिए। औसत आदमी की क्षमता को ध्यान में रख के कोई संस्कृति नहीं चल सकती। सभी संस्कृतियों की चालक शक्ति उच्चतम आदर्शों से ही परिचालित और निर्धारित होती है। कैसे कहें सारे ऋषि-मुनि गलत थे? और वह सभ्यता भी गलत थी—जिसने एक तरफ आदर्श की पराकाष्ठा स्वरूप रामायण रची और दूसरी तरफ घोर यथार्थवादी महाभारत? हमें उपनिषद् भी चाहिए और पंचतन्त्र-हितोपदेश भी। उधर पश्चिम में प्लेटो के बाद 'ज्ञान' अपनी समग्रता से हटकर—यानी आत्मज्ञान के लक्ष्य से विचलित होकर एक ओर वस्तुलक्षी साइन्स की दिशा पकड़ लेता है और दूसरी ओर एकेश्वरवादी मतवादी 'रिलीजन' की। पश्चिम के इस आत्म-विभाजित विकास में एक की परिणति यह ग्लोबलाइजेशन; और दूसरा पहले अपने को 'सेक्यूलर फेज ऑव क्रिश्चियनिटी' घोषित करके खुद को मृतसंजीवनी पिलाने की कोशिश करता हुआ। मूल चरित्र उसका वही— जिसे हक्सले ने 'थियोलॉजिकल साम्राज्यवाद' कहा है। और, जिसमें ईसाइयत ही नहीं इस्लाम भी इसीलिए अन्तर्भुक्त हो जाता है कि विश्व-इतिहासकार अर्नोल्ड टायनबी के अनुसार वह भी ईसाइयत की

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

ही एक 'हेरेसी' है। यह है किस्सा उस मानव-केन्द्रित यूरोपीय सभ्यता का, जिसके अधुनातन संस्करण की यानी, अमरीकी-चीनी चौधराहट एक ओर, तथा इस्लामिक आतंकवाद दूसरी ओर, दोनों की चपेट में आज समूची दुनिया है और इसीलिए भारत भी। प्रश्न यह है कि ऐसे चक्रवात में भारत की भारतीयता कहाँ है? कहीं वह भी तो विस्थापित नहीं हो चुकी पूरी तरह पश्चिमी बाजारवाद-उपभोक्तावाद से? कहीं उसकी नियति भी सुपर-कम्प्यूटरीकरण और क्लोन-करण ही तो नहीं हो गई?

पहली प्रक्रिया तो हालात को देखते हुए यही होगी कि हाँ, भारत भी अब पूरी तरह इस विश्वव्यापी घटनाचक्र की गिरफ्त में आ चुका है और अब आगे ढलान-ही-ढलान, उतार-ही-उतार है; भारतीयता चौपट हो रही है; वह सिर्फ 'कॉरपोरेट कल्चर' की एक नकल और तथाकथित योग आदि के निर्यात की एक छोटी-सी 'कमोडिटी' भर बनकर कृतकृत्य है। आयात तो केवल भोगवादी-होड़वादी यान्त्रिक भौतिकतावादी मूल्य-विपर्ययों का ही बढ़ता जा रहा है। नई पीढ़ी पूरी तरह इस बाढ़ के हवाले कर दी गई है, और इससे पहले की पुरानी पीढ़ी भी कुछ कम लालची-नकलची नहीं थी। कुल मिलाकर वस्तुस्थिति निराशाजनक है : गर्व करने लायक तो कदापि नहीं।

किन्तु ठण्डे दिमाग से सोचने पर तथा ठण्डे दिमाग वाले अत्यल्प ही सही—कई सारे उत्तरदायी बुद्धि-वैभव-सम्पन्न अपने थोड़े से असली बौद्धिकों को पढ़ते-गुनते हुए, अपने देशवासियों के जीवन की असलियत पर तथा भारत के इतिहास पर (गाँधी के सच्चे अनुयायी धर्मपाल की शब्दावली का सहारा लें, तो 'भारतीय मानस, चित्त और काल' पर) आँखें गड़ाकर देखने पर तस्वीर इतनी काली नहीं दिखती। याद करें कि ..."हिन्दुस्तानी महासागर के किनारे पर ही मैल जमा है। उससे जो लोग गन्दे हो गए हैं, उन्हीं को साफ होना है।"—यह 'हिन्द स्वराज' के द्रष्टा गाँधी ने पिछली सदी की शुरुआत में ही घोषित किया था। हो सकता है, अब आज की तारीख में हम शायद ऐसा निष्कम्प आत्मविश्वासी दावा करने की स्थिति में नहीं हों : यत्र-तत्र सर्वत्र-भिद चुकी सर्वग्रासी भ्रष्टाचारी राजनीति ने हमारे जनसाधारण के—जिसके सर्वश्रेष्ठ प्रतिनिधि और प्रवक्ता गाँधी जी थे—उस जनता के परम्परागत गुणों को काफी कुछ धूमिल कर दिया हो, दबा दिया हो। फिर भी लगता है उनका मूल्य-विवेक पूरी तरह नष्ट नहीं हुआ है। अपनी सुदीर्घ परम्परा के लोक-शास्त्र-समन्वित रूप को वे आज भी जीवित रखे हुए हैं जैसे-तैसे। अपने तथाकथित श्रेष्ठ और प्रबुद्ध लोगों की नालायकी और बदहवासी के बावजूद।

वैसे भी, यों देखा जाए तो आज की यह अराजक, मूल्यमूढ़ आपाधापी हमारे ही कर्मों के दुर्निवार्य फल की तरह अनिवार्य लग उठती है। अपनी भारतीय या कि हिन्दू संस्कृति को येन-केन-प्रकारेण बचाने के चक्कर में हमारे रक्षक समुदाय ने—जिसकी रचनात्मक सामर्थ्य पस्त हो चुकी थी—तमाम तरह की बाड़ें बनाकर अपनी सुरक्षा का उपक्रम करना चाहा। एक बहुत बड़ा हिस्सा हमारी आबादी का—निरन्तर उपेक्षा-अवहेलना

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

का शिकार होकर दरिद्र होता गया। छुआछूत और स्थानभ्रष्ट जाति-प्रथा की अमानवीय गतिविधियों ने उसका रहा-सहा आत्मसम्मान भी क्षत-विक्षत करके पूरे समाज-शरीर को विकलांग बनाके धर दिया। यह बहुत महँगा मोल अपने बचे रहने का हमने चुकाया। अपनी 'हिन्दू' शीर्षक लम्बी कविता में हमारे राष्ट्रकवि गुप्त जी ने यथातथ्य इस विडम्बना को चिह्नित किया है—

सह लें हम स्वजनों की मार/रहता है उसमें भी यार।
किन्तु घृणामय उनका भाव/कर देता है दुस्सह घाव।

कहना न होगा कि यह 'दुस्सह घाव' ही उस दुर्भाग्यपूर्ण वस्तुस्थिति के कारकों में है, जिसे भारतीय मूल के विस्थापित उपन्यासकार वी.एस. नायपाल ने 'घायल सभ्यता' ('इण्डिया : अ वूण्डेड सिविलिजेशन') कहा है। उधर जो जीवन-पोषक आनन्दवादी वैदिक धारा हमारे शास्त्रों में ही नहीं, लोक-विश्वासों में भी प्रवहमान रही थी—वह भी संन्यास, निवृत्ति और मोक्ष की तरफ झुक गई। भक्ति ने जहाँ एक ओर हमें उसे दुष्काल में जबर्दस्त सहारा-आश्वासन दिया, वहीं हमें और हमारे दिमाग को पिलपिला भी बनाके धर दिया। ज्ञान, इच्छा और क्रिया का सम्बन्ध ही गड़बड़ा गया। अपने आप में यह भी हमारी सभ्यता के राजनीतिक पराभव और गुलामी का कारण रहा। तभी न गाँधी जी को कहना पड़ा कि "हिन्दुस्तान को अँग्रेजों ने नहीं जीता; उसे हमने खुद ही तश्तरी में रखके उन्हें भेंट कर दिया।" यह भी कि "अपनी गुलामी में सहायक होने के लिए कोई बँधा नहीं है। हम अपना घर साफ रखें तो उसमें रहने वाले ही उसमें रहेंगे। बाकी घुसपैठिये अपने-आप चले जाएँगे।..." इसी तरह, इतिहास-विधाता ने हमें महात्मा गाँधी के साथ ही एक दूसरा महापुरुष भी भेंट किया था उस नाजुक मोड़ पर। महात्मा गाँधी के पूरक व्यक्तित्व की तरह। उन श्री अरविन्द को भी यही कहना पड़ा कि "जिस तरह पश्चिम के इतिहास ने पश्चिम को भौतिकवादी नकार में ला पटका है, उसी तरह भारत के इतिहास ने भारत को उसके उल्टे अतिवाद में—अर्थात् जीवन के संन्यासमूलक नकार में ला पटका है। क्या श्रीअरविन्द का जीवन-कार्य पिछली सदी के भारत के लिए उतने ही दूरगामी महत्त्व की घटना नहीं है, जितनी कि महात्मा गाँधी का जीवन और कार्य?

उपनिवेशवाद के सर्वप्रथम प्रतिकार की पहल महात्मा गाँधी द्वारा ही की गई थी—जिसकी भरपूर सराहना नायपाल ने भी अपनी पहली विवादास्पद पुस्तक 'भारत : एक अँधेरे का क्षेत्र' में की है। बाद में तो नायपाल के विचार किस तरह स्वयं इस 'अँधेरे क्षेत्र' के बारे में भी बदले हैं—देखने लायक बात है। 'इण्डिया : अ मिलियन म्यूटिनीज नाउ' तक आते-आते उसे लगने लगा कि भारत ने आखिर अपने साम्राज्यवादी शोषक यूरोप से प्रगति और आधुनिकता का सबक तो सीख ही लिया है—उसका कायाकल्प हो रहा है—तकनीकी प्रगति को तेजी से अपनाने के फलस्वरूप। परन्तु

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

ठीक यहीं पर गाँधी जी को समझने में—यूरोपीय सभ्यता की विकृतियों के भी गाँधी जी द्वारा किए गए मूल्यांकन में वह चूक जाता है। जरूरत आज स्वयं गाँधी जी के सभ्यता-सम्बन्धी विचार और कर्म के पुनर्मूल्यांकन की है। 'हिन्द स्वराज' सरीखे भारतीय स्वाधीनता-संग्राम के बीज-ग्रन्थ के भी पुनर्पाठ की। हमें देखना यही है कि कहीं हमारी स्वातन्त्र्योत्तर प्रगति हमारे पारम्परिक सांस्कृतिक विवेक की कीमत चुकाकर तो नहीं हो रही है? लक्षण तो कुछ ऐसे ही दिखते हैं। मगर जब हम महात्मा गाँधी और श्री अरविन्द सरीखे द्रष्टाओं-कर्मयोगियों का किया-धरा याद करते हैं तो हमें लगता है, भारत इस आँधी में नष्ट होने के लिए नहीं बना है। इतना तो इकबाल को भी सूझा ही था कि "कुछ बात है कि हस्ती मिटती नहीं हमारी।" हालाँकि वह बात क्या है, इसका यथातथ्य अहसास उसके वहाँ नदारद ही रहा दिखता है। वह बात गाँधी और श्रीअरविन्द ने समझी और समझाई भी दुनिया को। जैसा कि इंग्लैण्ड की वरिष्ठतम कवयित्री और विदुषी कैथलीन रेन ने मुझे अपने एक पत्र में लिखा था-"भारत बचेगा तो दुनिया भी बचेगी। विश्व में भारत ही एक ऐसा देश है, जिसकी संस्कृति सही मायने में विश्वजनीन है। भारत की चराचरवादी, पावनतामूलक विश्व-दृष्टि ही विश्व-मानवता की आशा का आधार है। उसकी लौ को इस झंझावात में बुझने से बचाना हम सबका कर्तव्य है।" यह इकबाल की तरह का भावुक उद्गार न होकर एक सुचिन्तित बौद्धिक निष्कर्ष है। जैसा कि बी.एस. नायपाल ने अपनी एक विचारोत्तेजक पुस्तक 'बियाण्ड बिलीफ' में लिखा है—"पवित्रता के बोध का लोप ही आज की दुनिया का असली अभिशाप है—पर्यावरण की क्षति से भी कहीं अधिक गहरा और मारक अभिशाप।" प्रसंगवश, आगे इसी अध्याय में नायपाल इकबाल के उस भाषण को उद्धृत करता है, जो सन् 1930 में मुस्लिम लीग की उस बैठक में दिया गया था, जिसमें पाकिस्तान का, यानी भारत-विभाजन का पहला बीज बोया गया था। उस भाषण में इकबाल ने कहा था कि "कोई भी राष्ट्रीय किस्म की राजनीति किसी भी हालत में मुसलमानों के लिए स्वीकार्य तो क्या कल्पनीय भी नहीं है।" 1930 में 'राष्ट्रीय' किस्म की राजनीति'—अर्थात् इकबाल की 'नेशनल पोलिटी' का आशय अखिल भारतीय राजनीति ही हो सकता था। इसलिए इसका अर्थ नायपाल के अनुसार यही हुआ कि, मुसलमान सिर्फ मुसलमानों के साथ ही रह सकता है। यह भी, कि अच्छी दुनिया एक सौ फीसदी कबीलाई दुनिया ही हो सकती है; सर्वग्राही समावेशी लोकतान्त्रिक दुनिया नहीं।" क्या महात्मा गाँधी इससे अनभिज्ञ रहे होंगे? हिन्दू-मुस्लिम एकता के उनके महास्वप्न की जड़ें आखिर कहाँ थीं? उसी चराचरवादी हिन्दू संस्कार में ही ना, जिसने उन्हें खिलाफत आन्दोलन का साथ देने तक को प्रेरित किया? आलोचना तो हर ऐतिहासिक व्यक्तित्व की हो सकती है और होनी ही चाहिए; महात्मा गाँधी सरीखी विभूति भी इक्कीसवीं सदी के वायुमण्डल में अन्धश्रद्धा या महज रूढ़ि-पालन के आधार पर अपनी प्रासंगिकता बनाए नहीं रह सकती। गहरे बौद्धिक

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

विमर्श और मात्रा-ज्ञान के बूते ही वह अपनी राष्ट्रीय और अन्तरराष्ट्रीय साख को कायम रखती आई है और आगे भी रखती आएगी।

इसी अत्यावश्यक बौद्धिक विमर्श की माँग के अनुरोधवश हमें यहाँ धर्मपाल सरीखे सत्यशोधक विद्वानों का ही नहीं, नायपाल और अज्ञेय सरीखे लेखकों तथा श्री अरविन्द सरीखे गाँधी जी से भिन्न राजनीतिक-सांस्कृतिक दृष्टि वाले कर्मयोगियों के कृतित्व पर भी ध्यान देना सहज-स्वाभाविक लग रहा है। नायपाल मसलन, उसी किताब में एक जगह कहते हैं—

"हिन्दू धर्म अन्य विश्व धर्मों की तुलना में अधिक मजबूत आध्यात्मिक सत्य की बुनियाद पर खड़ा है, यह तो, चलो मान लिया। लेकिन इस बीसवीं सदी के हिन्दुस्तान में यह जो 'गाँधी' नामक घटना घटित हुई, वह क्या ऐतिहासिक नहीं है? क्या गाँधी का हिन्दुत्व अन्य अन्य लोगों के हिन्दुत्व से अलग अपनी पहचान नहीं बनाता? आखिर गाँधी को अपने सामाजिक विचार क्या जिसे हिन्दू परम्परा कहा जाता है, सिर्फ वहीं से मिले? या कि अन्य स्रोतों—जैसे कि ईसाइयत का भी उसमें कुछ योगदान मानना होगा?"

निश्चय ही यह प्रश्न उपेक्षणीय नहीं है। भारत के वर्तमान और भविष्य की—भारतीय राजनीति के भी वर्तमान और भविष्य को देखते हुए भी। तथाकथित हिन्दुत्व की राजनीति और वह खुद जिस काँग्रेसी और कम्युनिस्ट राजनीति की प्रतिक्रिया के परिणामस्वरूप उभरकर सामने आई है, उसके भी यथातथ्य आकलन के लिए। श्रीअरविन्द के पत्रों में और 'ईवनिंग टॉक्स' नामक अत्यन्त रोचक पुस्तक में भी कई जगह गाँधी का उल्लेख आया है—अधिकतर असहमति की मुद्रा में। मसलन, गाँधी जी के सुप्रसिद्ध उपवास को लेकर उनकी यह टिप्पणी, कि "एक व्यक्ति समूचे समुदाय के पापों का प्रायश्चित करे, यह ईसाई विचार है और हिन्दू परम्परा से मेल नहीं खाता...।" इसी तरह, सुनते हैं क्रिप्स प्रस्ताव स्वीकार कर लेने के आग्रह के साथ श्री अरविन्द ने एक विशेष सन्देशवाहक काँग्रेसी नेताओं को पठाया था—स्पष्ट ही गाँधी जी की राय के विरुद्ध। परन्तु न तो नायपाल में, न हमारे गाँधी निष्ठ विचारकों में मुझे कहीं यह जिक्र या इसका विमर्श देखने में आया। प्रसिद्ध क्रान्तिकारी हिन्दी कवि और 'आलोचक राष्ट्र' मन्त्रदाता अज्ञेय से एक बार मैंने उक्त उपवास वाली बात का जिक्र किया था। वे श्रीअरविन्द की बात का विरोध और गाँधी जी के पक्ष का समर्थन करते दीखे। जहाँ तक नायपाल का प्रश्न है, युवा उपनिवेश-विरोधी आन्दोलनकर्ता गाँधी के प्रति उसकी अनुरक्ति और उत्तरकालीन महात्मा से उसकी विरक्ति ध्यानाकर्षक है—उसकी यह मान्यता भी, कि सनातन हिन्दू धर्म-दर्शन में ही कुछ ऐसा अनैतिहासिक और जीवन-विरोधी गड़बड़झाला है, जो गाँधी सरीखे कर्मठ और जुझारू नेताओं की भी ऊर्जा और कर्म-प्रेरणा को सुखा डालता है, कुन्द कर देता है और आधुनिक जीवन की चुनौतियों का सामना करने में बाधक बनता है। तो क्या नायपाल सरीखे आलोचक

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

युवा गाँधी की तेजस्विता का समूचा श्रेय उनकी यूरोपीय सभ्यता से हुई टकराहट को ही देना चाहते हैं? ऐसा अगर हो भी, तो इससे भारतीय (कह लीजिए — हिन्दू) विश्व-दृष्टि या जीवन-दर्शन की दुर्बलता सिद्ध होती है या कि वांछनीय प्रभावों को पचा सकने की उसकी अन्तर्निहित सामर्थ्य और लचीलापन? नायपाल सरीखे आलोचक इस जगह खासे भ्रम में पड़े दीखते हैं। जैसा भ्रम कम-से-कम धर्मपाल सरीखे गाँधीनिष्ठ खोजियों या मिशनरी अभियानों के जबर्दस्त आलोचक रामस्वरूप जी में कहीं नहीं दिखाई देता। उदाहरण के लिए, धर्मान्तरण के विरुद्ध गाँधी जी का जो सुदृढ़तम पक्ष है, उसका सन्दर्भ मुझे रामस्वरूप जी से ही प्राप्त हुआ था। गाँधी जी का वह कथन यहाँ इसलिए विशेष रूप से उद्धरणीय है कि वह ईसाइयों के अनन्य बन्धु और 'सर्मन आन दि माउण्ट' के प्रशंसक का कथन है, न कि किसी तथाकथित हिन्दुत्ववादी व्यक्ति या संगठन का। वह उद्धरण यों है—

"Proselytization is the deadliest sin that ever sapped the foundations of truth."

अर्थात्, "दूसरों के धर्म-परिवर्तन का उन्माद वह सांघातिक विष है जो सत्य को उसकी जड़ों पर ही सुखा डालता है।"

युवा गाँधी की तुलना में उत्तर-गाँधी से नायपाल जैसे बुद्धिजीवियों की विरक्ति का आधार अतिव्याप्ति दोष से ग्रस्त जान पड़ता है और समकालीन तथा प्राचीन भारत के सम्बन्ध के भीतर ज्यादा गहरी और निस्संग पैठ की माँग करता है। यहाँ मैं बौद्ध धर्म के प्रकाण्ड विद्वान तथा प्राचीन वैदिक वाङ्मय तथा इतिहास-पुरातत्त्व के अधिकारी मर्मज्ञ श्री गोविन्दचन्द्र पाण्डे का मन्तव्य भी उद्धृत करना चाहूँगा—जो नायपाल की पूर्वोक्त भारती धर्म-विषयक धारणा के सन्दर्भ में और गाँधी जी के सन्दर्भ में भी सटीक-प्रासंगिक है। पाण्डे जी के कथनानुसार—

"भारतीय संस्कृति सनातन विद्या की ऐतिहासिक परम्परा है। मूलतः वैदिक युग में वह संस्कृति एक सहज अखण्डता से लक्षित थी। परवर्ती युग में सभ्यता के विकास के साथ साधनात्मक मूल संस्कृति सभ्यता के विश्व से पृथक्-सी एक धारा बन गई। ...मध्यकाल में सांस्कृतिक मूल से न्यूनाधिक रूप में विच्छिन्न होने के कारण सभ्यता का प्रासाद भी क्रमशः ढह गया। जहाँ नवी-दसवीं शताब्दियों तक भारतीय सभ्यता विश्व सभ्यता की प्रथम श्रेणी में थी, अठारहवीं शताब्दी के आरम्भ में वह निश्चित रूप से पिछड़ी हुई थी। उन्नीसवीं शताब्दी से अवश्य ही फिर से प्राचीन सभ्यता की स्मृति उभरी है। गीता का पुनः प्रचलन और उसकी कर्मयोगपरक व्याख्या आध्यात्मिक संस्कृति को सामाजिक-भौतिक जीव से जोड़ने का प्रयास है, जिसे गाँधी जी ने व्यावहारिक जीवन में मूर्तिमान किया है। स्वतन्त्रता के बाद के युग में सभ्यता के निर्माण में एकान्तिक रूप से लगी हुई भारतीय चेतना, कम-से-कम तात्कालिक रूप से मूल संस्कृति की प्राणदायकता के तत्त्व को भूल-सी रही है।"

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

स्पष्ट ही, ऐसी संस्कृति के केन्द्र में यदि अन्य संस्कृतियों से ज्यादा खुलापन होता है, तो उसे बचाए रखने के लिए भी आन्तरिक गतिशीलता और सामाजिक-राजनीतिक जागरूकता अनिवार्य है। तस्वीर का यह दूसरा पहलू रवीन्द्रनाथ ठाकुर के उपन्यास 'गोरा' में तथा उनके कई लेखों में उजागर हुआ है और उनसे भी कहीं अधिक प्रखरता के साथ गाँधी जी के 'हिन्द स्वराज' तथा 'काशी हिन्दू विश्वविद्यालय के उद्घाटन के अवसर पर दिए गए भाषण में उद्घाटित हुआ है। जैसा कि उदाहरण के लिए, रवीन्द्रनाथ ठाकुर ने अपने एक लेख 'शिवाजी एण्ड हिज टाइम्स' में लिखा है, "शिवाजी के प्रयत्न से समूचे देश में एक अस्थायी उत्साह फैल गया और हमने समझ लिया कि देश संगठित हो गया। किन्तु समूचे देश समाज रूपी शरीर में पड़ी हुई दरारें और छिद्र गुप्त रूप से काम करते रहते हैं। उनके कारण हम किसी भी उच्चादर्श को चिरकाल तक बनाए नही रख सकते। शिवाजी ने इन दरारों को वैसा-का-वैसा बनाए रखना चाहा।" क्या इस कटु यथार्थ को नकारा जा सकता है। रहे महात्मा गाँधी, तो वे भले इतिहास को उतना महत्त्व नहीं देते, परन्तु वे भी तो अपने समाज के श्रेष्ठ और प्रबुद्ध जनों को उनकी संवेदनहीनता के लिए सबसे पहले लताड़ते हैं और 'पहले अपना घर साफ रखने' ...और 'प्रजा की हाय अँगरेजों पर नहीं, हमीं पर पड़ेगी'...जैसी चेतावनियाँ देते हैं। क्या इस तरह गाँधी जी हमें भरपूर आत्मालोचन के लिए नहीं उकसाते? और क्या वह सब आज इक्कीसवीं सदी के भारत के लिए अप्रासंगिक हो चुका है? निश्चय ही नहीं। किन्तु यह आत्मालोचन भी स्वयं गाँधी जी की दृष्टि में उन्हीं के लिए सार्थक और फलप्रद हो सकता है, जिनकी खुद की जड़ें खुद अपनी संस्कृति और 'ईशावास्यमिदं सर्वं' वाली विश्वदृष्टि के भीतर गहरे में गड़ी हों (देखे जयप्रकाश नारायण को लिखा गाँधी जी का वह पत्र)। जाहिर है कि बिना इस आत्मविश्वास के दूसरी सभ्यताओं से इकहरे आदान में लिथड़े रहना आत्म-नवीकरण को नहीं, बल्कि परोपजीवी आत्महीनता को ही उपजाता है।

इसमें रंचमात्र भी सन्देह नहीं कि परोपजीवी प्रवृत्तियों और विचारधाराओं की निरन्तर घुसपैठ ने हमारे सांस्कृतिक और राजनीतिक जीवन को ही नहीं, सोच-विचार की भाषा को भी कुण्ठित और भ्रष्ट किया है। यह भी साफ समझ में आता है कि यह घुसपैठ भी अन्ततः उसी साम्राज्यवादी लिप्सा और सेक्युलराइजेशन की प्रक्रिया का ही ऊपर से निर्दोष और लोकहितकारी प्रतीत होने वाला अंग है जिसने एक ओर मनुष्य और प्रकृति के तथा दूसरी ओर मनुष्य और मनुष्य के भी बीच के सम्बन्ध को विकृत कर डाला है। यहीं पर जे.पी. को लिखे गए महात्मा गाँधी के उस पूर्वोक्त पत्र की याद आती है, जिसमें गाँधी जी ने 'ईशावास्येपनिषद्' के पहले ही मन्त्र को उद्धृत करते हुए कहा था कि "मेरे लिए तो इसमें पूरा समाजवाद निहित है।" लगता नहीं कि गाँधी जी की इस अनुभूति और विचार की गम्भीरता को, यानी उसके सांस्कृतिक निहितार्थों

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

को उस वक्त या बाद में भी कभी वस्तुतः समझा और स्वीकारा गया। सोचने की असली बात यह है कि यदि यह सब कुछ 'ईशावास्य' नहीं है और यदि यह सृष्टि दिव्यता और पावनता से बिल्कुल रहित है, तो फिर ऐसी सृष्टि और ऐसी सभ्यता अपने मालिक बन बैठे मनुष्य के लिए निर्बाध उपभोग और विजय की सामग्री के सिवाय और क्या बन सकती है? क्या यह मनुष्य की निम्नतम प्रवृत्तियों को—असीमित भोग-लालसा और जिजीविषा को खुला निमन्त्रण ही नहीं है—उस मनुष्य को—जिसे यह विचारधारा— वह चाहे पूँजीवादी हो, चाहे मार्क्सवादी—सृष्टि के केन्द्र में प्रतिष्ठित करती है—चराचर सृष्टि का उपभोक्ता और स्वामी बनाकर। ऐसी विश्वदृष्टि—'ईशावास्यमिदं सर्वं' वाली विश्वदृष्टि की सर्वथा विलोम विश्वदृष्टि—की परिणति अगर स्वयं मानवी चेतना के ही नियन्त्रण और घर्षण में हो जाए, तो इसमें अचरज कैसा?

बहरहाल, इक्कीसवीं सदी के इस शुरुआती मोड़ पर तो हमें अब यह साफ-साफ देख सकना ही चाहिए कि जिस उपभोक्ता संस्कृति का बेहतर विकल्प खोजने की बात हम करते हैं—समाजवादी विचारक किशन पटनायक ने जिसे 'विकल्पहीन नहीं है दुनिया' नामक अपनी अनूठी पुस्तक में परिभाषित किया है—उसके पीछे जो मूल विकृति है, वह यही है—यही पावनताजनित विवेक का क्षरण, यही पाश्चात्य सभ्यता का दिग्विजयी अहंकार, यही मूर्तिभंजक मनोवृत्ति की उग्रता—जिसे नायपाल ने 'इस्लाम इज नाउ ऑन दि डिफेन्सिव' कहके परिभाषित किया है, यही सेक्युलराइजेशन के आपातरम्य भेष में छुपा साम्राज्यवादी विश्वदृष्टि—जिसने इस पृथ्वी को एक मरुस्थल में परिणत कर डाला है। बिना निर्देवीकरण-अपावनीकरण की इस आधुनिक विश्वव्यापी प्रक्रिया का यथावत साक्षात्कार और सामना किए बिना उसे गाँधी जी के अभिलषित अपने भारतीय 'ईशावास्यमिदं सर्वं' वाले पावनताजनित विवेक के बुते भरपूर प्रतिरोध दिए हम किसी विधायक विकल्प की—इस इक्कीसवीं सदी में चरितार्थ हो सकने वाले विकल्प की—बात सोच भी नहीं सकते।

आज इस इक्कीसवीं सदी के मोड़ पर हम पाते हैं कि गाँधी जी द्वारा समर्थित अनासक्ति-योग को सर्वोच्च जीवन-मूल्य की तरह खोजने और बरतने वाले भारत के समकालीन नागरिक सबसे ज्यादा भयंकर आसक्तियों के शिकार जान पड़ते हैं। शायद उच्चतम आदर्श से निम्नतम यथार्थ तक पैण्डुलम पहुँचेगा, तभी सन्तुलन पैदा होगा—ऐसा प्रतीत होने लगा है। इसी तरह आत्मा और आत्मान्वेषण जिस जाति के लिए मनुष्य का प्रथम और अन्तिम सरोकार रहा था कभी, उसी के सदस्यों को हम आज भयानक आत्मरति में लिथड़े देखते हैं। अनासक्ति न हमारे विचारों में कहीं नजर आती है, न हमारे आचरण में। इसी तरह सत्य और अहिंसा की जगह हममें निर्लज्ज झूठ बोलने, अपने ही समानधर्मी साथियों का चरित्र-हनन करने की लाइलाज कुटेव पड़ चुकी

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

दिखती है और हम इस अनाचार को ढाँपने और तर्कसम्मत ठहराने के लिए 'अपना मोर्चा' और 'रणनीति' जैसी मूल्य-निरपेक्ष लफ्फाजी का सहारा लेने में भी नहीं सकुचाते। 'अस्तेय' नामक मूल्य की विडम्बना तो आज इस इक्कीसवीं सदी के हिन्दुस्तान में और भी बुरी तरह उजागर हो रही है। चोरी सिर्फ सार्वजनिक 'धन' की नहीं होती, उस 'श्रम' की भी होती है, जिसका वेतन आप भोग रहे हैं निर्लज्ज सुविधापूर्वक। और मर्यादा का जहाँ तक प्रश्न है, वह तो हर क्षेत्र में, हर जगह लाँघी जा रही है।

कालिदास की प्रसिद्ध सूक्ति है कि 'विकारः परमार्थतोऽ ज्ञात्वानारम्भ प्रतिकारस्य।' विकार को पूरी तरह जाने बिना उसके इलाज की शुरुआत ही नहीं हो सकती। आज हम जब इक्कीसवीं सदी में महात्मा गाँधी की और भारतीय संस्कृति की बात करते हैं, तो हमें सर्वप्रथम इसी तथ्य को ध्यान में रखना होगा—समसामयिक भारतीयता अथवा हिन्दुत्व के आचरणगत यथार्थ की उक्त चर्चा इसी अर्थ में अर्थवान और प्रासंगिक हो सकती है। 'हम अपना घर पहले खुद साफ रखना सीखें'—गाँधी जी की यह चेतावनी और उसी के सिलसिले में "हमें एक आलोचक राष्ट्र का निर्माण करना होगा"—कवि-चिन्तक अज्ञेय के इस आह्वान की सार्थकता भी यहीं इसी जगह समझ में आती है।

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

बच्चों का व्यवहार ठीक करने के लिए जरूरी है कि पहले बड़े अपना व्यवहार ठीक करें

सीताराम गुप्ता*

घर में सबसे छोटा सदस्य है मेरा सवा-डेढ़ साल का पौत्र। वह मौका लगते ही झाड़ू उठा लाता है और लगता है फर्श पर झाड़ू लगाने की कोशिश करने। कभी वाइपर उठा लाता है और उसे चलाने लगता है। कोई भी कपड़ा मिल जाए उसे उठाकर पानी की बाल्टी में या जहाँ कहीं भी पानी मिले, उसमें डुबोकर गीला कर लेता है और कभी फर्श पर पोंछा लगाने लगता है तो कभी मेज साफ करने लगता है। गाड़ी में अगली सीट पर बैठता है तो कभी रेडियो का वॉल्यूम बढ़ा देता है तो कभी एसी का। कभी वाइपर का लीवर घुमा देता है तो कभी गियर रॉड खींचने का प्रयास करता है। वह ऐसा क्यों करता है? वह ऐसा इसलिए करता है, क्योंकि वह हम सबको ऐसा करते हुए देखता है और उसे खुद करने की कोशिश करता है। यह अत्यन्त स्वाभाविक है। बच्चा खाली या शान्त नहीं बैठ सकता। उसे कुछ-न-कुछ खेल करना ही है। घर के सदस्यों के काम और दूसरे क्रियाकलापों की नकल करने से अच्छा खेल उसके लिए और कोई हो ही नहीं सकता।

प्रश्न उठता है कि क्या बच्चे के खेलने के लिए उसके पास खिलौने नहीं हैं, जो वह घर की दूसरी चीजों से खेलने की कोशिश करता है? हैं, पर्याप्त हैं, लेकिन वास्तविकता ये है कि यदि उसके चारों ओर बहुत सारी चीजें रखी हों तो वह उन सबसे भी खेलेगा। अपने आस-पास की सभी चीजें उसे आकर्षित करती हैं। घर के सदस्य जिन चीजों का प्रयोग करते हैं और जैसे करते हैं वो भी उन सभी चीजों का उन्हीं की तरह या अपने तरीके से प्रयोग करना चाहता है। यही उसका खेल है। बच्चा खिलौनों से भी प्रायः तभी खेलता है, जब दूसरे लोग उनसे खेलना शुरू करते हैं। वास्तविकता ये भी है कि लोग अपने बच्चों के लिए जो खिलौने खरीदते हैं, वे बच्चों

*ए डी-106-सी, पीतमपुरा, दिल्ली—110034, फोन नं 09555622323
ईमेल : srgupta54@yahoo.co.in

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

की पसन्द के नहीं अपनी पसन्द के खरीदते हैं। वे खिलौने लाते हैं और बच्चे को बतलाते हैं कि ऐसे खेलो। लोग प्रायः खाने-पीने की चीजें भी बच्चों की पसन्द के बजाय अपनी पसन्द की ही लाते हैं। हम बच्चों से अपनी बात मनवाने या अपनी पसन्द उस पर थोपने का प्रयास करते ही रहते हैं।

बच्चा जब बड़ों की पसन्द के खिलौनों से खेलेगा, उनकी पसन्द की चीजें खाएगा तो यह भी स्वाभाविक ही है कि उनकी पसन्द या जरूरत के दूसरे काम भी उनकी तरह ही करने की कोशिश करेगा, क्योंकि प्रत्यक्ष या परोक्ष रूप से यही तो हम उसे सिखा रहे होते हैं। और यदि ऐसा करने से उसे रोकेंगे तो मचलने लगेगा। रोएगा। रूठेगा। उसका यह व्यवहार बड़ों से प्रश्न करना ही है कि जब आप सब लोग यह सब कर रहे हैं तो मेरे करने में क्या बुराई है? उसका व्यवहार बिल्कुल ठीक है। यदि आप अपने सामने नहीं करने देंगे तो वह आँख बचाकर या पीछे से करेगा। तो नन्हें बच्चों को रोकने की बजाय वे जो करें करने दीजिए। बस उनकी सुरक्षा का ध्यान रखिए। उन्हें सर्दी-गर्मी, आग-पानी और गन्दगी से बचाने का प्रयास करते रहिए। जो चीजें उनके लिए खतरनाक या कोई दुर्घटना पैदा करने वाली हो सकती हों, उनकी पहुँच से दूर कर दीजिए। खतरनाक रसायन और दवाएँ उनकी पहुँच से बहुत ऊपर रखिए।

यदि बच्चा इधर-उधर से कोई गलत चीज उठाकर मुँह में डालता है तो उसे रोकना जरूरी है। इसके लिए उसका पेट भरा होना भी जरूरी है। उसे सही समय पर उचित आहार दीजिए, लेकिन खाने-पीने के मामले में भी बच्चे कम परेशान नहीं करते। अधिकांश बच्चे प्रायः दूध पीने या खाने से बचने की कोशिश करते हैं और जब घर के दूसरे या बड़े सदस्य भोजन करते हैं तो उनके भोजन में से उठाकर खाने का प्रयास करते हैं। ये तो बड़ी अच्छी बात है। इस बात का लाभ उठाना चाहिए। जब घर के बड़े सदस्य कुछ भी खाने के लिए बैठें तो ऐसा भोजन लेकर बैठें, जो बच्चों के लिए भी अनुकूल हो। खुद भी खाएँ और बच्चों को भी खिलाएँ। जिन घरों में तीसरी या चौथी पीढ़ी के बुजुर्ग जैसे दादा-दादी, नाना-नानी या परदादा-परदादी आदि होते हैं बच्चों के लिए हर तरह से बड़ा ठीक रहता है। बुजुर्ग प्रायः दलिया-खिचड़ी आदि लेते हैं तो बच्चा भी उनके साथ ये सब खाद्य-पदार्थ ले लेता है, जो उसके लिए ठीक रहते हैं।

इसके बाद सबसे महत्त्वपूर्ण प्रश्न है शिष्टाचार और नैतिकता के विकास का। अनुकरण अथवा नकल का हम सबके जीवन में बहुत महत्त्व है। नकल के बिना हम सीख ही नहीं सकते, लेकिन गलत चीज़ों की नकल करना घातक है। बच्चा भी अनुकरण से ही सीखता है। वह बड़ों का ही अनुकरण करता है। अपने अन्दाज में वह बड़ों की ही भाषा बोलता है और बड़ों की तरह ही बोलता है। हम शिष्टाचार का यथेष्ट पालन न करें और बच्चों को समझाएँ कि वो शिष्टाचार का पालन करे तो ये सम्भव नहीं। बच्चों को शिष्ट बनाना है तो माता-पिता को शिष्ट बनना होगा। हम घर

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

में एक-दूसरे से और मेहमानों या अन्य आगन्तुकों से जैसा व्यवहार करते हैं अथवा जैसी भाषा बोलते हैं, बच्चा भी उसी का अनुकरण करेगा। अभिवादन भी उन्हीं की तरह करेगा। लहजा उसका अपना होता है, लेकिन भाव बड़ों का ही आ जाता है। माता-पिता और घर के अन्य सदस्यों में जैसी आदतें होती हैं बच्चा बड़ी सूक्ष्मता से न केवल उनका निरीक्षण करता रहता है, अपितु उनकी नकल भी करता रहता है।

यदि बच्चों में सचमुच अच्छी आदतें डालनी हैं और उन्हें सुसंस्कृत बनाना है तो माता-पिता को भी स्वयं में अच्छी आदतें डालनी होंगी और सुसंस्कृत बनना होगा। बच्चा जब हमारे व्यवहार अथवा व्यक्तित्व में कमी अथवा दोगलापन पाता है तो वह विचलित हो जाता है। हमारी कथनी और करनी का अन्तर या किसी के सामने व उसकी पीठ पीछे उसके प्रति व्यवहार या आचरण में अन्तर बच्चे पर सबसे ज्यादा बुरा प्रभाव डालता है। वह समझ ही नहीं पाता कि कथनी ठीक थी या करनी ठीक है। उसे पता नहीं चल पाता कि किसी के सामने उसके बारे में कही गई बात ठीक थी या उसके जाने के बाद पहली बात के विपरीत कही गई बात उचित है। उसकी प्रशंसा या चापलूसी ठीक थी या उसकी आलोचना ठीक है। बच्चे के सम्पूर्ण आचरण और उसके नैतिक चरित्र के विकास में इन बातों का बड़ा प्रभाव पड़ता है। हम बात-बात पर गुस्सा करते हैं या झूठ बोलते हैं तो बच्चा भी ऐसा ही करेगा। हमारे व्यवहार अथवा आचरण में दोगलापन है तो बच्चे के व्यवहार और आचरण में भी वह जल्दी ही आ जाएगा।

प्रायः ऐसा होता है कि माता-पिता या घर के अन्य सदस्यों में कुछ कमियाँ होती हैं। यह स्वाभाविक है, लेकिन कोई माता-पिता या घर का अन्य सदस्य यह नहीं चाहता कि उनके बच्चों में भी ये कमियाँ आएँ। वह बच्चों को उन कमियों से बचाने के लिए पूरा जोर लगा देते हैं। यहाँ स्वयं को ठीक करने की बजाय बच्चों को ठीक करने पर जोर होता है। इसके लिए समझाने से लेकर डाँटने-डपटने और मारने-पीटने तक सभी तरीके आजमाए जाते हैं, लेकिन बच्चों पर इसका सकारात्मक नहीं नकारात्मक प्रभाव ही पड़ता है। बच्चों को जिन बातों के लिए जोर देकर रोकने का प्रयास किया जाता है, बच्चे उन्हीं के बारे में सोचते रहते हैं और जो हमारी सोच होती है, वही अन्ततोगत्वा हमारे जीवन की वास्तविकता में परिवर्तित हो जाती है। बच्चे भी इस प्रभाव से अछूते नहीं रहते।

आपने सुना ही होगा कि जैसा बाप वैसा बेटा। जेही कोको तेहे बच्चे। जैसा राजा वैसी प्रजा। जहाँ राजा अथवा जनप्रतिनिधि अपने कर्तव्य का ठीक से पालन नहीं करता वहाँ प्रजा का भी अपने कर्तव्य-पालन में शिथिल हो जाना अस्वाभाविक नहीं। प्रवचन अथवा नैतिक शिक्षा की किताबें छलावे अथवा व्यापार के अतिरिक्त कुछ नहीं। गुण हों या अवगुण ऊपर से नीचे की ओर संक्रमित होते हैं। बच्चे ही नहीं हम सब भी अपने परिवेश से ही ज्यादा सीखते हैं, अतः परिवेश को सुधारना अनिवार्य है।

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

यदि हम वास्तव में चाहते हैं कि हमारे बच्चों में अच्छी आदतों और सही नैतिक मूल्यों का विकास हो तो उन सभी आदतों और नैतिक मूल्यों को स्वयं माता-पिता को भी अपने अन्दर विकसित करना होगा। दूसरा कोई उपाय या विकल्प हो ही नहीं सकता।

ऐसे प्रेरक प्रसंग जो सत्ता के शिखर पर बैठे लोगों के लिए हैं, आम आदमी के लिए उनके पठन का क्या औचित्य है?

एक प्रेरक प्रसंग पढ़ रहा था। एक बार अमेरिका के उपराष्ट्रपति थॉमस जैफरसन एक होटल में गए और उन्होंने वहाँ ठहरने के लिए उस होटल में एक कमरा माँगा। उस समय न तो उनके पास कोई विशेष सामान ही था और न कोई सहायक वगैरा ही उनके साथ था। उन्होंने कपड़े भी अत्यन्त साधारण से ही पहन रखे थे। होटल मालिक ने उनकी स्थिति देखकर कहा कि उनके होटल में कोई कमरा खाली नहीं है। उपराष्ट्रपति महोदय कोई दूसरा होटल देखने के लिए वहाँ से फौरन चल पड़े। जब उपराष्ट्रपति महोदय बाहर निकल रहे थे, तभी एक आदमी तेजी से अन्दर आया और पूछा, "थॉमस जैफरसन साहब यहाँ होटल में क्यों आए थे?" यह जानकर कि जिस व्यक्ति को अभी-अभी उन्होंने कमरा देने से मना कर दिया था, हमारे देश के उपराष्ट्रपति थॉमस जैफरसन हैं, होटल मालिक फौरन दौड़कर उनके पीछे गया और उनसे क्षमा माँगते हुए कहा, "क्षमा करें मुझसे बड़ी भूल हुई है। मैं आपको पहचान नहीं पाया कि आप उपराष्ट्रपति थॉमस जैफरसन हैं। इसी से ये भयंकर भूल मुझसे हो गई। कृपया आप हमारे होटल में चलें। होटल का सबसे बेहतरीन कमरा आपके लिए तैयार है।"

उपराष्ट्रपति थॉमस जैफरसन ने बस इतना ही कहा कि जिस होटल में एक सामान्य नागरिक के लिए जगह न हो, वहाँ उपराष्ट्रपति को भी नहीं ठहरना चाहिए। बड़े लोगों की महानता, उदारता, संवेदनशीलता, राष्ट्रप्रेम और सामान्य जन के प्रति प्रेम के न जाने कितने किस्से अथवा प्रेरक प्रसंग न केवल हमने पढ़े या सुने होंगे अपितु रोज ही ऐसे अनेकानेक प्रेरक प्रसंग पढ़ते और सुनते रहते हैं। आम आदमी इस प्रकार के प्रेरक प्रसंग पढ़ता ही रहता है, लेकिन वह इससे क्या प्रेरणा ले सकता है? वास्तव में जिन लोगों को इन प्रेरक प्रसंगों से प्रेरणा लेनी चाहिए, क्या वे भी इन्हें पढ़ते हैं? यदि पढ़ते हैं तो क्या उनके जीवन में भी कोई सकारात्मक परिवर्तन दिखलाई पड़ता है? क्या वे भी इनसे प्रेरणा पाकर स्वयं अपने में महानता, उदारता, संवेदनशीलता, राष्ट्रप्रेम और सामान्य जन के प्रति प्रेम आदि गुण उत्पन्न कर समाज अथवा राष्ट्र के प्रति अपने उत्तरदायित्व का सही निर्वाह कर रहे हैं? जब हम अपने चारों ओर नजर दौड़ाते हैं तो प्रायः इसके विपरीत स्थितियाँ ही देखने को मिलती हैं।

वास्तविकता यह है कि पहले जहाँ आम नागरिक की उपेक्षा होती थी, हमारे जननायक वहाँ जाने से परहेज करते थे, लेकिन आज जहाँ हमारे जननायक रहते हैं

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

अथवा जहाँ से गुजरते हैं वहाँ आम आदमी का प्रवेश ही निषेध है। अब होटल की बात ही लीजिए। प्रधानमन्त्री या राष्ट्रपति अथवा वीवीआईपीज या वीआईपीज की छोड़िए, क्योंकि इस देश में आज थॉमस जैफरसन जैसी कोई विवशता उनके साथ नहीं होती, लेकिन यदि यहाँ किसी पार्टी के एक सामान्य से कार्यकर्ता को यदि कोई कमरा उपलब्ध न होने पर भी कमरा देने में असमर्थता प्रकट करे तो वह गुण्डई पर उतर आता है। होटल बन्द करवाने की धमकी देकर मुफ्त में ठहरने का जुगाड़ करने की फिराक में रहता है। हर राजनीतिक पार्टी का यही हाल है। जब हमारे वीआईपीज अथवा वीवीआईपीज एक स्थान से दूसरे स्थान पर जाते हैं तो जनसाधारण को कितनी परेशानियों का सामना करना पड़ता है, यह बात भी किसी से छिपी नहीं है। घण्टों पहले रास्ते रोक दिए जाते हैं और रूट डाइवर्ट कर दिए जाते हैं, जिससे लोग न केवल जाम में फँसने को विवश होते हैं, अपितु निरर्थक इधर-उधर भटकते रहने को भी विवश होते हैं।

आम आदमी ही नहीं, बच्चे, बीमार और गर्भवती महिलाएँ, जिनका प्रसव निकट होता है और जिन्हें हॉस्पिटल जाने की आपातस्थिति होती है, तक इस चक्रव्यूह में फँसकर रह जाते हैं। कई बार जिसका खामियाजा उन्हें अपनी जान देकर चुकानी पड़ती है। यदि किसी वीआईपी अथवा वीवीआईपी मूवमेण्ट की वजह से रोज कुआँ खोदकर पानी पीने वाले किसी व्यक्ति को उनके कारण उस दिन काम नहीं मिल पाता, जिसके परिणामस्वरूप उसका परिवार फाका करने को मजबूर हो सकता है तो इसका उत्तरदायी कौन होगा? कोई उत्तरदायी नहीं होता। हमारे तथाकथित धार्मिक जुलूसों और शोभायात्राओं की भी कमोबेश यही भूमिका होती है। कारवाँ गुजर जाता है और लोग गुबार देखते रह जाते हैं। हमारे वीआईपी लोग अथवा वीवीआईपी लोग एवं धार्मिक जुलूस और शोभायात्राएँ जहाँ से गुजरती हैं, प्रायः अपने पीछे लोगों की परेशानियाँ और आँसू छोड़ जाती हैं और इसके बावजूद वे चाहते हैं कि महान लोगों की फेहरिस्त में उनका नाम आए।

लाखों-करोड़ों की मदद करना जिनकी संवैधानिक और नैतिक जिम्मेदारी है वे अपने पूरे जीवनकाल में एक-आध की मदद कर ऐसा माहौल बनाते या बनवाते हैं जैसे उनके जैसा महान, उदार, संवेदनशील, राष्ट्रसेवक, समाजसेवक और जनसेवक कोई नहीं। मीडिया का एक वर्ग भी उनकी इस छद्म प्रतिष्ठा में चार चाँद लगाने से बाज नहीं आता। अब आम आदमी जैफरसन, लिंकन, महात्मा गाँधी, लालबहादुर शास्त्री, राममनोहर लोहिया अथवा दीनदयाल उपाध्याय के जीवन के प्रेरक प्रसंगों को पढ़कर करे भी तो बेचारा क्या करे? ये तो उन लोगों के लिए हैं, जो सत्ता के छोटे-से लेकर बड़े पदों पर आसीन हैं। अब उन्हें तो पढ़ने की फुर्सत नहीं। आम आदमी पढ़े और अपना सर धुने कि कहाँ तो वे महान जननायक थे और कहाँ हमारे आज के अधिकांश जनविरोधी सत्तालोलुप केवल अपना घर भरने की फिराक में रहने वाले नायक। यही उसकी नियति है लेकिन इसमें परिवर्तन अपेक्षित है।

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

कुशलता और कौशल की अवधारणा

आनन्द प्रकाश*

अनीश मिश्र**

तात्कालिक रूप से चल रहे सामाजिक और राजनीतिक विमर्श में 'कुशलता' की चर्चा ने महत्त्वपूर्ण स्थान प्राप्त किया है। इसको एक लक्ष्य की तरह और अक्सर एक उपाय (निमित्त) की तरह प्रस्तुत किया जा रहा है। कुशलता और कौशल की अवधारणा को कैसे समझा जाए, इस पर एक राष्ट्रीय स्तर पर विमर्श की आवश्यकता है। कुशलता प्रयोजन है या स्थिति? इस सन्दर्भ को देखने का प्रयास किया गया है।

इस लोक में प्रत्येक प्राणी मन, वाणी और शरीर—इन तीन रूपों से कार्य का सम्पादन करता है। मनुष्य तथा मनुष्येतर समस्त जीव इन्हीं के माध्यम से कर्म करते हुए लोक-व्यवहार तथा विकास के क्रम को आगे बढ़ाते हैं। समाज का अधिकतर व्यवहार और व्यापार किसी-न-किसी प्रयोजन से गतिमान है, क्योंकि प्रयोजन के अभाव में किसी भी व्यक्ति की कार्य में प्रवृत्ति नहीं देखी जाती है—**'प्रयोजनमनुद्दिश्य मन्दोऽपि न प्रवर्तते'**। अपनी विवेकशीलता के कारण ही मनुष्य अन्य प्राणियों से पृथक् है, क्योंकि इसके भीतर कर्म को करने तथा उसके फल-प्राप्ति हेतु एक संकल्प शक्ति विद्यमान होती है, इसके कारण मनुष्य में समस्त श्रेष्ठकर्म उत्पन्न होते हैं—**संकल्पमूलः कामो वै यज्ञाः संकल्पसम्भवाः। व्रतानि यमधर्माश्च सर्वे संकल्पजाः स्मृताः ॥** वस्तुतः मनुष्य में संकल्प करने तथा कार्य करने की अनन्त शक्तियाँ वैसे ही विद्यमान होती हैं, जैसे विद्युत में। जिस प्रकार विद्युत कहीं प्रकाश के रूप में, कहीं गति के रूप में, कहीं शीत के रूप में, कहीं उष्ण के रूप में, कहीं शक्ति इत्यादि अनन्त रूपों में परिवर्तित होकर अपनी उपादेयता को सिद्ध करती है, वैसे ही मनुष्य ने सभ्यता के आरम्भिक काल से लेकर आज 21वीं सदी में भी विविध क्षेत्रों में विकास कर अपनी उपयोगिता तथा श्रेष्ठता को स्थापित किया है। विकास की इस परम्परा में

* प्रो. आनन्द प्रकाश, मनोविज्ञान विभाग, दिल्ली विश्वविद्यालय, दिल्ली

** डॉ. अनीश मिश्र, मिराण्डा हाउस कॉलेज।

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

मनुष्य की इच्छाशक्ति तथा उसके योग्यता की प्रमुख भूमिका रही है—**अकामस्य क्रिया काचिद्दृश्यते नेह कर्हिचित्। यद्यद्धिं कुरुते किंचित्तत्तत्कामस्य चेष्टितम्॥** उसने बदलते हुए राष्ट्र, समाज एवं पर्यावरण के अनुसार भी कर्मों को करने में निपुणता प्राप्त की है। मनुष्य की कार्य को निश्चित रूप से सम्पादन करने की इस निपुणता को ही 'कुशलता' कहा जाता है। कुशल शब्द वर्तमान में दक्ष, प्रवीण इत्यादि अन्य अर्थों में भी रूढ़ हो गया है, किन्तु कुशल शब्द कर्मशब्द के साहचर्य से बृहद अर्थ को अपने अन्दर समाहित किए हुए है। प्राचीन काल में कुशल शब्द का प्रयोग वस्तुतः 'कुश' नामक घास को निकालने में चतुर ब्रह्मचारी के लिए प्रयुक्त होता था। चूँकि उसको पृथ्वी से निकालने में किसी प्रकार की असावधानी से हाथ कटने की पूरी सम्भावना होती थी, जिसके फलस्वरूप उसे लाने में प्रत्येक मनुष्य समर्थ नहीं होता था। अतएव कुश को जो लाता था, उसे कुशल कहा जाता था। किन्तु धीरे-धीरे कुशल शब्द कर्म करने की योग्यता अथवा निपुणता के अर्थ में प्रयुक्त होने लगा। अतएव कुशलता के सन्दर्भ में यह कहा जा सकता है कि—किसी निश्चित कार्य को सम्पादित करने में सहज ढंग से किया गया प्रयास एक ज्ञात एवं अभ्यास पूरित शैली से किया जाए, जो पूर्व निर्धारित उत्पाद को प्राप्त करने में सहायक हो, वहाँ पर कुशलता को समझा जा सकता है।

कुशल शब्द की महत्ता और उसकी श्रेष्ठता का बोध श्रीमद्भागवद्गीता के इस कथन से स्पष्ट होता है, जिसमें कुशल शब्द एक महावाक्य के रूप में प्रस्तुत हुआ है—**'योगः कर्मसु कौशलम्'**। गीता में प्रयुक्त हुआ यह महावाक्य तत्कालीन समाज से लेकर आज तक मनस्वियों को कर्म में प्रवृत्ति और अकर्म में निवृत्ति का उपदेश देता आ रहा है। इसके अनुसार किसी कर्म को करने में शारीरिक, मानसिक और बौद्धिक दक्षता या निपुणता ही योग है। अर्थात् कुशलता सम्भवतः मन एवं शरीर का एक ऐसा समेकित सम्पादित प्रक्रम है, जिसमें वांछित परिणाम प्राप्त करने हेतु हम अपने समस्त अवयवों के साथ एक सम्पूर्णता में व्यवहार करने की विशिष्टता प्राप्त करते हैं, तब कुशलता के निकट होते हैं। इस प्रकार कुशलता का योग के साथ प्रत्यक्ष सम्बन्ध है। वर्तमान सन्दर्भ में योग स्वास्थ्य विज्ञान के प्रतिनिधि के रूप में जाना जाता है, किन्तु यह इसका व्यावहारिक पक्ष है। योग को परिभाषित करते हुए श्रीकृष्ण गीता में कहते हैं कि—भोग के समस्त विषयों में आसक्ति का परित्याग करके तथा सिद्धि और असिद्धि दोनों में समान बुद्धि को धारण करते हुए कर्तव्य कर्मों को करना चाहिए, इस प्रकार कर्मों में समत्व बुद्धि का नाम ही योग है। यहाँ समत्व बुद्धि का एक अर्थ यह भी है कि—हमारे समस्त अवयवों के पास अपनी बुद्धि होती है। उसकी समान रूप से सक्रियता ही समत्व का भाव देती है, जैसे अगर हाथ उठाने की जरूरत है; तो हाथ उतना ही उठे, जितना उस कार्य को पूरा करने के लिए जरूरी है। उससे कम और ज्यादा समत्व के भाव को अधूरापन देगा। **'सिद्धयसिद्धयोः समो भूत्वा समत्वं योगमुचयते'**।

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

मनुष्य पंचमहाभूत तत्त्वों (पृथ्वी, जल, अग्नि, वायु और आकाश) से युक्त शरीर को धारण करता है। जिसके फलस्वरूप प्रकृति में होने वाली घटनाओं तथा परिवर्तनों से वह प्रभावित होता है तथा उसके व्यवहार में अनेक प्रकार के परिवर्तन देखे जाते हैं, जो कि स्वाभाविक हैं। मनुष्य पाँच कर्मेन्द्रियों (वाणी, हाथ, पैर, गुदा और जननेन्द्रिय), पाँच ज्ञानेन्द्रियों (आँख, नाक, कान, जिह्वा और त्वचा), मन और बुद्धि से युक्त होता है। इनमें कर्मेन्द्रियाँ ज्ञानेन्द्रियों के अधीन होकर कार्य करती हैं तथा ज्ञानेन्द्रियाँ मन के साथ संयुक्त होकर प्रवृत्त होती हैं। अतएव विषय-भोग में तत्पर स्वभाव वाली इन्द्रियाँ मन के द्वारा बलपूर्वक संचालित की जाती हैं, जैसे समुद्र में पड़ी हुई नौका वायु के द्वारा अपने गति की दिशा में संचालित की जाती है। कौशल युक्त आचरण में अनेक प्रकार की बाधाएँ एवं कठिनाइयाँ आ जाती हैं। इसमें प्रमुख स्थान (कारण) उसके ध्यान की अस्थिरता है। जैसे सूई में धागा डालने के लिए हाथ, आँख और मन का एकाग्र होना आवश्यक है। अगर ध्यान विचलित हो अथवा हाथ मस्तिष्क के आदेशानुसार आचरण न करे, तो धागा डालना सम्भव नहीं होगा। अगर उसकी दृष्टि केन्द्रिकता (ध्यान की एकाग्रता) की क्षमता कम हो तो वह भी कुशलता में बाधक हो सकती है।

मन का स्वभाव भी घड़ी के पेण्डुलम की तरह चंचल तथा संकल्प-विकल्प वाला होता है। यह चंचलता संकल्प-विकल्प के बीच उलझते मन-मस्तिष्क को कुशलता प्राप्त करने में बाधक होती है। अतएव मन की ऊर्जा का भी समान वितरण आवश्यक है। अगर संवेग की ऊर्जा एक नियन्त्रित ढंग से समस्त अवयवों में संचालित नहीं होती है और एक प्रकार का आत्म-अनुशासन भी नहीं है, तब दिया गया प्रशिक्षण बहुत अधिक समय ले लेता है। अभ्यास यदि सकारात्मक परिणाम न दे, तब उत्साह बनाए रखना कठिन होता है।

प्राणी अनेक प्रकार के द्वन्द्वों (सुख-दुःख, हानि-लाभ, लोभ-मोह, जय-पराजय, यश-अपयश, जन्म-मरण, धर्म-अधर्म, शीत-उष्ण) में पड़ता है। मनुष्य की यह द्वन्द्वात्मक प्रवृत्ति कर्तव्यकर्म से विमुख करती हुई आत्मकेन्द्रित हो जाती है, जिसके फलस्वरूप न तो प्राणी आत्मोद्धारक बन पाता है और न ही परोद्धारक। मनुष्य आत्मकेन्द्रित होकर विषयों का चिन्तन करता है। इससे उन विषयों के प्रति आसक्त होता है और उसकी प्राप्ति के लिए प्रयत्न करता है और प्राप्ति में बाधा पड़ने पर क्रोधित होता है तथा क्रोध के कारण मूढ़ता आती है। उसी मूढ़ता से मतिभ्रम (स्मृति का नाश) होता है।

क्रोधाद्भवति सम्मोहः .... बुद्धिनाशात्प्रणश्यति॥

आज वस्तु जगत ने अनेक प्रकार के आकर्षण और उसको पाने की सम्भावनाएँ उत्पन्न की हैं। उसकी प्राप्ति में असफल होने के कारण अवसाद और तनाव की अधिकता बढ़ गई है। इसी कारण अनेक प्रकार की कुण्ठा एवं निराशाएँ समाज में नए

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

रूप में प्रकट हो रही हैं, जो मानव बुद्धि के विकास को भी बाधित कर रही हैं। इनका मूल कारण एक मात्र प्रासंगिक कर्म न करने की क्षमता का प्रभाव भी देखा जा सकता है। अतएव इन क्षमताओं को समझना और उनके सम्यक विकास के लिए प्रयास, अभ्यास और संवर्धन स्वस्थ और प्रतिशील समाज की आधारशिला है। अपनी इस क्षमता और योग्यता को पहचानना तथा उसको प्रासंगिक ढंग से सहेजकर पूर्ण विकसित करना जरूरी है। हर क्षमता उतनी ही सम्माननीय है, जितना समाज उसको महत्त्व देता है। लेकिन सामाजिक व्यवस्थाएँ एवं उससे जुड़ी सामाजिक संस्थाओं ने क्षमताओं का पदानुक्रम निर्मित कर दिया है। इससे कुछ को ज्यादा और कुछ को कम महत्त्वपूर्ण बना दिया है।

प्रति क्षमताओं का सही आकलन और समत्व बुद्धि से उसका निष्पादन तभी सम्भव होगा, जब समाज की संस्थाएँ जैसे—परिवार, स्कूल, न्याय संस्थाएँ और समाज को चलाने वाले अन्य संस्थान समतामूलक उपागम को केन्द्रित महत्त्व दें। अगर योग्यताओं को कोटिक्रम में रखें तो लाघव का रागात्मक भाव स्थापित होगा। गौरव भाव का और अपने कौशल के प्रति अनुराग सम्भवतः वह पहली शर्त है, जिसे पूरा किए बिना लौकिक सफलता की आशा नहीं की जा सकती। अगर एक बार सफलता प्राप्त भी हो गई, तो भी वो अकस्मात् ही होगी। उसको नियन्त्रित एवं ऐच्छिक निष्पादन में लगातार बदलना सम्भव नहीं होगा। समाज को ऐसे विधान एवं व्यवस्थाओं को प्रोत्साहित एवं महिमामण्डित करना होगा। जहाँ किसी व्यक्ति में यह विश्वास जगे कि वह अपने जीवन में सफलता चाहता है, तो कुशलता के विकास पर ध्यान देने को बाध्य हो जाए।

कहा भी गया है कि कर्म में कुशलता ही योग है और यह योग समत्वबुद्धि का परिणाम है। समत्वबुद्धि से तात्पर्य मनुष्य अपने स्वधर्म को बिना किसी लघुता तथा दीर्घता की बुद्धि से कर्तव्य कर्म को करे। कर्तव्य कर्म से तात्पर्य 'आत्मनो मोक्षाय, जगत हिताय च' में है अर्थात् आत्ममुक्ति तथा जगत का कल्याण है। प्रकारान्तर से इसका एक अर्थ और भी हो सकता है कि अगर हम 'मोक्ष' मुक्ति चाहते हैं, तो ऐसा अपने जगत का भला करने से होगा। इस जगत से तात्पर्य सिर्फ अपना कुटुम्ब, परिवार, जाति या बिरादरी नहीं है, बल्कि उसके जगत में विद्यमान सभी जीव सम्मिलित होंगे। इस प्रकार के कर्म ही कर्तव्य कर्म है। कर्तव्य कर्म को करने में प्रत्यक्ष रूप से जिसके समक्ष कृष्ण थे ऐसे अर्जुन को भी किंकर्तव्यविमूढ़ता (क्या करें, क्या न करें) प्राप्त हो गई थी। जिसके फलस्वरूप कृष्ण ने कर्मों में कुशलता के स्वरूप का उपदेश देते हुए समत्वबुद्धि योग का कथन किया। उनके अनुसार अपने लोक-व्यवहार के अनुसार कार्य में छोटे-बड़े का भेद किए बिना निष्ठापूर्वक प्रवृत्त होना चाहिए, क्योंकि मनुष्य में ऐसा देखा जाता है कि कर्म की कोटि के अनुसार उसको करने में लाघव और गौरव का अनुभव करता है, तभी उसकी बुद्धि न्यूनता और उदात्तता से

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

युक्त हो जाती है और वह सुख-दुःख रूपी विषमता को प्राप्त हो जाता है। **श्रेयान्स्वधर्मो विगुणः परधर्मात्स्वनुष्ठितात्। स्वभावनियतं कर्म कुर्वन्नापनोति किल्विषम् ॥** आज जीवन में सहज और स्वाभाविक कर्मों को दोषयुक्त मानकर परित्याग करने की भावना तथा उससे पृथक् कर्मों को आत्मसात् करने की भावना देखी जाती है। इसका प्रत्यक्ष उदाहरण स्वच्छता अभियान से देखा जा सकता है। किन्तु गीता के अनुसार 'जिस प्रकार धुएँ से अग्नि दूषित होती है उसी प्रकार समस्त कर्म किसी-न-किसी दोष से युक्त होते हैं। अतएव उनका परित्याग नहीं किया जा सकता है। लोक-मंगल तथा राष्ट्र-संवर्धन के निमित्त किया गया प्रत्येक कर्म कर्तव्य की कोटि में आता है—सहजं **कर्म कौन्तेय सदोषमपि न त्यजेत। सर्वरम्भा हि दोषेण धूमेनाग्निरिवावृताः ॥** समत्वबुद्धि पुरुष अपने स्वाभाविक कर्म में लगकर अपने अभीष्ट लक्ष्य को प्राप्त कर लेता है। **'स्वे स्वे कर्मण्यभिरतः संसिद्धिं लभते नरः'**। अपने स्वभाव के अनुसार प्राप्त हुआ कर्म स्वतः खुले हुए स्वर्ग के द्वार से कम नहीं होता है, इसलिए इसे देखकर कभी भी भयभीत नहीं होना चाहिए। यहाँ पर स्वभाव का सम्भवतः एक अर्थ यह भी है कि—वह भाव जो अपने नैसर्गिक रूप से अवस्थित हो। सम्भवतः हर चीज में कुछ नैसर्गिक अर्थात् प्राकृतिक रूप से प्रदत्त गुण होते हैं, किन्तु सभ्यताओं में जीवन जीने की मजबूरियाँ कुछ को महत्त्वपूर्ण और कुछ को हीन बनाती हैं। कुशलतापूर्ण कार्य का सम्पादन ही भय से मुक्ति देता है। शायद इसी स्वधर्म के पालन की शिक्षा हमारे शास्त्रों में दी गई है। कार्य में निपुणता अथवा कुशलता में व्यक्ति का अज्ञान सबसे बड़ा बाधक है, जो असफलता का भय उत्पन्न करता है। इससे युक्त होकर मनुष्य कर्म करने में प्रवृत्त नहीं होता है और कर्म न करने से भी मनुष्य भय से मुक्त नहीं होता है अपितु वह अनेक प्रकार की आलोचनाओं और अपकीर्ति का भागी भी बनता है। अतएव द्वन्द्वों से रहित होकर स्वधर्म का पालन करना ही श्रेष्ठ है—**'स्वधर्ममपि चावेक्ष्य न विकम्पितुमर्हसि। अथचेत्वमिमं धर्म्यं संग्रामं न करिष्यसि। ततः स्वधर्मं कीर्तिं च हित्वा पापमवाप्स्यति॥ (गीता. 2/32)** नीतिशास्त्र में भी उत्तम कोटि के मनुष्य के लिए यह कहा गया है कि वह किसी भी अवस्था में आरम्भ किए गए कार्य का परित्याग नहीं करता है। **'विघ्नैः पुनः पुनरपि प्रतिहन्यमानाः प्रारभ्य चोत्तमजना न परित्यजन्ति ॥ (नीति. 27)** समत्वबुद्धि अर्थात् कुशलता का स्वरूप उन्हीं लोगों में प्राप्त होता है, जिनका अपनी इन्द्रियों और मन पर नियन्त्रण होता है। इसी नियन्त्रण के कारण बहुविध विकल्पों का अभाव होकर संकल्प का ज्ञान प्राप्त होता है और एक निश्चात्मक कर्म का बुद्धि के साथ साक्षात्कार होता है। निश्चयात्मक बुद्धि के अभाव में अपने उद्देश्य और विधेय का ज्ञान नहीं होता और अशान्ति प्राप्त होती है, जिसके कारण सुख का अभाव होता है—**नास्ति बुद्धिरयुक्तस्य न चायुक्तस्य भावना। न चाभावयतः शान्तिरशान्तस्य कुतः सुखम्।** वस्तुतः सुख अनुकूल वेदनीय भावना है और दुःख प्रतिकूल वेदनीय भावना है। सुख हेतु निश्चयात्मक बुद्धि

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

का होना अनिवार्य है। बुद्धि के अभाव में निश्चयात्मक शक्ति का विकास नहीं हो सकता है **'अध्यवसायी बुद्धिर्धर्मो ज्ञानं विराग ऐश्वर्यम्।** समत्व बुद्धियुक्त मनुष्य पाप और पुण्य दोनों का परित्याग कर देता है। समत्व बुद्धि से तात्पर्य ना तो अधिक खाने वाले से है, न उपवास करने वाले से, न अधिक शयन करने वाले और ना ही निरन्तर जागरण करने वाले से ही। अपितु इसका तात्पर्य यथायोग्य आहार-विहार करने वाले, कर्मों में यथायोग्य प्रवृत्ति रखने वाले तथा यथायोग्य शयन-जागरण करने वाले से है, जिससे समस्त प्रकार के दुःखों का नाश होता है।

वस्तुतः कुशलता और कौशल मनुष्य के जातिगत और बुद्धिगत दो धर्म हैं अथवा दो प्रकार की उपाधियाँ हैं। ये दोनों प्रकार की उपाधियाँ गुणों के अनुरोध से ही प्राप्त होती हैं। 'कुशलता' मानवता की तरह ही जातिगत गुणों का ही प्राणप्रद धर्म है तथा कौशल बुद्धिगत धर्म है। अर्जुन सभी प्रकार की शस्त्र विद्याओं में कुशल था, किन्तु औचित्य की प्राप्ति होने के उपरान्त कौशल दिखाने में असमर्थ प्रतीत होने लगा और विषाद को प्राप्त हो गया, जिसके फलस्वरूप कृष्ण ने गीता का उपदेश दिया तथा अर्जुन युद्ध के लिए तत्पर हुआ और विजयश्री को प्राप्त किया। मनुष्य को आत्मकल्याण हेतु स्वयं ही तत्पर होना पड़ेगा और यह तभी सम्भव होगा, जब वह अन्तःकरण की शक्ति से युक्त होगा। सर्वप्रथम प्राणी आन्तरिक विजय या पराजय स्वीकार करता है तथा बाद में बाह्य रूप से। अतः मनुष्य को अपना कल्याण स्वयं करना चाहिए और अपने-आपको अवसाद से दूर रखना चाहिए। मनुष्य स्वयं ही अपना मित्र और स्वयं ही अपना शत्रु है। **'उद्धरेदात्मनात्मानं नात्मानमवयादयेत। आत्मैव ह्यात्मनो बन्धुरात्मैव रिपुरात्मनः ॥ (गीता 6/5)** जिसने मन और इन्द्रियों सहित शरीर पर विजय प्राप्त किया हुआ है, उसी का मन और इन्द्रिय सहित शरीर मित्र है और यदि इससे पृथक अवस्था है, तो लोग अपने-आप ही शत्रुत्व की तरह वैर करते हैं। **'बन्धुरात्मनस्तस्य येनात्मैवात्मना जितः। आत्मनस्तु शत्रुत्वे बर्तेतात्मैव शत्रुवत्। (गीता 6/6)** इस जीवन में चाहे आत्म-विकास अथवा कल्याण की आकांक्षा हो या पर-कल्याण की भावना हो, दोनों ही अवस्था में समत्वबुद्धि रूपी कुशलता तथा कौशल की अवधारणा अपेक्षित है।

इस पृष्ठभूमि में सम्भवतः ऐसे उपकरणों की आवश्यकता है, जो मनुष्यों में स्वभावपरक गुणों की पहचान करके उसको संवर्धित करने की व्यवस्था एवं विधान बनाए। वर्तमान परिप्रेक्ष्य में कौशल और कुशलताओं की जितनी विविधताएँ पहचानी जाएँगी और उनको गुणवत्ता के हिसाब से जितना सम्बन्धित किया जाएगा, समाज उतना ही स्वस्थ एवं हितकारी होगा। अतः एक ऐसी सामाजिक-व्यवस्था एवं सांस्कृतिक प्रक्रियाओं की आवश्यकता है, जो कौशल सम्मत आचरण, चाहे वह जिस सच में हो उसको प्रोत्साहित किया जाए। इसका प्रारम्भ पारिवारिक समाजीकरण, स्कूली-शिक्षा एवं प्रशिक्षण-कार्यक्रमों द्वारा ही किया जा सकता है।

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

ललित निबंध

निज कवित्त केहि लाग न नीका

श्रीराम परिहार

गोस्वामी तुलसीदास भारतीय वाङ्मय में विशिष्ट स्थान रखते हैं। वे भक्त शिरोमणि हैं। वे कवि श्रेष्ठ हैं। कवि कर्म उनके रचनाकर्म से महिमा-मण्डित हुआ है। कविता धन्य हुई है। उनकी कविता सामाजिक मूल्यों से जुड़कर लोकमंगल की भावना को व्यापक स्तर पर रेखांकित करती है। उनकी कविता एक 'स्वान्तः सुखाय तुलसी रघुनाथ गाथा' का उद्घोष करती हुई जीवन के परम और चरम लक्ष्य को पाने की निजता के स्तर पर अपनी भूमिका स्पष्ट करती है। दूसरी ओर वह निखिल विश्व के कल्याण की कामना लिए रामकथा का प्रणयन करती है। गोस्वामी तुलसीदास अपनी कविताई का उद्देश्य अनेक तरह से स्पष्ट और स्थापित करते हैं। स्वयं को अति विनम्र भाव से 'कवि न होऊ नहिं वचन प्रवीनू, सकल कला सब विद्या हीनू' स्वीकार करते हैं। यह भी कहते हैं कि उनमें कविता करने की कला और ज्ञान नहीं है—'कवित्त विवेक एक नहिं मोरे, सत्य कहहुँ लिखि कागद कोरे।' फिर भी वे रामचरितमानस जैसे सुधासागर की रचना में प्रवृत्त होते हैं। वे बहुत सुन्दर बात कहते हैं—'निज कवित्त केहि लाग न नीका, सरस होऊ अथवा अति फीका।'

यह प्रमाणित है कि अपनी रचना अच्छी लगती है। वह भले ही सरस हो या फीकी हो। गोस्वामी तुलसीदास का यह कथन जितना सहज है, उससे भी कहीं अधिक गूढ़ है। वे अपने सम्पूर्ण रचना-कर्म में रचना के महत् उद्देश्य और स्तर को बार-बार संकेतिक करते रहते हैं। वे स्पष्टतः कहते हैं कि कविता दोनों ध्रुवों पर खरी सिद्ध होनी चाहिए। पहले तो वह रचनाकार के मन को सुख देने वाली हो। स्वान्त-सुख ऐसा कि कवि को यह तोष हो कि उसने एक उत्तम और सार्थक रचना की। दूसरे उस रचना के सामाजिक सरोकार इतने प्रगाढ़ हों कि वह गंगा के समान सबका उद्धार करने वाली हो। 'कीरति भनिति भूति भलि सोई, सुरसरि सम सब कहँ हित होई।'

डॉ. श्रीराम परिहार (डी. लिट्.), आजाद नगर, खण्डवा-450001

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

यह दृष्टि बड़े कवि की होती है। यह दृष्टि लोकेषणा और वित्तेषणा के त्यागी कवि के पास ही होती है। कवि की निजता धीरे-धीरे तिरोहित होकर जब समष्टि के मंगल-विधान का अपनी रचना या अपने कर्म के माध्यम से उपक्रम ढूँढ़ती है और पाती है, तब यह समझ प्राप्त होती है। गोस्वामी तुलसीदास निज कवित्त के परिवेश को इतना विस्तार देते हैं कि वह 'सकल लोक जग पावनी गंगा बन जाता है।'

गोस्वामी तुलसीदास की कृति रामचरितमानस कवि को स्वयं के स्तर पर तो नीकी लगी ही; वह लोक के धरातल पर भी अत्यन्त लोकप्रिय सिद्ध हुई। इससे साहित्य के मर्म और धर्म दोनों को समझने में हमें सुविधा होती है। तुलसीदास की रचना या कविता नीकी बन गयी; इसकी विवेचना अनेक सिद्ध, मुनि, ज्ञानी करते आ रहे हैं। तुलसीदास ने अपनी कहन के लिए काव्य के प्रबन्ध रूप का चयन किया। उस प्रबन्ध के लिए रामकथा उन्हें कलि-कलुष का नाश करने वाली अनुभव हुई—'बुध विश्राम सकल जनरंजनि, रामकथा कलि-कलुष विभंजनि।' रामकथा के चरित नायक के रूप में उन्हें धीरोदात्त, धीरललित और धीरप्रशान्त तीनों वृत्तियों के समवेत स्वरूप 'श्रीराम' मिल गए। श्रीराम के जीवन के कोटि-कोटि प्रसंग पूरे युग, पूरे समाज, पूरे धर्म, पूरे ज्ञान, पूरे कर्म और पूरे योग के क्षेत्र को संस्पर्शित तथा प्रभावित करते हैं। इस नाम का चयन और इस चरित के गान का संकल्प तुलसीदास परम्परा की जीवन्तता और लोकमंगल के लिए उपादेयता को ध्यान में रखकर करते हैं। 'एहि महँ रघुपति नाम उदारा, अति पावन पुराण श्रुति सारा।'

गोस्वामी तुलसीदास को अपनी रचना इसलिए अच्छी लगी, क्योंकि इसमें 'श्रीराम' जैसे चरित नायक की मानव धरातल पर अवतरित संघर्ष-गाथा है। श्रीराम भवन को त्यागकर वन का वास स्वीकार करते हैं। जो पारिवारिक टूटन को टालते हुए पारिवारिक सामंजस्य को स्थापित करते हैं। जो साम्राज्य विस्तार के स्थान पर प्रेम, सहयोग और सत्य के आग्रह से भारतवर्ष के छोटे-छोटे गणराज्यों का एकीकरण करते हुए अखण्ड राष्ट्र की अवधारणा को साकार करते हैं। जो अनेक अन्त्यजों को गले लगाते हैं। जो समाज से बहिष्कृतों को सामाजिक प्रतिष्ठा दिलाते हैं। जो राक्षसों द्वारा पीड़ित हैं, उनकी रक्षा करते हैं। जो ज्ञानियों, विद्वानों, चिन्तकों और अनुसन्धित्सों के आश्रमों में जाकर उन्हें प्रणाम करते हैं। उन्हें मान देते हैं। जो पक्षियों तक का यथोचित संस्कार करते हैं। जिसके वियोग में पशु भी व्याकुल हो उठते हैं। जो नंगे पाँव कठिन भूमि पर चलते हुए भारतवर्ष के समाज और गाँवों से गुजरते हुए अपने करुणा-जल की झारी के नीर से उनके दुःख-दर्द के घाव धोते हैं और सबको निरुज शरीर कर देते हैं। तुलसीदास ऐसे राम और ऐसी रामकथा का आवाहन करते हैं—

रामकथा मन्दाकिनी, चित्रकूट चितचारु।
तुलसी सुभग स्नेह वन, सिय रघुवीर विहारु॥

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

इस रूपक के द्वारा एक अन्य संकेत भी मिलता है कि श्रीरामचन्द्र केवल मनुष्य नहीं हैं। वे भुवनव्यापी शक्ति के अंश भी हैं। वे 'व्यापक विश्वरूप भगवाना, तेहि धरि देह चरित कृत नाना' है। तुलसीदास ऐसी कथा का प्रणयन करते हैं, जिससे यह लोक और परलोक दोनों सुधरते हैं। धर्मक्षेत्र और कर्मक्षेत्र दोनों संयमित और सत्यव्रती होते हैं। ऐसी 'सकल जन रंजनी' और 'सुनत सकल मुद मंगल देनी' रामकथा को तुलसीदास अपने रचना-कर्म से अमित विस्तार देते हैं और अनिर्वाच्य विश्राम प्राप्त करते हैं। जिस रामकथा को 'वाल्मीकि नारद घटजोनि, निज-निज मुखनि कहि निज होनी' उसी रामकथा को तुलसीदास लोकभाषा में लिखते हैं। भाषाबद्ध करते हैं, 'भाषाबद्ध करबि मैं सोई, मोरे मन प्रबोध जेहिं होई।' उसे लोक का संस्कार देते हैं। उस कथा को माटी की सुवास देते हैं। लोकभाषा केवल भावों या विचारों की अभिव्यक्ति का साधन ही नहीं होती; वह लोक के संस्कार, अनुष्ठान, कर्म और वैचारिक सम्पदा को भी अप्रत्यक्ष अभिव्यक्त करती है। तुलसीदास की रचना के नीकी लगने में उसकी लोकभाषा 'अवधी' में निबद्धता बहुत बड़ा कारक है। अपनी भाषा, अपनी बानी में रामकथा को तुलसीदास ने लिखकर राम के चरित्र को या एक मर्यादा की लीक पर चलने वाले पुरुष के जीवन को भारत और भारत के बाहर सिन्धु पार तक पहुँचाने का कवि-कर्म किया है और स्वयं में यह अनुभव किया कि रामकथा की सरिता में अवगाहन कर कवि की 'काक होई पिक बकहूँ मराला' की स्थिति हो जाती है।

गोस्वामी तुलसीदास रामकथा को भाषाबद्ध करके उसे अमित विस्तार देने से पूर्व अनेक देवी-देवताओं की स्तुति करते हैं। उनकी आराधना करते हैं। उन्हें मनाते हैं कि वे उन्हें कवित्त विवेक प्रदान करें। ऐसी प्रतिभा का प्रस्फुटन हो कि राम की अमित कथा को और राम के गूढ़ चरित्र को भाषा में वर्णित कर सकें। सरस्वती के मन्दिर में तुलसीदास अहं शून्य और अहंकार रहित होकर जाते हैं। एकदम भारहीन हो जाते हैं। सरल-सहज-सीधे प्रवेश करते हैं। बिल्कुल बालक बन जाते हैं। कहते हैं कि वे तो रामचरित को तोतली वाणी में गा रहे हैं, उनकी बात सुनकर ज्ञानी-ध्यानी, मुनि-विज्ञानी इसी तरह प्रसन्न होंगे; जैसे बालक की तोतली बात सुनकर माता-पिता प्रसन्न होते हैं। बड़ी रचना करने के लिए मन भी बड़ा और विकार रहित होना चाहिए। वे वर्ण की आराधना करते हैं। अर्थ का सन्धान करते हैं। रस का आवाहन करते हैं। छन्द का अनुशासन चाहते हैं। वाणी और विनायक की बन्दना करते हैं। भवानी और शंकर की स्तुति करते हैं, जो श्रद्धा और विश्वास के प्रतिरूप हैं। तुलसीदास की रचना की गहराई में श्रद्धा और विश्वास बहुत सघन रूप में अवस्थित हैं। उसके बाद वे गुरु के चरणों की वन्दना करते हैं। गुरु, सरस्वती, पवनसुत, राम और शिव—ये पाँच तुलसीदास की भक्ति और रचना-शक्ति के आस्था केन्द्र हैं।

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

रामचरितमानस का प्रारम्भ 'बन्दहूँ गुरु पद पदुम परागा' चौपाई से होता है। वे यह सुनिश्चित और दृढ़ होकर कहते हैं कि 'श्री गुरु पद नख मणि गण ज्योति, सुमिरत दिव्य दृष्टि हिय होती।' गुरु जीवन में ज्ञान का स्फुरण करता है। दिव्यज्योति प्रकट कराता है। ज्ञान-चक्षु खोलता है। गुरु पूजन का भाव है—सत्य, ज्ञान और अनुभव का पूजन करना। तुलसीदास ने इस दृष्टि से भारतीय सनातन परम्परा का निर्वाह कर उसका पोषण किया है।

'वाणी रसवती यस्य सफलं तस्य जीवनम्।' सुकवि को रसवती वाणी मिल जाए, तो जीवन सफल हो जाए। कवि के जीवन की सफलता उसकी रचना की कालजयिता और सुग्राह्यता पर निर्भर होती है। यदि 'वाक्यं रसात्मकं काव्यम्' है, तो काव्य के आनन्दमय कोष की प्राप्ति की उत्कण्ठा बड़े कवि के भीतर लहलहाती रहती है। यह वाणी वरदायिनी सरस्वती की कृपा के बिना सम्भव नहीं है। सरस्वती ही जड़ता को तोड़ती है। विचारों को तरल और भाव को सहज बनाती है। तुलसीदास वर्ण-अर्थ की साधना द्वारा अक्षरब्रह्म, पूर्णब्रह्म का आराधन करते हैं। परा, पश्यन्ती, मध्यमा और वैखरी के मूल में अक्षरब्रह्म की ध्वनि-शक्ति विराजित है। ध्वनि के स्फुरण और रसमय निःसृति में वाग्देवी सरस्वती रूपी वाक्शक्ति सक्रिय रहती है। तुलसीदास अटल विश्वास के साथ कहते हैं कि सरस्वती कठपुतली की तरह उसी के जिह्वा रूपी आँगन में नाचती है, जिस पर राम की कृपा होती है। राम जिसे अपना जन मानते हैं। रामकथा-सम्भाषण में सरस्वती प्रमुख है। लेखन-कला में गणेश जी प्रवीण हैं। इसलिए 'बन्दे वाणी-विनायकौ।' सरस्वती का निवास कवियों के हृदय में रहता है। परन्तु कवियों के हृदय में रहते हुए भी उनकी वाणी सरस तभी होगी, जब श्रीरामचन्द्र वाणी को प्रेरित करेंगे। श्रीरामचन्द्र जैसी प्रेरणा देते हैं, वैसी ही सरस्वती कवियों के मुख और लेखनी से शब्द निकालेंगी या लिखवाएँगी।

सारद दारुनारि सम स्वामी, राम सूत्रधर अन्तरजामी।
जेहि पर कृपा करहिं जन जानी, कवि उर अजिर नचावहिं बानी॥

पवनपुत्र 'अतुलित बलधामं, हेमशैलाभ देहम्, दनुजवन कृसानुं ज्ञानिनामग्रगण्यम्' हैं। वे तुलसीदास के आराध्य हैं। तुलसीदास को श्रीराम प्रिय हैं। राम को वे हनुमान के माध्यम से ही पाते हैं। चित्रकूट के घाट पर सन्तन की भीड़ में हनुमान तुलसीदास को श्रीरामचन्द्र के दर्शन कराते हैं। उन्हें लखाते हैं। परिचय देते हैं। प्रेरित करते हैं। हनुमान तुलसीदास पर यह अनुग्रह न करते तो सम्भव है राम के दर्शन न हो पाते। इसलिए तुलसीदास अपनी रामचरितमानस को सरस और नीकी बनाने के लिए अंजनी-सुत की तीन नामों से वन्दना करते हैं—महावीर, हनुमान और पवनकुमार। 'महावीर विनवहुँ हनुमाना।' तुलसीदास के प्रेय को स्पष्ट करते हुए कहा गया है—'महावीर, हनुमान कहो, पुनि कह पवनकुमार, देव इष्ट अरु भक्त लखि, वन्देउ

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

कवि त्रय बार।' महावीर नाम से तुलसी ने इष्ट की वन्दना की। पवनकुमार नाम से देव रूप की स्तुति की। पवन देवता है। हनुमान नाम से भक्त रूप की आराधना की। महावीर बलवान और हर कार्य को पूर्ण करने में समर्थ हैं। पवनकुमार सर्वत्र व्याप्त और सब कहीं जाग्रत देवता के रूप में उपस्थित रहते हैं। चारों युगों में जीवन्त प्रभाव उनका है। पवन सब.जगह प्रसारित है। पवनपुत्र सब स्थान पर भक्तों की रक्षार्थ उपस्थित हैं। प्रत्येक गाँव में खेड़ापति बनकर बैठे हैं। वे सर्वश्रेष्ठ भक्त हैं। राम स्वयं उनके वश में हैं। 'सुमिरि पवनसुत पावन नामू, अपने वशकरि राखेहुँ रामू।' इसलिए तुलसीदास प्रार्थना करते हैं–

प्रणवहुँ पवन कुमार, खलवन पावक ज्ञानघन।
जासु हृदय आगार, बसहिं राम सरचाप धर॥

रामचरितमानस में गोस्वामी तुलसीदास प्रारम्भ में ही अपने लक्ष्य को स्पष्ट कर देते हैं। वे श्रीराम-सीता के गुणग्राम रूपी पुण्य अरण्य में विहार करना चाहते हैं–'सीताराम गुणग्रामं पुण्यारण्य बिहारिणौ।' अतः वे कपीश्वर, सरस्वती और अनेक देव-दनुज, नर-नाग, किन्नर-गन्धर्व, सन्त-असन्त, खल-सज्जन, अरि-मित्र सबको प्रणाम करते हैं। वे प्रशंसा-परिहास की चिन्ता नहीं करते। उन्हें जगत की रीति पता है। 'खल परिहास होई हित मोरा, काग कहहिं कल कण्ठ कठोरा।' जगत की बान को जान लेने, संसार को समझ लेने पर वे अपने कर्म में रत होते हैं। वे जानते हैं कि राम अनन्त गुण सम्पन्न हैं। उनकी महिमा अमित-अपार है। मुनियों ने, गुनियों ने नाना प्रकार से उनके गुणों का बखान किया है। शेष भी उनके गुणों का पूरी तरह वर्णन नहीं कर सकते। फिर भी तुलसीदास विनम्र भाव से कहते हैं–'तदपि जथाश्रुत कहहुँ बखानी, सुमिरि गिरापति प्रभुधनु पानी।' इसके लिए वे एक मार्ग चुनते हैं। राम के प्रिय शंकर हैं। शिव के आराध्य राम हैं। शिव निरन्तर राम-राम जपते हैं। राम और शिव में तुलसीदास ने जिस तरह परस्पर प्रीति दृढ़ाई, वैसी अन्यत्र नहीं। वे शिव को मनाते हैं। हर–गौरी को एक साथ संस्तुत करते हैं। कातर मन से पुकारते हैं। अपनी भक्ति का साक्ष्य देते हैं। अपनी समस्त सामर्थ्य को उमा-महेश्वर को समर्पित कर देते हैं। आर्त्त स्वर में अपनी वाणी की सार्थकता लोकभाषा में पाने की अनुकूलता चाहते हैं–

सपनेहुँ साँचेहु मोहि पर, जौ हर गौरि पसाउ।
तौ फुर होई जो कहेउ सब, भाषा भनिति प्रभाउ॥

इतना सब करने पर तुलसीदास रामकथा का प्रणयन करते हैं। मंगल करनि कलिमल हरनि तुलसी कथा रघुनाथ की। तुलसीदास के लिए राम 'एक भरोसो, एक बल, एक आस विश्वास, एक राम घनश्याम हित, चातक तुलसीदास।' चातक का प्रण

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

बड़ा कठोर किन्तु अविचल और एकनिष्ठ रहता है। एकनिष्ठ भक्ति के बल पर तुलसीदास सारे जीवन-जगत, सृष्टि-ब्रह्माण्ड, ज्ञान-वैराग्य, श्रद्धा-भक्ति, प्रेम-अनुराग, दर्शन-अध्यात्म के सारे आलोक-बिन्दु रामकथा में अनुस्यूत कर देते हैं। तुलसीदास का स्वारथ-परमारथ सब राम-सीता से सम्पृक्त है। वे युगल राम-सीता की वन्दना करते हैं–'गिरा अरथ जल-वीचि सम, कहियतु भिन्न न भिन्न।' सीता जगत-जननी हैं। राम सृष्टि के ओर-छोर में व्याप्त अग्नि, सूर्य और चन्द्रमा के हेतु हैं। उनका नाम 'राम' है। राम शब्द अग्नि बीज है। वह आलोकमय है। तुलसीदास राम नाम को जीभ-देहरी पर रखकर भक्ति करते हैं। रामकथा को गाते हैं। रामचरितमानस सरस और नीका वन जाता है।

मुनि दुर्लभ हरि भगति नर, पावहिं बिनहिं प्रयास।
जे यह कथा निरन्तरहिं, सुनहिं मानि विश्वास॥

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

चैतन्य महाप्रभु की शिक्षा में अभिव्यक्त सामाजिक समरसता

सुनील बाबुराव कुलकर्णी*

मध्यकालीन कृष्णभक्त सन्त कवियों में बंगाल के सन्त कवि श्री चैतन्य महाप्रभु का स्थान अत्यन्त महत्त्वपूर्ण माना जाता है। भावविभोर होकर, नाचते-गाते कृष्ण भक्ति में समरस होकर संकीर्तन रासनृत्य करना उनकी प्रमुख विशेषता रही है। बहुत से विद्वान उन्हें सदैव ही कृष्णभक्ति में समरस सन्त कवि के रूप में ही चित्रित करते रहे हैं। प्रायः यह देखा गया है कि जितनी उनके भक्ति, भजन और संकीर्तन रासनृत्य की चर्चा होती रही, उतनी उनके सामाजिक योगदान की चर्चा किसी ने नहीं की। प्रस्तुत शोध प्रबन्ध उसी पूर्ति का लघु प्रयास है, जिसमें हमने बंगाल के सन्त कवि चैतन्य महाप्रभु की शिक्षा में अभिव्यक्त सामाजिक समरसता के योगदान को रेखांकित करने का प्रयास किया है।

प्रस्तुत मुद्दे के अन्तर्गत प्रथमतः श्रीचैतन्यदेव के समय की सामाजिक परिस्थिति का संक्षेप में जायजा लेने के बाद, प्रेमरस में समरस श्रीचैतन्य महाप्रभु के चरित्र पर प्रकाश डालकर, सामाजिक उपादेयता की दृष्टि से चैतन्य चरित्र की मीमांसा की गयी है। तत्पश्चात् उनकी शिक्षा में स्थित मानवता के सूत्र, उनके द्वारा दिए गए जाति-पाँति विरहित सार्वभौम, प्रेममयी शिक्षा के उपदेश, वर्णाश्रम धर्म की उनकी की हुई पुनर्व्याख्या, प्रेम, अहिंसा, सत्याग्रह, नैतिकता आदि पर आधारित उनके उपदेश, उनके द्वारा किया गया साम्प्रदायिकता का विरोध और सार्वभौम भाईचारे का समर्थन, असहाय, निर्धन और अभावग्रस्थ लोगों की मदद करने की अपेक्षा, उनके द्वारा किया गया अवतारवाद का विरोध और सार्वजनिन धर्म का स्वीकार, स्त्री-शिक्षा को उनका दिया हुआ महत्त्वपूर्ण स्थान, उनके द्वारा प्रतिपादित त्याग की महिमा, उनकी शिक्षा की

* विभागाध्यक्ष, हिन्दी, उत्तर महाराष्ट्र विश्वविद्यालय, जलगाँव। सम्पर्क : sbkulkari@nmu.ac.in
मोबाइल : 09422217600

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

सामाजिक उपादेयता तथा संक्षिप्त सार, सामाजिक समरसता प्रस्थापित करने हेतु उनके द्वारा किए गए मौलिक कार्य तथा उनके चरित्र की प्रासंगिकता आदि मुद्दों का विवेचन और विश्लेषण कर हमने उनकी शिक्षा में अभिव्यक्त सामाजिक समरसता को उजागर करने का प्रयास किया है।

चैतन्य कालीन सामाजिक परिवेश

यह सही है कि हर युग का सन्त, कवि या साहित्यकार अपने समय के परिवेश की उपज होता है। श्रीचैतन्य महाप्रभु भी उसके अपवाद नहीं हैं। यही कारण है कि उनकी शिक्षा में अभिव्यक्त सामाजिक समरसता को देखने के पूर्व हम संक्षेप में चैतन्य कालीन सामाजिक परिस्थिति को स्पष्ट करना चाह रहे हैं। श्रीचैतन्य के आविर्भाव के पूर्व की तथा उनके समय की सामाजिक स्थिति पर प्रकाश डालते हुए श्रीचैतन्यदेव के अन्यान्य भक्त श्री सुन्दरानन्द विद्याविनोद ने लिखा है—"श्रीचैतन्यदेव के आविर्भाव के पूर्व तथा उनके सम-सामयिक युग में समाज का मेरुदण्ड समझा जाने वाले वर्णाश्रमधर्म को नाना प्रकार से लकवा मार गया था। श्रीकविकर्णपूर, ठाकुर श्रीवृन्दावनदास और कविराज गोस्वामीचरण ने उस समय का जो सामाजिक चित्र अंकित किया है, उससे ज्ञात होता है कि समाज के भीतर उस समय कलियुग का भविष्य आचार प्रविष्ट हो गया था। समाज के ब्राह्मण लोग सूत्रमात्र चिह्न धारण करके केवल ज्ञानदान देने के कार्य में व्यस्त रहते थे, क्षत्रिय लोगों ने प्रजा की रक्षा में असमर्थ होकर, केवल राजा की उपाधिमात्र को सम्बल बना रखा था। वैश्य लोग बौद्ध या नास्तिक हो गए थे और शूद्र लोग ब्रह्मवृत्ति के विरुद्ध खड़े हो गए थे।"[1]

वर्णाश्रम धर्म में स्थित चारों आश्रमों की स्थिति को स्पष्ट करते हुए श्री सुन्दरानन्द विद्याविनोद इसी पुस्तक में समाज में स्थित चारों आश्रमों की स्थिति पर प्रकाश डालते हुए आगे लिखते हैं—"चारों वर्णों के समान चारों आश्रमों की अवस्था भी शोचनीय हो गई थी। विवाह में असमर्थ होकर लोग अपने ब्रह्मचारी होने का अभिमान करते थे, गृहस्थ लोग दूसरे आश्रमियों के प्रति यथोचित कर्तव्यपालन से विमुख होकर नाना प्रकार के अधर्मों से युक्त हो स्त्री-पुत्रादि के भरण-पोषण में व्यस्त थे। वानप्रस्थ शब्द केवल नाममात्र के लिए ही रह गया था, 'पन्चाशोर्द्ध, वं बनं व्रजेत्' अर्थात् पचास वर्ष के बाद वनगमन करें, यह बात केवल पोथी में पड़ी रह गई थी; संन्यासी का अभिमान करके कुछ लोग संन्यास के पवित्र वेश का अपव्यवहार करते थे, उसे जीविकोपार्जन का साधन बना डाला था; केवल आपस में विद्या-कुलका अहंकार, विषय सुखों के भोगों में प्रतिद्वन्द्विता, मद्यमाँस के द्वारा अवैदिक देवताओं की पूजादि आडम्बर दिखाने में लोग आत्मगौरव का अनुभव करते थे।"[2] ऐसे विपरीत सामाजिक परिवेश में समाज में पुनः सामाजिक समरसता स्थापित करने हेतु श्रीचैतन्य महाप्रभु ने अपनी शिक्षा के द्वारा अपने चरित्र की न केवल आध्यात्मिक दृष्टि से बल्कि

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

सामाजिक दृष्टि से भी उपादेयता सिद्ध की। यही कारण है कि आज इतने वर्षों के उपरान्त भी समाज में स्थित दुःखी प्राणियों के लिए उनका चरित्र एक मनोरम आश्रयस्थल लगता है। आज वर्तमान काल में भी कई लोग शीतलता, शांति और प्रेमरस का पान करने के लिए उनके चरित्र का बार-बार पठन करते हुए दिखाई देते हैं। इस कारण आगे हम प्रेमरस में समरस श्रीचैतन्य महाप्रभु के चरित्र पर प्रकाश डाल रहे हैं।

प्रेमरस में समरस श्रीचैतन्य महाप्रभु

वैश्वीकरण के परिप्रेक्ष्य में बढ़ते बाजारवाद के कारण जैसे-जैसे मानवीय मूल्यों का पतन हो रहा है, वैसे-वैसे सन्तों द्वारा प्रतिपादित प्रेममार्ग की हमें अधिकाधिक आवश्यकता महसूस हो रही है। रोजमर्रा के जीवन में यदि मानसिक तान-तनाव से हम मुक्ति पाना चाहते हैं, तो प्राचीन-मध्ययुगीन सन्तों की तरह हमें भी प्रेमरस में समरस होना आवश्यक हो गया है। ऐसी परिस्थिति में प्रेमरस में सम्पन्न श्रीचैतन्य महाप्रभु का चरित्र हमारे लिए आदर्श का द्योतक सिद्ध हो सकता है। उनके द्वारा प्रतिपादित प्रेममार्ग का यदि हम व्यावहारिक अनुसरण करते हैं तो यह दावे के साथ कहा जा सकता है कि हम शत-प्रतिशत तनाव से मुक्त होकर शान्तिपूर्ण जीवन व्यतीत करेंगे। क्योंकि उनके द्वारा प्रतिपादित प्रेममार्ग में एक प्रकार की मस्ती है, तन्मयता होती है, विकलता है। उनके प्रेम रस में छके हुए प्रेमी की दशा अद्‌भुत है। उसका आचरण लोकबाह्य आचरण हो जाता है; वह किसी प्रकार संसारी लोगों की कुछ भी परवाह न करके पागलों की तरह नृत्य करने लगता है। इस दृष्टि से यदि देखा जाए तो चैतन्य महाप्रभु का सम्पूर्ण चरित्र प्रेमरस में समरस दिखाई देता है। इस सन्दर्भ में प्रभुदत्त ब्रह्मचारी लिखते हैं, "अध्यापकी का अन्त होने के बाद प्रभु का सम्पूर्ण जीवन प्रेममय ही था। अहा! उस मूर्ति के स्मरण मात्र से हृदय में कितना भारी आनन्द प्राप्त होता है? पाठक प्रेम में नृत्य करते हुए गौरांग का एक मनोहर चित्र अपने हृदय पटल पर अंकित तो करे। सुवर्ण के समान देदीप्यमान शरीर पर पीताम्बर पड़ा हुआ है। जमीन तक लटकती हुई चौड़ी किनारीदार बहुत ही सुन्दर धोती बाँधी हुई है। दोनों आँखों की पुतलियाँ ऊपर चढ़ी हुई हैं। खुली हुई आँखों की कारों में से आँसू निकलकर उन सुन्दर गोल कपोलों को भिगोते हुए वक्षस्थल को तर कर रहे हैं। दोनों हाथों को ऊपर उठाए गौरांग हरि बोल हरि बोल की सुमधुर ध्वनि से दिशा विदिशाओं को गुंजायमान कर रहे हैं। उनकी घुँघराली काली-काली लटें वायु के लगने से फहरा रही हैं। वे प्रेम रस में तन्मय होने के कारण कुछ पीछे की ओर झुक से गए हैं। चारों ओर आनन्द से उन्मुक्त होकर भक्तवृन्द नाना भाँति के वाद्य बजा-बजाकर प्रभु के आनन्द को और भी अत्यधिक बढ़ा रहे हैं। बीच-बीच में किसी-किसी भाग्यवान भक्त का गाढ़ालिंगन करते हैं, कभी किसी का हाथ पकड़कर उसके साथ नृत्य करने लगते हैं। भावुक भक्त

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

प्रभु के चरणों के नीचे की धूलि उठा-उठाकर अपने सम्पूर्ण शरीर पर मल रहे हैं। इस स्मृति में कितना आनन्द है, कैसी मिठास है, कितनी प्रणयोपासना भरी हुई है? हाय! हम न हुए उस समय। धन्य है वे महाभाग जिनके साथ महाप्रभु गौरांग ने आनन्दविभोर और प्रेमरस में समरस होकर संकीर्तन रास नृत्य किया।"[3] वर्तमान परिप्रेक्ष्य में चैतन्य महाप्रभु की तरह यदि सर्व सामान्य व्यक्ति भी प्रेमरस में समरस हो जाएँगे तो उन्हें भी वही अलौकिक आनन्द प्राप्त होगा, जिसका रसपान स्वयं श्रीचैतन्य महाप्रभु ने किया था। क्योंकि उनके द्वारा प्रतिपादित प्रेममार्ग सिर्फ स्वान्तः सुखाय न होकर बहुजन हिताय भी है। इस कारण उनके चरित्र की मीमांसा व्यक्तिगत स्तर तक सीमित न रखते हुए सामाजिक उपादेयता की दृष्टि से भी उनके चरित्र का विश्लेषण होना आज युग की आवश्यकता बन गई है। यही कारण है कि आगे सामाजिक उपादेयता की दृष्टि से श्रीचैतन्य चरित्र पर प्रकाश डाला जा रहा है।

श्रीचैतन्य चरित्र की सामाजिक उपादेयता

आज वर्तमान में आपा-धापी से भरे इस जीवन में यदि हमें शान्ति, शीतलता और दिव्य प्रेमानन्द की अनुभूति करनी है तो श्रीचैतन्य के चरित्र का पठन अवश्य करना चाहिए। कलिकाल के इस युग में श्रीचैतन्य महाप्रभु के चरित्र की सामाजिक उपादेयता स्पष्ट करते हुए उनके परम भक्त तथा 'श्रीश्रीचैतन्य चरितावली' के लेखक प्रभुदत्त ब्रह्मचारी लिखते हैं—"महाप्रभु चैतन्य का कलि-पावन चरित्र प्रेमरस का अथाह सागर है। चाहे कोई कितना भी पीले, कितना ही उलीच ले, उस अगाध रस-सिन्धु में से अणुमात्र भी कम नहीं हो सकता। जिस किसी ने इस परम सुस्वादु आत्मानन्दमय रस का यत्किंचित भी पान किया, वही धन्य हो गया। ज्ञान-वैराग्य, भक्ति-प्रेम, त्याग और विरह के मूर्तिमान विग्रह श्रीकृष्ण प्रेमावतार-श्रीगौरांगदेव का करुणा विगलित जीवन दुःखी प्राणियों का एक ऐसा ही मनोरस आश्रय स्थल है। अतएव इस कलि-सन्तप्त-पाप-ताप जनित, नाना दुःख-दैन्य-दाहग्रस्थ मनुष्यों को यदि शीतलता, शान्ति और दिव्य प्रेमानन्द की अनुभूति करनी हो तो वे आनन्द और प्रेम के पर्याय चैतन्यदेव के इस पावन चरित्रामृत का पान अवश्य करें।"[4] श्रीचैतन्य महाप्रभु के चरित्र पठन के लाभ की ओर दिशा-निर्देश करते हुए वे पुनः इसी ग्रन्थ में आगे लिखते हैं—"चैतन्य देव के महान् जीवन में चैतन्यता का बीजारोपण तो 'गया' धाम में हुआं नवद्वीप में आकर वह अंकुरित और कुछ-कुछ परिवर्धित हुआ श्रीनीलाचल (जगन्नाथ पुरी) में वह पल्लवित और अमृतमय फलोंवाला बन गया। उसने अमृतमय सुस्वादु फलों से असंख्य प्राणी सदा के लिए तृप्त हो गए और उनकी बुभुक्षा का अत्यन्ताभाव ही हो गया। उसकी नित्यानन्द और अद्वैतरूपी दो बड़ी-बड़ी शाखाओं ने सम्पूर्ण देश को सुखमय और शान्तिमय बना दिया। इसलिए हमारी प्रार्थना है कि पाठक इस मधुमय आनन्दमय और प्रेममय दिव्य चरित्र को श्रद्धाभाव के साथ पढ़े। इसके पठन से शान्ति मिलेगी,

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

परमार्थ का पुनीत मार्ग परिष्कृत होगा, मन की मलिन वासनाएँ दूर होंगी, चित्त के भाँति-भाँति के सन्देहों का भंजन होगा, भक्ति के चरणों में प्रीति होगी और भगवान् के समीप पहुँचने की अधिकारी भेद से जिज्ञासा उत्पन्न होगी।"[5] यही श्रीचैतन्य चरित्र की सामाजिक उपादेयता है। वैश्वीकरण के परिप्रेक्ष्य में बढ़ते बाजारवाद के कारण और घटते मूल्यों के कारण यह उपादेयता और अधिक मात्रा में बढ़ गई है। इस कारण उनके द्वारा प्रतिपादित शिक्षा का तथा उपदेशों का सामाजिक समरसता की दृष्टि से विवेचना होना आज आवश्यक हो गया था। इस कारण बहुत शोध परियोजना के द्वितीय अध्याय के अन्तर्गत सामाजिक समरसता के जिन मानदण्डों का उल्लेख हमने किया है, उन्हीं के आधार पर हम आगे श्रीचैतन्य महाप्रभु की शिक्षा तथा उपदेशों में अभिव्यक्त सामाजिक समरसता पर प्रकाश डालने का प्रयास कर रहे हैं।

शिक्षा में स्थित मानवता का सूत्र

बंगाल के महाप्रभु तथा सर्वश्रेष्ठ सन्त कवि श्रीचैतन्यदेव ने अपने जीवन की सम्पूर्ण कालावधि में मानवता की प्रतिस्थापना हेतु असंख्य प्रयास किए हैं। इस कारण अपने जीवनकाल में ही उन्होंने लोगों की असीम लोकप्रियता और स्नेह प्राप्त किया। ऐसी मान्यता है कि उनकी अद्भुत भगवद्भक्ति देखकर जग्गनाथ पुरी के राजा तक उनके श्रीचरणों में नत हो जाते थे। बंगाल शासक के एक मन्त्री रूपगोस्वामी तो मन्त्री पद का त्याग कर चैतन्य महाप्रभु के शरणागत हो गए थे। उन्होंने कुष्ठ रोगियों एवं दलितों आदि को अपने गले लगाकर उनकी अनन्य सेवा की। वे सदैव हिन्दू-इस्लाम एकता का सन्देश देते रहे। साथ ही उन्होंने लोगों की पारस्परिक सद्भावना जागृत करने की प्रेरणा दी। वस्तुतः उन्होंने जातिगत भेदभाव से ऊपर उठकर समाज को मानवता के सूत्र में पिरोया और भक्ति का अमृत पिलाया। विश्वमानव को एक सूत्र में पिरोते हुए यह समझाया कि ईश्वर एक है। उन्होंने लोगों को निम्नलिखित मुक्ति सूत्र दिया :

"कृष्ण केशव, कृष्ण केशव, कृष्ण केशव पाहियाम।
राम राघव, राम राघव, राम राघव, रक्षायाम ॥"

उपर्युक्त मन्त्र का नामस्मरण करके दीन, दलित, दुःखी, असहाय, पीड़ित, अमीर-से-अमीर और गरीब-से-गरीब, ऊँच-से-ऊँच और नीच-से-नीच व्यक्ति भी अपना उद्धार सहजता से कर सकता है। आज वर्तमान में समाज में सामाजिक समरसता को प्रस्थापित करने हेतु श्रीचैतन्य महाप्रभु ने जाति-पाँति विरहित सार्वभौम, प्रेममयी शिक्षा के जो उपदेश दिए हैं उनमें भी उनके मानवतावादी विचार ही परिलक्षित होते हैं, इस कारण उन पर भी प्रकाश डालना आवश्यक है। आगे संक्षेप में उन्हें विश्लेपित करने का प्रयास किया जा रहा है।

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

जाति-पाँति विरहित सार्वभौम, प्रेममयी शिक्षा के उपदेश

श्रीचैतन्य महाप्रभु का सारा व्यक्तित्व जाति-पाँति विरहित और सार्वभौम ऐसा रहा है। यही कारण है कि उन्होंने अपने सम्पूर्ण जीवनकाल में प्रेममयी शिक्षा के जो उपदेश दिए, उनकी व्याप्ति जाति-पाँति विरहित और सार्वभौम प्रेममयी ऐसी ही रही है। प्रभुदत्त ब्रह्मचारी के मतानुसार, "उनके समान प्रेम के भावों को प्रकट करने वाले प्रेमियों का अवतार कभी-कभी ही इस धरा-धाम पर होता है। वे अपने प्रेममय आचरण से समस्त प्राणीमात्र को सुख पहुँचाते हैं। इसीलिए असली प्रेमी देश, काल और जाति के बन्धनों से सदा पृथक् ही रहते हैं। उनका जीवन संकीर्ण न होकर सम्पूर्ण संसार को सुख-शान्ति का पाठ पढ़ाने वाला सार्वभौम होता है। वे किसी एक विशेष जाति के भीतर ही क्यों न पैदा हों, किन्तु उनके ऊपर सभी जातिवालों का समान अधिकार होता है। सभी देशवासी उन्हें अपना ही मानकर पूजते हैं।"[6] श्रीचैतन्य महाप्रभु के व्यक्तित्व को भी जाति-पाँति विरहित सार्वभौम व्यक्तित्व माना जाता है। 'श्रीचैतन्य चरितावली' के चैतन्य किसी एक ही देश, एक ही सम्प्रदाय और एक ही भाव के लोगों के न होकर वे सार्वदेशिक हैं। उनके ऊपर सभी का समान अधिकार है। उनकी सार्वभौम और प्रेममयी शिक्षा के सन्दर्भ में अपना मत व्यक्त करते हुए श्रीसुन्दरानन्द विद्याविनोद लिखते हैं—"श्रीकृष्ण चैतन्य का चरित और शिक्षा श्रीमद्भागवत एवं भागवत धर्म का मूर्तिमान रूप है। श्रीकृष्ण चैतन्यदेव ने समस्त शास्त्रों में, समस्त कर्ता में, समस्त क्रिया में, सभी करण में, सारे स्थान-काल-पात्र में, सारे साधन और फल में भक्ति का अधिष्ठान और प्रेममयी शिक्षा का प्रचार किया है। उनके द्वारा प्रतिपादित भक्ति सार्वत्रिक, सार्वकालिक, सार्वजनिक और सार्वभौम धर्म है यह शिक्षा श्रीचैतन्यदेव के चरित्र में देदीप्यमान है।"[7] श्रीचैतन्य महाप्रभु ने आजीवन जाति-पाँति और अस्पृश्यता का विरोध किया है। उनके जीवनी लेखक श्री अमृतलाल नागर जी ने इस सन्दर्भ में अपना मत अभिव्यक्त करते हुए लिखा है—"श्रीचैतन्य प्रत्येक ब्रजवासी को 'हरि-हरि' कहकर अपने कलेजे से लगा लेते थे। कोई टोकता कि मैं हीन जन्मा हूँ, आपके स्पर्श योग्य नहीं तो हँसकर कहते—'श्रीकृष्ण और उनके भक्त हर जाति, हर रूप में मिलते हैं। उन्हें स्पर्श करने से भला कौन धर्मशास्त्र दोष निकाल सकता है?' वे कहते हैं कि भगवान नीचों के प्रति अधिक कृपालु होते हैं। कुलीनों और पण्डितों को अपनी कुल विद्या आदि का अभिमान होता है। श्रीकृष्ण तो उसे मिलते हैं जो तिनके से भी अधिक नम्र होकर, वृक्षों से अधिक सहनशील होकर, अमानी होकर, साथ ही दूसरों को मान देकर उनका भजन करता है।"[8] भगवद्भक्ति में ऊँच-नीच तथा जाति-पाँति का विरोध कर श्रीचैतन्य महाप्रभु ने भाव को महत्त्वपूर्ण स्थान दिया है। उनका यह मानना था कि :

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

नीच - जाति नहे कृष्णभजने अयोग्य।
सत्कुल विप्र नहे भजनेर योग्य॥
येइ भजे, सेइ बड़, अभक्त-हीन, छार।
कृष्णभजने नाहि जाति-कुलादि विचार॥
दीनेरे अधिक दया करे भगवान्।
कुलीन पण्डित, धनीर बड़ अभिमान॥

अर्थात्—नीच जाति श्रीकृष्ण-भजन के लिए अयोग्य नहीं है। और अच्छे कुल में जन्म या ब्राह्मण होना ही भजन की योग्यता नहीं है। जो भजता है वही बड़ा है। अभक्त हीन नगण्य है। श्रीकृष्ण-भजन में जाति-कुलादि का विचार नहीं है। भगवान दीन पर अधिक दया करते हैं। कुलीन पंडित और धनिकों को तो बड़ा अभिमान होता है। यही कारण था कि श्रीचैतन्य महाप्रभु ने तत्कालीन जन समाज में प्रचलित वर्ण-व्यवस्था और स्पृश्य अस्पृश्यता का विरोध कर वर्ण-व्यवस्था की पुनर्व्याख्या की थी उस पर आज स्वतन्त्र रूप से विचार होने की आवश्यकता है। इस कारण आगे स्वतन्त्र मुद्दे के अन्तर्गत उस पर प्रकाश डाला जा रहा है।

वर्णाश्रम-धर्म की पुनर्व्याख्या

श्रीचैतन्य महाप्रभु के चरित्र का अध्ययन करने के बाद इस बात का पता चलता है कि उन्होंने प्रचलित वर्णाश्रम धर्म को नकारा नहीं, परन्तु उसे यथावत रूप में न स्वीकार कर उसकी पुनर्व्याख्या की है। वर्णाश्रम धर्म को पुनः नए सिरे से परिभाषित करने का प्रयास किया। श्री सुन्दरानन्द विद्याविनोद जी के मतानुसार उनका यह मानना था कि—

कृष्ण ना भजिते 'द्विज' नहे कदाचित।
पुराण-प्रमाण एइ शिक्षा आछे नीत॥
चण्डलोऽपि मुने : श्रेष्ठो विष्णुभक्ति परायणः।
विष्णु भक्ति विहीनस्तु द्विजोऽपि श्वपचाधमः॥

(चै.म.आ.कै.ली. गयायात्रा 51-52)

अर्थात्—कृष्ण को न भेजने पर कभी द्विज नहीं हो सकता। इसमें पुराण का प्रमाण है। यह शिक्षा नित्य है। विष्णुभक्ति-परायण पुरुष यदि चाण्डाल कुल में भी उत्पन्न हुआ हो तो वह ब्राह्मण-मुनि की अपेक्षा श्रेष्ठ है, परन्तु विष्णु-भक्ति से रहित ब्राह्मण चाण्डाल की अपेक्षा भी निकृष्ट है।[9] ऐसी मान्यता है कि श्री निमाई पण्डित ने गया कि ओर जाते समय लोकानुकरण में अपनी देह में ज्वर प्रकाशित करके एक वैष्णव ब्राह्मण का चरणोदक पान कर अपनी ज्वर मुक्ति का अभिनय किया था। श्री निमाई की इस लीला का यथार्थ उद्देश्य सामान्य लोग नहीं समझ सके। ब्राह्मण के

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

चरणोदक के द्वारा जीव की त्रिताप ज्वाला नष्ट होती है तथा वैष्णव के चरणोदक के द्वारा उसे कृष्ण प्रेम प्राप्त होता है; यह शिक्षा प्रदान करना ही श्रीमन् महाप्रभु का उद्देश्य था। इस बहाने उन्होंने वर्णाश्रम धर्म की पुनर्व्याख्या की है। श्री सच्चिदानन्द भक्तिविनोद ठाकुर का यह मानना है—"चैतन्य महाप्रभु वर्णाश्रम की ओर सकारात्मक दृष्टि से देखते हैं। उन्होंने जाति संस्था सहित वर्णाश्रम धर्म का समर्थन करते हुए कहा है कि यह केवल एक सामाजिक संस्था है जिसे ऋषियों ने मानव व समाज के कल्याण हेतु प्रस्तुत किया है। आर्यों में इनकी उपस्थिति से कोई हानि नहीं होगी। जब तक कि ये आध्यात्मिक विकास का विरोध नहीं करते।[10] इसी पुस्तक में प्रद्युम्न मिश्र के मत को प्रतिपादित करते हुए श्री भक्तिविनोद ठाकुर ने लिखा है—"प्रद्युम्न मिश्र के मतानुसार ब्राह्मण को आध्यात्मिकरण हेतु रामानन्द राय के पास भेजकर चैतन्य महाप्रभु ने यह सिद्ध किया है कि जो कृष्णतत्त्व का ज्ञाता है वही गुरु बनने योग्य है, चाहे वह शूद्र, ब्राह्मण अथवा संन्यासी हो।"[11] इससे यह स्पष्ट होता है कि श्रीचैतन्य महाप्रभु ने मानवता की प्रतिस्थापना हेतु जाति-पाँति विरहित सार्वभौम, प्रेममयी शिक्षा का उपदेश देकर वर्णाश्रम से ग्रस्त तत्कालीन समाज में सामाजिक समरसता का उच्च आदर्श प्रस्थापित करने का प्रयास किया था। उनके द्वारा प्रतिपादित शिक्षा में तथा उपदेशों में मानवता की प्रतिस्थापना और जाति-पाँति के विरोध के साथ-साथ प्रेम, अहिंसा, सत्याग्रह और नैतिकता का अनुपालन, साम्प्रदायिकता का विरोध कर सार्वभौम भाईचारे का आग्रह, त्याग की महिमा का प्रतिपादन, अवतारवाद का विरोध, सार्वजनीन धर्म का स्वीकार आदि का भी आविर्भाव विद्यमान दिखाई देता है। जिन पर भी यथावकाश प्रकाश डालना मुझे आवश्यकता लग रहा है।

प्रेम, अहिंसा, सत्याग्रह और नैतिकता के अनुपालन की शिक्षा

श्रीचैतन्य महाप्रभु ने अपने समग्र जीवनकाल में प्रेम, अहिंसा, सत्याग्रह और नैतिकता के अनुपालन की शिक्षा पर बल प्रदान किया है। उनके द्वारा प्रतिपादित प्रेममार्ग की विशेषता है कि उसमें कोई शत्रु ही नहीं। घृणा, द्वेष, कपट, हिंसा, अथवा अकारण कष्ट पहुँचाने के विचार उनके प्रेममार्ग में नहीं उठते, निम्न भाव ही वहाँ प्रधान रूप में कार्यरत है—

सर्वे कुशलिनः सन्तु सर्वे सन्तु निरामयाः।
सर्वे भद्राणि पश्यन्तु मा कश्चिद दुःख भाग्भवेत्॥

इसी का नाम निष्क्रिय प्रतिरोध, सविनय अवज्ञा अथवा सत्याग्रह है। अमृतलाल नागर जी का मानना है कि चैतन्य महाप्रभु धनिकों को प्रेरित करके निर्धनों को अन्न, वस्त्र और धन दिलवाते थे। समाज में प्रेमभाव उत्पन्न करके अपने कीर्तनों के द्वारा

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

वे जनमानस को एक ऐसे आनन्द के धरातल पर उठा ले जाते थे कि हर एक अपने-अपने जीवन में नई दिव्य अनुभूति का अनुभव करने लगता था।[12]

श्रीचैतन्य महाप्रभु द्वारा चलाए गए अहिंसा आन्दोलन पर प्रकाश डालते हुए प्रभुदत्त ब्रह्मचारी लिखते हैं—"महाप्रभु गौरांगदेव ने संकीर्तन रोकने के विरोध में इसी मार्ग का अनुसरण करना चाहा। काजी की नीच प्रवृत्तियों का दमन करने के निमित्त उन्होंने इसी मार्ग का अवलम्बन किया। सब लोगों से उन्होंने कह दिया 'आप लोग घबराएँ नहीं, मैं स्वयं काजी के सामने संकीर्तन करता हुआ निकलूँगा, देखें वह मुझे संकीर्तन से किस प्रकार रोकता है? दूसरे दिन महाप्रभु ने नित्यानन्द को आज्ञा दी कि सम्पूर्ण नगर में इस संवाद को सुनाओ कि हम आज सन्ध्याकाल के समय काजी की आज्ञा के विरुद्ध नगर में संकीर्तन करते हुए निकलेंगे। सन्ध्या समय सभी लोग हमारे घर पर एकत्रित हों और प्रकाश के लिए एक-एक मशाल भी साथ लेते आवें।"[13] इस अहिंसात्मक आन्दोलन का आगे वर्णन करते हुए प्रभुदत्त ब्रह्मचारी जी ने लिखा—"जब प्रभु को इस बात का पता चला कि कुछ उपद्रवी लोग जनता को भड़काकर उसमें उत्तेजना पैदा कर रहे हैं और काजी को क्षति पहुँचाने का उद्योग कर रहे थे, तो उन्होंने उसी समय संकीर्तन बन्द करने की आज्ञा दे दी। प्रभु की आज्ञा पाते ही सभी भक्तों ने अपने-अपने वाद्य नीचे उतारकर रख दिए। नृत्य करने वाले रुक गए। पद गाने वालों ने पद बन्द कर दिए। क्षण-भर में ही वहाँ सन्नाटा-सा छा गया। प्रभु ने दिशाओं को गूँजते हुए मेघ-गम्भीर स्वर में कहा—"खबरदार! किसी ने काजी को तनिक भी क्षति पहुँचाने का उद्योग किया तो उससे अधिक अप्रिय मेरा और कोई नहीं होगा। सभी एकदम शान्त हो गए। प्रभु का इतना कहना था कि सभी उपद्रवी अपने-अपने हाथों से शाखा तथा ईंट-पत्थर फेंककर चुपचाप प्रभु के समीप आ बैठे। सबको शान्तभाव से बैठे देखने के बाद प्रभु ने काजी को बुलावा भेजा।"[14] इस प्रकार चैतन्य महाप्रभु ने काजी की उस अराजक राजसत्ता को अहिंसात्मक पद्धति से विरोध करने के लिए शान्तिपूर्ण ढंग से, सविनय जुलूस निकालकर अपने अहिंसा आन्दोलन द्वारा उच्चादर्श प्रस्थापित किया। प्रभु ने यह कार्य उस समय में किया जब देश पराधीन था, विदेशी सत्ता सम्पूर्ण देशवासियों को गुलाम बनाकर उन पर अनगिनत अन्याय अत्याचार कर रही थी। न किसी को विचार अभिव्यक्त करने की स्वतन्त्रता थी और न किसी को इस्लाम को छोड़ अन्य किसी धर्म की उपासना करने का अधिकार था। तलवार के बूलबूते पर राजा-महाराजा राज्य के साथ-साथ धर्म का चारों ओर प्रसार करने में अग्रसर थे, ऐसी परिस्थिति में श्रीचैतन्य महाप्रभु ने सर्वप्रथम अहिंसात्मक सत्याग्रह के मार्ग का अनुसरण कर विदेशी सत्ता का विरोध किया। अहिंसात्मक पद्धति से राज्य सत्ता का विरोध करने वाले श्रीचैतन्य महाप्रभु देश के पहले व्यक्ति थे। इस सन्दर्भ में श्री अमृतलाल नागर जी अपने जीवनीपरक उपन्यास में लिखते हैं—"चैतन्य ने नाच-गाकर

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

कृष्ण नाम लेने वाले दीवानों के जुलूस निकलवा दिए। अहिंसात्मक विद्रोह करने का यह सामूहिक उपाय तब तक इतिहास में शायद पहली बार ही प्रयोग में लाया गया था।"[15] श्री सच्चिदानन्द भक्तिविनोद ठाकुर जी ने भी इस सन्दर्भ में अपना मत व्यक्त करते हुए श्रीचैतन्य महाप्रभु और उनके गुरु केशव भारती के भाई ब्रह्मानन्द भारती के एक प्रसंग का वर्णन करते हुए लिखा है—"केशव भारती उनके गुरु थे, पर जब उनके धर्मभाई ब्रह्मानन्द भारती उनके सम्मुख शेर के चर्म पहन कर उपस्थित हुए तथा नतमस्तक हुए, पर उन्होंने उनका नमस्कार तब तक स्वीकार नहीं किया जब तक उन्होंने चर्म उतारकर कौपिन और बहिर्वास नहीं धारण किया। उन्होंने कहा कि जो व्यक्ति उनके सामने हैं वह भारती नहीं हैं, यह कैसे सम्भव हो सकता है कि गुरु पशु का चर्म धारण करें। संन्यासियों को अपने कारण पशुवध नहीं करना चाहिए।"[16] प्रेम, अहिंसा और सत्याग्रह के साथ-साथ श्रीचैतन्य महाप्रभु ने अपनी शिक्षा में नैतिकता के अनुपालन को भी प्रमुख स्थान दिया है। श्रीभक्तिविनोद ठाकुर जी के मतानुसार, "महाप्रभु ने अपने चरित्र तथा शिक्षा में शुद्ध नैतिकता को आध्यात्मिक विकास का साथी माना है। नैतिकता तो सामान्य रूप से एक भक्त में सुशोभित रहती है। यदि किसी में नैतिकता नहीं है तो उनके कृष्ण भक्त होने में सन्देह है।"[17] 'भारत की सन्त परम्परा और सामाजिक समरसता' इस पुस्तक में डॉ. कृष्ण गोपाल इस सन्दर्भ में अपना मत व्यक्त करते हुए लिखते हैं—"पन्द्रहवीं शताब्दी में जब सन्त कबीर, भक्त रैदास ने निर्गुण भक्ति की तथा गोस्वामी तुलसीदास के रामचरितमानस ने सगुण भक्ति की धूम मचाई, तभी श्रीगुरु नानकदेव ने पश्चिमी सीमावर्ती क्षेत्र में भक्ति आन्दोलन तथा सामाजिक समरसता की अलख जगाई हुई थी, उसी समय पूर्व तथा दक्षिण-पूर्व में एक अत्यन्त तेजस्वी भगवद्भक्त श्रीचैतन्य महाप्रभु हरिस्मरण का आन्दोलन चला रहे थे। इन्होंने भारतीय समाज को नैतिकता, साधुता तथा भक्ति के नए आयाम दिए।"[18] श्री चैतन्य महाप्रभु नैतिक आदर्श के सन्दर्भ में कितने आग्रही थे इस सन्दर्भ में एक प्रसंग का वर्णन करते हुए सच्चिदानन्द भक्तिविनोद ठाकुर ने लिखा है—"नैतिकता के सन्दर्भ में उनका विचार था कि मनुष्य सही मार्ग तथा ईमानदारी द्वारा पैसा कमा सकता है, पर अनैतिक ढंग से लाभ नहीं उठाना चाहिए। जब रामानन्द राय का भाई गोपीनाथ पट्टनायक अनैतिक लाभ उठाने के कारण दण्डित हो रहा था, तब महाप्रभु ने उनके सभी साथियों को सांसारिक व्यवहार में सच्चाई बरतने के लिए सचेत किया।"[19]

उपर्युक्त विवेचन से यह स्पष्ट होता है कि श्रीचैतन्य महाप्रभु ने अपनी शिक्षा तथा उपदेशों में प्रेम, अहिंसा, सत्याग्रह और नैतिकता को असाधारण महत्त्व दिया था। वह भी उस युग में जिसमें अन्याय, अत्याचार, हिंसा और युद्ध का चारों ओर बोलबाला था। प्रेम, अहिंसा, सत्याग्रह का अनुपालन और नैतिकता का आग्रही प्रतिपादन करने के साथ-साथ चैतन्य महाप्रभु ने साम्प्रदायिकता का विरोध कर सार्वभौम भाईचारे की स्थापना की। वह भी उनके शिक्षा में अभिव्यक्त सामाजिक समरसता का ही द्योतक

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

है। इस कारण आगे उस सन्दर्भ में श्रीचैतन्य महाप्रभु के विचारों पर प्रकाश डालने का प्रयास किया जा रहा है।

साम्प्रदायिकता का विरोध कर सार्वभौम भाईचारे का समर्थन

चैतन्य महाप्रभु ने आजीवन साम्प्रदायिकता का विरोध कर सार्वभौम भाईचारे की प्रतिस्थापना हेतु प्रयास किया, ऐसा दिखाई देता है। श्री सच्चिदानन्द भक्तिविनोद ठाकुर जी के मतानुसार "आध्यात्मिक बुद्धि व आनन्द के सन्दर्भ में वे मानव समानता पर विश्वास करते थे। वे मनुष्य मात्र में सार्वभौम भाईचारे तथा वैष्णवों में विशेष भातृत्व की शिक्षा देते हैं। उनके अनुसार प्रत्येक वैष्णव आध्यात्मिक सुधार का प्रेरक बन सकता है। उनका कहना है कि मानव-समाज को साम्प्रदायिकता की बेड़ी में कभी नहीं जकड़ना चाहिए।"[20]

इस प्रकार साम्प्रदायिकता का विरोध करते हुए श्रीचैतन्य महाप्रभु ने सार्वभौम भाईचारे की स्थापना कर सामाजिक समरसता हेतु महत्त्वपूर्ण योगदान दिया, ऐसा दिखाई देता है।

असहाय, निर्धन और अभावग्रस्त लोगों के मदद अपेक्षा

साम्प्रदायिकता के विरोध के साथ-साथ श्री चैतन्य महाप्रभु ने समाज में स्थित उच्च वर्ग के लोगों द्वारा असहाय, निर्धन और अभावग्रस्त लोगों की मदद की अपेक्षा की है। इस सन्दर्भ में उनके भक्त श्रीभक्तिविनोद ठाकुर ने अपने छोटे से ग्रन्थ 'श्रीचैतन्य महाप्रभु का जीवन एवं शिक्षा' में लिखा है—"श्री चैतन्य महाप्रभु ने गृहस्थों को असहाय, निर्धन अभावग्रस्त लोगों की सहायता करने की सीख अपने प्रारम्भिक जीवन में ही दी है। उन्होंने यह दिखाया है कि जो समर्थ है उसका यह कर्तव्य है कि वह जनशिक्षा में सहायता दे, विशेष रूप से ब्राह्मण से यह अपेक्षा की जाती है। क्योंकि मानव ज्ञान का उच्चस्तरीय विषयों का अध्ययन उनका कर्तव्य है।"[21]

अवतारवाद का विरोध

असहाय, निर्धन और अभावग्रस्त लोगों को मदद की अपेक्षा के साथ-साथ श्रीचैतन्य महाप्रभु ने अवतारवाद का भी विरोध किया है। अपने सम्पूर्ण जीवनकाल में उन्होंने जीते-जी कभी भी अवतारवाद का समर्थन नहीं किया। इस सन्दर्भ में भी अपना मत व्यक्त करते हुए श्री सच्चिदानन्द भक्तिविनोद ठाकुर लिखते हैं—"हमारे पाठक महाप्रभु के प्रति जैसा भी भाव चाहे रखने को स्वतन्त्र हैं। वैष्णवों ने उन्हें साक्षात कृष्णरूप में स्वीकार किया है। कुछ लोग उन्हें भक्त अवतार मानते हैं। कुछ वैष्णव भक्तों के अनुरोध पर हमने 'स्मरण मंगल' के पद्य एक प्रार्थना के रूप में अनुबन्धित

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

...या है। जिसका प्रतिदिन पूजा के समय वाचन किया जा सकता है। जिन्हें यह ...चार स्वीकार नहीं वे निमाई पण्डित को एक महान आध्यात्मिक उपदेशक, शिक्षक ... रूप में अपना सकते हैं। हम अपने पाठकों से इससे अधिक की अपेक्षा नहीं करते ... पाठकों, यदि यह पुस्तिका पढ़ने के बाद आप श्रीकृष्ण को चैतन्य से अभिन्न ...मझें तो हम आपसे अनुरोध करेंगे कि आप उन्हें साक्षात भगवान का अवतार न ...नें, क्योंकि भगवान मानव के कलुषित शरीर में क्यों आएँगे। अपनी स्वयं की ...र्वोच्च शक्ति से वह अपनी समस्त गौरवमयी महिमा तथा गुणों सहित इस संसार में ...दार्पण करने में समर्थ है। इसमें उन्हें माया (जिसने जड़ संसार की रचना की है) की ...नम्न शक्ति की सहायता की आवश्यकता क्या है। यदि हम इसके विपरीत विश्वास ...रेंगे तो हम भगवान की आध्यात्मिक शक्ति को नीचा देखने का पाप करेंगे।"[22] श्री ...च्चिदानन्द भक्तिविनोद ठाकुर का मानना है कि "जब बनारस के संन्यासियों ने उन्हें ...सर्वशक्तिमान भगवान कहकर सम्बोधित किया तो उन्होंने कहा कि एक जीव को ...भगवान कहकर सम्बोधित करना महापाप है। उन्होंने अनेक बार किसी भी आकार, ...आकृति पूजा का खण्डन किया है जो ईश्वर की सच्ची प्रतिच्छवि न हो। ईश्वर की ...प्रतीकात्मक चिह्न की पूजा में उपयोग भगवान की सत्यमूर्ति मानकर की जाती है। ...भगवान एक है, उनके समान दूसरा कोई नहीं है। उनसे कोई प्रतिस्पर्धा नहीं कर ...सकता। यही महाप्रभु की शिक्षा का मर्म है।"[23] संक्षेप में कहा जा सकता है कि श्रीचैतन्य महाप्रभु ने अवतारवाद का विरोध कर प्रत्येक सामान्य मनुष्य मात्र में ईश्वर के अस्तित्व को मानने से इनकार किया है। उनका यह मानना था कि एक जीव को भगवान कहकर सम्बोधित करना महापाप है। उन्होंने अनेक बार अवतारवाद तथा किसी भी आकार-आकृति पूजा का खण्डन किया है, जो ईश्वर की सच्ची प्रतिच्छवि न हो। उनकी यह भी धारणा थी कि भगवान एक है, उनके समान दूसरा कोई नहीं है। उनसे कोई प्रतिस्पर्धा नहीं कर सकता। यही अवतारवाद के सम्बन्ध में महाप्रभु की शिक्षा की मर्म है।

सार्वजनीन धर्म का स्वीकार

श्रीचैतन्य महाप्रभु के समय धर्म की स्थिति अत्यन्त दयनीय थी। सामान्य जनता और देशवासियों के लिए धर्म अब सार्वजनिक नहीं गोपनीय-सा हो गया था। ऐसी विपरीत परिस्थिति में श्रीचैतन्यदेव ने सार्वजनिक धर्म का समर्थन किया। इस सन्दर्भ में श्री सच्चिदानन्द भक्तिविनोद ठाकुर का मानना है कि "प्रभु द्वारा प्रचारित धर्म सार्वजनिन एवं व्यापक है। अपवर्जक नहीं। अत्यधिक अज्ञानी तथा परम विद्वान दोनों को इसे अपनाने का अधिकार है। विद्वान इसे वर्गीकरण के उल्लेख के अनुसार सम्बन्धतत्व की जानकारी सहित ग्रहण करेंगे। अज्ञानी मूढ़ को भी वही सुविधा प्राप्त है, वे केवल नाम-स्मरण तथा वैष्णवों के सत्संग से इसे प्राप्त कर सकते हैं।"[24]

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

श्री चैतन्य महाप्रभु द्वारा प्रतिपादित सार्वजनीन धर्म की व्यापकता स्पष्ट करते हुए श्रीसुन्दरानन्द विद्याविनोद लिखते हैं–"श्रीचैतन्य महाप्रभु-प्रचारित प्रेम-भक्ति-धर्म की सार्वजनिकता अभूतपूर्व एवं अश्रुतपूर्व साक्षी के रूप में हैं। प्रेम-भक्ति-धर्म की सार्वजनिकता के अतिरिक्त पंचतत्त्वात्मक रूप में श्रीगौरहरि द्वारा प्रचारित यह प्रेमधर्म कितना सार्वत्रिक रहा इसका परिचय निम्नांकित पंक्तियों में मिलता है :

एइ पंचतत्त्वरूपे श्रीकृष्णचैतन्य।
कृष्ण-नाम प्रेम दिया विश्व कैला धन्य॥
मथुराते पाठाइला रूप-सनातन।
दुइ सेनापति कैला भक्ति प्रचारण॥
नित्यानन्द गोसाअे पाठाइला गौंड़देशे।
तेहों भक्ति प्रचारिला अशेष-विशेषे॥
अपने दक्षिण देशे करिला गमन।
ग्रामे-ग्रामे कैला कृष्णनाम प्रचारण॥
सेतुबन्ध पर्यन्त कैला भक्तिर प्रचार।
कृष्णप्रेम दिया कैला सबार निस्तार॥ *चै.च.आ.7/163-67*

पृथिवी पर्यन्त यत आछे देश-ग्राम।
सर्वत्र संचार हाइबेक मोर नाम॥ *चै.भा.अ.4/126*[25]

स्त्री-शिक्षा को महत्त्वपूर्ण माना

श्रीचैतन्य महाप्रभु ने संन्यास ग्रहण के पूर्व की अवस्था में स्त्री-शिक्षा को महत्त्वपूर्ण मानकर उस दृष्टि से प्रयत्न किए थे। श्रीसुन्दरानन्द विद्याविनोद जी के मतानुसार, "श्रीचैतन्यदेव ने अपने आरम्भिक जीवन काल में स्त्री-शिक्षा को महत्त्व दिया था। श्रीअद्वैताचार्य की गृहिणी श्रीसीता देवी, श्रीनित्यानन्द की जननी श्रीपद्मावती, श्रीशचीमाता, श्रीश्रीवास की पत्नी श्रीमालिनी, श्रीराघव की बहिन श्रीदमयन्ती, श्रीसार्वभौम की गृहिणी, आचार्यरत्न श्रीचन्द्रशेखर की पत्नी, आचार्या श्रीजान्हवा-वसुधा माता, श्रीलक्ष्मीप्रिया और विष्णुप्रिया माता, श्रीशिवानन्दसेन की पत्नी, श्रीनन्दिनी-जंगली, श्रीशिखि माहातिकी, बहिन विदुषी श्रीमाधवी माता आदि अनेक वैष्णवी शक्तियों ने, दूसरी ओर श्रीपरमेश्वर मोदक की पत्नी, मुकुन्दा की माता, आदिवस्या उड़िया स्त्री, श्रीवास की दासी, दुःखी या सुखी; यहाँ तक कि रामचन्द्र खाँ की प्रेरिता वेश्या (जो बाद में ठाकुर हरिदास की कृपा प्राप्त की हुई परम वैष्णवी वनी) देवदासी आदि शक्तियों ने श्रीगौर तथा श्रीगौरजनक की कृपा की आदर्श शिक्षा की विशिष्टता और विचित्रता का प्रचार किया है। श्रीश्रीवास की सास के दृष्टान्त में श्रीगौरहरि की निरपेक्षता तथा श्रीकृष्ण सन्तुष्टि की सापेक्षता की आदर्श शिक्षा प्रचारित हुई है।"[26]

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

त्याग की महिमा का प्रतिपादन

गौरांग महाप्रभु जीवों को त्याग का पाठ पढ़ाना चाहते थे। वे दिखाना चाहते थे कि प्रभु प्राप्ति के लिए प्यारी-से-प्यारी वस्तु का भी परित्याग करना आवश्यक होता है। प्रभुदत्त ब्रह्मचारी जी श्रीचैतन्य महाप्रभु के त्यागमय उपदेशों को स्पष्ट करते हुए लिखते हैं–"थोड़ी देर समाहित चित्त से महाप्रभु के त्याग की कल्पना तो कीजिए। संसार जिसके लिए पागल हो रहा है, ऐसी देशव्यापी प्रतिष्ठा हो, भक्तगण जिन्हें साक्षात भगवान मानकर पूजते हो, जिनके भोजन के लिए भाँति-भाँति की नित्य नूतन वस्तुएँ बनती हों, जिसके घर में प्रेममयी वृद्धा माता हो, त्रैलोकक्यसुन्दरी, सर्वगुण-सम्पन्न, पति को ही सर्वस्व मानने वाली नवयौवना पत्नी हो, इन सबका तृण के भाँति परित्याग करके द्वार-द्वार का भिखारी बनकर भटकना कितना भारी त्याग है, कैसा दुष्कर कर्म है। इससे पाठकों को पता चलेगा कि भगवत-प्रेम में कितना अधिक सुख होगा, जिसकी उपलब्धियों के लिए इतने बड़े-बड़े सुखों का बात-की-बात में त्याग करके महाप्रभु गृहत्यागी वनवासी बन जाते हैं।"[27]

शिक्षा की उपादेयता

श्रीसुन्दरानन्द विद्याविनोद के मतानुसार "श्रीचैतन्यदेव की शिक्षा एक ओर सरल भी है और एक ओर गम्भीर भी है। सरल इसलिए कि निरक्षर मनुष्य को समझने के लिए किसी प्रकार की कोई उलझन नहीं और गम्भीर इसलिए कि तर्क विचार एवं शास्त्र-ज्ञान में पारंगत परम पण्डितों के मनन की उसमें प्रचुर सामग्री है। गृहस्थ और वैरागी, युवक और वृद्ध, स्त्री और पुरुष, बिना किसी जाति-वर्ण धर्म के भेद के सभी लोग, श्रीचैतन्यदेव के आचरण और शिक्षा से सर्वश्रेष्ठ मंगल का कल्याण कर सकते हैं। कोई भी व्यक्ति निरपेक्ष और सरल होने पर श्रीचैतन्यदेव के द्वारा प्रचारित धर्म को नित्य सार्वजनीन चित्त समन्वयन, विधानकारी पर धर्म के रूप में प्राप्त कर सकता है। उपनिषद् और ब्रह्मसूत्र में जिस गम्भीर तत्त्व का आविष्कार हुआ है, श्रीचैतन्यदेव की शिक्षा में उसका परिपूर्ण सार भाग पाया जाता है। अठारह पुराण, बीस धर्मशास्त्र, रामायण, महाभारत श्रीमद्भगवद्गीता, षड्दर्शन और तन्त्रशास्त्र में जो सब कल्याणकारी उपदेश हैं वे सभी तात्त्विक रूप में श्रीचैतन्यदेव की शिक्षा में दिखाई देते हैं। विदेशी धर्मशिक्षा में और स्वदेशी प्रचलित धर्मसमूहों में जो कुछ सद् वस्तु है तथा स्वदेशी विदेशी किसी भी शास्त्र में जो नहीं पाया जाता है, वह भी श्रीचैतन्यदेव की परिपूर्ण शिक्षा में पाया जाता है।"[28]

चैतन्य महाप्रभु की शिक्षा का सार

श्रीचैतन्य महाप्रभु की शिक्षा में अभिव्यक्त सामाजिक समरसता का सम्पूर्णतः विवेचन और विश्लेषण करने के बाद महाप्रभु और उनके शिष्य राय के बीच जो संवाद हुआ

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

है, उसके आधार पर संक्षेप में उनकी शिक्षा का सार निम्न प्रकार से प्रस्तुत किया जा सकता है।

प्रभु कहें, "कौन विद्या विद्या-मध्ये सार?"
राय कहें, "कृष्णभक्ति बिना विद्या नाहिं आर।"
"कीर्तिगण-मध्ये जी वेर कोन् बड़ कीर्ति?"
"कृष्णभक्त बलिया यौहार हय ख्याति॥"
"दुःख-मध्ये कोन् दुःख हय गुरुतर?"
"कृष्णभक्त-विरह बिना दुःख नाहिं देखि पर॥"
"मुक्तमध्ये कोन् जीव मुक्त करि मानि।"
"कृष्णप्रेम याँ 'र, सेइ मुक्त-शिरोमणि॥"
"श्रेयोमध्ये कोन् श्रेयः जी वेर हय सार?"
"कृष्णभक्त-संग बिना श्रेयः नाहिं आर॥"
"मुक्ति-भुक्ति वांछे येइ, काँहा दुहाँर गति?"
"स्थावरदेह देवदेह यैछे अवस्थिति।" चै.च.म. 8 म.प्र.

अर्थात्–

प्रभु ने कहा, "विद्याओं में कौन विद्या सार है?"
राय ने कहा, "कृष्णभक्ति के अतिरिक्त और विद्या ही नहीं है।"
"कीर्तियों में जीव की बड़ी कीर्ति कौन है?"
"जिनकी कृष्णभक्त के नाम से ख्याति होती है।"
"दुःखों में गुरुतर दुःख कौन है?"
"कृष्ण भक्त के विरह-दुःख के अतिरिक्त और दूसरा दुःख देखने में नहीं आता।"
"मुक्तों में किस जीव को मुक्त माने?"
"जिन्हें कृष्णप्रेम है वही मुक्त-शिरोमणि है"
"श्रेयों में कौन श्रेय जीवन के लिए सार है?"
"कृष्ण भक्त के संग के अतिरिक्त और श्रेय नहीं है।"
"जो मुक्ति भुक्ति चाहते हैं; उन दोनों की कहाँ गति होती है?"
"स्थावर देह और देवदेह की भाँति स्थिति होती।"[29]

उपयुक्त विवेचन के आधार पर संक्षेप में निष्कर्ष रूप में यह कहा जा सकता है कि श्रीचैतन्यदेव के शिक्षा सूत्र में ग्रथित होने पर यथार्थ विश्वप्रेम का विस्तार होगा, संघर्ष और द्वन्द्व की अमानिशा का अन्त हो जाएगा एवं यथार्थ जन-मंगल का आर्विभाव होगा।

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

सामाजिक समरसता हेतु महत्त्वपूर्ण कार्य

सामाजिक समरसता की दृष्टि से चैतन्य महाप्रभु ने ईश्वर की आराधना के साथ-साथ बहुत से महत्त्वपूर्ण कार्य किए हैं। उनमें प्रमुख हैं—कर्मकाण्ड की जटिलताओं से मुक्त करके भक्ति को जन-जन के लिए सुलभ बनाया, शासक-वर्ग की धमकियों से लोग आस्था को मुक्त किया, नाच-गाकर कृष्ण नाम लेने वाले दीवानों के जुलूस निकाले और आतंक से जड़ीभूत जन जीवन को चैतन्य ने फिर से चैतन्य प्रदान किया इस सन्दर्भ में चैतन्य महाप्रभु पर जीवनीपरक उपन्यास लिखने वाले अमृतलाल नागर लिखते हैं—"श्रीचैतन्य ने एक ओर तो ईश्वर को अपने यहाँ के कर्मकांड की जटिलताओं से मुक्त करके जन-जन के लिए सुलभ बना दिया था तो दूसरी ओर शासक-वर्ग की धमकियों से लोक-आस्था को मुक्त किया, नाचो गावो नाम कीर्तन में मस्त रहो, ईश्वर मूर्तियों में तो वाह-वाह वरना वह तुम्हारे मन में, वचन और कर्मों में, सदा तुम्हारे साथ, उसके नाम पर निर्भर जियो। चैतन्य ने नाच गाकर कृष्ण नाम लेने वाले दीवानों के जुलूस निकालवा दिए। अहिंसात्मक विद्रोह करने का यह सामूहिक उपाय तब तक इतिहास में शायद पहली बार प्रयोग में लाया गया था। आतंक से जड़ीभूत जन जीवन को श्रीचैतन्य ने तब चैतन्य प्रदान किया।"[30]

संक्षेप में कहा जा सकता है कि चैतन्य महाप्रभु भक्तिकाल के प्रमुख कवियों में से एक हैं। इन्होंने वैष्णवों के गौड़ीय सम्प्रदाय की आधारशिला रखी। भजन गायकी की एक नई शैली को जन्म दिया तथा राजनीतिक अस्थिरता के दिनों में हिन्दू-मुस्लिम एकता की सद्भावना पर बल दिया। जाति-पाँति, ऊँच-नीच की भावना को दूर करने की शिक्षा दी तथा विनष्ट हुए वृन्दावन को फिर से बसाया और अपने जीवन का अन्तिम भाग वहीं व्यतीत किया। इस कारण आज भी वे हमें प्रासंगिक और पथदर्शक सन्तकवि के रूप में सदैव प्रेरित और प्रोत्साहित करते रहे हैं। श्रीसुन्दरानन्द विद्याविनोद चैतन्य महाप्रभु की प्रासंगिकता और पथदर्शक सन्तकवि के छवि पर प्रकाश डालते हुए लिखते हैं—"शान्ति के नाम पर आज चारो ओर अशान्ति का साम्राज्य फैलता जा रहा है। मातृत्व के नाम आज विद्वेष की ज्वाला भड़क रही है। वह दिन भी कुछ ऐसा ही था। श्रीगौराब्द के अनुसार 467 वर्ष पूर्व की बात है; हत्या, लूटमार और तरह-तरह के अत्याचार की बीभत्स घटनाओं की स्याही से हमारे इतिहास के पन्ने लिखे जा रहे थे, चारों ओर कपट, षड्यन्त्र, व्यभिचार, नरहत्या, धार्मिक विद्वेष और अराजकता ने भीषण रौद्ररूप धारण लिया था। देश से शुद्ध भक्ति का बिल्कुल लोप-सा हो गया था, तब एक अद्वितीय पुरुष का जन्म हुआ। सूर्य के उदय होते ही जैसे अँधेरा हट जाता है, वैसे उस अतिसमर्थ पुरुष के आविर्भाव से अशान्ति का अन्धकार लुप्त होकर शान्ति का आलोक दिखाई देने लगा। धर्म और भक्तों पर जब-जब भी विपत्ति पड़ी है, तब-तब अतिमर्थ्य पुरुष अवतरित हुए हैं। नित्य सिद्ध नए-नए रूप में उस दिन

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

अतिमर्थ्य पुरुष का आविर्भाव हुआ नित्य पूजनीय कृष्णावतार श्रीमहाप्रभु श्रीचैतन्यदेव के रूप में। उन्होंने अपने प्रेममयी अमृतवाणी से भूले हुए मनुष्यों को सच्चा मार्ग दिखाया, संसार को सच्ची शान्ति का पता दिया। इस कारण वे आज भी हमें अधिकाधिक पथदर्शक और प्रासंगिक प्रतीत होते हैं। आज लोग उनकी वाणी को भूल गए हैं, उनके बताए हुए रास्ते को खो बैठे हैं, तभी यह अशान्ति तभी यह विद्वेष और तभी यह संघर्ष देश, समाज और व्यक्ति के जीवन में प्रवेश करता जा रहा है।"[31] उत्तर प्रदेश के मथुरा के वृन्दावन में चैतन्य महाप्रभु ब्रज वृन्दावन आगमन पंचशती समारोह में राष्ट्रपति प्रणव मुखर्जी ने बतौर मुख्य अतिथि समारोह को सम्बोधित करते हुए कहा कि "आज समाज अगर चैतन्य महाप्रभु के सन्देश को आत्मसात कर ले तो सहनशीलता और सहिष्णुता का माहौल बन जाए। चैतन्य महाप्रभु ने अब से पाँच सौ साल पहले कृष्णावली स्थली वृन्दावन को संगीत के माध्यम से भक्ति की नई राह दिखाई। उसी धरा पर राष्ट्रपति ने आज भक्ति की शक्ति का अर्थ समझाया। सामाजिक सद्भाव कायम करने में चैतन्य महाप्रभु के योगदान की चर्चा करते हुए कहा कि जब देश में विषम हालात थे, सामाजिक कटुता थी तब महाप्रभु ने अपनी प्रेम वाणी से अनेकता में एकता स्थापित की। महाप्रभु का यही व्यक्तित्व दुनिया के लिए मिसाल है।"[32] राष्ट्रपति ने मौजूदा हालातों का जिक्र किए बिना कहा कि ये मौका खुद को चैतन्य करने का है।

उपर्युक्त विवेचन के आधार पर हम निष्कर्षतः यह कह सकते हैं कि समाज में सामाजिक समरसता की प्रतिस्थापना हेतु चैतन्य महाप्रभु की शिक्षा तथा उपदेश उस समय में जितने प्रासंगिक थे, उतने ही आज भी प्रासंगिक और कालजयी हैं।

सन्दर्भ सूची

1. श्रीचैतन्यदेव - श्रीसुन्दरानन्द विद्याविनोद, पृ. 11-12
2. पूर्ववत - पूर्ववत, पृ. 11-12
3. श्रीश्रीचैतन्य चरितावली-प्रभुदत्त ब्रह्मचारी, पृ. 013
4. पूर्ववत् - पूर्ववत्, पृ. 01
5. पूर्ववत् - पूर्ववत्, पृ. 09
6. पूर्ववत् - पूर्ववत्, पृ. 12
7. श्रीचैतन्यदेव - श्रीसुन्दरानन्द विद्याविनोद, पृ. 417
8. श्रीचैतन्य महाप्रभु - अमृतलाल नागर, पृ. 119
9. श्रीचैतन्यदेव - श्रीसुन्दरानन्द विद्याविनोद, पृ. 101
10. श्री चैतन्य महाप्रभु का जीवन एवं शिक्षा - श्री भक्तिविनोद ठाकुर हिन्दी अनुवाद श्रीमती कृष्णाकुमारी श्रीवास्तव, पृ. 65
11. पूर्ववत् - पूर्ववत्, पृ. 65

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

12. श्रीचैतन्य महाप्रभु — अमृतलाल नागर, पृ. 97
13. श्रीश्रीचैतन्य चरितावली - प्रभुदत्त ब्रह्मचारी, पृ. 267
14. पूर्ववत् - पूर्ववत्, पृ. 272
15. श्रीचैतन्य महाप्रभु - अमृतलाल नागर, पृ. 12
16. श्रीचैतन्य महाप्रभु का जीवन एवं शिक्षा - श्री सच्चिदानन्द भक्तिविनोद ठाकुर अनुवादिका श्रीकृष्णाकुमारी श्रीवास्तव, पृ. 66
17. श्रीचैतन्य महाप्रभु की जीवन एवं शिक्षा, पृ. 64
18. भारत की सन्त परम्परा और सामाजिक समरसता - डॉ. कृष्ण गोपाल, पृ. 200
19. श्रीचैतन्य महाप्रभु की जीवन एवं शिक्षा, पृ. 64
20. पूर्ववत्
21. श्रीचैतन्य महाप्रभु की जीवन एवं शिक्षा, पृ. 65
22. पूर्ववत् - पूर्ववत्, पृ. 68, 69
23. पूर्ववत् - पूर्ववत्, पृ. 64
24. पूर्ववत् - पूर्ववत्, पृ. 66
25. श्रीचैतन्यदेव — श्रीसुन्दरानन्द विद्याविनोद, पृ. 424
26. पूर्ववत्, पृ. 422
27. श्रीश्रीचैतन्य चरितावली - प्रभुदत्त ब्रह्मचारी, पृ. 14
28. श्रीचैतन्यदेव - श्रीसुन्दरानन्द विद्याविनोद, पृ. 02-03
29. पूर्ववत्, पृ. 234-235
30. श्रीचैतन्य महाप्रभु — अमृतलाल नागर, पृ. 12
31. श्रीचैतन्यदेव — श्रीसुन्दरानन्द विद्याविनोद, पृ. 01-02
32. दै. जागरण समाचार-पत्र - प्रणव मुखर्जी 18 नवम्बर, 2015

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

प्रकृति-सम्पृक्त भारतीय धर्म-परम्परा

(श्रीमती) बिनय षडंगी राजाराम*

भारतीय धर्म की सनातनता का वैशिष्ट्य प्रकृति के साथ सम्पृक्त होकर नित-नूतन आविष्कारों का मार्ग प्रशस्त करना रहा है। कोई भी मार्ग अन्तिम सत्य नहीं है और कोई भी खोज अन्तिम परिणति नहीं है। यही नित्य-नूतन परिवर्तनीयता **धर्मचक्र प्रवर्तन** के आधार बनते रहे हैं।

भारतीय धर्म धारा वेदों-उपनिषदों से होते हुए राम कृष्ण तथा बुद्ध तक पहुँचकर विविध मार्गों एवं आयामों को प्रशस्त करती हुई आज तक प्रवाहित होती आ रही है। इस निरन्तरता की पृष्ठभूमि में भारतीय संस्कृति का प्रकृति के साथ एकात्म भाव सर्वाधिक महत्त्वपूर्ण है। कहा जाए तो भारतीय धर्म और दर्शन का आधार ही **प्रकृति** है। **प्रकृति** सर्जक है, **प्रकृति** नियामक है। **प्रकृति से सम्पृक्ति** ही भारतीय 'अवतारों' को ईश्वर बनाती है। **अवतारवाद** प्रकृति के विकास के साथ ईश्वर को जोड़ने की अद्‌भुत परिकल्पना है। परमात्मा की विशेष शक्ति 'माया' से सम्पृक्त होकर अवतार रूप में प्रकट होती है।

अवतारवाद के सम्बन्ध में ऋग्वेद में ही प्रमाण देखने को मिलते हैं–

"रूपं रूपं प्रतिरूपो बभूव तदस्य रूपं प्रतिचक्षणाय।
इन्द्रो मायाभिः पुरुरूप ईयते युक्ता ह्यस्य हरयः शता दश।"

–भगवान भक्तों के प्रार्थनानुसार प्रख्यात होने के लिए माया के संयोग से अनेक रूप धारण करते हैं। उनके शत-शत रूप हैं।"[1]

भगवद्‌गीता में स्वयं कृष्ण द्वारा कहा गया है–

"परित्राणाय साधूनां विनाशाय च दुष्कृताम्।
धर्म संस्थापनार्थाय सम्भावामि युगे-युगे॥"[2]

*डॉ. (श्रीमती) बिनय षडंगी राजाराम, सम्पर्क–एच-8, 'सप्तवर्णी', सूर्या आवासीय परिसर, राजा भोज कोलार मार्ग, भोपाल (म.प्र.)-462042, दूरभाष-02493678, 6536618, मो. 09826215072

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

– अर्थात् साधु पुरुषों का उद्धार करने के लिए, पाप कर्म करने वालों का विनाश करने के लिए और धर्म की स्थापना करने के लिए मैं युग-युग में प्रकट हुआ करता हूँ।

शतपथ तथा तैत्तरीय ब्राह्मण ग्रन्थों में **'कच्छप'** एवं **'शूकर'** अवतारों का उल्लेख मिलता है। **'वामन'** अवतार के रूप में तीन पग से सम्पूर्ण धरती को नाप लेने का प्रसंग ऋग्वेद एवं ब्राह्मण ग्रन्थों में भी आया है।

पुराणों में 24 अवतारों का वर्णन मिलता है – (1) **नारायण** (विराट पुरुष) (2) **ब्रह्मा** (3) **सनक**–सनन्दन – सनत् कुमार-सनातन (4) **नर-नारायण** (5) कपिल (6) **दत्तात्रेय** (7) **सुयश** (8) **हयग्रीव** (9) **ऋषभ** (10) **पृथु** (11) **मत्स्य** (12) **कूर्म** (13) **हंस** (14) **धन्वन्तरि** (15) **वामन** (16) **परशुराम** (17) **मोहिनी** (18) **नृसिंह** (19) **वेदव्यास** (20) **राम** (21) **बलरामं** (22) **कृष्ण** (23) बुद्ध (24) **कल्कि।**

विभिन्न ग्रन्थों में अवतारों की संख्या भिन्न-भिन्न कही गई है, किन्तु **'दस अवतार'** बहुमान्य हैं, जिनमें कल्कि अवतार भविष्य के अवतार माने जाते हैं। परमात्मा अर्थात् विष्णु के दशावतार हैं –(1) **मत्स्य** (2) **कूर्म** (3) **वराह** (4) **नृसिंह** (5) **वामन** (6) **परशुराम** (7) **राम** (8) **कृष्ण** (9) **बुद्ध** (10) **कल्कि।**[3]

दशावतारों की परिकल्पना सर्वाधिक स्पष्ट एवं सर्वमान्य स्वरूप में लोकप्रिय हुई है 11वीं शती के संस्कृत कवि **जयदेव** के **'गीत गोविन्द'** से। जयदेव ने कृष्ण को परम ईश्वर स्वीकार करते हुए 'दशावतार' में कृष्ण को सम्मिलित न कर **'हलधर'** को अष्टम अवतार स्वीकार किया है। प्रायः भारतीय मन्दिरों आदि में अंकित चित्रांकन एवं शिल्पांकन जयदेव विरचित 'गीत-गोविन्द' में वर्णित दशावतार के आधार पर हुआ है।

'अवतारवाद' अपने-आप में प्रकृति के विकास के साथ ईश्वर को जोड़ने की अद्भुत सार्थक परिकल्पना है। सृष्टि विकास के क्रम में सम्पूर्ण धरती का जलमग्न होना स्वीकार्य है। इस जलमग्न धरती पर श्रेष्ठ जलचर के रूप मे 'मत्स्य' का विकास, जिसे भारतीय धर्म परम्परा में **मत्स्यावतार** की संज्ञा दी गई। **'मत्स्यावतार'** की व्यापक चर्चा **'मत्स्य पुराण'** में हुई है जो पुराणों में सबसे प्राचीन माना जाता है। प्रलय काल में सृष्टि-बीजों के साथ वेद एवं वैवस्वत मनु की रक्षा हेतु मत्स्यावतार के रूप में ईश्वर ने अवतार ग्रहण किया।

"प्रलय पयोधि जले धृतवानसि वेदम्, विहितवहित्र चरित्रमखेदम्।
केशव धृत मीन शरीर जय जगदीश हरे॥"[4]

यह कथा अपने मूल रूप में विश्वव्यापी है **'ओल्ड टेस्टामेण्ट'** में ऐसे ही जल-प्लावन की कथा कही गई है, जिसमें पवित्र आत्मा 'नोआह' या 'नूह' के सकुशल बचने का वर्णन किया गया है।

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

God went and spoke to Noah. "I am going to send a flood that will wash this wicked old world away" said god. "I want you to build a boat — an ark — on which to save all that will be needed for a new world to begin.[5]

ऋषि **मनुः** तथा **नूह** के नाम सह अन्य सम्पूर्ण कथा में जो साम्य दिखाई देता है, वह इस कथा के एक स्रोत की ओर संकेत करता है।

दूसरे अवतार के रूप में **'कूर्मावतार'** का तथा तृतीय अवतार के रूप में **'वराह'** अवतार का उल्लेख मिलता है। शतपथ ब्राह्मण में कहा गया है कि **'कच्छप'** का रूप धारण कर प्रजापति ने शिशु को जन्म दिया। तैत्तिरीय ब्राह्मण के अनुसार प्रजापति ने **शूकर** का रूप धारण कर महासागर के अन्तस्थल से पृथ्वी को ऊपर उठाया।[6]

इन दोनों कथाओं में अवतारवाद के प्रारम्भिक स्वरूपों के दर्शन होते हैं, जो पश्चात्वर्ती समय में स्वीकृत सिद्धान्त के रूप में मान्य हुए।

कूर्म एवं वराह अवतार की कथाएँ धरती पर जीवन के विकास की कथाएँ हैं, जल-थल मय इस चराचर जीवन के शैनः-शनैः प्रकटीकरण की कथाएँ हैं। उभयचर कच्छप, **अवतार** रूप में प्रारम्भिक सृष्टि निर्माता तो हैं ही, समुद्र के गर्भ में छुपे अजस्र रत्नों को बाहर निकालने के प्रयासों के भी साक्षी हैं। **'कूर्म अवतार'** के साथ समुद्र मन्थन की कथा जुड़ी है, जो महोदधि के विशाल जलराशि में छिपे विविध एवं बहुमूल्य साधनों-संसाधनों का मानव जाति के हित के लिए दोहन के प्रयासों का भी प्रतीक है।

दैवीय एवं आसुरी प्रवृत्तियों के प्रतीक रूप सुरासुरों द्वारा मिलकर समुद्र मन्थन किया जाना किसी कार्य को सम्पूर्ण करने हेतु सामाजिक एकता के ज्ञान का द्योतक है। किन्तु, प्राप्त रत्नादि पर देवों का आधिपत्य उनके बौद्धिक बल का तथा असुरों द्वारा बारम्बार देवताओं से हारना उनके बुद्धि-दौर्बल्य का प्रतीक है। भारत की प्राचीन कथाओं में असुरों का शारीरिक बल-सम्पन्न होना विशेष रूप से रेखांकित किया जाता रहा है। समुद्र मन्थन की इस कथा में भी कूर्म रूप विष्णु के ऊपर रखे मन्दर पर्वत को जब वासुकी सर्प की रज्जू बनाकर मन्थन प्रारम्भ किया तो वासुकी के मुख की ओर असुरों को रहना पड़ा। समुद्र मन्थन में **अमृत** की प्राप्ति हुई जिसे असुर भी पीना चाहते थे। यहाँ विष्णु ने पुनः चतुराई से **मोहिनी** रूप धारण कर नृत्यादि अभिनय द्वारा दानवों को छलपूर्वक अमृत से दूर रखा। अमृत ग्रहण की इस कथा में सिंहिका एवं विप्रचित्तिका के दुष्ट पुत्र **'राहु'** ने चतुराई से सूर्य और चन्द्रमा की चमकती किरणों के मध्य स्थान बनाकर मोहिनी को भ्रम में रख अमृत चख लिया। सूर्य और चन्द्रमा दोनों ने **केतु** की उपस्थिति से मोहिनी को अवगत कराया, तब विष्णु ने सुदर्शन चक्र से उसके दो टुकड़े कर दिए। वह मरा नहीं। अमृत की कुछ बूँदें वह ग्रहण कर चुका था, अतः उसका सिर राहू बन गया और धड़ **केतु**। सूर्य एवं चन्द्रमा द्वारा उनकी

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

पहचान बता दिए जाने का बदला ये **राहु-केतु** तब से आज तक, समय-समय पर उन्हें अपनी परछाईं से ग्रस करके लेते हैं, जिसे हम **सूर्य ग्रहण** अथवा **चन्द्र ग्रहण** के रूप में जानते हैं। राहु और केतु का परछाईं बनकर सूर्य एवं चन्द्रमा को निगलना आज वैज्ञानिक दृष्टि से कितना सटीक है, हम सब जानते हैं।

समुद्र मन्थन की कथा और भी कुछेक उपकथाओं से समृद्ध है। इस मन्थन से अमृत और **गरल** सह चौदह रत्न निकले थे। **श्री, कौस्तुभ, कल्पतरु, सुरा, धन्वन्तरी, चन्द्रमा, कामधेनु, ऐरावत, रम्भा, उच्चैःश्रवा, शार्ङ्क धनुष एवं पांचजन्य शंख**। गरल अर्थात् महाविष। इस महाविष को भगवान **आशुतोष** ने अपने कण्ठ में धारण किया और **नीलकण्ठ** कहलाए। समुद्र-कन्या **लक्ष्मी** को विष्णु ने पत्नी रूप में ग्रहण किया तथा **पांचजन्य, कौस्तुभ** मणि भी स्वयं के उपयोग हेतु रखा। आदि वैद्य **धन्वन्तरी** को प्राणी-मात्र के स्वास्थ्य की रक्षा हेतु धरती पर तथा शीतलता देने के लिए **चन्द्रमा** को आकाश भेजा। **कल्पवृक्ष, ऐरावत** हाथी, **उच्चैश्रवा** अश्व तथा अप्सरा **रम्भा** राजा इन्द्र को दे दिया गया। **कामधेनु** गाय पृथ्वी को नियन्त्रित करने वाले आदि राजा पृथु को दी। **कामधेनु** अर्थात् गाय, मानव जाति की प्रत्येक इच्छा की पूर्ति करने वाली **'आदि-माता'**। समुद्र मन्थन का सम्पूर्ण प्रयास **अमृत** तत्त्व की प्राप्ति के लिए था जिसे हर कोई पा लेना चाहता था। **अमृत** –जो इस चराचर में व्याप्त **पंचतत्त्व** का सार है, **वनस्पतियों** का आधार है। उन्हीं से ही समस्त संसार है। अमृत की एक बूँद प्राप्त करने के लिए ही यह सारा **जीवन** है यह जानना आवश्यक है।

कथानुसार **अमृत कलश** को सर्वप्रथम कुश के आसन पर रखा गया था। जिसकी रक्षा का दायित्व नाग-वंश का था। अमृत कलश को उचित स्थान तक ले जाने का कर्तव्य विष्णु के वाहन गरुड़ का था। सर्पों से छुड़ाकर अमृत कलश को ले जाने वाले गरुड़ और सर्प में जातीय वैमनस्य यहीं से प्रारम्भ हुआ। कलश के न रहने पर सर्पों ने कुशघास को चाटकर अमृत के अंशमात्र को ही प्राप्त कर लेना चाहा तो उनकी जिह्वा कुशघास की तीक्ष्णता से कट गई। आज तक भी समस्त सर्प कुल द्विजिह्वीय हैं।

गरुड़ जब कलश को देव भूमि की ओर ले जा रहे थे तब अमृत की कुछ बूँदें धरती पर छलक गईं। जहाँ-जहाँ ये बूँदें गिरीं, वहाँ-वहाँ जल-तीर्थ विकसित हुए और जिन मुहूर्त एवं घटी में अमृत की बूँदें छलकीं उन मुहूर्तों में, उन स्थानों पर अमृत-योग बरसता है। **अमृत-योग** के उन क्षणों को आत्मसात करने का महोत्सव है **'कुम्भ'**। नासिक, उज्जैन, इलाहाबाद एवं हरिद्वार में गिरी उन अमृत बूँदों को हम बारम्बार उन्हीं मुहूर्तों में पुनः-पुनः स्मरण करते हैं, अनुभव करते हैं और उनका लाभ उठाते हैं। अर्थात् तीन वर्षों के अन्तराल में इन चार स्थानों में **'कुम्भ महोत्सव'** का आयोजन होता है। कुम्भ मेले का महत्त्व अमृत की बूँदों से जुड़ा है, उसके **अमृत मुहूर्त** की

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

गणना से जुड़ा है। बिना किसी पूर्व व्यवस्था अथवा पूर्व सूचना के इतने विशाल मेले की कल्पना करना आज के इस दूर संचार तकनीकी युग में भी दुष्कर है तो फिर उन पूर्व-कालों में इसकी व्यापकता कितनी आश्चर्यचकित करती होगी।

किसी धार्मिक रीति के सामाजिक सरोकार और मानवीय औदात्य-बन्धन का इतना सशक्त उदाहरण दुर्लभ है।

सृष्टि विकास के क्रम में प्रारम्भिक चतुष्पदीय पशु बलशाली **'वराह'** है जो भारतीय धर्म परम्परा में तृतीय अवतार के रूप में स्वीकृत हैं। हिरण्याक्ष नामक राक्षस द्वारा पृथ्वी को समुद्र की गहराई अर्थात् पाताल में ले जाकर छुपा दिए जाने पर विष्णु ने तीक्ष्ण अर्ध चन्द्राकार दाँतों को धारण करने वाले बलशाली वराह का रूप धारण किया और पृथ्वी को अपने दाँतों में उठाकर ऊपर ले आए। **'वराह पुराण'** में इस कथा का विस्तृत वर्णन मिलता है। जयदेव रचित **गीत गोविन्द** में भी इस अवतार का बहुत सुन्दर वर्णन हुआ है। कवि लिखते हैं जैसे चन्द्रमा कलंक के साथ शोभा पाता है वैसे ही दाँतों के मध्य धरती को धारण करने वाले वराह के रूप में केशव ने अवतार ग्रहण किया–

"वसति दशन शिखरे धरणी तव लग्ना, शशिनि कलंक कलेव निमग्ना।
केशव धृत शूकर रूप, जय जगदीश हरे॥"[7]

श्रीमद्भागवत में वराह का वर्णन **'यज्ञ वराह'** के रूप में किया गया है।

'वराह' अवतार शारीरिक सौष्ठव और बल का प्रतीक है। इस अवतार की आराधना भारतवर्ष में लम्बे समय तक होती रही। गुप्त काल में भी इस अवतार की आराधना के व्यापक सन्दर्भ-संकेत मिलते हैं।

विष्णु के अगले अवतार के रूप में **'नृसिंह'** अवतार की कल्पना की गई है। नर एवं सिंह के सम्मिलित स्वरूप में नृसिंह का अवतार हिरण्य कश्यप की अजेय आसुरी प्रवृत्तियों पर विजय प्राप्त करने तथा प्रह्लाद जैसे धर्म-प्रवण, मानवीय भावनाओं से ओत-प्रोत राजा के उत्थान की कथा है। प्रह्लाद हिरण्य कश्यप का विष्णुभक्त पुत्र था, जिसे समाप्त करने हेतु उसके राक्षस पिता ने अनेक प्रयत्न किए, किन्तु विफल रहा। 'नृसिंह पुराण' में विस्तार के साथ हिरण्यकश्यप के दुराचारों के बारे में कहा गया है–

"न यष्टव्यं न होतव्यं न दातव्यं सुरान् प्रति।
युष्माभिरहमेवाद्य त्रैलोक्याधिपतिः प्रजा।
ममैव पूजां कुरुत यज्ञ दानादिकर्मणा।" – (नृसिंह पुराण। 40। 18-19)[8]

अहंकारी, क्रोधी हिरण्य कश्यप को मृत्यु दण्ड देने के लिए राजदरबार के एक स्तम्भ से नृसिंह भगवान विकराल रूप के साथ प्रकट हुए। न दिन में न रात में, न घर

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

में न बाहर, न आकाश में न धरती पर, न नर द्वारा न पशु द्वारा और न अस्त्र से न शस्त्र से किसी भी स्थिति में न मरने का वरदान प्राप्त करने वाले हिरण्यकश्यप को 'नृसिंह' रूप भगवान ने सन्ध्या काल में दरवाजे की देहरी पर अपनी जंघा के ऊपर रखकर तीक्ष्ण नखों से उसे विदीर्ण करके उसको मोक्ष दिया और अपने-आपको अजर-अमर ईश्वर मानने की भूल करने वाले एक निरंकुश क्रूर एवं आतताई राजा से प्रजा को मुक्त किया।

"यदा यदा ही धर्मस्य ग्लानिर्भवति भारत।
अभ्युत्थानम धर्मस्य तदात्मानं सृजाम्यहम्॥"[9]

— जब-जब भी धर्म की हानि होगी, अधर्म बढ़ेगा, तब-तब मैं धर्म की रक्षा करने हेतु अपने-आपको सृजित करूँगा।

सृष्टि विकास का क्रम यहाँ स्पष्ट है। यह अवतार मानवीय प्रकृति के मानसिक विकास क्रम का परिचायक भी है।

अवतार क्रम में अगले अवतार के रूप में **'वामन'** अवतार का आविर्भाव माना जाता है। अति दानी राक्षसराज **बली** के अहं का नाश करने के उद्देश्य से भगवान ने **वामन** रूप धारण किया। ऋग्वेद के विष्णु सूक्त में अवतार के इस कथा का मूल उत्स देखने को मिलता है। शतपथ ब्राह्मण तथा वामन पुराण में विस्तृत वर्णन भी मिलता है। तीन पग धरती की याचना करते वामन—बटुक रूप विष्णु ने एक पग में सम्पूर्ण आकाश नाप लिया, दूसरे पग में सारी धरती। तीसरा पग रखने हेतु बली ने अपना सिर झुकाकर सम्पूर्ण समर्पण कर दिया। राजा बली समझ गए कि यह **वामन** साधारण नहीं है। भगवान ने बली को पाताल भेज दिया, किन्तु उनके **'सम्पूर्ण समर्पण'** का मान रखते हुए भगवान ने उन्हें वर्ष में एक दिन धरती पर आकर अपनी प्रजा से मिलने की अनुमति दी। प्रजा वत्सल, महादानी राजा बली के सम्मान में आज भी केरल में ओणम का त्यौहार बड़ी धूमधाम से मनाया जाता है।

तीन पग में सम्पूर्ण धरती को नाप लेने का जो प्रतीक वामन अवतार के साथ जुड़ा है, वह मानव विकास-क्रम में आकाश, पाताल एवं धरती अर्थात् जल-थल-नभ पर मनुष्य के विजय की कथा है।

वामन अवतार के पश्चात् **'परशुराम'** का अवतार उस क्रोध का प्रतीक है, जो जीवन में सामंजस्य को बनाए रखने के लिए मनुष्य के भीतर सदैव विद्यमान रहता है।

परशुराम का अवतार सामाजिक सामंजस्य को साकार करने के लिए, दुर्दान्त क्षत्रियों की युद्ध-लोलुपता पर अंकुश लगाने के लिए तथा समाज में ब्राह्मण-वर्ग की निरीहता को तेजस्वी स्वरूप प्रदान करने के लिए हुआ था। ब्रह्म शक्ति एवं क्षत्र शक्ति के सामंजस्य से ही इस समाज का उद्धार सम्भव है; परशुराम-चरित का यही मूल मन्त्र है।

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

परशुराम के पिता जमदग्नि ऋषि को कार्तवीर्य अर्जुन ने प्रतिशोध लेने के लिए मार दिया था। कार्तवीर्य ही नहीं, अन्य योद्धा क्षत्रिय भी दुष्ट, ब्राह्मण-द्रोही और तमोगुणी हो रहे थे, अतः परशुराम ने उनका वध किया।

"दुष्टं क्षत्रं भुवो भारमंब्रह्मण्यमनीनशत।
रजस्तमोवृत महन् फल्गुन्यपि कृतोऽहसि॥"

(श्रीमद भागवत 9/15/15)[10]

महाभारत के सभापर्व में उल्लेख है कि क्षत्रियों से पीड़ित ब्राह्मण राम-राम कहकर आर्त्तनाद करते थे। भृगुनन्दन को अपने उद्धार के लिए कातर स्वर में बुलाते थे, तब भगवान परशुराम ने उन्हें बचाने के लिए क्षत्रियों का संहार किया—

"रामरामेत्यभिक्रुष्टो ब्राह्मणैः क्षत्रियदितैः। न्यघद दश सहस्राणि नामः परशुनाभिभूः।
न ह्यमृष्यत तां वाचमार्तैर्भुश मुद्रीरिताम्। भृगो रामाभिधावेति यदा क्रन्दन द्विजातयः।

(महाभारत सभापर्व—अर्धाभिहरण पर्व 38 अध्याय)

महाभारत के वन पर्व में चित्ररथ नामक विलासी राजा का वर्णन आता है, जिसने परशुराम की माता रेणुका के साथ दुर्व्यवहार किया, जिसका दण्ड रेणुका को भोगना पड़ा था।

"सा तु चित्ररथं नाम कार्तिकावर्तकं नृपम्।
ददर्श रेणुका राजन्नागच्छन्ती यदृच्छया।
कीडन्तं सलिले दृष्टवा स भार्यपद्ममालिनम्।"

(महाभारत वनपर्व, तीर्थ यात्रा पर्व—111/6-7)

ऋषि जमदग्नि ने कारणवश क्रोध में आकर अपने क्रोधी पुत्र परशुराम को मातृ-हत्या की आज्ञा दे दी। पिता के आज्ञाकारी पुत्र ने माता रेणुका का शिरोच्छेदन कर दिया। यद्यपि परशुराम ने पिता से वरदान स्वरूप पुनः माता का जीवन दान प्राप्त कर लिया था, तब भी मातृ-हत्या भाव की ग्लानि से विचलित परशुराम ने वर्षो की तपस्या के उपरान्त ज्ञान प्राप्त् कर समुद्र के तटीय क्षेत्रों में नारियल के वृक्षों का रोपण करके, सिर के बदले सिर अर्थात नारियल फलों का दान करते हुए लोहित कुण्ड पहुँच, ब्रह्मपुत्र में स्नान कर मातृहत्या के पाप से विरत होने का प्रयास किया।

परशुराम की अवतार कथा में जिस सामाजिक समरसता का बीज छुपा है, वही आगे चलकर **'दाशरथी राम'** अवतार के प्रकटीकरण का प्रमुख कारण बना। राम का जन्म गंगा के उत्तरी पठार से लेकर दक्षिण में रामेश्वरम् तथा श्रीलंका तक के समस्त वन-प्रान्तर सह वनवासियों के साथ सम्बन्ध स्थापित करने के महत् उद्देश्य से हुआ था।

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

'राम' ऋषि संस्कृति के संरक्षक बनकर अवतरित हुए और उन्हीं को संरक्षित करते हुए चौदह वर्षों का वनवास लेकर तमाम दुष्ट, कुटिल राक्षसों का संहार करते हुए महापातकी, दुराचारी, दुर्दमनीय राक्षस लंकाधिपति रावण का वध कर राक्षसों के आतंक से धरती का उद्धार किया। सीता स्वरूप स्वयं लक्ष्मी ने इस महत कार्य में राम का साथ दिया। सम्पूर्ण **वाल्मीकि रामायण** राम कथा के मर्म एवं कर्म को शब्द स्वरूप में साकार करने वाला साधन है, जिसकी साधना जन्म-जन्मान्तर तक करते रहें, तब भी उसका ठीक-ठीक थाह पाना दुष्कर है। यही कारण है कि हजारों वर्षों से साहित्य साधकों द्वारा उपजीव्य बने रहने के बाद भी **रामायण** आज तक अनेकानेक अर्थ-उपार्थों, कथा-उपकथाओं एवं उसके पात्रों-सहपात्रों को नित-नवीन रूपों में समझते रहने की प्रक्रिया जारी है। यही इस कथा के सम्पूर्ण निःसर्ग के साथ समरसता का प्रतीक है।

शरणागत वत्सल **'राम'** की प्रतिज्ञा है कि वे दण्डकारण्य के उस गहन सुरमय वन प्रान्तर को राक्षसों की हिंसा से बचाएँगे। जंगल में जहाँ उत्पाती राक्षसों का जोर है, वहीं वनचर विभिन्न प्राणियों का निवास भी है। सीता धरती पुत्री हैं, प्रकृति के प्रति सदय हैं इसलिए राम से आग्रह करती हैं कि धनुष-बाण से आप मात्र राक्षसों का ही संहार करेंगे, वनचारी निरीह पशु-पक्षियों का नहीं।

"क्षत्रियाणां तु वीराणां वनेषु नियतात्मनाम्।
धनुषा कार्यमेतावदार्तानामभिरक्षणम्॥"[11]

(अरण्यकाण्ड 9वाँ सर्ग-26)

सम्पूर्ण रामायण वृक्ष-लताओं सह वन में विचरण करने वाले विभिन्न पशु-पक्षियों के साथ राजपुरुष राम के मित्रवत समन्वय स्थापित करने की कथा है। रावण द्वारा छल से सीता का अपहरण तो कारण मात्र है राक्षसी आततताइयों से वनों की रक्षा करने का। इस प्रयत्न में जटायु तथा सम्पाति जैसे पक्षियों के साथ वानर, भल्लुक आदि का साथ-साहचर्य राम की विजय यात्रा की साधक-सेना थी।

वस्तुतः राम की जिस वानर सेना को आज हम बन्दरों एवं रीछों की सेना समझते हैं वे वास्तव में **'हरि'** के अंश हैं। वन प्रान्तरों में रहने वाले अनेक जातियों के वीर, बुद्धिमान तथा अनेक विशिष्ट शक्तियों के स्वामी। वे सामान्य मनुष्यों से अधिक शक्तिशाली, गुणात्मक गुणों से ओतप्रोत वनवासी हैं। उन्हीं वनवासियों से मित्रता स्थापित कर उनकी शक्तियों को अपनी शक्ति से समन्वित करने हेतु राम ने वनवास स्वीकार किया था। नगर एवं वनवासियों की सम्मिलित शक्ति से ही राक्षसों के आतंक को समाप्त करना सम्भव था। **'राम'** ने वही किया। यही **'राम'** अवतार का उद्देश्य भी था।

'राम' द्वारा निर्मित **'सेतु समुद्रम'** के उल्लेख के बिना इस कथा के पर्यावरणीय महत्त्व को ठीक से समझा नहीं जा सकता। वानर सेना के कुशाग्र बुद्धि अभियन्ता

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

नल-नील के संयोजन में भारत और श्रीलंका के मध्य जो सेतु बनाया गया था वह न केवल अद्भुत है, अपितु एक आश्चर्यजनक सत्य भी है। आज हजारों वर्ष बाद अत्याधुनिक अनुसन्धानों (नासा) द्वारा उस सेतु की सत्यता प्रमाणित हो चुकी है। पर्यावरणविदों का मानना है कि यदि उस सेतु को नष्ट किया गया तो सुनामी जैसे विनाशकारी महाचक्रवात भारतीय उपमहाद्वीप के अन्तरीप क्षेत्र को नष्ट कर सकते हैं।

भगवान **'राम'** ने जिस सेतु का निर्माण किया था, वह भारत और श्रीलंका को जोड़ने के साथ-साथ भारतीय सागर-सम्पदा का रक्षक भी था, जो आज तक अपना कार्य कर रहा है।

रामकथा की समरस जीवन-शैली, सामाजिक समरसता, वसुधैव कुटुम्बकम् का ज्ञान, पात्रों की प्रतीकात्मकता, वन संस्कृति के साथ शहरी संस्कृति का अद्भुत समन्वय जैसे अनेकानेक अद्वितीय महत्त्वों के कारण भारत ही नहीं भारत के बाहर बसे सूक्ष्म अथवा वृहत्तर भारत की सीमाओं को पार करता आज भी सम्पूर्ण विश्व को उद्वेलित, प्रभावित एवं आकर्षित करते आ रहे हैं।

थाइलैण्ड, कम्बोडिया, बाली, सुमात्रा, जावा, मलेशिया, इण्डोनेशिया और चीन तक में रामकथा अनेक रूपों में व्याप्त है। नाट्य रूपान्तरों एवं प्रस्तर में खुदे शिल्पों के द्वारा वे वर्तमान समय में भी जीवन्त हैं। आज मॉरीशस, फीजी आदि भारतवंशियों के नव उपनिवेशों में भी रामकथा तुलसीकृत **'मानस'** के रूप में पहुँचकर आस्था के नवीन स्रोतों को संस्थापित कर रही है।

रामावतार के बाद **'कृष्ण'** अवतार का नाम उद्धृत है। किन्तु, नृसिंह पुराण में ऋषि मार्कण्डेय ने **'कृष्णस्तु भगवान स्वयं'** मानते हुए दशावतार में उनका वर्णन नहीं किया है। जयदेव ने भी कृष्ण को ही विष्णु रूप मानकर **'केशव धृत मीन शरीर'** या **'केशव धृत वामन रूप'** आदि कहते हुए गीत गोविन्द की रचना की है। जयदेव ने अष्टम अवतार के क्रम में **हलधर** का नाम लेते हुए लिखा है–

"वहसि वपुषि विशदेवरानं जलदाभम्।
हलहिति भीति मिलित यमुनाभम्।
केशव धृत हलधर रूपं, जय जगदीश हरे॥"[12]

हलधर अर्थात् कृषक। कृषक अन्नदाता है, पोषणकर्ता है, साक्षात् विष्णु का अवतार है। कृषि प्रधान भारत देश में हलधर की महत्ता स्थापित करने हेतु बलदेव को अवतार की श्रेणी में रखा गया है। बलदेव के मन्दिर कम हैं, किन्तु जगन्नाथ के साथ वे विशेष रूप से पूजा पाते हैं।

"अवतारवाद के सिद्धान्त के अनुसार **'कृष्ण'** विष्णु के मानवीयकरण हैं, जिसकी अवतारणा एक विशेष उद्देश्य को लेकर हुई थी।"[13]

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

कृष्ण शब्द के प्रथम दर्शन ऋग्वेद (8.26) में देखने को मिलता है जहाँ कृष्ण एक ऋषि का नाम है।

'छान्दोग्य उपनिषद्' में कृष्ण देवकी-पुत्र एवं अंगीरस के शिष्य हैं। ग्रियर्सन तथा गार्वे आदि पश्चिमी विद्वान इन्हें ही महाभारत के नायक कृष्ण के रूप में मानते हैं।[14]

पुराणों में कृष्णचरित का व्यापक एवं वैविध्यपूर्ण वर्णन प्राप्त होता है। 'भागवत', 'हरिवंश', 'विष्णु' एवं 'ब्रह्म वैवर्त' पुराणों में कृष्ण की अनेकानेक लीलाओं के वर्णन प्राप्त होते हैं। **'ब्रह्म वैवर्त'** एवं 'विष्णु पुराण' के अनुसार कृष्ण-बलराम दोनों भाइयों ने ऋषि **सान्दीपनी** से अस्त्र-शस्त्र विद्या का ज्ञान प्राप्त किया था। **'विष्णु धर्मोत्तर पुराण'** तथा **'वैखानस-आगम'** एवं **'शिल्प-रत्न'** नामक ग्रन्थ में कृष्ण तथा गोपियों की मूर्तियों से सम्बन्धित वर्णन मिलते हैं, जो यह दर्शाते हैं कि प्राचीन अभिलेखों में भी कृष्ण के होने के प्रमाण पाए जाते हैं। राजस्थान के हाथीवाड़ा नामक स्थान पर ई.पू. तीसरी शताब्दी का ब्राह्मी लिपि का शिलालेख प्राप्त हुआ है, जिसमें वासुदेव कृष्ण की पूज्य पाषाण मूर्ति रक्षावेदिका, नारायण वाटिका आदि का उल्लेख है।[15]

महाभारत जैसे कालजयी महाकाव्य के नायक **'श्री कृष्ण'** अपने समय के महान दार्शनिक, त्रिकालदर्शी राजनेता और अद्भुत नीतिज्ञ थे। अपने अद्वितीय चरित्र के कारण **वे पूर्णावतार** कहलाए।

भारतीय धर्म परम्परा में **कृष्ण** सम्पूर्ण कलाओं के साथ अवतरित हुए। शैशव अवस्था से ही उन्होंने अपने दैवीय गुणों का उद्घाटन करते हुए पूतना, यमलार्जुन, बकासुर, शकटासुर जैसे अनेक आतताइयों को मोक्ष दिया। वैदिक देवता इन्द्र की पूजा को नकारकर **गोवर्धन** पर्वत तथा **गो-धन** की पूजा को प्रतिष्ठित किया। भारतीय ग्रामीण अर्थव्यवस्था में गौ-धन के महत्त्व को समझकर कृष्ण ने गाय, गोवर्धन और गो-पालकों को समाज में श्रेष्ठ स्थान दिया। बाल-गोपालों की सहायता से **'ब्रज'** में दुग्ध-संरक्षण-योजना' को साकार किया। **'ब्रज'** को अतिवृष्टि से बचाने के लिए **गोवर्धन-धारण** किया और **कालीय नाग** के क्रोध से उन्हें बचाया।[16]

'कृष्ण' से जुड़ी ये कथाएँ **प्रतीक-प्रसंग** हैं, इसमें कोई सन्देह नहीं है। **कालीय नाग** को नाथने की कथा स्पष्टतः ब्रज-मथुरा आदि प्रान्तों की जीवन-रेखा के रूप में बहती **जमुना** जैसी महत्त्वपूर्ण नदी को भयानक **प्रदूषण से मुक्त** करने की प्रक्रिया से सम्बद्ध है। **'कृष्ण'** ने भयंकर वर्षा में गोवर्धन पर्वत के माध्यम से ब्रजवासियों की रक्षा की तो लगा **गोवर्धन पर्वत** को उन्होंने अँगुली में उठा लिया। इस प्रकार की वैज्ञानिक, तर्कसम्मत व्याख्याएँ आधुनिक कवि **पं. अयोध्या सिंह हरिऔध** ने अपने महाकाव्य प्रियप्रवास में बहुत खुलकर की है।*[17]

भारतीय उपमहाद्वीप में बहुतायत में पाए जाने वाले बाँसवनों का महत्त्व **'कृष्ण'** की बाँसुरी और **'बंशीवट'** में उनकी क्रीड़ाओं के कारण व्यापक तथा अर्थवान

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

बने। **'कृष्ण'** के कारण कदम्ब का वृक्ष, यमुना की कछार, ब्रज की धूलि, मथुरा के कारागार सब सामान्य से विशेष बन गए।

महाभारत का धर्मयुद्ध, निष्काम कर्मयोग की स्थापना का श्रेय **'कृष्ण'** को ही जाता है। **"कर्मण्येवाधिकारस्ते, मा फलेषु कदाचन।"** (गीता) कहकर कृष्ण ने जीवन में कर्म के महत्त्व को शीर्ष पर प्रतिष्ठित किया।

सामान्य से विशेष बनने की प्रक्रिया के साकार रूप हैं **भगवान श्री कृष्ण।**

सभी भारतीय भाषाओं के अजस्र वाङ्मय और अगणित लोक-कथाओं, गीतों में भक्ति, वात्सल्य, प्रेम, छल, बल और शौर्य के अद्वितीय नायक हैं **'कृष्ण'।**

'बुद्धावतार' विष्णु भगवान का नवम अवतार माना जाता है। डॉ. राजबली पांडे के अनुसार **बुद्ध** को विष्णु का अवतार मानना वैष्णव धर्म की व्याप्ति एवं उदारता का प्रतीक है। किन्तु, अवतारवाद के क्रम में भगवान बुद्ध का महत्त्व निर्विवाद हैं।

बुद्धावतार की कथा भागवत में तो है ही, विष्णु और अग्निपुराण में भी उनका वर्णन मिलता है। विष्णु और अग्नि पुराण के अनुसार देवताओं की रक्षा के लिए भगवान माया-मोह स्वरूपी बुद्ध अवतारमें शुद्धोधन राजा के पुत्र हुए। भगवान बुद्ध ने मोहक एवं चारु वचनों द्वारा समस्त असुरों को परास्त किया। बुद्ध के प्राकट्य के पूर्व देश-भर में वैदिक यज्ञ और ईश्वर के नाम पर पशु एवं नर बलियाँ प्रचलित थीं। धर्म के नाम पर इस प्रकार के भयानक कृत्य करने वाले 'असुरों' को सन्मार्ग पर लाने हेतु भगवान बुद्ध ने अवतार ग्रहण किया। मोहक चारु वचनों तथा मायावी कथन द्वारा यज्ञादि एवं पशुबलि का विरोध करने के कारण उन्हें पुराणों में माया-मोह स्वरूपी बुद्ध अवतार कहा।[18]

भगवान **बुद्ध** का अवतरण धर्म को बौद्धिकता के साथ जोड़ने के लिए हुआ था। बुद्ध ने सनातन धर्म को बुद्धिग्राह्य बनाया। समय के साथ समाज में छाए सृजनात्मक अपकर्ष को दूर करके धर्म की नई व्याख्या, जीवन जीने का नया मार्ग बताने वाले **गौतम बुद्ध** ने समग्र विश्व को अपने विचारों से प्रभावित किया। भारत की सृजनात्मक शक्ति से भरपूर उन्मुक्त आत्म चेतना को खुलकर जीने का, धर्म को वास्तविक अर्थ ग्राह्यता के साथ समझने एवं समूह में जीवन को विकसित करने का राजपथ दिखाने वाले अवतार पुरुष थे **गौतम बुद्ध।**[19]

बुद्ध का सम्पूर्ण जीवन, उनका व्यक्तित्व, उनके द्वारा प्रवर्तित धर्म सब कुछ प्रकृति से सामंजस्य की कथा कहते हैं। गौतम के जन्म के पूर्व माता **मायादेवी** को श्वेत हाथी के दर्शन होते हैं। हाथी भारतीय वनों का प्रतीक है। यह पूर्वाभास है **'आगत तथागत'** के प्रकृति से गहन जुड़ाव का। गौतम का जन्म लुम्बिनी वन में शाल वृक्ष के नीचे होता है। समस्त प्रकृति ईश्वर के आगमन पर प्रणत होती है।[20]

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

सम्भ्रान्त समाज से विरत होकर, राजकुल का परित्याग कर धर्म-ज्ञान की खोज में गौतम वनों की ओर उन्मुख होते हैं। यह मात्र संयोग नहीं है कि गौतम ध्यान के लिए **अश्वत्थ** वृक्ष का चयन करते हैं। अश्वत्थ वृक्ष के लिए कृष्ण ने गीता में कहा है कि **'वृक्षों में मैं अश्वत्थ हूँ।'** श्रेष्ठ ऊर्जा से भरपूर वृक्ष के सान्निध्य में, उसे ही गुरु मानकर गौतम ने दीर्घ साधना की। अस्वस्थ वृक्ष का उपनिषदत्व (गुरु के समीप बैठकर ज्ञान अर्जन करना) ग्रहण करते हुए गौतम ने **'बुद्धत्व'** प्राप्त किया। सुदीर्घ तप के पश्चात् नवीन ज्ञान के प्रकाश द्वारा बुद्ध ने **'धर्म-चक्र प्रवर्तन'** किया। ज्ञान-प्राप्ति के उपरान्त प्रथम उपदेश दिया 'वन' में। आगे चलकर 'जेतवन' को प्रमुखतः निवास का स्थान बनाया। नगरों से दूर वनों, उपवनों में निवास करते हुए निरन्तर **प्रवर्तन-दीक्षा** प्रदान करते रहे। वर्षा ऋतु के चार मास **'यात्रा-वर्जित'** रखा। कारण स्पष्ट है कि यह ऋतु वन-प्रान्तरों के विकास की ऋतु है। इन माहों में बीजों को विकसने-पनपने का, जंगलों के विस्तार का अवसर होता है। इन दिनों में वनों की यात्राएँ वर्जित थीं, ताकि **'संघ-समूह'** वन-मार्ग का उपयोग कर वन-सम्पदा को बाधित न करें।

तथागत के शिष्य—संघ वनों-पर्वतों के एकान्त में मठों का निर्माण कर उनमें निवास करते थे, ताकि चिन्तन मनन में कोई बाधा उपस्थित न हो। 'मठ' एवं 'संघ' की यह परम्परा न केवल भारतीय धर्म-समूहों में अपितु ईसाई, विशेषकर 'ऑर्थोडॉक्स' ईसाइयों में—**ग्रीस में** आज भी देखने को मिलती है।

बौद्ध धर्म की इस परम्परा के अतिरिक्त अहिंसा, शान्ति, करुणा, प्राणीमात्र के प्रति समभाव जैसे तमाम तात्त्विक विचारों सहित अनेक कथा-कहानियों ने बौद्ध धर्म के माध्यम से समग्र विश्व के सभी धर्मों में विस्तार पाया है। सर्वाधिक लोकप्रिय कथा तो स्वयं गौतम के जीवन की है जो मध्य एशिया — जॉर्जिया के मार्ग से होकर ग्रीस पहुँची और वहाँ **'वारलाम एवं योआसफ'** नाम से एक ईसाई सन्त तथा ईसाई धर्म में अनुप्रणीत राजकुमार की कथा बन गई।[21]

भारत को एक राष्ट्र का स्वरूप प्रदान करने वाले महान **सम्राट अशोक** ने तमाम क्रूर युद्धों के उपरान्त बौद्ध धर्म की शान्ति छाया में आकर विश्राम लिया। अशोक ने सम्पूर्ण एशिया महाद्वीप में **बौद्ध धर्म** के विकास में राजनीतिक शक्ति का सहयोग दिया। अश्वत्थ अर्थात् पीपल के पौधे को बुद्ध का प्रतीक बनाकर श्रीलंका एवं अन्य समीपस्थ देशों को भेजकर **भगवान बुद्ध** के विचारों को व्यापक रूप से प्रचारित-प्रसारित किया।

भगवान बुद्ध ने बलि-प्रथा का विरोध करते हुए **प्राणी-रक्षा** का जो मन्त्र दिया वह भारतीय धर्म-परम्परा का सर्वाधिक महत्त्वपूर्ण अंग बना। अहिंसा का यह मार्ग प्राणी मात्र से भी आगे वृक्ष-लताओं तक परिव्याप्त हुआ।

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

'पीपल' का वृक्ष कृष्णावतार का प्रतीक था तो बुद्ध अवतार का भी वही प्रतीक बना। यह भारतीय उपनिषद् परम्परा का विस्तार है। इस परम्परा का निर्वहन करना हमारा दायित्व बनता है। आज के समय में इसकी आवश्यकता भी है।

पौधों में प्राण, पौधों में भगवान, पौधों में हमारी संस्कृति का वास है। प्रकृति से सामंजस्य की यह परम्परा हमारे **'धर्म'** की सनातन परम्परा है जो **'अवतारवाद'** को कई-कई अर्थों में चिरन्तन सत्य के रूप में उद्घाटित करती आ रही है, करती रहेगी।

1. डॉ. राजबली पाण्डेय – *हिन्दू धर्म कोश* – उत्तर प्रदेश हिन्दी संस्थान, लखनऊ संस्करण–1978/1988/2003–पृ. 54
2. श्री वेदव्यास – *श्रीमद्भगवतद्गीता* – गीता प्रेस, गोरखपुर – चतुर्थ अध्याय, अष्टम श्लोक
3. डॉ. राजबली पाण्डेय – (उपर्युक्तानुसार) – पृ. 54
4. विनय मोहन शर्मा – *"जयदेव कृत गीतगोविन्द–हिन्दी रूपान्तर"* – आत्माराम एण्ड सन्स, नई दिल्ली, 1997–(प्रबन्ध 1, श्लोक 1) पृ. 85
5. (i) **Lois Rock (Retold)**—*The Story of NOAH* - GENESIS 6-9 - BIBLE - To Keep For Ever - P. 24 - Lion Hudson Pl, Oxford, England - p. 24-27

   (ii) **New World Bible Translation Committec** — *The World Translation of The Holy Scriptures* — Watch Tower Bible And Tract Society of New York, Inc. 1961-p. 14-17.
6. **श्री अम्बा प्रसाद श्रीवास्तव**–परशुराम – म. प्र. राष्ट्र भाषा समिति, भोपाल–संस्करण–प्रथम 1996 – पृ. 19, 22
7. **विनय मोहन शर्मा** – *"जयदेव कृत गीतगोविन्द–हिन्दी रूपान्तर"* – (उपर्युक्तानुसार) प्रबन्ध 1 श्लोक–3 पृ. 85
8. **श्री अम्बा प्रसाद श्रीवास्तव** – (उपर्युक्तानुसार) पृ. 24
9. श्री वेदव्यास – (उपर्युक्तानुसार)–अध्याय-4 श्लोक 7
10. **श्री अम्बा प्रसाद श्रीवास्तव** (उपर्युक्तानुसार) पृ. 73-74
11. **डॉ. विनय षडंगी राजाराम**– *"सम्पूर्ण निःसर्ग की समरसता की प्रतीकात्मक अभिव्यक्ति है रामायण"* (निबन्ध) – साहित्य परिक्रमा विशेषांक – *"भावरूप राम'* –प्रका. अ. भा. साहित्य परिषद न्यास, दिल्ली – वर्ष 2012 – पृ. 71 (69-74)
12. **विनय मोहन शर्मा**– *"जयदेव कृत गीतगोविन्द–हिन्दी रूपान्तर"* – (उपर्युक्तानुसार) प्रबन्ध 1 श्लोक – पृ. 86

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

13. **डॉ. उदय नारायण तिवारी**– *''भोजपुरी लोकगीतों में कृष्ण''* – निबन्ध संकलन – *''भारतीय भाषाओं में कृष्ण काव्य (द्वितीय खण्ड)''* **सम्पादक–आ. विनय मोहन शर्मा**–मध्यप्रदेश साहित्य परिषद प्रकाशन भोपाल, वर्ष–1981, पृ. 162-162 (162-185)
14. **डॉ. राजबली पाण्डेय** – उपर्युक्तानुसार, पृ. 200
15. डॉ. कृष्ण दत्त वाजपेयी– *''प्राचीन अभिलेखों में श्री कृष्ण''* – निबन्ध-संकलन– *''भारतीय भाषाओं में कृष्ण काव्य (प्रथम खण्ड)''* **सम्पादक–डॉ. भगीरथ मिश्र**–मध्यप्रदेश साहित्य परिषद प्रकाशन भोपाल, वर्ष-1979, पृ. 196-197 (195-208)
16. **डॉ. सत्येन्द्र**– *''ब्रज भाषा तथा बुन्देली में कृष्ण काव्य''* – निबन्ध संकलन– *''भारतीय भाषाओं में कृष्ण काव्य (द्वितीय खण्ड)''* **सम्पादक–आ. विनय मोहन शर्मा**–मध्यप्रदेश साहित्य परिषद प्रकाशन भोपाल, वर्ष-1981 पृ.6-7 (01-33)
17. पं. अयोध्या सिंह उपाध्याय हरिऔध – *''प्रिय प्रवास'' महाकाव्य*– प्रका. हिन्दी साहित्य कुटीर, वाराणसी संस्करण–त्रयोदश, वि. सं. 2023
18. **डॉ. राजबली पाण्डेय** – उपर्युक्तानुसार, पृ. 443-445
19. **Sh. Shishir Kumar Mitra** — *''The Vision of India''* — Jaico Publishing House, New York- Edition First-1949 pg. 15-19.
20. श्री शान्ति भिक्षु शास्त्री– *''ललित विस्तर''* – उत्तर प्रदेश हिन्दी संस्थान, लखनऊ – प्रथम संस्करण – वर्ष 1987, पृ. 180
21. **Dr. (Smt.) Binay Rajaram** — *''Buddha Charitam & Balraam And Ioasaph - A Comparative Literary Study''* — Site Research in Greece, Under Publication.
22. **Photo Curtsy** — Intro. **By Robert Graves** *''New Larouse Encyclopaedia of Mythology''* — Hamlyn Publication-London/ New York/Sydney/Toronto

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

भारतीय दर्शन : रहस्यवाद

नरेश कुमार अम्बष्टा*

धर्म शब्द को यदि उसके प्राचीन मौलिक अर्थ में लिखा जाए तो वह किसी वस्तु या व्यक्ति की उस प्रकृति के स्वभाव को सूचित करता दीख पड़ेगा, जो उसमें तत्त्वतः निहित है अर्थात् जिसका अस्तित्व बने रहने के कारण ही, धारण करता है अर्थात् अपनी विशिष्टता के साथ उसे सदा प्रतिष्ठित किए रहता है। जहाँ तक पता चलता है कि धर्म शब्द का ऐसा प्रयोग सर्वप्रथम ऋग्वेद के उपमन्त्र को काम में लाना और इस प्रकार सभी धर्मों को यथावत् बनाए रखना कहा गया है। त्रीणि पदा विचक्रमे विष्णुर्गोपा अदाम्या। अतोधर्माणि धारणम् (1-22-18) इस दृष्टि से जिस प्रकार अग्नि का धर्म जलाना है, जल का शीतल होना तथा सूर्य का प्रकाश फैलाना है, इसी प्रकार कोई धर्म-विशेष मनुष्य का भी हो सकता है। उस धर्म विशेष के ही कारण मनुष्य, मनुष्य है और उसके अभाव में वह नित पशुवत प्राणी-मात्र कहला सकता है। मनुष्य के विषय में एक यह विशेष बात भी कही जा सकती है कि जहाँ प्राकृतिक पदार्थ वा साधारण प्राणी अपने से धर्म से अवगत नहीं हो पाते। वहाँ इसमें उसे भली-भाँति ज्ञान तथा समझ लेने की भी शक्ति है और इसी कारण यदि वह चाहे तो सदुपयोग या दुरुपयोग भी कर सकता है। अतः जब हम किसी धर्म विशेष का नाम लेते हैं तो साधारणतः वहाँ पर भी यही समझा जाता है कि उसके द्वारा किन्हीं आदर्शों की प्रतिष्ठा की गई होगी, जो मनुष्य के उक्त मौलिक या प्राकृतिक धर्म की सुसंगति में लाए जा सकते हैं तथा इसी कारण, उनका अनुसरण करना इसके लिए परम कर्तव्य हो जाता है और उनके पालन करने के लिए दृढ़ प्रतिज्ञा भी करना पड़ता है।

रहस्यवाद धर्म के बाहरी आडम्बरों में विश्वास नहीं करता। सूफी और रहस्यवादी का धर्म न तो रोजा, नमाज और अजाँ तक सीमित है, न शंख, आरती और घड़ियाल के अधीन। रहस्यवादी की सारी पूँजी उसकी भगवत-भक्ति होती है, उसका ईश्वर-प्रेम होता है। मूल में संसार के सभी धर्म एक हैं, क्योंकि सबका आरम्भ इसी जिज्ञासा से

प्रो. नरेश कुमार अम्बष्टा, पी.के. राय स्मारक महाविद्यालय, धनवाद।

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

हुआ है कि मनुष्य की किस्मत का मालिक कौन है, आदमी की रूह किस बड़ी रूह से मिलने को बेकरार है, जन्म के पूर्व आदमी कहाँ था और मरने के बाद वह कहाँ जाएगा। जब तक मनुष्य इस मौलिक प्रश्नों पर विचार करता है तब तक न तो वह हिन्दू होता है, न मुसलमान। इन मौलिक समस्याओं पर सोचते समय वह उस सामान्य निश्चय के पास रहता है जहाँ से सभी धर्म जन्म लेते हैं। धर्म चिन्तन में एक वक्त वह भी आता है जब सभी धर्म टूट जाते हैं अथवा एक साथ सभी धर्मों से एकाकार हो जाते हैं।

आचारशास्त्र तत्त्व ज्ञान दर्शन का एक आवश्यक अंग भी समझा जाता है, जिस कारण उसमें उसकी अनेक विशेषताएँ आ जाया करती हैं।

रहस्यवाद केवल मनुष्य के मौलिक और स्वाभाविक धर्म का प्रतिनिधित्व करता है और इसे हम उसके उस रूप में स्वीकार नहीं कर सकते, जो उसे मजहब या सम्प्रदाय विशेष बन जाने पर मिला करता है सम्प्रदाय में ईश्वरीय शास्त्र (Theology) सृष्टिशास्त्र (Cosmology) तथा कर्मकाण्ड आदि पाए जाते हैं। लेकिन ये सभी रहस्यवाद के लिए गौण हैं। इसलिए Underhill ने कहा है "Where the philosopher gueses and argues, the mystic lives and looks, and speaks, consequently, the disconnecting language of first hand experience, not the real dialect of the schools." दार्शनिक जहाँ अनुमान का तर्क से काम लेता है वहाँ रहस्यवादी उसी बात को अपने प्रत्यक्ष जीवन में उतारकर तथा उसके अनुसार अपने दृष्टिकोण को निर्मित कर जान और समझ लेता है। इसी कारण यह किसी विशुद्ध भाषा का माध्यम अपनाकर प्रत्यक्षानुभूति को अस्फुट वाणी द्वारा ही अपना काम ले लिया करता है।" रहस्यवाद का कोई-कोई रूप हमें अति प्राचीन काल से देखने को मिलता है। विभिन्न धर्मों का तुलनात्मक अध्ययन करने वाले उसे किसी अविकसित धार्मिक विश्वास का नाम देते हैं और कहते हैं कि उसमें इसका बीज निहित है। वास्तव में धर्म शब्द का अभिप्राय भी सम्भवतः पहले किसी-न-किसी जीवन-दर्शन का ही समझा जाता होगा। परन्तु धीरे-धीरे उसमें अनेक प्रकार की संकीर्ण भावनाओं का समावेश होता चला गया और धर्मशब्द किसी-न-किसी सम्प्रदायिक वर्ग के रूप में समझा जाने लगा। वर्तमान समय में धर्म-सम्बन्धी भावना बहुत कुछ संकीर्ण हो गई जान पड़ती है। परन्तु रहस्यवाद का सम्बन्ध प्रचलित धर्मों द्वारा उपासना-पद्धति में देखा जा सकता है। इसलिए रहस्यवाद का अध्ययन का मुख्य स्रोत हिन्दू धर्म, इस्लाम धर्म, ईसाई धर्म, यहूदी धर्म, बौद्ध धर्म तथा ताओ जैसे अनेक धर्मों के साधना-पद्धति में पाया जा सकता है। इस प्रकार रहस्यवाद को इसके वास्तविक रूप में जान पाने का साधन केवल धार्मिक विश्वास का ज्ञान मात्र ही हो सकता है। रहस्यवाद का अध्ययन धर्म, दर्शन, मनोविज्ञान, समाजशास्त्र एवं साहित्य के दृष्टिकोण से भी किया जाता है। इसलिए रहस्यवाद का व्यापक रूप उपर्युक्त सभी क्षेत्रों में किया जाना चाहिए।

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

रहस्यवाद शब्द का निर्माण रहस्य के आगे वाद जोड़कर किया गया है। रहस्य शब्द का साधारण अर्थ गुह्य या एकान्त होता है। इसका प्रयोग विशेषकर धार्मिक या आध्यात्मिक प्रयोगों में किया जाता है। ''श्रीमद्भगवत गीता में ही जहाँ भगवान कृष्ण अर्जुन के प्रति कहते हैं तू मेरा भक्त और सखा है, इस कारण मैंने तुम्हें यह सर्व रहस्यों में उत्तम रहस्य था पुरातन योग बतलाया है। (8-3) वास्तव में रहस्य शब्द का अर्थ ''गूढ़ तत्त्व'' मानना चाहिए अथवा सार तत्त्व है। प्रो. एस.एन. दासगुप्ता ने रहस्यवाद की परिभाषा इस प्रकार दी है।''

''Mysticism is not an intellectual theory : it is fundamentally an active formative, creative, elavative and ennobling principle of life....Mysticism means a spiritual group of the aims and problems of life in a much more real and ultimate manner than is possible to more reason. A developing life of mysticism means a gradual ascent in the scale of spiritual values experience and spiritual ideas. As such, it is many sided in its development and as many sided and complete as like trouble. Regarded from this point of all religions particularly of religion as it appears in the lines of truly religious man. (Chicago, 1927) plx(preface).''

''रहस्यवाद कोई बौद्धिकवाद नहीं है; यह मूलतः एक सक्रिय, रूपात्मक, रचनात्मक, अन्नायक तथा उत्कर्षप्रद सिद्धान्त हैं। इसका अभिप्राय जीवन के उद्देश्यों तथा उसके प्रश्नों को, उससे कहीं अधिक वास्तविक और अन्तिम ढंग से आध्यात्मिक रूप में ग्रहण कर लेना है जितना शुल्क तर्क की दृष्टि से कभी सम्भव नहीं कहा जा सकता है।''

रहस्यवादपरक विकासों के मूल जीवन का अर्थ, आध्यात्मिक मूल अनुभव तथा आदर्शों के अनुसार कल्पित सोपान द्वारा क्रमशः ऊपर चढ़ते जाना है। इस प्रकार अपने विकास की दृष्टि से यह बहुमुखी भी हुआ करता है और यह उतना ही समृद्ध होता है जितना स्वयं जीवन के लिए कहा जा सकता है। इस दृष्टिकोण से देखने पर रहस्यवाद सभी धर्मों का मूल आधार बन जाता है और यह विशेषकर उन लोगों के जीवन में उद्धृत होता दीख पड़ता है जो वास्तव में धार्मिक पुरुष होते हैं। डॉ. दासगुप्ता द्वारा प्रस्तुत परिभाषा का मूल उद्देश्य रहस्यवाद के मूल स्रोत, उसके स्वरूप तथा उसकी कार्य-पद्धति एवं आदर्श का स्पष्टीकरण भी जान पड़ता है। यह रहस्यवाद के आवश्यक अंग को प्रस्तुत करता प्रतीत होता है।

Dr. W.R., Inge ने अपनी पुस्तक Mysticism in Religion में Pfleiderer की परिभाषा को उद्धृत किया है ''Mysticism is the immediate feeling of the unity of the self with God. It is nothing, therefore but the fundamental feeling of religion the religious life at its very heart and centime but what makes the mystical special tendency inside religion is the endeavour to fix the immediateness of the life in God as such, as abstractual from all

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

intervening helps and channels whatever, and find a permanent abode in the abstract inwardness of a life of pious feeling. (Quoted at 25 of Mysticism in Religion by Dr. W.R. Inge)

"रहस्यवाद ईश्वर के साथ अपनी एकता का स्पष्ट संवेदन है, जिस कारण इसे हम उसके अतिरिक्त कुछ नहीं कह सकते कि यह अपने मूल रूप में केवल धर्म विषयक एक संवेदन मात्र है। परन्तु जिस विशिष्ट बात के कारण यह धर्म के अन्तर्गत किसी प्रवृत्ति विशेष का स्थान ग्रहण करता है यह ईश्वर में, उसके ईश्वर तत्त्व के ही अनुसार अपने जीवन का पूर्ण सान्निध्य निर्दिष्ट करना भी है। इस प्रकार सारे ऐसे साधनों एवं मार्गों से पृथक् रहकर जो हमारे लिए प्रायः माध्यमों का काम कर दिया करते हैं, यह एक पवित्र संवेदन के जीवन में प्रवेश भी कर जाना है तथा वहाँ पर उसके एकान्त अन्तर्वतित्व में अपना कोई चिरस्थायी निवास स्थान बना लेना है।"

इसी प्रकार प्रसिद्ध दार्शनिक Bertraind Russell ने भी रहस्यवाद की परिभाषा दी है—"Mysticism is in essence little more than a certain intensity and depth of feeling in Regard to what is believed about the universe" रहस्यवाद तत्त्वता संवेदन की उस तीव्रता और गम्भीरता के अतिरिक्त कुछ भी नहीं है जो अपनी विश्वव्यापक भावना के प्रति अनुभव की जाती है।"

इस प्रकार रहस्यवादी अनुभूति विशुद्ध चेतना, संवेदन अथवा मनोवेग आदिमात्र के रूप में स्वीकार कर सकते हैं। रहस्यवाद के सम्बन्ध में सत्यान्वेषण की चर्चा व्यर्थ है। हालाँकि तमाम रहस्यवाद की परिभाषा आर्थिक ही है। W.T. Stace ने Russell का रहस्यवाद को केवल किसी संवेदन मात्र के रूप में स्वीकार कर लेना अथवा इसे मनोवेग मात्र मान लेना इस बात के लिए यथेष्ट प्रमाण नहीं हो सकता कि यह वस्तुनिष्ठ न होकर केवल आत्मनिष्ठ ही होगा। इसके विरोध में हम स्वयं उन व्यक्तियों द्वारा कथित अनुभवों को ही प्रस्तुत कर सकते हैं जिन्हें रहस्यवादी कहा जाता है—"But they ought to know what the experiences themselves are like better than Russell does and they invariably say that emotions : though it is not denied that, like occupations they have their own emotional W.R. Inge. Mysticism and philosophy is "वे अपनी ऐसी अनुभूतियों को स्वयं रसेल से कहीं अधिक जानते होंगे और वे एक स्वर से बतलाते हैं कि वे मनोवेगों से अधिक विषयानुभवों के रूप में हुआ करती हैं तथा इनमें मनोवेगपरक रंग भी अन्य वैसे अनुभवों के ही समान हो सकता है।"

रहस्यवाद को हम किसी धर्म या सम्प्रदाय विशेष से भिन्न नहीं ठहरा सकते। जिस प्रकार किसी धर्म का उद्देश्य ईश्वर की प्राप्ति और आध्यात्मिक जीवन रहा करता है। ठीक इसी प्रकार वह रहस्यवाद का भी जान पड़ता है।

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

Pringle Pattison ने कहा है कि "Mysticism appears in connection with the endeavor of the human mind to grasp the divine essence or the ultimate reality of things and to enjoy the blessedness of actual Communication with the highest. The first is the philosophic side of mysticism, the second is its religious side. God ceases to be an object and becomes an experience" "Mysticism in Religion by Dr. Inge p. 25."

रहस्यवाद मानवीय चित्त द्वारा किए गए उस प्रयास के सम्बन्ध में दीख पड़ता है जो सारी वस्तुओं के ईश्वरीय सार तत्त्व अथवा अन्तिम तथ्य को आत्मसात् करने के लिए तथा सर्वोत्कृष्ट सत्ता को प्रत्यक्ष सान्निध्य का सत्य सौभाग्य प्राप्त करने के उद्देश्य से किया जाता है। इसमें से प्रथम अंश रहस्यवाद के दार्शनिक पक्ष का है और दूसरा उसके धार्मिक अंश या पक्ष का सम्बन्ध है जहाँ ईश्वर केवल एक बाध्य वस्तुहीन रहकर अनुभूति का भी रूप ग्रहण कर लेता है।"

इस प्रकार मनुष्य की ओर से किए जाने वाले-किसी तथ्य का आध्यात्मिक सत्ता की खोज सम्बन्धी दार्शनिक प्रयास है और इसके अन्तर्गत यह स्पष्ट होता है कि यह सारा सत्य मानवीय जीवन के किसी आदर्श की उपलब्धि के लिए भी किया जाता है। इसलिए डॉ. महेन्द्रनाथ सरकार नामक एक लेखक ने अपनी पुस्तक Mysticism in Bhagvad Gita (Calcutta Press 1944 Preface) में कहा है कि "Mysticism is an approach to Truth and Reality, which can be negatively indicated as non-logical." – रहस्यवाद सत्य एवं वास्तविक तथ्य तक पहुँचने का एक ऐसा माध्यम है जिसे निषेधात्मक रूप में, तर्क शून्य कहा जा सकता है।

यदि रहस्यवाद की साध्य वस्तु को केवल 'अवांङ मानसगोचर कहते हैं अथवा उसके सम्बन्ध में 'नेति नेति' जैसे शब्दों का प्रयोग करते हैं तो हमारे सामने एंक बहुत बड़ी समस्या आनी है कि तब हमारे लिए किसी ऐसी सत्ता की प्रत्यक्ष अनुभूति का होना अथवा कम-से-कम उसकी किसी निर्विशेष या अनिर्दिष्ट एकता के अनुभव का होना भी कौन-सा अर्थ रखता है?

जब हम उसके विषय में अपनी कोई धारा ही नहीं बना सकते तब वह हमें किस प्रकार प्रभावित कर सकती है। क्योंकि उसका हमें कोई स्पष्ट या सीधा अनुभव नहीं हो सका है। जब हम यह जान लेंगे कि रहस्यवाद अनुभूति किस प्रकार हुआ करती है तो हमें सम्भवतः इस बात का भी ज्ञान हो सकता है कि वह किस बात की होती है। रहस्यवाद अनुभूति केवल साधक की दृष्टि से व्यक्तिगत ही कहला सकती है। उसकी वास्तविक प्रक्रिया का हमें कोई प्रत्यक्ष बोध नहीं हो सकता। वैसी दशा में हमें केवल वैसे साधनों के द्वारा किए गए वर्णनों पर विश्वास करना होगा।

इसलिए यह आवश्यक है कि हमें ऐसे साधनों तथा मार्गों को जानना होगा जिनका प्रयोग रहस्यवाद अनुभूति प्राप्त करने के उद्देश्य से किया जा सकता है।

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

किन-किन साधनों को पूर्वी तथा पश्चिमी साधकों ने अपने काम में अधिकता लाते आए हैं। रहस्यवाद अनुभूति को योग या Union की संज्ञा दी गई है। यह योग या संयोग ही है जो साध्य एवं साधक के बीच घटित हुआ करता है। योग की स्थिति उत्पन्न होने के लिए हमें कायिक, मानसिक तथा व्यावहारिक यत्न करने पड़ते हैं। धर्म ग्रन्थों में योग की पद्धति की चर्चा विशेष रूप से की गई है, तथा उनका वर्णन उचित प्रतीत नहीं है।

इसमें सन्देह नहीं है कि रहस्यवादी साधकों को इसकी आवश्यकता पड़ी है, उन्होंने बहुधा वैसी पद्धति को अपनाया है या विशेष महत्त्व दिया है, जो उनके समाज में प्रचलित रहती है या उन्होंने अपने किसी मार्ग प्रदर्शक के निर्देशन अथवा स्वयं अपने विचार से अधिक उपयुक्त समझा तथा जो उनके लिए सुलभ तथा लाभदायक तक भी सिद्ध हुई है। योग की बहुत-सी पद्धतियाँ हैं जो निम्न हैं–कर्मयोग, भक्तियोग, ज्ञानयोग, मानसिक योग। मानसिक योग को 'राजयोग' अथवा समाधि योग भी कहा जाता है। राजयोग को अष्टांग योग भी नाम दिया जाता है जिसमें यम, नियम, आसन, प्राणायाम, प्रत्याहार, धारणा, ध्यान और समाधि होते हैं, इससे किसी साधक के लिए साधारण उपक्रमों से लेकर अन्तिम स्थिति तक की रूपरेखा बनाने में सहायता पहुँचाते हैं। पातंजल योग में योग चित्तवृत्ति निरोध से लेकर कैवल्य को उपलब्ध कर लेने का भाव भी आपसे-आप आ जाता है। इन योगों की विशेषता इस बात में देखी जा सकती है कि उनका विभिन्न उपजनों द्वारा कायासाधन किया जाता है, मन्त्रयोग मन्त्रों के उच्चारण से कार्यसिद्धि की जाती है। क्षेत्र केवल मानसिक प्रक्रियाओं तक ही सीमित न रहकर प्रत्यक्ष व्यवहारों तक भी व्यापक बन जाता है। ये हमारे सम्पूर्ण जीवन को प्रभावित करते हैं। ऐसे भोगों में प्रमुख–ज्ञानयोग, कर्मयोग, भक्तियोग एवं प्रेमयोग जैसे नामों द्वारा अभिहित होते हैं, जिनका उद्देश्य क्रमशः ज्ञान, कर्म, भक्ति अथवा प्रेमपूर्वक वृत्तियों के निर्माण द्वारा किसी ऐसी मनोदशा को प्राप्त कर लेना रहा करता है, जहाँ साधक एवं साधन एक हो जाते हैं।

समकालीन दार्शनिकों के अनुसार धार्मिक अनुभव अवर्णनीय है। इन दार्शनिकों में लुडविग विटगिनस्टाइन, मैकफरसन तथा टामस के नाम विशेष रूप से उल्लेखनीय हैं। धार्मिक अनुभव के सम्बन्ध में विटगिन स्टाइन का मत है कि यह अनुभव रहस्यात्मक होने के कारण वस्तुतः अवर्णनीय है। इसका सम्बन्ध ऐसी रहस्यमयी सत्ता से है जिसके विषय में सार्थकतापूर्वक कुछ भी कहा नहीं जा सकता है। विटगिन स्टाइन ने यह विचार अपनी पुस्तक ट्रैकटेटस लॉजिको-फिलोसोफिकस में व्यक्त किए थे। इसे स्पष्ट करते हुए वे कहते हैं–''ईश्वर इस संसार में अपने-आपको अभिव्यक्त नहीं करता–सीमित समग्रता के रूप में संसार का अनुभव करना ही रहस्यमय है...। सन्देह वही किया जा सकता है जहाँ प्रश्न हो, प्रश्न वहीं हो सकता है जहाँ कोई उत्तर हो, और उत्तर वही सम्भव है जहाँ कुछ कहा जा सके...। हम यह अनुभव करते हैं कि

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

सभी सम्भव वैज्ञानिक प्रश्नों का उत्तर दिए जाने के बाद भी जीवन की समस्याएँ अधूरी रह जाती हैं। वस्तुतः कुछ ऐसी बातें हैं, जिन्हें शब्दों द्वारा अभिव्यक्त नहीं किया जा सकता। ये बातें ही रहस्यमयी हैं...। जिसके विषय में हम कुछ नहीं कह सकते, उसके सम्बन्ध में हमें मौन ही रहना चाहिए।

जिस क्षण रहस्य की स्थिति की अनुभूति होती है, साधक परम आनन्द का अनुभव करता है। आनन्द से विभोर हो एक प्रकार के उन्माद का अनुभव करने लगता है। इस आनन्द को शब्दों में वर्णन नहीं किया जा सकता है। साधक नाचने-गाने लगता है, प्रलाप भी करने लगता है। ऐसी अनुभूति रामकृष्ण परमहंस को प्राप्त हुआ था। उनका जीवन दूसरों के लिए आदर्श है, उनका चरित्र अनुकरणीय है। वह कभी कुमार्ग पर नहीं चलता और वासनाओं का दास नहीं बनता। मन शान्त, बुद्धि स्थिर, अहंकार शून्य जीवन पवित्र हो जाता है। देह अन्य विकारों से मूल वह परम शान्ति का अनुभव करने लगता है। उसके जीवन में काम-क्रोध, राग-द्वेष, मान-माया आदि मूलतः समाप्त हो जाते हैं।

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

चित्र-विचित्र

माधुरी नाथ*

परस्पर विरोधी चित्रों का जंजाल-सा दिखता है अपना देश, अपना समाज, अपना पड़ोस और पड़ोस के लोग।

समझ में नहीं आता कौन-सा चित्र सही है और कौन-सा गलत या यूँ कहें कि इनमें कौन-सी तस्वीर सच्ची है और कौन-सी झूठी? दोनों तस्वीरें देखने को एक साथ मिलती हैं हमें। दोनों की तस्वीरें होती हैं अपने देश की, अपने देशवासियों की, अपने आस-पड़ोस की, जिनसे हमारा दैनन्दिन का सम्बन्ध है, जिन्हें हम हर रोज देखते-सुनते और जानते-पहचानते हैं।

'भारत महान है।', 'अपना देश भारत महान है' हम जब-जब सुनते हैं, गौरवान्वित हो उठते हैं। महान देश के वासी होने के नाते गौरव-बोध होना स्वाभाविक है। देश की आर्थिक स्थिति सुधरती जा रही है, देश विकासशील देशों की श्रेणी से विकसित देशों की श्रेणी में शीघ्रता से बढ़ता जा रहा है—यह अत्यन्त सन्तोषजनक विषय है हम भारत-वासियों के लिए। देश विपन्नता से सम्पन्नता की ओर शीघ्रता से अग्रसर हो रहा है, यह सच है। हर हाथ में आज मोबाइल है यानी "मुट्ठी में संसार", सड़क पर सरपट दौड़ती असंख्य गाड़ियाँ प्रभावित करती हैं कि गाड़ीवालों की संख्या देश में निरन्तर बढ़ रही है। बड़े-बड़े शिक्षण-संस्थान, अस्पताल और होटल नित्य खुलते जा रहे हैं...के समाचारों से हम हर दिन वाकिफ होते रहते हैं, जो बड़े दावे के साथ हमें आश्वस्त करते हैं कि हमारे बच्चे ऐसे शिक्षण संस्थानों में पढ़कर काबिलियत की हद पार कर लेंगे, हर रोग और बीमारी का इलाज अब सुख-सुविधाओं से सम्पन्न बड़े-बड़े अस्पतालों में हो सकेगा यानी हर रोग से मुक्ति की गारण्टी अर्थात् लम्बी-से-लम्बी जिन्दगी।

---

*सम्पर्क : 4 डी. गुरुवाटिका अपार्टमेण्ट, कैलाश बाबू स्ट्रीट, मेन रोड टैक्सी स्टैण्ड के समीप–राँची-834001; मो. 9430333791

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

होटलों की तो बात ही निराली है। बड़े-बड़े शहरों में ही नहीं, छोटे-छोटे शहरों में भी बड़े-बड़े विशाल-से-विशाल होटल! गगनचुम्बी, अनेक कमरों वाले पाँच सितारों वाले ही नहीं, न जाने कितने कितने सितारों वाले होटल खुलते जा रहे हैं। ऐसे होटलों का खुलना ही तो प्रमाण है कि हमारा देश चमक रहा है, सम्पन्न हो रहा है। सम्पन्नता ...'सोने' का प्रतीक तो है ही। सोने की आभा हासिल करना मामूली बात तो नहीं। कितने खुश होते हैं स्वर्ण-पदक पाने वाले? ये पाने वाले चाहे खिलाड़ी हों या राज-काज चलाने वाले कुर्सी पर विराजमान कोई मदारी। सोने की चमक से चमकने तो लगता है न देश, और हम, कितने चमत्कृत हो उठते हैं हम देशवासी?

इसमें सन्देह नहीं कि हमारे देश की आर्थिक स्थिति बड़ी शीघ्रता से सुधर रही है। प्रत्येक व्यक्ति की औसत आय क्रमशः बढ़ती जा रही है। मजदूरी करने वाले मजदूरों की दैनिक मजदूरी कई गुना बढ़ गई है। झोपड़ियाँ टूट रही हैं, उनकी जगह पर पक्के मकान बन रहे हैं। और नए मकानों को भी तोड़कर उनकी जगह बहुमंजिली इमारतें बन रही हैं। सड़कों के दोनों ओर वहुमंजिली इमारतों की कतारों से हवा-पानी और रोशनी की किल्लत भले ही हो जाए पर अपार्टमेण्ट में रहने की सुख-सुविधा तो लोगों को उपलब्ध हो ही जाती है न? लोग एक-दूसरे को जानें-पहचानें या नहीं, दुःख-सुख में साथ भले न दें पर एक साथ रहते तो हैं, एक ही भवन में, एक ही छत के नीचे! क्या इतना पर्याप्त नहीं अपनेपन के लिए? अपार्टमेंट की संस्कृति से नगरवासियों की जीवन-शैली में एक अद्भुत बदलाव आया है। मात्र बीस-पच्चीस वर्षों में बदलाव का यह रूप सचमुच आश्चर्य में डाल देता है हमें।

सिर्फ हम सोचकर देखें—हम क्या थे और अब क्या हैं? कहाँ गया वह पुराना भाई-चारा? कहाँ गया वह अपनापन जब हम दूसरों के सुख-दुःख में अपना सुख-दुःख मानते थे? जब हम होली-दिवाली साथ-साथ मनाते थे और पड़ोसी की बीमारी में रात-रात-भर जगते थे!

आज तो बगलवाले अपार्टमेण्ट में कोई बच्चा रो-रोकर बेदम हो रहा होता है या कोई मर जाता है तो कोई पूछता तक नहीं। यही संस्कार पनप रहा है आज के विकसित भारत में, और आज की यही संस्कृति, मानवता को दूषित करती जा रही है जो अत्यन्त शोचनीय है, चिन्तनीय भी।

छोड़िए अगल-बगल वाले दूसरों की बात। हम अपने लोगों की बात करें—एक ही शहर में भाई-भाई तो अलग-अलग रहते ही हैं, माँ-बाप भी अलग रहते हैं। यदि माँ-बाप बूढ़े और बीमार हैं तो अलगाव की सम्भावना और अधिक बढ़ जाती है, क्योंकि उनकी देखरेख करने वाले बेटे-बहू फालतू नहीं होते कि उन्हें सँभालें? सँभालने के लिए उनके पास अपने ही दफ्तर के ढेरो काम रहते हैं, बच्चों की पढ़ाई-लिखाई का खर्च, उनकी अपनी जिम्मेदारियाँ, साथ-साथ मीटिंग, पार्टी एवं क्लबों में उनकी

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

ग्रस्तता! कहाँ है फुरसत और कहाँ है वक्त उनके पास कि वो बीते-जमाने की बीते लोगों को सँभालें? जगह इतनी कहाँ होती है—छोटे-छोटे दो-तीन कमरों वाले अपार्टमेण्ट में कि वे अपने परिवार के अलावा किसी और को साथ रखें। अपने परिवार की परिभाषा है आज—खुद अपने और बीवी-बच्चे। बच्चे भी कहाँ एक या दो। बस चले तो एक भी नहीं, क्योंकि पालना आजकल बड़ा कठिन है। पढ़ी-लिखी कामकाजी महिला घर से बाहर काम करेगी या दिन-भर घर में बैठकर मक्खी मारेगी? बच्चे पालना पुराने जमाने की बात हो गई।

नारी सशक्त हो रही है, पढ़-लिखकर अपने पैरों पर खड़ी भी। आर्थिक दृष्टि से स्वतन्त्र नारी में स्वावलम्बन की भावना दृढ़ हो रही है। यह सुखद पक्ष है, पर क्या यही सच है? क्या दहेज की दुर्घटनाएँ आजकल कम होती हैं? क्या महिलाएँ आज प्रताड़ित नहीं हो रहीं? क्या उनका शोषण कम है? व्यभिचार एवं बलात्कार की घटनाएँ क्या दिनोंदिन बढ़ती नहीं जा रही हैं? सच में देखा जाए तो लड़कियाँ आज कहीं भी सुरक्षित नहीं! छोटी-से-छोटी लड़की ही नहीं, लड़के भी कुकर्म के शिकार हो रहे हैं। लोमहर्षक घटनाएँ इस बात का प्रमाण हैं कि आजादी के प्रायः सत्तर वर्ष बाद भी देश की महिलाएँ...हर उम्र की महिलाएँ, बूढ़ी, जवान, नाबालिग बच्ची या कोख में पल रही मादा भ्रूण सुरक्षित नहीं। असुरक्षा की तलवार उनके सर पर सदैव लटकती रहती है। बचने के लिए वे कहाँ जाएँ या क्या करें? औरतों की सच्ची तस्वीर तो यही है। उनका अपहरण होता है। वे बेची-खरीदी जाती हैं बेजुबान जानवरों की तरह या बेजान साग-सब्जियों की तरह। औरतों की तस्करी में दिनोंदिन इजाफा होता जा रहा है और बढ़ता जा रहा है जिस्म-फरोशी का व्यापार। कितना घृणित और गर्हित है यह प्रसंग देश के लिए, देशवासियों के लिए और स्वतन्त्र भारत के लिए जिसे अपनी संस्कृति पर नाज रहा है सदियों से और जो अपने-आपको कभी विश्व का गुरु रहने का दम्भ रखता है।

यह सच है कि अपने देश में बड़े-बड़े शिक्षण संस्थान मौजूद हैं। खुलते भी जा रहे हैं—एक के बाद एक और एक से बढ़कर एक। इसमें सन्देह नहीं कि यहाँ से शिक्षा प्राप्त विद्यार्थी अपने नाम के साथ-साथ देश का नाम भी रोशन कर रहे हैं। यश के साथ धन भी कमा रहे हैं, खुश भी हैं अपनी कामयाबी पर, परन्तु क्या अधिकांश ऐसे यशस्वी विद्यार्थी विदेश की शोभा नहीं बढ़ा रहे? उनकी शिक्षा-दीक्षा, कार्य कुशलता या क्षमता क्या विदेशों में गिरवी नहीं रखी जा रही? गिरवी ही क्यों? हमारे यहाँ के सर्वाधिक समर्थ युवक विदेशों की सम्पत्ति बनते जा रहे हैं। वहीं बसते जा रहे हैं—वहीं के रंग में रँगकर अधिकाधिक भौतिकता के जाल में फँसते जा रहे हैं। यह एक दुःखद एवं निराशाजनक स्थिति है। अपनी भाषा, अपनी संस्कृति, अपने देश की पहचान होती है। उसे ही भूल जाना या भूला देना अपने-आपको खो देने जैसा है... यह बात बड़ी दुःखद है, मन को कचोटती है।

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

हम समझते हैं कि अधिकांश भारतीयों की यही समझ है कि हम तरक्की पर हैं...हम विकास के पथ पर अग्रसर हैं...हमारी प्रगति हो रही है...हमारी युवा पीढ़ी की तेजस्विता में हमारा देश चमक रहा है। काश! इस सच्चाई को हम ठीक-ठीक समझ पाते। ऐसा लगता है दीपक तले अँधेरा है। दीपक का प्रकाश विदेशों को मिल रहा है ...हमारी युवा पीढ़ी अपने आलोक से विदेश की भूमि को आलोकित कर रही है और अपने देश का, दीपक के तल भाग का अँधेरा क्रमशः घनीभूत होता जा रहा है। दुःख तो होता ही है देश की युवा पीढ़ी को विदेश में फलते-फूलते देखकर। उन वयस्क दम्पतियों की पीड़ा और त्रासदी का अनुमान तो वैसे भुक्तभोगी माता-पिता ही कर सकते हैं जिनकी सन्तानें विदेशों में जाकर बस जाती हैं...कभी-कभार मेहमानों की तरह दो-चार दिनों या सप्ताह-भर के लिए आकर उनके टीसते घाव को कुरेद जाती हैं।

वही देश उन्नत, समृद्ध और सम्पन्न माना जाता है जिसमें बड़े-बड़े मॉल (बड़ी-बड़ी दुकानों से सुसज्जित) हों, विशेषज्ञ डॉक्टरों वाले बड़े-बड़े अस्पताल और आधुनिक सुख-साधनों से सुसज्जित भव्य और विशाल अनेकानेक होटल हों। इसमें सन्देह नहीं कि इस दृष्टि से हमारा देश काफी सम्पन्न और समृद्ध है। बड़े-बड़े शहरों में तो बड़े-बड़े मॉल हैं ही, छोटे शहरों में भी उनकी कमी नहीं। दिनोंदिन मॉलों की संख्या बढ़ती जा रही है और बढ़ती जा रही है उनमें जाने और खरीददारी करने की लोगों की प्रवृत्ति। यह एक शुभ संकेत ही है। पर इसके पीछे की मानसिकता पर जरा विचार करें। एक हवस के रूप में विकसित होता जा रहा है मॉल के प्रति लोगों का आकर्षण।

बिना जरूरत के कुछ खरीद लेना। बिना भूख के चटपटी चीजों से जिह्वा को तृप्त करना और बेवजह समय को बरबाद करने की प्रवृत्ति को बढ़ावा मिलता है मॉलों की तड़क-भड़क से। पैसे की बर्बादी तो होती ही है, समय और शक्ति का अपव्यय भी बहुत होता है। बच्चों, युवकों को गुमराह करने के अच्छे साधन हैं आज के मॉल। होटलों का तो कहना ही क्या? नित्य बड़े-से-बड़े होटलों का खुलना और ऐशो-आराम से भरपूर जिन्दगी जीने के लिए उनके आकर्षक विज्ञापनों का प्रलोभन एक ओर देश की सम्पन्नता का इजहार करते हैं तो दूसरी ओर लोगों को ऐय्याशी और लौकिक सुख को ही सर्वोपरि मानने का सन्देश देते हैं। दोनों का ही परस्पर विरोधी प्रभाव पड़ता है लोगों पर, विशेष कर, अपरिपक्व एवं युवापीढ़ी पर। पैसे से भौतिक सुख भले की कुछ दिनों के लिए कोई खरीद लें, पर वह सुख स्थायी नहीं होता, न उसमें शान्ति होती है। एक प्रकार से वे असन्तोष और अशान्ति उत्पन्न करते हैं मनुष्य के मन में, उसकी मौजूदा हालातों के प्रति। इसीलिए तो पैसे के प्रति अधिकाधिक मोह बढ़ता है और षड्यन्त्र एवं भ्रष्टाचार को बढ़ावा मिलता है। घोटाले होते हैं और कालाबाजारी। घूस लिए जाते हैं और लोग लूटे जाते हैं उन्नति की आड़ में अवनति का यही तो चित्र है।

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

शिक्षण संस्थानों की हमारे देश में कमी नहीं। एक-से-एक शिक्षण संस्थान हैं जहाँ ऊँची-से-ऊँची शिक्षा दी जाती है। यहाँ से शिक्षा-प्राप्त हमारे विद्यार्थियों की बड़ी पूछ है विदेशों में। उन्हें मान-मर्यादा के साथ ऊँचा ओहदा भी मिलता है। यह निश्चय ही गर्व का विषय है। अब जरा, हम इन उच्च शिक्षण संस्थानों की कार्य-प्रणाली पर विचार करें। दिल्ली, मुम्बई, बेंगलूरु, पुणे, चेन्नई, कोलकाता के शिक्षण संस्थानों पर देश को नाज है...अच्छे-से-अच्छे डॉक्टर, इंजीनियर, वैज्ञानिक एवं अत्याधुनिक विषयों में पारंगत होकर यहाँ के विद्यार्थी निकलते हैं, यह बड़ा ही सुखद पक्ष है। पर यहाँ प्रश्न उठता है कि देश की आबादी का कितना प्रतिशत इन शिक्षण संस्थानों के द्वार तक भी पहुँच सकता है? उत्तर मिलेगा बहुत कम! इन शिक्षण संस्थानों में पढ़ने वाले विद्यार्थियों के लिए प्रतिभावान होना उतना जरूरी नहीं, जितना धनवान अभिभावकों की सन्तान होना। जिनके अभिभावकों की लाखों-लाख की कमाई होती है, जो अपनी सन्तानों पर कई-कई लाख खर्च करने की सामर्थ्य रखते हैं, उन्हीं के बच्चे ऐसे उच्च शिक्षण संस्थानों में पढ़ाई कर संकते हैं और अपनी शिक्षा से अपना और समाज का नाम रोशन कर सकते हैं। पर ऐसे सामर्थ्यवान पिता कितने हैं? और कितने हैं उनके बच्चे? हर समर्थ घराने में एक या दो ही सन्तान होती है, इसलिए जी खोलकर, पूरी शक्ति लगाकर उसकी शिक्षा पर खर्च करने की प्रवृत्ति चरमावस्था पर होती है। यह ठीक भी है—विद्यार्जन तो जीवन का मुख्य ध्येय होना ही चाहिए। पर उस बच्चे की तो सोचिए...उस पर क्या बीतता है? पढ़ाई के बोझ तले उसे क्या साँस लेना भी दुश्वार नहीं होता? वह तो बचपन से लेकर किताबों के बोझ और पढ़ाई के तनाव से ग्रसित रहता ही है, एक अजीब-सी मनःस्थिति से गुजरने को बाध्य भी होता है, क्योंकि उसका साथी जो उससे अधिक प्रतिभावान, बुद्धिमान एवं समझदार होता है, उच्च शिक्षा इसलिए नहीं पा सकता, क्योंकि उसका पिता, उसके पिता की तरह धनवान नहीं और अपने बेटे की पढ़ाई में लाखों का खर्च नहीं कर सकता।

प्रतिभा की तो हर जगह कद्र होती है। होनी भी चाहिए, पर क्या हमारे यहाँ प्रतिभा की कद्र है? नहीं है, शायद बिल्कुल ही नहीं है, तभी तो आरक्षण है और आरक्षण से उपजा असन्तोष व्याप्त है समाज के कोने-कोने में। प्रतिभावान, समर्थ और कुशल डॉक्टर, इंजीनियर या प्रशासनिक सेवा में कार्यरत कोई अफसर अपने-अपने क्षेत्र में पीछे रह जाता है और आगे निकल जाता है उससे अयोग्य व्यक्ति आरक्षण के बल पर। ऐसी स्थिति में पीछे रह जाने वाले में असन्तोष तो होगा ही। वह अपने-आपको अपमानित भी महसूस करता है और एक अजीब-सी कुण्ठा से ग्रसित हो जाता है। हर क्षेत्र में, चाहे वह क्षेत्र स्वास्थ्य सेवा को हो, प्रशासन का हो, उद्योग का हो या शिक्षा का ...सर्वत्र ही लोगों के बीच असन्तोष है, तनाव है और कुण्ठा है। इनसे निजात पाकर ही स्वस्थ समाज का विकास हो सकता है। देश के नेताओं, सत्ताधारियों

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

एवं हित-चिन्तकों को इस दिशा में सोचना ही चाहिए कि समाज के व्यक्ति कैसे असन्तोष, कुण्ठा एवं तनाव से मुक्त हों।

अब जरा अस्पतालों एवं स्वास्थ्य सेवाओं की ओर मुखातिब हों। अस्पतालों की, विशेष रूप से सरकारी अस्पतालों की हालत तो प्रायः सभी बेहाल हैं। न ठीक से दवा, न इलाज, न समय पर डॉक्टर और ना ही मरणासन्न रोगियों के लिए खून या ऑक्सीजन की उपलब्धता! "मरता क्या नहीं करता" के अनुसार सरकारी अस्पतालों में वे ही जाते हैं, जिनके पास वहाँ जाने के सिवाय और कोई विकल्प नहीं होता—गरीब, बीमार, असमर्थ और बूढ़े बिचारे जाएँ तो कहाँ जाएँ? झख मारकर वहीं जाते हैं, जहाँ जाने को विवश हो जाते हैं।

निजी अस्पतालों की तो बात ही कुछ और है। बड़े-बड़े होटलों-सी तड़क-भड़क वाले ऐसे अस्पतालों की ठाट-बाट से लोग पहले तो चकाचौंध हो उठते हैं। वहाँ वे ही जाते हैं या जा पाते हैं, जिनके पास वहाँ का खर्च उठाने की सामर्थ्य होती है। गाँठ में यदि लाखों है और हजारों-हजार रोज खर्च करने की हैसियत है, तभी निजी अस्पतालों में कोई प्रवेश कर सकता है। "पैसेवालों से जितना लूट सको, लूट लो"—इसी सिद्धान्त पर चलते हैं निजी अस्पताल। वहाँ बेवजह जाँच-पर-जाँच किए जाते हैं। बेहतरीन इलाज के लिए बार-बार एक्स रे, सी.टी. स्कैन और न जाने क्या-क्या किए और लिए जाते हैं। अन्धाधुन्ध खर्च! तबाही और परेशानी का अन्त नहीं होता जहाँ, वे ही हैं बड़े प्राइवेट अस्पताल। बीमारी ठीक हुई तो ठीक, नहीं तो वेण्टिलेटर किस काम का? उसका इस्तेमाल भी तो होना चाहिए न! रोगी को, जिसका रोग लाइलाज होता है और मृत्यु निश्चित है, उसे आज के डॉक्टर चैन से मरने के लिए घर ले जाने की अनुमति नहीं देते और उन रोगियों को भी नहीं देते, जो अन्तिम साँस लेते रहते हैं—डाल देते हैं उन्हें वेण्टिलेटर पर जो उन्हें कृत्रिम साँसें देकर जिलाए रखता है। जिलाए रखता है मरने के बाद भी, कई-कई दिनों तक ताकि मरने वाले के परिवार वेण्टिलेटर का बिल भरें। करोड़ों की लागत से बने अस्पताल का खर्च कैसे निकलेगा? और कमाई भी तो शानदार अस्पताल से शानदार ही होनी चाहिए! इसलिए कमाई के जरिया बनते हैं वहाँ इलाज करवाने वाले, बीमार, रोगग्रस्त एवं अस्वस्थ मरीज। यह बात न तो अतिरंजित है और न ही झूठ! प्रायः ऐसे किस्से सुने जाते हैं। कहने वाले भुक्तभोगी होते हैं सताए हुए, निजी अस्पताल के जाल में फँसे हुए लोग।

मृत व्यक्ति को वेण्टिलेटर पर सुलाकर अस्पताल का बिल बढ़ाना कैसा पैशाचिक कृत्य है! यह कृत्य वे करते हैं, जिन्हें जनता 'देवता' कहकर पूजती है, क्योंकि उनमें जान बचाने की क्षमता होती है। कई दिन पहले की घटना का जिक्र यहाँ आवश्यक लगता है। कानपुर के 'हैलेट' अस्पताल में एक बाप अपने बारह वर्षीय पुत्र को गोद में लेकर इलाज के लिए भटकता रहा। अस्पताल के रवैये से, वहाँ की अव्यवस्था से, डॉक्टरों की उपेक्षा या उदासीनता से वह घण्टों यहाँ-से-वहाँ भटकता

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

रहा। ठोकर खाता हुआ इधर-उधर चक्कर लगाता रहा। बिना इलाज के, बिना जाँच और दवा के आखिर में उसके बच्चे ने उसी के कन्धे पर दम तोड़ दिया। बेचारे बाप को अपने बीमार बच्चे के लिए एक स्ट्रेचर भी उपलब्ध नहीं हो सका था। कितना मार्मिक है अस्पताल का यह कारनामा! कितना बड़ा कलंक है यह अस्पतालों की व्यवस्था पर। क्या इस पर क्षोभ और असन्तोष व्यक्त करना भी गुनाह है? यदि ऐसी निर्मम घटनाओं पर कोई क्षोभ व्यक्त करता है या उसकी भर्त्सना करता है तो भी कोई लाभ नहीं होता, क्योंकि शिकायतें या तो झुठला दी जाती हैं या दबा दी जाती हैं। सच्चाई दबाने और झुठलाने वाले चूँकि शिकायतकर्ताओं से अधिक सशक्त होते हैं, इसलिए स्थिति की कोई गुंजाइश नहीं होती।

लोगों की आमदनी विगत कुछ वर्षों से काफी बढ़ गई है, इसमें सन्देह नहीं, पर क्या गरीबी दूर हुई है? स्कूलों की संख्या बढ़ी है, स्कूल जाने वाले विद्यार्थियों की संख्या भी बढ़ती जा रही है, पर शिक्षा का स्तर क्या बढ़ा है?

विकास एवं प्रगति के लिए उठाए गए कदम प्रायः गलत साबित हो जाते हैं, यह कितना दुर्भाग्यपूर्ण है। ज्यों-ज्यों नारी सशक्तीकरण का मामला जोर पकड़ता जा रहा है, नारियों का अत्याचार बढ़ता जा रहा है। इस बात की पुष्टि दूरदर्शन एवं समाचार-पत्रों से लगातार होती रहती है। इस दिशा में किए गए सारे उपाय प्रायः व्यर्थ हो रहे हैं। "बेटी बचाओ, बेटी पढ़ाओ" नारा भले ही बुलन्द हो रहा है, कुछ बेटियाँ भी बुलन्द हो रही हैं, पर इस बात का इतना प्रचार और प्रसार हमें अन्य देशवासियों की नजरों में गिराता ही है, कि "हम अपने यहाँ की बेटियों को बचाना नहीं जानते, न पढ़ाना-लिखाना जानते हैं।" "बेटा-बेटी में कोई फर्क नहीं," "बेटी भी बेटा के समान है" आदि जुमलों का ढिंढोरा पीटना भी अनुचित है। इसका प्रभाव बेटियों के मन-मिजाज पर अनुकूल नहीं पड़ रहा है। मानसिक असन्तुलन से प्रायः लड़कियाँ गुजरने लगती हैं, क्योंकि इन जुमलों या नारों का प्रभाव छोटी बच्चियों पर अनुकूल या उचित नहीं पड़ता। या तो उनका आचरण और व्यवहार लड़कों जैसा होने लगता है या वे दुस्साहसी हो जाती हैं।

यही हाल है 'स्वच्छता अभियान' का भी। स्वच्छता के नाम पर करोड़ों रुपये खर्च हो तो रहे हैं, पर सफाई सिर्फ स्वच्छ जगहों में ही हो रही है। उपेक्षित पड़ी हैं छोटी जगहें, छोटी-छोटी सड़कें जिनकी संख्या अधिक है। गन्दगी का अम्बार लगा रहता है सड़क किनारे। नालियाँ बजबजाती रहती हैं। कूड़े-कचरों की ढेर से लोगों का सड़क पर चलना मुश्किल। पैसों का खर्च तो बहुत हो रहा है पर क्या सही ढंग से हो रहा है? सफाई के नाम पर खाने और खिलाने का एक और नया रास्ता खुल गया है जैसे। पता नहीं नगरपालिका क्या करती है आजकल? एक ओर स्वच्छता अभियान का प्रचार है तो दूसरी ओर गन्दगी का अम्बार। एक ही चित्र के दो रूप!

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

इसमें सन्देह नहीं कि शौचालय का मुद्दा अत्यन्त गम्भीर है, बहुत ही जरूरी है मानवजाति के लिए, सभ्य-शिक्षित समझे जाने वाले हर इन्सान के लिए। दुर्भाग्यवश यदि भारतवासियों में अधिकांश, इस उपयोगी वस्तु से वंचित रहे। सरकार का ध्यान इस ओर गया है और वह इस दिशा में गम्भीरता से सक्रिय है यह एक शुभ संकेत है।

ये ही कुछ तस्वीरें हैं अपने देश की। सुन्दर और स्पष्ट तस्वीरों के साथ उसके निगेटिव भी हैं। सुन्दर-स्पष्ट तस्वीरों को देखकर मन प्रसन्न हो उठता है—हम विकास के पथ पर अग्रसर हो रहे हैं, हमारा भविष्य उज्ज्वल है और हम शीघ्र ही अपनी खोई हुई गरिमा को प्राप्त कर गौरवान्वित हो उठेंगे। तस्वीरों के इस संकेत से हमें बड़ा ही उत्साह मिलता है, हममें एक नई ऊर्जा का संचार होने लगता है। यह स्वाभाविक भी है, शोभनीय भी। पर इसी तस्वीर के साथ लगी तस्वीर की निगेटिव, जो धुँधली है, अस्पष्ट एवं काली, हमें निराश करने लगती है। तस्वीरों के इस अन्तर को हमें मिटाना होगा। हमें, यानी हम सामान्य जनों को, एक-एक इन्सान को। हर व्यक्ति पर देश की जिम्मेदारी है। जब तक हर व्यक्ति देश के विकास या उत्थान, प्रगति या उन्नति के लिए सहयोग नहीं देगा, हर कन्धा देश का भार वहन नहीं करेगा—अपना देश उन्नति नहीं कर पाएगा। प्रगति के नाम पर या विकास के नाम पर आगे बढ़ने या महान बनने का दावा झूठा ही साबित होगा।

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

महावीर और गाँधी की समानान्तर धर्म-दृष्टि

श्रीरंजन सूरिदेव*

भगवान् महावीर और महात्मा गाँधी दोनों की धर्म-दृष्टि प्रायः समानान्तर थी। महावीर ने अपने धर्म की मूल दृष्टि को पाँच व्रतों के रूप में उपन्यस्त किया है : अहिंसा, सत्य, अस्तेय (अचौर्य), ब्रह्मचर्य और अपरिग्रह। महात्मा गाँधी के धर्मगुरु जैन थे। उनका नाम रायचन्द है। इसलिए, महात्मा गाँधी का जैनधर्म से प्रभावित होना असहज नहीं था। गाँधी जी ने अपने धर्म को ग्यारह व्रतों के रूप में उपस्थापित किया। इन ग्यारह व्रतों में प्रारम्भ के पाँच व्रत महावीर के पाँच व्रत ही हैं। इन व्रतों को गाँधी जी ने इस प्रकार श्लोकबद्ध किया है :

अहिंसा सत्य अस्तेय ब्रह्मचर्य अपरिग्रहः।
शरीरश्रम अस्वादः सर्वत्र भयवर्जनम॥
सर्वधर्मसमानत्वं स्वदेशी अस्पर्शभावना।
ह्येकादशभिः सेवाभिः नम्रत्वं व्रतनिश्चये॥

ये दोनों श्लोक छान्दस दृष्टि से पूर्ण शुद्ध नहीं हैं, परन्तु गाँधी-निर्मित हैं, इसलिए इन्हें आर्ष प्रयोग माना जाता है।

यों तो महावीर के पाँच व्रतों की व्याख्या ततोऽधिक विस्तार से जैनग्रन्थों में उपलब्ध है। यहाँ संक्षेप में उसकी विवेचना प्रस्तुत है :

अहिंसा : किसी प्राणी का वध न करना-मात्र ही अहिंसा नहीं है। हिंसा प्राणी-वध मात्र तक ही सीमित नहीं है। मनुष्य मन, वचन और काय के स्तर पर हिंसा करते हैं। आपने मन में किसी के अनिष्ट का विचार किया तो वह हिंसा हो गई। मन में किसी के बारे में बुरा सोचना मानसिक हिंसा है।

---

*साहित्य वाचस्पति डॉ. श्रीरंजन सूरिदेव, पूर्व व्याख्यता : प्राकृत-शोध-संस्थान, वैशाली, पूर्व उपनिदेशक (शोध) एवं सम्पादक : 'परिषद्-पत्रिका' बिहार राष्ट्रभाषा-परिषद, पटना; पता : 'शुभैषणा', एममोफैक्टरी कैम्पस, श्रीनगर कॉलोनी, निकट संस्कार स्कूल, सन्दलपुर, पो. महेन्द्रू, पटना-800006 (बिहार); मो. 09334493468

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

आपके वाग्व्यवहार से, बोलने में कटुता आने से वह वाचिक हिंसा हो जाती है। धनुष से छूटे तीर से जो घाव होता है, वचन के तीर से होने वाला घाव उससे कहीं अधिक पीड़ादायक होता है। वह तीर आजीवन हृदय में चुभता रहता है।

सत्य : आपके सत्य बोलने से यदि किसी की हिंसा हो जाती है, तो वह सत्य नहीं असत्य है। जैव शास्त्रीय ग्रन्थ 'लाटी संहिता' में लिखा है :

सत्यं असत्यतां याति क्वचिज्जीवानुहिंसनात्।
असत्यं सत्यतां याति क्वचिज्जी वानुरक्षणात्॥

आपके सत्य बोलने से किसी की हिंसा होती है, तो वह असत्य हो जाता है, और आपके असत्य बोलने से किसी की प्राण-रक्षा होती है, तो वह सत्य हो जाता है।

अस्तेय : किसी का कुछ न चुराना ही अस्तेय या अचौर्य नहीं है। मनुष्य कई स्तरों पर चोरी करता है। जैसे, जिसे न देखने की मनाही है, उसे मनुष्य खास तौर से आँख चुराकर देखता है। चोर कई प्रकार के होते हैं। कोई व्यापारी कर की चोरी करता है तो कोई साहित्यकार या लेखक दूसरे लेखक की लिखी बातों की चोरी करता है। धन चुराने वालों की तरह साहित्यिक चोरों की भी कमी नहीं है। साहित्य-चोरों की तरह कला-चोर भी अनेक हैं। सिनेमा-जगत् में ऐसे चोरों की चर्चा होती ही रहती है।

ब्रह्मचर्य : ब्रह्मचर्य का अर्थ केवल विवाहित न होना ही नहीं है। आज कहने को ब्रह्मचारी तो अनेक हैं, पर परस्त्री-सेवन करते हैं। गीता में ऐसों को मिथ्याचारी कहा गया है। गीता का कथन है :

कर्मेन्द्रियाणि संयम्य य आस्ते मनसा स्मरन्।
इन्द्रियार्थान् विमूढात्मा मिथ्याचारः स उच्यते॥ (गीता : 3.6.)

अर्थात् वचन, हाथ-पैर आदि कर्मेन्द्रियों को संयत करके जो भगवत् ध्यान के छल से ऐन्द्रिय विषयों का स्मरण करता रहता है, वह मिथ्याचारी या कपटाचारी है। इसीलिए भगवान् महावीर ने ब्रह्मचर्य की परिभाषा की है—'स्वदारसन्तोषित्वं ब्रह्मचर्यम्।' जो अपनी पत्नी में ही सन्तोष करे, वह ब्रह्मचारी है। तभी से यह कहावत प्रचलित है—'एक नारी ब्रह्मचारी'।

अपरिग्रह : महावीर का पाँचवाँ व्रत अपरिग्रह है। अपरिग्रह का अर्थ है अपने संचित धन के प्रति स्वामित्व का अभाव। भगवान् महावीर धन-संचय के लिए मना नहीं करते, पर उस धन पर स्वामित्व के त्याग की बात करते हैं। मनुष्य को उतने धन से ही जरूरत रखनी चाहिए, जितने से शरीर-यात्रा ठीक ढंग से पूरी होती रहे। आज जो सामाजिक दुःस्थिति दृष्टिगत होती है, वह धन पर अपना दाँत गड़ाए रखने के कारण ही है। इतना ही नहीं, दूसरों के धन को हड़पने की भी इचछा बलवती बनी रहती है। इसीलिए गीता का उपदेश है—'अयाचित रूप से प्राप्त लाभ से ही सन्तुष्ट रहना चाहिए।' (4.22)

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

महात्मा गाँधी ने इन पाँचों व्रतों को महावीर के पाँच व्रतों के आधार पर ही स्वीकार किया। शेष छह व्रत राष्ट्रीय सुख-समृद्धि की दृष्टि को ध्यान में रखकर स्वीकृत किए। गाँधी जी का छठा व्रत 'शरीरश्रम' है। यह इस सिद्धान्त का समर्थक है–'कमाने वाला खाएगा।'

सातवाँ 'आस्वाद' व्रत है। इसका मतलब है, जो भी अन्न भोजन के लिए मिल जाए, उसे स्वादपूर्वक ग्रहण करें। ऐसा नहीं कि 'मीठा-मीठा गप-गप; कड़वा-कड़वा थू-थू।' मनुष्य आम को जिस स्वाद से खाता है, उसी स्वाद से नीम का भी सेवन करे। उन्न को प्राण मानकर खाना चाहिए। सत्यनारायण व्रत-कथा में उल्लेख है–'कलावभागताः प्राणाः।' कलियुग में प्राण अन्नागत है।

आठवाँ व्रत 'सर्वत्र भयवर्जन' है। मनुष्य को सर्वदा और सर्वत्र निर्भय रहना चाहिए। भगवान् का भी प्रतिज्ञा-वाक्य है–'अभयं सर्वभूतेभ्यो ददाम्येतद् व्रतं मम्।' सबको निर्भयता प्रदान करना मेरा व्रत है।

आज देश में निर्भयता की स्थिति नहीं है। जनता बुरे तत्त्वों के क्रूर आचार या स्वैराचार से त्रस्त रहती है। बस की यात्रा हो या ट्रेन की। विशेषतः महिलाएँ तो सदा अपने को असुरक्षित महसूस करती हैं। चोरी, छिनतई, स्कूली छात्राओं से छेड़छाड़, गैंगरेप आदि की दुर्घटनाओं से अखबारों के पन्ने रँगे रहते हैं। निर्भयाकाण्ड तो पूरे राष्ट्र के मुँह पर बदनुमा दाग बनकर इतिहास के एक काले अध्याय के रूप में सदा के लिए चस्पा हो गया है। निर्भयता के अभाव के कारण ही यह सारी दुःस्थितियाँ उभंरकर सामने आई हैं। इसीलिए, गाँधी जी ने 'सर्वत्र भयवर्जनम्', व्रत का उद्घोष किया है।

गाँधी जी सिर्फ कहते नहीं थे, कर दिखाते थे। नोआखाली में हिन्दू-मुस्लिम दंगे के समय अकेला गाँधी अत्याचारियों के बीच चले गए थे। उनका प्रभाव देखिए कि अत्याचारियों ने गाँधी के समक्ष अपने हथियार डाल दिए।

नवाँ व्रत सर्वधर्म समानता है। दुर्ललित युवा नाथूराम गोडसे गाँधी के इस व्रत का मूल्यांकन नहीं कर सका। गाँधी के पार्थिव अस्तित्व को उसने भले ही नष्ट कर दिया, पर गाँधी का सिद्धान्त और भी अतुलित वेग से उद्भावित हो आया। फलतः गाँधी आज भी शाश्वत्प्रतिष्ठ और प्रासंगिक हैं। 'हिन्दू-मुस्लिम-सिक्ख-ईसाई सब आपस में भाई-भाई' जैसा नारा गाँधी-सिद्धान्त का ही प्रत्यक्ष विजय-नाद है।

दसवाँ व्रत 'स्वदेशी सिद्धान्त से जुड़ा है। खादी ग्रामोद्योग का विकास-विस्तार इसी व्रत का प्रतिरूप है। विदेशी वस्त्रों के होलिका-दहन की अग्नि ज्वाला गोरी सरकार को झुलसाती हुई काल की अग्निशिखा बनकर इतिहास में प्रतिष्ठित हो गई।

ग्यारहवाँ व्रत 'अस्पर्शभावना' है। इस व्रत ने आपसी छुआछूत की भावना को मिटाकर राष्ट्र को नया रूप दिया। अस्पृश्य जन हरिजन बन गए। जनता में हरिजन को देखने की नई दृष्टि उत्पन्न हुई।

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

इस प्रकार, तुलनात्मक दृष्टि से देखें तो महात्मा गाँधी महावीर से भी आगे निकल गए। गाँधी जी का सर्वतोमुखी व्यक्तित्व विराट् था। उनके इस व्यक्तित्व का प्रभाव हिन्दी-साहित्य पर भी पड़ा। भाषा की समस्या पर उनके विचार बड़े स्पष्ट हैं। शिक्षित वर्ग उनसे, उनके हिन्दी-हितैषी व्यक्तित्व से परिचित हुआ। हिन्दी-साहित्य-सम्मेलन, प्रयाग का ध्यान उस ओर आकर्षित हुआ। सम्मेलन की ओर से गाँधी के संरक्षण में दक्षिण में हिन्दी का प्रचार हुआ।

गाँधी अपने व्रतनिष्ठ नम्रता से पूरे विश्व में एक महापुरुष के रूप में सर्वप्रतिष्ठ हो गए। यह सब उनके 'स्वदेशी' व्रत का ही प्रभाव है।

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

सन्त रैदास आज के सन्दर्भ में

जिया लाल आर्य*

सन्त रैदास का भजन है,

अब कैसे छूटे राम नाम रट लागी।
प्रभु जी तुम चन्दन हम पानी,
जाकी अंग-अंग बास समानी।
प्रभुजी तुम दीपक हम बाती,
जाकी जोति बरै दिन राती।
प्रभु जी तुम स्वामी हम दासा,
ऐसी भक्ति करै रैदासा।

इस भजन के प्राण सन्त शिरोमणि रैदास की अमर कीर्ति देश के कोने-कोने में प्रभाषित हो रही है। यह समता, समरसता और एकात्मकता का द्योतक है। यह चन्दन और पानी के मिश्रण की सुवास का अमृत प्रभाव है और दीपक तथा बाती के संयोग से दिवारात्रि को प्रकाशित करने वाली वह ज्योति है जो मानव-समाज को नई राह दिखाएगी। यही राह भारत को पुनः विश्व गुरु के शीर्षोत्कर्ष तक पहुँचाने में मदद करेगी।

सन्त रविदास का आगमन, वाराणसी की पावन धरती पर, इतिहास रचने वाला रहा है। भारत के साहित्यिक इतिहास में 14वीं और 15वीं शताब्दी के कालखंड को मध्ययुग या भक्तिकाल कहा गया है। इसे नवजागरण काल भी कहा गया है, क्योंकि इसी कालखंड में सन्तों और महात्माओं ने मानव की अन्तरात्मा को प्रकाशित किया था, उसे जागृत किया था। यह वह समय था, जब मुस्लिम आक्रमणकारी गजनी, मुहम्मद गोरी और अलाउद्दीन खिलजी का प्रभुत्व बढ़ रहा था। यहाँ के लोगों में

* जिया लाल आर्य, आई.ए.एस. (सेवानिवृत्त) "आर्य निवास," 23 आई.ए.एस. कॉलोनी, किदवईपुरी, पटना-800001; मो. 09451233621

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

सुरक्षा एवं आत्म-सम्मान का ह्रास हो रहा था। धर्म एवं संस्कृति का विनाश हो रहा था। ऐसे अन्धकार में आशा ज्योति के रूप में दो घटनाएँ घटी, भारतीय इतिहास में।

अध्यात्म एवं धर्म पुनर्जागरण के लिए श्री रामानुजाचार्य और श्री रामानन्दाचार्य का आगमन हुआ। श्रीमन् रामानुज ने सनातनता को बढ़ाया। श्री रामानन्द ने सनातन रूढ़ियों से हटकर मानव को जोड़ने का काम किया। उन्हीं के शिष्यों में सन्त रैदास, कबीर, धन्ना, सेन, पीपा, रामदेव, सावन्ता, नरहरि, चोखा मेला, जनाबाई आदि हुए। भक्त नामादास की कृति 'भक्त माल' इसका प्रमाण है।

सन्त रविदास ने कहा है :

'सतगुरु का खोजन चले, मन में मोद मनाए।
गुरुवर रामानन्द के, आश्रम पहुँच जाए॥'

रामानन्द जी ने विधिवत गुरुमंत्र देते हुए कहा था :

'भक्ति सहित निज उर धरो, रामरूप सुखधाम।
निशिवासर अति प्रेम से, जपौ राम का नाम॥'

यहीं से सात्त्विक आहार, सात्त्विक आचार-विचार, तन्मयता, विश्वास और आत्मसम्मान का उदय हुआ। कबीर ने 'सन्तन में रविदास' कहकर रैदास को सन्तों का शिरोमणि बना दिया। परन्तु वह स्पष्ट है कि वे शिरोमणि हुए अपने सामाजिक, धार्मिक एवं राष्ट्रीय चिन्तन से। अध्यात्म तो उनकी आत्मा का श्रृंगार था।

आज के सन्दर्भ में रैदास समीचीन—आज हमारे देश में जो सामाजिक रूढ़िता, धार्मिक अन्धविश्वास एवं राजनीतिक हेय चिन्तनता है उसमें रैदास की दी हुई दिशा समीचीन लगती है। जाति-पाँति, वर्ण-व्यवस्था, अमीर-गरीब और अन्य सामाजिक मतभिन्नता को दूर करने में कबीर-रैदास अत्यन्त प्रभावकारी होंगे। रैदास ने 'केलन की पात-पात में पात। मानुष में जात-जात में जात' कहकर जाति-बन्धन से निजात पाने की बात कही। कबीर ने कहा—"जात-पात पूछें नहिं कोई। हरि को जैसा हरि कह होई।" इन दोनों ने ही तुलसीदास की इस पंक्ति में निहित विचार का विरोध किया। 'पूजहि विप्र यद्यपि गुण हीना।'

रैदास ने कहा—*"रैदास ब्राह्मण मत पूजिये, जउ होवे गुणहीन।*
पूजहिं चरण चांडाल के, जऊ होवे गुण प्रवीण॥"

इन्होंने साहसिकता के साथ गीता के 'गुणकर्म विभागशः' को आगे बढ़ाया। गुण और कर्म को महत्त्व दिया। सन्त कबीर ने इसी को आगे बढ़ाते हुए कहा था—

"जाति न पूछो साधु की, पूछि लीजिए ज्ञान।'

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

सन्त रैदास ने कहा—

'जन्मजात मत पूछिए, का जात और पात।'
रैदास पूत सम प्रभु के, कोई नहि जात कुजात॥
'विषाप्यमृतं ग्राह्यमेध्यादपि कांचनम्।
नीचादप्युत्तमा विद्या स्त्रीरत्नं दुष्कुलादपि॥"

अर्थात् चाणक्य की उपर्युक्त भाव भी इसी का समर्थन करता है। अर्थात् विष से अमृत, अशुद्ध स्थान से सोना, नीच कुल वाले से विद्या और दुष्ट स्वभाव कुल की गुणी स्त्री का ग्रहण करना चाहिए।

वर्णाश्रम पर उन्होंने लोगों को चेताया—

'वर्णाश्रम अभिमान तजि पदरज वन्दहिं जासु की।
सन्देह ग्रन्थि खंडन निपुन, वाणी विमल रैदास की॥'

निष्काम कर्म एवं श्रम का महत्त्व—सन्त रैदास ने श्रम के महत्त्व को लोगों तक पहुँचाया। 'हन्थन सो कर कार' इसका प्रमाण है। उन्होंने अपने पैतृक काम को करते हुए चित्तौड़ की रानी झाला रानी और कृष्ण दिवानी मीरा के 'गुरु' बने। यह निष्काम कर्तव्य का ही परिणाम है।

दूसरी घटना, जो भारतीय इतिहास का अंग बनी, वह भी इन सन्तों, विशेषकर रैदास की ही देन है। इन्होंने गुलामी को तिरष्कृत किया। पराधीनता को धर्म विरुद्ध बताया। उन्होंने कहा—

'पराधीन का दीन क्या, पराधीन वेदीन।
रैदास पराधीन को, सभी समझै हीन॥'

स्पष्ट है कि स्वाधीनता का बीज रैदास ने 15वीं सदी में ही बो दिया था जो बीसवीं सदी में फलित हुआ।

इतिहास के बच्चों को रटाया जाता है और हमलोग भी मानते हैं कि भारतीय संविधान में 'समानता, स्वतन्त्रता, बन्धुता' फ्रांस की क्रान्ति की देन है, परन्तु रैदास एवं अन्य सन्तों के साहित्य को देखिए तो मानना पड़ेगा कि समता, स्वतन्त्रता एवं बन्धुता इन सन्तों ने, विशेषकर रैदास ने फ्रांस की क्रान्ति के तीन-चार सौ साल पूर्व दे दी थी। उन्होंने कहा था—

'ऐसा चाहूँ राज मैं जहाँ मिलै सब को अन्न।
छोट-बड़ो सब सम वसै, रैदास रहे प्रसन्न॥'

यह समता पराधीनता से मुक्ति, स्वतन्त्रता, भाईचारा किसकी देन है, निश्चय ही रैदास जैसे सन्तों की। इन पंक्तियों में आत्मनिर्भरता का भी सन्देश है।

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

सन्त-ईश्वर एकता—सन्तता, मानव की सर्वोच्च प्राप्ति है। सन्तत्व एक स्थिति में ईश्वर के समान हो जाता है। कहते हैं कि गंगा का उद्‌गम ब्रह्म कमंडलु से हुआ है। गंगा निकलकर कहाँ गई, शंकर की जटा में या रैदास की कठौती में। रैदास की कठौती में गंगा यदि मनचंगा हो तो। रैदास का मन निर्मल था इसलिए उनकी कठौती में गंगा का वास था।

सन्त रैदास को स्मरण करने का उद्‌देश्य केवल धूप-दीप जलाने, पत्र-पुष्प देने एवं भाषण-प्रवचन करने तक सीमित नहीं होना चाहिए। रैदास के जीवन एवं उनकी वाणी से हमें सीख लेकर मानव-समाज और राष्ट्र के विकास पर ध्यान देना चाहिए। यह तभी सम्भव है जब हम कुछ ऐसे प्रश्नों का उत्तर ढूँढ़ें।

राष्ट्रीय एकता एवं अखंडता के लिए समानता, बन्धुता और आपसी विश्वास को व्यावहारिक बनाना होगा। सम्मान, भाई-चारा, बन्धुत्व, विश्वास से समाज जुड़ता है, क्योंकि रविदास का मानना था—'छोट-बड़ो सब सम वसै, रैदास रहे प्रसन्न।'

रैदास भारतीयता की पहचान हैं। उन्हें किसी जाति या स्थान से जोड़ना उचित नहीं है। रैदास, रविदास, रायदास आदि नामों से ऊपर उठकर एक समाज की पहचान बनानी होगी, विशेषकर दलित या अनुसूचित जाति को। जातियों, उपजातियों को छोड़ सब एक हों। रोजी, रोटी, शादी, ब्याह, रहन-सहन में संकीर्ण विचारों को छोड़कर आगे बढ़ें। सवर्ण इसमें मदद करें और अवर्ण एक हों, तभी भारत 2020 तक विश्व के विकसित राष्ट्रों की पंक्ति में खड़ा हो सकेगा।

संविधान ही हमारा स्मृतिग्रन्थ है। इसका मूल उद्‌देश्य है समानता, बन्धुता एवं सहभागिता। यह तभी होगा जब सभी शिक्षित हों, सबको आर्थिक स्रोतों में समान हिस्सा मिले। इसीलिए सामाजिक और शैक्षिक रूप से पिछड़ों के लिए आरक्षण की व्यवस्था संविधान में की गई है।

अज्ञान, अशिक्षा, अदूरदर्शिता से देश को उबारने के लिए शिक्षा, संगठन एवं संघर्ष करने की आदत को संविधान के दायरे में लागू करना होगा, इससे ही समता, समानता, बन्धुता का नारा सफल होगा।

इन प्रश्नों पर हम विचार करें सभी सन्त रैदास की यह वाणी सच्ची साबित होगी और उस सन्त को सच्ची श्रद्धांजलि होगी जिसने कहा—

प्रभुजी तुम मोती हम धागा,
जैसे सोनहिं मिलत सोहागा।
प्रभुजी तुम चन्दन हम पानी॥

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

हिन्दू धर्म में राम

केशीकान्त शकुन*

म्भवतः हम इस समय न समझ पा रहे हों; पर सच यही है। राम, राम है। दशरथ का हो या गोविन्द का। इसका हो या उसका। मेरा हो या आपका। तात्पर्य, वह हम सबका है। संकीर्ण विचारों वाले उसे सम्प्रदाय, पन्थ और मजहब जैसे संघटनों में बाँट देते हैं। ऐसा राम हमारा है और वैसा राम तुम्हारा है। यह राम और है एवम् वह राम और अथवा मेरा राम मेरा है और तेरा राम तेरा। ऐसी कोई बात नहीं है। वह एक ही है जो हम सबका साझा है। सबसे जुड़ा हुआ हम सबका खयाल रखने वाला, वह पालनकर्ता है, नियामक है और न्यायकर्ता शासक भी। अतिरिक्त नाम चाहे जो हो!

दशरथ का राम हिन्दुओं का है तो एक राम उनका है जो हिन्दू नहीं हैं या अपने-आपको हिन्दू नहीं समझते। जिस किसी का उससे बढ़कर सर्वत्र प्रतिष्ठित, सर्वतोभद्र और सर्वज्ञ घट-घट का वासी राम है। उसके लिए तो राम और मनुष्य एक-समान हुए न! राम देवता है, मानव है, मानवेतर और अतिरिक्त भी। वह मर्यादा पुरुषोत्तम है और मर्यादाओं के पार का कृष्ण है।

राम परमात्मा है और उसका प्रतिरूप भी। परब्रह्म है वह। सनातन धर्म अर्थात् हिन्दू धर्म में उस परमात्मा के शक्तिरूप हैं—ब्रह्मा, विष्णु तथा महेश। उनमें से विष्णु का अवतार राम हुआ। कथित हिन्दू धर्म का एतादृश राम विश्व में व्याप्त है तो फिर समर्थ, चमत्कारी, किसी विशिष्ट या दशरथ का क्यों नहीं हो सकता? इतना अक्षम भी नहीं है कि वह जैसा चाहे वैसा हो न सके।

राम वाल्मीकि का है, तुलसीदास का है, कबीर का है और किस-किस का नहीं है वह? ईश्वर के विग्रह में इतना सक्षम है जितने की उससे अपेक्षा की जाती है, कभी-कभी तो उससे अधिक भी। इतना कि उसकी प्रतिभावना संशयिक लगने लगे। क्या ऐसा वह किसी का हो सकता है? जब उसका होना अपवाद की श्रेणी में न आता हो। इस पर कोई कैसी प्रतिक्रिया कर ले, चाहे आपत्ति उठा ले! फिर तद् रूपातिरिक्त

---

* केशीकान्त शकुन, पी-6, पंजाबी विश्वविद्यालय परिसर, पटियाला-147002 (पंजाव)।

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

उसके स्वामी-सा कुछ होता होगा या कहें कि ऐसे का सृजन किसी दूसरे द्वारा किया गया होगा जिससे उसका लेना-देना न रहा हो? तब वह कैसे उसके अंश में समाता होगा? कैसे कोई उसका होता होगा? उसकी कल्पना मनुष्य की बुद्धि में नहीं बैठती और वह साधारण-से-असाधारण, अज्ञात, सशक्त तथा सर्वेश्वर हो जाता है। ऐसा कुछ भी कर सकता है, कैसा भी हो सकता है और किसी का भी।

हिन्दुओं का राम श्वास-प्रतिश्वास प्रत्येक में निवास करता है। प्रत्येक के संग है, पृथक्-पृथक् समय पर घटना व दुर्घटना में। प्रायः स्वीकार्य, तो भी उसकी कल्पना कठिन-सी बनी रहती है। हिन्दू मतानुसार यह संसार उसकी लीला है या विस्तार जो चाहे कहें, इससे अति गूढ़ और क्या हो सकता है असंख्य आकृतियों में सहस्रों नामों के साथ? अब ऐसा चर्चित सभी का सब कुछ क्यों न होगा? चाहे उसकी पूरी पहचान होती हो या न हो! भिन्न-विभिन्न अवसरों पर अनेक सन्दर्भों में चर्चा उसी की होती है। इस अवस्थिति में वह अपना स्वामी स्वयं हुआ न! आसन्न परिस्थिति उसके सामर्थ्य पर प्रश्न उठाने नहीं देती, पूर्ण स्वतन्त्रता एवम् अधिकार के बावजूद। कोई उसका उपयोग करे या न करे। माने या न माने। लक्षित अंश सम्पूर्ण का प्रतिनिधित्व करता है।

बूँद सागर में मिले अथवा मिल दी जाए तो निराकार, देहातीत, अनाम और कल्पनातीत हो जाती है! चेतना की एतन्निष्पत्ति से निर्देशित चराचर अपनी-अपनी भूमिका में अद्वितीय है। परतः 'परात्पर की अवधारणा' धूमिल नहीं होती। गीता के दसवें अध्याय का सत्ताइसवाँ श्लोकांश है : नराणां च नराधिपम्। इन शब्दों में अपने पन्थ, सम्प्रदाय, मजहब या वर्ग के हिसाब से फेरबदल तो किया जा सकता है। पदेन गुरु, रहबर, रहनुमा या अधिनायक आदि कुछ भी कह लें! निहित वास्तविकता को बाधित नहीं किया जा सकता। 'सूर्य की धूप तेज लगती है। व्यक्ति हाथों की ओट बना लेता है। क्या इस तरह सच्चाई को नकारा जा सकता है?' बाधक ही उसकी दशा और स्थिति को प्राप्त कर लेता है। वहीं विवाद, विरोध, द्वन्द्व, सुनिश्चितता तथा सुरक्षा के विमिश्रित विचारों के साथ सदाशयता निभाते हुए शस्त्रधारियों में राम विभूति है : रामः शस्त्रभृतामहम्। यह श्रीमद्भगवद्गीता के दसवें अध्याय के इकत्तीसवें श्लोक में है। अतः व्यक्ति को अंश और सम्पूर्ण में भेद अस्वाभाविक नहीं लगता। इतना ही नहीं, राम-राम के जवाब में बच्चे का नाम-नाम भी चलेगा! ईश्वर कभी जब चाहे, किसी प्रकार से और किसी रूप में व्यक्त हो सकता है। निरर्थक और अल्पतर शब्दों को दोहराते न रहें!

हिन्दू धर्म रास्ता दिखाने और उस पर ले जाने वाले चालक और परिचालक के विश्रामगृह तक सीमित नहीं है। उससे कहीं आगे निकलकर वह राम के अवतार में वैकुंठी ऋत को प्रस्तुत करता है। अन्ततः मनुष्य को स्वयम् आत्मसाक्षात्कार करना होता है! वह सहारा-सा तो लग सकता है और इतने सामान्य की सहायता नहीं

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

करता। आवश्यकता क्या है? मर्यादा-पुरुषोत्तम राम का स्थान जिसके अन्तःकरण में है, उसी की आत्मा में है।

जब उपर्युक्त प्रकार की सत्ता मानसिक अथवा शारीरिक या दोनों प्रकार से निर्बल की सहायता करती है कर या सम्बल अल्प, अत्यल्प हो और बिना प्राप्ति के भी। तब उसे रामराज्य या उस प्रकार की व्यवस्था के अन्तर्गत रखा जा सकता है।

ऐतिहासिक एवं पौराणिक आधार पर वैवस्वत मनु ने मत्स्य न्याय अर्थात् बड़ी मछली को अधिकार है कि छोटी को निगल जाए जैसे व्यभिचार से जन-साधारण को मुक्ति दिलाई और सुव्यवस्था स्थापित की। तदनुरूप प्रशासकीय कार्यों में से राज्य का उदय हुआ। मनु के आठ पुत्र और इला नामक एक पुत्री थी। यथासमय राज्य को इनमें बाँट दिया। इक्ष्वाकु उसका बड़ा पुत्र था। मध्यदेश का अधिकार उसको मिला और उसने अयोध्या नगरी को अपनी राजधानी बनाया। राम उसी का वंशज था। इसी इक्ष्वाकु का वंश इतिहास में सूर्यवंशी कहलाता है। दिलीप, रघु, दशरथ और राम इत्यादि इस वंश के प्रतापी राजा थे। राम का राजा रामचन्द्र कहकर स्तवन किया जाता है।

राम कथा लोग आज भी कहते तथा सुनते हैं। उसके महत्त्व को समझते हैं। महर्षि वाल्मीकि ने उसे चौबीस हजार श्लोकों में लिखा और प्रथम कवि कहलाए। तुलसीदास कृत रामचरितमानस घर-घर पहुँच गया। केशव की राम-चन्द्रिका के अतिरिक्त लगभग अड़सठ और कवियों ने भक्ति-काल में उक्त कथानक को लेकर लिखा। कम्बन की ही तमिल रामायण के गुरुत्व, महिमा एवम् अनिवार्यता पर चर्चा पृथक् से अपेक्षित है।

कहते हैं, राम झोली-भर कर देता और मुट्ठी-भर लेता था तो भी कृषक खुश नहीं था। इससे एक बात तो स्पष्ट होती है। उसके शासन में करों का बोझ नाम मात्र था और न अनावश्यक कानूनी पाबन्दियाँ थीं। जिनमें से किन्हीं के नीचे दबकर व्यक्ति अपनी पहचान और स्वतन्त्रता खो देता है। प्रजा सम्पन्न हो न हो सन्तुष्ट, सुखी और सुरक्षित थी। प्रजा और राजा में दूरी नहीं थी या न के बराबर थी। ऐसा तो हो नहीं सकता। इसलिए रामराज्य की परिकल्पना का विरोध किया जाता है विशेषकर अधिनायकवादियों द्वारा। आदर्श भी रामायण के पात्र ऐसे प्रस्तुत करते हैं। कौन मान सकता है कि राम जैसा पितृभक्त पुत्र हुआ होगा और सीता जैसी पतिव्रता? दायित्व-बोध, संवेदना तथा कार्यान्वयन भी सीता को असाधारण बनाता है। गुप्तचरों द्वारा जब बताया गया कि आँधी-तूफान व वर्षा आदि से अकस्मात् विकट बन गए पर्यावरण के कारण रास्ते के गाँव में रात बिताकर मायके से ससुराल पहुँची पत्नी को धोबी यह कहकर निकाल देता है कि वह राम जितना महान् नहीं है। सीता तो महारानी है, वह स्वयं परिवार एवं कुल के सम्मान हेतु गृहत्याग कर वन में चली जाती है कितना समझाने और मनाने के बावजूद। उस अवस्था में जब स्त्री को परिजनों की

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

सर्वाधिक आवश्यकता होती है। दूसरी ओर लक्ष्मण तथा भरत जैसे समर्पित भाई हैं। पहला भाई रात-दिन सेवा में रहा और दूसरा बड़े भाई की चरण-पादुकाओं के सहारे उसका राज्य चलाता रहा। हनुमान जैसे सेवक के कृत्यों को भुलाया नहीं जा सकता। किसी के न मानने से इतिहास बदल नहीं जाएगा। भारत ही नहीं, विश्व का इतिहास तादृशी शिक्षा तथा आदर्शों तक पहुँचाने वाले वेदों से आरम्भ होता है। यह जानने के कितने साधन उपलब्ध हैं, इसके बावजूद हम चाहें तो मनुष्य को स्त्री हो या पुरुष गुमराह बनाए रख सकते हैं।

इक्ष्वाकु वंश की बीसवीं पीढ़ी में राम का पूर्वज मान्धाता अनेक प्रदेश जीतकर चक्रवर्ती सम्राट् कहलाया। श्री सत्यकेतु विद्यालंकार के अनुसार पौराणिक अनुश्रुति में कहा गया है : सूर्य यहाँ से निकलता है और यहाँ अस्त होता है वहाँ तक सारा क्षेत्र मान्धाता के शासन में था। पौरव, आनव, द्रुह्यु तथा हैहय शक्तिशाली प्रदेश उसके राज्य में सम्मिलित थे। राम ने श्रीलंका सहित समस्त दक्षिण को राक्षसी गतिविधियों और प्रवृत्तियों से मुक्त करवा लिया था। उस समय खग, नाग, वानर तथा ऋक्ष आदि वनवासी जातियाँ सभ्य और सुसंस्कृत होने जा रही थीं। उन्होंने राम को सहयोग दिया। जटायु, सम्पाति, नल-नील, सुग्रीव, हनुमान और जाम्बवान् इत्यादि उन्हीं के प्रतिनिधि एवं प्रतीक हैं। निर्वासित सुग्रीव का बड़ा भाई किष्किन्धा नरेश बाली राक्षसराज महाबली रावण को कभी पर्याप्त समय तक अपनी बगल में दबाए रखकर सामर्थ्य का परिचय दे चुका था। जब तक उसने क्षमायाचना नहीं कर ली। द्वन्द्व-युद्ध में बाली का सामना कोई नहीं कर सकता था। ब्रह्मा के वरदान-स्वरूप वह किसी का भी आधा बल खींच लेता। उसके आगे असहाय सुग्रीव की राम ने रक्षा की। वृक्षों की ओट ले कर बाली का वध कर दिया। इस प्रकार छोटे भाई को उसका अधिकार मिल गया, राज्य मिला और उसकी पत्नी रोमा को अत्याचारी से मुक्ति। आखिर जंगल-राज का अन्त उसके नियमों में ही छुपा रहता है।

मान्धाता के पुत्र पुरुकुत्स से ग्यारह पीढ़ी पश्चात् सत्यवादी हरिश्चन्द्र हुआ। अयोध्या के इसी इक्ष्वाकु कुल की इकतालीसवीं पीढ़ी में सगर हुआ और पैंतालीसवीं में भगीरथ जिसे गंगा के अवतरण निमित्त स्मरण किया जाता है। राम के ऐतिहासिक तथा पौराणिक महत्त्व का आधार कुल-परम्परा है जो मनुष्य और उसकी सद्वृत्तियों को संरक्षण प्रदान करती है। पिता के वचन निभाने हेतु विमाता कैकेयी द्वारा दिया चौदह वर्षों का वनवास और भरत को राज्य शिरोधार्य है : रघुकुल रीति सदा चलि आई। प्रान जाहुँ बरु बचनु न जाई।

इक्ष्वाकु वंश की साठवीं पीढ़ी में दिलीप स्मरणीय रहा और उसके बाद उससे भी बढ़कर उसका पौत्र रघुवीर एवं पराक्रमी प्रसिद्ध हुआ। उसकी दिग्विजय का वर्णन महाकवि कालिदास ने महाकाव्य "रघुवंशम्" में किया है। रघु इतना जनप्रिय हुआ कि उसके नाम पर इक्ष्वाकु वंश रघुवंश कहलाने लगा। रघु का पुत्र अज, अज का दशरथ

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

और दशरथ का राम हुआ। सत्यकेतु विद्यालंकार के कथनानुसार रामचन्द्र का जन्म पैंसठवीं पीढ़ी का माना जाता है।

राम कथा को लेकर प्राचीन तथा अर्वाचीन विश्व साहित्य में इतने ग्रन्थ लिखे गए हैं। उतना महाभारत के अतिरिक्त शायद किसी कथा को लिखा गया हो। आज भी लिखा और प्रदर्शित किया जा रहा है। पहली बार जब चलचित्र-निर्माता रामानन्द सागर ने रामायण पर धारावाहिक तैयार किया। उसे देखने टेलीविजन वाले घरों में गए आबालवृद्ध के बिना गलियाँ और बाजार सूने हो जाते थे—प्रातः नौ से दस बजे तक। दुकानदार दुकानें खुली छोड़ देते। कहीं चोरी-चिकारी की घटना भी नहीं घटी। कभी विशेषकर शाम को खेल में बच्चे श्रीराम के जयघोष सहित छलाँगें लगाते, छोटी-मोटी और कभी काल्पनिक दीवारें कूद जाते। ऐसा ही हाल बी.आर. चोपड़ा के धारावाहिक महाभारत के प्रदर्शन-प्रसारण के समय हुआ। पात्रों के अभिनय पर विचार करते हुए संयोगवश दो-चार इकट्ठे लोगों के बीच राही मासूम रजा के संवादों की चर्चा होने लगती। तुलना में और कोई है नहीं जिससे रामकथा की लोकप्रियता का कारण जाना जा सके।

राम से बड़ा है राम का नाम। जिस-जिस पर लिख दिया वे पत्थर तैर गए समुद्र में और सेतु बन गया रामेश्वरम्, भारत और श्रीलंका के मध्य।

रावण तीनों लोकों का स्वामी है। ये लोक उसने अपने बाहुबल से जीते हैं। सोने की लंका में रहता है। राक्षसी धर्म और संस्कृति को ऋषि-मुनियों के रक्त से सींचता है। इतना शक्ति सम्पन्न है जो चाहे कर सकता है। बुद्धिमान है, विद्वान है। ग्रह-नक्षत्र उसके अधीन हैं और अमृतकुंड उसकी नाभि में। सीता का अपहरण उसके सर्वनाश का कारण बनता है। यहाँ जैसे रामचन्द्र को धनुष-बाण उठाना पड़ता है वैसे किसी अन्य प्रकरण में लग सकता है कोई और; पर होगा वह राम ही।

अनाचार कैसा भी हो, किसी रूप में हो असमर्थ के विरुद्ध आघातक है। जो ऐसी समस्याएँ उत्पन्न करते हैं उन्हें स्वयं को सही सिद्ध करने की महारत हासिल होती है। उन्हें और उनके समर्थकों को समझाया नहीं जा सकता। उन्हें समाप्त करना होता है! जब तक वे रहेंगे, प्रत्येक घटना के बाद जश्न मनाएँगे और अखबार उनका आँखों देखा हाल पढ़ाएँगे। कभी तो उनका विनाश होगा और होता है, कैसे भी हो, किसी के द्वारा हो! हिन्दू धर्म में यह विश्वास निराकार राम है, श्रीराम, मर्यादा पुरुषोत्तम राम।

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

मूल्य : बहुकोणीय विवेचन

प्रदीप जुगरान*

'मूल्य' शब्द का वर्तमान आधार अत्यधिक विस्तृत है, अर्थशास्त्र की भाषा में आम जन किसी वस्तु की मुद्रात्मक विशिष्टता के बारे में मूल्य द्वारा जानता है। तथापि 'साहित्य में मूल्य', 'जीवन के मूल्य' आदि ऐसी संकल्पनाएँ हैं, जो गम्भीर विवेचनाओं को अपने में समाहित किए है। 'मूल्य' शब्द मूल+यत् प्रत्यय के समाहार से बना है। मूल्य वह है, जो किसी वस्तु का मूल है, जिससे उस वस्तु की उत्कृष्टता प्रकट होती है। तब हम उस वस्तु को मूल्यवान (Valuable) कहते हैं। वस्तुतः अर्थशास्त्र विषय से मूल्य शब्द का सम्बन्ध मानना उचित रहेगा। वर्तमान परिप्रेक्ष्य में साहित्य के अन्तर्गत एक विशाल अर्थ को स्वयं में समाहित किए यह शब्द विभिन्न अर्थों में प्रचलित हो रहा है।

'मूल्य' शब्द की निम्न व्याख्याएँ प्राप्त होती हैं। मूलेन आनाभ्यं मूल्यम्। मूलेन समो मूल्यः, मूलमर्हीत समो मूल्यम्।[1] अर्थात् मूल के समान मूल्य है, और वस्तु की विशिष्टता को प्रकट करने वाला तत्त्व ही मूल्य है। अँग्रेजी के Value शब्द के समतुल्य 'मूल्य' शब्द प्रयुक्त होता है। Value शब्द की व्युत्पत्ति लैटिन भाषा के Valere से हुई है, जिसका अर्थ होता है—अच्छा, सुन्दर। भारतीय परिप्रेक्ष्य में 'मूल्य' को मूल, सुन्दर उद्भावनाएँ तथा कल्याणकारी रूप में जाना जाता है। यद्यपि भिन्न-भिन्न देशकाल परिस्थितियों में इन मूल्यों में अन्तर आ जाता है, तथा इन्हें हम परिवर्तनशील भी मान सकते हैं। 'मानवमूल्य' या 'जीवनमूल्य' नाम से मानव या जीवन की विशेषताओं को प्रकट करने में 'मूल्य' समर्थ है। Value शब्द को ग्रीक में 'ऐक्सियोज, फ्रांसीसी में 'ब्रोलोर' तथा जर्मन में 'वेट' नाम से जाना जाता है।

हिन्दी साहित्यकोश के अनुसार 'मूल्य' और 'प्रतिमान' समानार्थी शब्द हैं। दोनों ही मानव-निर्मित निकष या कसौटियाँ हैं, जिनके सहारे साहित्य की परख की जाती

हिन्दी विभाग, हे.न.व.ग. केन्द्रीय विश्वविद्यालय, श्रीनगर गढ़वाल,
Email-pradeep.sharma87pj@gmail.com, Mob.9456580462, 7467841201

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

है। मनुष्य चूँकि पहले व्यक्ति हैं, इकाई हैं—इसके अपने कुछ मूल्य होते हैं। परन्तु व्यक्ति मनुष्य एक वृहत्तर मानव समाज का, परिवार, नगर, प्रदेश, प्रान्त, राष्ट्र या संसार का सदस्य, नागरिक, सामाजिक विशेष होकर सामान्य अंग भी है। अतः उसके विचार, कर्म और कल्पना में मूल्य का प्रश्न बहुत महत्त्वपूर्ण हो जाता है।[2]

मूल्य की व्यापकता में ऐसे सिद्धान्त, जिनमें समाज की विशेष आस्था हो, मूल्य कहलाते हैं। अन्य अर्थ में किसी वस्तु समाज अथवा सिद्धान्त के प्रति आदर व्यक्त करना ही उसे मूल्य प्रदान करना होता है। 'वस्तुतः जो कुछ भी इच्छित है, वांछित है, वही मूल्य है।[3] जो जीवन को अस्तित्व और गति प्रदान करे, वही मूल्य है।[4] 'नालन्दा विशाल शब्दसागर' में मूल्य को दो अर्थ में व्यक्त किया गया है। प्रथम किसी वस्तु को खरीदने पर उसके बदले में दिया जाने वाला धन, दाम, कीमत या प्राइस है। द्वितीय वह गुण या तत्त्व जिसके कारण किसी वस्तु का महत्त्व या मान होता है।[5]

सामान्यतया हम मूल्य शब्द दैनिक जीवन में विज्ञान, साहित्य, गणित, दर्शन, नीति के सम्बन्ध में सुनते रहते हैं, तथापि जीवन या मानव के साथ जुड़ने पर यह मूल्य 'जीवन मूल्य' या 'मानव-मूल्य' के रूप में अपने विराट स्वरूप को प्राप्त करता है, और प्रारम्भ होती है सुधीजनों की अपने विषयोचित भिन्न-भिन्न व्याख्याएँ। इसे हम मूल्य का स्वरूप मान सकते हैं, जो विभिन्न रूप में मनुष्य के जन्म-मृत्यु तक के उचितानुचित भेद को प्रदर्शित करने का कार्य करती है।

"मनुष्य और जीवन के परिप्रेक्ष्य में 'मूल्य' शब्द वास्तव में एक धारणा है, जो मानव और उसके जीवन से सम्बन्धित है। मूल्य मानवीय सुख-कल्याण भावना का आधार लेकर चलने वाला परम-शक्तिशाली अमोघ प्रेरक है। मूल्य पदार्थ की योग्यता से सम्बन्धित अमूर्त सत्ता है। मूल्य, मनुष्य को पशुता से ऊपर उठाकर उसका उन्नयन करने वाली विवेक-क्षमता है, चेतना है। मूल्य मानवता की कसौटी है। मूल्य, जीवन-मूल्यों को दिशा-निर्देश प्रदान करते हैं। लक्ष्य तक पहुँचने के सोपान हैं।"[6]

मूल्यों का सम्बन्ध समाज, संस्कृति, जीवन, परिवेश, आदर्श, अध्यात्म के साथ वर्तमान वैज्ञानिकता के विभिन्न क्षेत्रों से सह-सम्बन्धित है। किसी भी क्षेत्र में आदर्श की स्थापना मूल्यों के अन्तर्गत ही आती है। इन्हें हम नैतिकता, सिद्धान्त अथवा अनुशासन के रूप में भी मान सकते हैं। डॉ. धर्मवीर भारती कहते हैं—"मूल्य, अन्ततोगत्वा मनुष्य के वैयक्तिक जीवन में ही पनपते हैं और उनका विकास व्यक्ति के समूह या समाज की ओर होता है।[7]

वस्तुतः मूल्य बाहर से आरोपित कोई वस्तु नहीं है, ये जीवन के सन्दर्भ में विकसित, पल्लवित तथा परिवर्तित होते हैं। 'जाकी रही भावना जैसी' की उद्‌भावना अपनी मान्यता तथा दृष्टि के अनुरूप हमें तत्त्वसम्बन्धी मूल्यों की प्राप्ति हेतु प्रेरित करती है। "बगैर मूल्य के मनुष्य, व्यक्ति या समष्टि, किसी भी रूप में एक पल भी नहीं रह सकता। मूल्य का सम्बन्ध निर्णय से है और इसकी जरूरत पग-पग पर पड़ती

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

है। निर्णय छोटा हो या बड़ा, जान-बूझकर किया जाय या अनजाने में, वह किसी मूल्य का आधार लेकर ही किया जाता है।"[8]

मनोविज्ञान के आधार पर मूल्यों का निर्धारक मनुष्य को माना गया है। हो भी क्यों न, जीवन जब हमें स्वयं जीना है तो उचितानुचित का निर्धारण करने का हक हम किसी सत्ता, धर्म अथवा राज्य को क्यों दें? हम स्वयं निर्धारण करें। मनोविज्ञान का यह पहलू अत्यधिक प्रचलित हो रहा है। स्थान, कालादि के भेद से मूल्य सर्वत्र एक समान नहीं हो सकते तो सर्वत्र एक चाबुक से सभी को फटकारना उचित नहीं माना जा सकता है। 'वर्तमान सन्दर्भ में अब यह समझा जाने लगा है कि मनुष्य कर्ता-धर्ता स्वयं है। अर्थों और मूल्यों का निर्णायक भी वही है।"[9] 'उत्तिष्ठत जागृत प्राप्य वरान्निबोधयत्।"[10] उठो! जागो और रुको नहीं, जब तक जीवन लक्ष्य तक न पहुँच जाओ। यह जीवन का वह सार्वभौम सन्देश है, जिसे उपनिषद् के युग से तत्त्वज्ञानी महामानव देते आए हैं। इस महामन्त्र को स्वामी विवेकानन्द जी द्वारा लोकप्रसिद्धि प्राप्त हुई। लक्ष्य की ओर अग्रसर रहना प्रसिद्ध मूल्य है। वहीं 'किसी वस्तु की मानवीय इच्छा को तृप्त करने की विश्वसनीय क्षमता मूल्य कहलाती है।'[11]

समाजविज्ञान के सन्दर्भ में समाज की एक विश्लेषणपरक व्याख्या की गई है। वास्तव में मूल्य ही एक आदर्श तथा लक्ष्य होते हैं, जिनको ग्रहण करने के लिए समाज को प्रेरित किया जाता है। मूल्य वस्तुतः 'सामाजिक घटनाओं, व्यवहार इत्यादि के सन्दर्भ में यह निर्धारित करने के मापदण्ड हैं कि उनमें क्या कुछ उचित-अनुचित, उत्कृष्ट-निकृष्ट, वांछनीय-अवांछनीय इत्यादि है।"[12] समाज के सन्दर्भ में देशभक्ति, अहिंसा, स्वतन्त्रता, दया, न्याय, आचार, परोपकार आदि आदर्श मूल्य माने जाते हैं। वहीं मानविकी के सन्दर्भ में प्रत्येक मूल्य जीवन के किसी विशेष क्षेत्र या पहलू से सम्बन्धित है। किसी कार्य, तथ्य या सत्ता के विषय में हम कह सकते हैं कि उसका नैतिक मूल्य क्या है; कलात्मक मूल्य, आर्थिक मूल्य या सामाजिक मूल्य क्या है? लेकिन केवल यह कहना कि वस्तु में मूल्य है, कोई अर्थ व्यक्त नहीं करता है।[13] अतः जीवन विविध पक्षों से सम्बन्धित होते हैं और मूल्य जीवन के इन्हीं पक्षों से जुड़ा होता है। मानवता के लिए व्यक्ति स्वयं के साथ समाज-हित हेतु प्रेरित रहे, यह मूल्यों का उद्देश्य है। मूल्यों द्वारा व्यक्ति सहित समाज का व्यवहार निर्देशित होता है। "मूल्य के परिप्रेक्ष्य में इन शब्दों के अतिरिक्त गुण, उच्चादर्श, उत्तम, उपयोगिता, लक्ष्य, कर्तव्य, मानदण्ड, आचार संहिता (जीवन-मूल्यों की), मर्यादा, विश्वास, आख्या, प्रतिमान, निष्ठा आदि शब्द भी व्यवहृत होते देखे जा सकते हैं।[14] 'वे व्यक्ति मूल्य ही प्रधान हैं जो समाज-मूल्य के विरोधी न होकर उनके पोषक हों। वे ही सच्चे मानवीय मूल्य हैं।'[15]

वर्तमान वैज्ञानिक युग में प्रत्येक वस्तु को तार्किकता की कसौटी पर खरा उतरना अनिवार्य माना गया है। उसके सत्यापन के लिए तथ्यों, नियमों की विवेचना

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

आवश्यक जान पड़ती है, और हो भी क्यों न? जब तक किसी मत, सिद्धान्त पर प्रश्नवाचक चिह्न लगे, उसे सत्यापित करने हेतु अपेक्षाकृत तीव्र प्रयास तभी प्रारम्भ होते हैं। अर्थशास्त्र में दाम, कीमत के सन्दर्भ में प्रयुक्त होने वाला 'मूल्य' शब्द बौद्धिकों के समाज में एक उच्च स्तर पर प्रतिष्ठित हो गया है। नीतिशास्त्र हो अथवा मनोविज्ञान, समाजशास्त्र, गणित, दर्शनशास्त्र सभी में विद्वानों ने 'मूल्य' की सत्ता स्वीकार की है। तभी तो किसी विद्वान के शब्द मूल्यवान हो जाते हैं, उनके जीवन-दर्शन, जीवन-मूल्य को जानने के लिए आमोखास सभी तत्पर रहते हैं। स्वरूप से अभिप्राय ही उस विराट कार्यक्षेत्र से है, जिसमें मूल्य का दखल है। मूल्य को मूल्यवान बनने की इसी विकसनशील प्रक्रिया को हम जीवन-मूल्य, मानव-मूल्य, मूल्य आदि नाम से जानते हैं।

सन्दर्भ-सूची

1. स्वातन्त्र्योत्तर हिन्दी समीक्षा में काव्य मूल्य, डॉ. रामजी तिवारी, पृष्ठ-14
2. हिन्दी साहित्य कोश (भाग-1), प्रधान सम्पादक–डॉ. धीरेन्द्र वर्मा, पृष्ठ - 659
3. The social structure of values, Dr. Radhakamal Mukerjee, p. 21
4. Encyclopaedia Britanica, Vol. 22, p. 9624
5. नालन्दा विशाल शब्द सागर, पृष्ठ-1118
6. जीवन-मूल्य विमर्श, डॉ. हरीश सेठी, पृष्ठ-6
7. मानव-मूल्य और साहित्य, डॉ. धर्मवीर भारती, पृष्ठ-50
8. साहित्य का मूल्यांकन, प्रो. सिद्धेश्वर प्रसाद, पृष्ठ-94
9. साहित्य का मनोवैज्ञानिक अध्ययन, डॉ. देवराज उपाध्याय, पृष्ठ-179
10. कठोपनिषद् 1/3/14
11. Dictionary of Sociology, B. Bhushan, p.-331
12. समाज विज्ञान कोश, डॉ. ओम प्रकाश गाबा, पृष्ठ-311
13. मानविकी परिभाषा कोश (दर्शन खण्ड) सम्पादक–डॉ. नगेन्द्र, पृष्ठ-186
14. जीवन-मूल्य विमर्श, डॉ. हरीश सेठी, पृष्ठ-12
15. हिन्दी साहित्य कोश (भाग-1) प्रधान सम्पादक–डॉ. धीरेन्द्र वर्मा, पृष्ठ-659

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

आलेख

पण्डित विद्यानिवास मिश्र के ललित निबन्ध 'छितवन की छाँह' में लोक-संस्कृति का सौन्दर्य

शिवनारायण*

ललित निबन्ध का प्रसंग आते ही मेरे सामने पद्मभूषण पण्डित विद्यानिवास मिश्र की निर्मल छवि उभर आती है। क्या दिव्य व्यक्तित्व की आभा थी उनमें! बोलते तो उनकी जुबान से पूरबी की संस्कृति झरने लगती और लिखते तो जैसे उनके अथाह ज्ञान का सोता देसी संस्कृति में घुल-मिलकर असंख्य प्राणियों के तप्त हृदय को सन्तृप्त कर देता! पहली बार उनसे वर्ष 1988 में अपने गुरु आचार्य देवेन्द्रनाथ शर्मा के सौजन्य से पटना स्थित उनके ही निवास पर मिला था। घण्टों उनके साथ रहने का अवसर मिला। उनकी बोली-बानी, आचार-व्यवहार की छाप अब तक मेरे मानस पर अंकित है। दूसरी बार, जब वे 'नव भारत टाइम्स' के प्रधान सम्पादक होकर दिल्ली रहने लगे, तब उनके दफ्तर में ही मिला था। तब कुछ पल का ही उनका साहचर्य मिला, लेकिन उनकी आत्मीयता आज तक मुझे भिगोती है। पण्डित हजारी प्रसाद द्विवेदी से कभी मिला नहीं, केवल उन्हें जी भर पढ़ा भर है; लेकिन प्रो. नामवर सिंह, डॉ. विश्वनाथ त्रिपाठी आदि के लेखन से उनकी जो छवि मेरे मानस में अंकित हुई, उसे पण्डित विद्यानिवास मिश्र में ही मूर्त्त रूप में देखता आया। बोली, भाषा, व्यवहार, वेशभूषा आदि हर रूप में जैसे वे द्विवेदी जी के ही प्रतिरूप थे; ललित निबन्ध लेखन में तो वे वैसे थे ही! आखिर थे तो वे दोनों ही पुरबिया ही न! वहाँ की लोक-संस्कृति में रचे-सने! अब पूरबी संस्कृति को जानने-समझने की उत्कंठा हो, तो उनके ललित निबन्धों का रस तो ग्रहण करना ही पड़ेगा!

*संपर्क : 305, अमन अपार्टमेंट, शान्ति निकेतन कॉलोनी, भूतनाथ रोड, पटना-800 026; मो. 09334333509

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

ललित निबन्ध के लेखन में आचार्य हजारी प्रसाद द्विवेदी का महत्त्वपूर्ण योगदान रहा है। उनके निबन्धों में पाण्डित्य, धर्म, दर्शन, इतिहास, पुरातत्त्व, भाषा-विज्ञान आदि से लेकर मानवतावादी दृष्टिकोण तक की प्रधानता है। कहना चाहिए कि उनके आलोचनात्मक व्यक्तित्व और सर्जक मन का संगम ही ललित निबन्ध है। आगे चलकर उनकी इसी परम्परा को समृद्ध करते हुए पण्डित विद्यानिवास मिश्र ललित निबन्धकार रूप में प्रतिष्ठित हुए। यों भी उनका सम्मोहक व्यक्तित्व कवि, आलोचक, अनुवादक, सम्पादक, भाषाविज्ञानी आदि से समन्वित है। वे वेद, पुराण, उपनिषद्, शास्त्र, धर्म के साथ-साथ लोक-जीवन, लोक-संस्कृति तथा लोकशास्त्र के भी अद्भुत ज्ञाता रहे। संस्कृत, पालि, प्राकृत, फ्रेंच, अँग्रेजी, फारसी आदि भाषाओं पर तो उनका अधिकार विलक्षण रूप में रहा। केवल ललित निबन्ध की ही बात करें तो 'छितवन की छाँह', 'तमाल के झरोखे से', 'गाँव का मन', 'मेरे राम का मुकुट भींग रहा है', 'वसन्त आ गया पर कोई उत्कण्ठा नहीं', 'परम्परा बन्धन नहीं', 'शेफाली झर रही है', 'तुम चन्दन हम पानी', 'आँगन का पंछी', 'बंजारा मन' जैसी अनगिनत पुस्तकें उन्होंने हिन्दी जगत को दीं, जिनसे गुजरकर भारतीय ज्ञान, संस्कृति और उसकी आत्मा को समझा जा सकता है। उनके निबन्धों में विचार या घटना विशेष की विविध सन्दर्भों में रम्य प्रस्तुति, प्राकृतिक सौन्दर्य की छवियों का अंकन, अवधी प्रभावित भोजपुरी बोली-बानी के उद्धरण की प्रस्तुति से पाठकों में आत्मीयता का भाव उत्पन्न करना आदि ऐसी विशेषताएँ हैं, जो मन-प्राणों को मोह लेती हैं। अपने पाण्डित्य का उपयोग तो वे विषय को साफ एवं प्रामाणिक करने के निमित्त ही करते हैं।

मेरे सामने उनकी पुस्तक 'छितवन की छाँह' है, जिसके ललित निबन्धों के व्याज से उनकी निबन्ध कला के वैशिष्ट्य पर चर्चा होगी, किन्तु उसके पूर्व ललित निबन्ध की तात्त्विकियों पर थोड़ी-सी चर्चा अपेक्षित होगी। अन्य आधुनिक विधाओं की तरह हिन्दी में ललित निबन्ध का सूत्रपात भी भारतेन्दु काल से ही आरम्भ माना जाता है। तब बालकृष्ण भट्ट, प्रताप नारायण मिश्र, राधाचरण गोस्वामी, बाल मुकुन्द गुप्त, सरदार पूर्ण सिंह, पद्मसिंह शर्मा आदि ने ललित निबन्ध की भावात्मक कला को विकसित किया। विद्वानों का मानना है कि ललित निबंध निजता और सामूहिकता के मन्थन से निकले चिन्तन एवं लालित्य की ऐसी रम्य रचना है, जिसमें व्यक्ति की अन्तश्चेतना से लेकर सांस्कृतिक परिदृश्य तक के विस्तार को प्रभावित करने का कलात्मक सौष्ठव है। स्वयं पण्डित विद्यानिवास मिश्र ने इस विधा पर विचार करते हुए एक जगह लिखा है कि 'ललित निबन्ध में मोहकता—स्मृतियों के ताने-बाने से उतनी नहीं आती, जितनी आती है शब्दों की चित्रमयता से और भावों की सरसता से, आरोही-अवरोही सरसता से; जबकि व्यक्तिव्यंजक निबन्धों में स्मृतियों का ताना-बाना विशेष मतलब रखता है, और ये स्मृतियाँ अपनी होते हुए भी दूसरों में घुली हुई अपनेपन की होती हैं। व्यक्तिव्यंजक निबन्ध में भाव विचारमय होने के लिए प्रस्तुत

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

होते हैं, जबकि शब्द आत्मीय संवाद स्थापित करने के लिए।' आगे वे लिखते हैं कि ललित निबन्ध लिखने के लिए मुक्त निबन्धक फक्कड़पन होना आवश्यक है। निस्संग फक्कड़पन के साथ-साथ आस-पास के जीवन में गहरी सम्पृक्ति होनी आवश्यक है। पण्डित जी के ललित निबन्ध विषयक इन विचारों के आलोक में इस विधा के प्रमुख तत्त्व होंगे—लालित्य, विषय-विस्तार, रागात्मकता, स्वच्छन्दता, सांस्कृतिकता, वैयक्तिकता, ललित शैली आदि।

'छितवन की छाँह' में सत्रह निबन्ध हैं—'छितवन की छाँह', 'हरसिंगार', 'गऊचोरी', 'साँझ भई', 'वसन्त न आवै', 'जमुना के तीरे-तीरे', 'चन्द्रमा मनसो जातः', 'साँची कहौं ब्रजराज तुम्हें रतिराज किधौ रितुराज कियौ है', 'प्यारे हरिचंद की कहानी रहि जायगी', 'धनवा पियर भइलें मनवा पियर भइलें', 'सखा धर्ममय अस रथ जाके', 'दीया टिमटिमा रहा है', 'ताण्डवं देवि भूयादभीष्ट्यै च नः', 'टिकोरा 'होरहा', 'आहो आहो संझा गोंसाईंनि' और 'घने नीम तरु तले'। इन निबन्धों में अधिकांशतः भावात्मक हैं, जिनमें ग्रामीण चेतना और उनकी संस्कृति के दर्शन सहज रूप में हो जाते हैं और शैली में भी एक प्रकार की आत्मीयता उत्पन्न हो जाती है। पण्डित विद्यानिवास मिश्र के इसी प्रकार के निबन्धों में पाण्डित्य और सहजता के अनूठे मेल को लक्षित करते हुए स.ही.वा. अज्ञेय ने टिप्पणी की है कि 'सर्जनात्मक गद्य के रचयिताओं में विद्यानिवास मिश्र अग्रगण्य हैं। उन्होंने संस्कृत साहित्य को मथकर उसका नवनीत चखा है और लोकवाणी की गोरण गन्ध से वे सदा स्फूर्ति भी पाते रहे हैं। ललित निबन्ध वे लिखते हैं तो लालित्य के किसी मोह से नहीं; इसलिए कि गहरी, तीखी, आमन्त्रण या चुनौती भरी बातें भी वे एक बेलाग और निर्द्वेष नहीं बल्कि कौतुक भरी सहजता से कह जाते हैं।' हालाँकि अज्ञेय की यह टिप्पणी पण्डित जी की निबन्ध-पुस्तक 'मेरे राम का मुकुट भींग रहा है' के फ्लैप पर उस संकलन के निबन्धों के सन्दर्भ में है, किन्तु टिप्पणी का विस्तार उनके तमाम निबन्धों के भाव-सम्बन्ध में देखा जा सकता है।

'छितवन की छाँह' का पहला ही निबन्ध ग्रन्थ-शीर्षक पर है, जिसमें अत्यन्त भावपूर्ण शैली में छितवन को प्रकृति, उसके गुण-दोष तथा प्रभाव की चर्चा की गई है। लेखक अपने छात्र जीवन से चौथेपन की अवस्था तक छितवन से भावात्मक रूप में जुड़ा रहा। बावजूद इसके कि 'लोक में छितवन के बारे में प्रसिद्ध है कि इसकी छाया में जाते ही आदमी के सब पुण्य खत्म हो जाते हैं, इसलिए इसे कोई लगाता नहीं', लेखक छितवन की मादकता के प्रभाव में आसक्त रहता है। बतौर लेखक 'यह छितवन साक्षी है मेरी प्रीति का, मेरी प्रीति के प्रथम उत्सर्ग का और उसकी प्रथम प्राप्ति का। मेरे कुसुमित यौवन के दूसरे मोड़ पर का यह साक्षी, अब तक न जाने कितने प्रणय-कलहों के तपन के बीच, न जाने कितनी विकृत जीवन की दुर्गन्धियों के

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

बीच और न जाने कितनी विरसताओं के बीच स्नेह की समरसता का सम्बल देता रहता है। तब से न जाने कितनी बार दीए में स्नेह भरा गया होगा, पर जीवनदीप की अखण्ड ज्योति की प्रेरणा मुझे मिली है, इस दूसरे छितवन की छाया से।' ग्राम्य गन्ध में पगा लेखक का जीवन चाहे महानगरों की उन्नत सुख-सुविधाओं में विकसित होता रहा हो, लेकिन उनके मन-प्राणों की ऊर्जा ग्राम्य-संस्कृतियों से ही मिलती रही है; इसलिए वर्जनाओं अथवा नकारात्मक मान्यताओं के बावजूद वे हर उन चीजों का साहचर्य पाना चाहते हैं, जिनसे उनके छुटपन की स्मृतियाँ जुड़ी हुई हैं। छितवन भी उनकी स्मृतियों में बास करता है। बचपन से ही वे उनसे जुड़े रहे हैं। वे मुक्त मन कहते हैं कि 'छितवन की छाँह हमें मिलती है मधुमास की नई सन्ध्या में और वह फिर मिलती है कुआर की उमसी दोपहरी में। वह यौवन के चढ़ाव और उतार का मापदण्ड है।' इसी 'मापदण्ड' की स्मृति-गन्ध से लेखक रस विमुग्ध होता रहा है। उनकी एकान्त मान्यता है कि छितवन का आनन्द वही ले सकता है जो उसकी प्रकृति से प्रेम करता है। जो छितवन की प्रकृति से प्रेम नहीं करता, उसके लिए तो वह मरघट का पेड़ है। इसलिए वे साफ-साफ कहते हैं कि '...रही बात घर-घर घाट-घाट छितवन के पेड़ लगाने की, उसकी सलाह न दूँगा, क्योंकि सबका मन एक-सा नहीं होता और सब अपने जीवन के साथ इतना बड़ा जुआ खेलने को तैयार नहीं मिलते। जहाँ मरघट होगा, वहाँ छितवन का पेड़ मिलेगा ही, चिता की चिरायन्ध गन्ध का प्रतिकार देने के लिए और मरघट न होगा तो मनुष्य सियार और कुत्ता बन जाएगा। छितवन के लिए किसी वन महोत्सव की अपेक्षा नहीं, वह मरघट का शृंगार है। वह मिट्टी के शरीर का उत्कर्ष है और शरीर के मिट्टी में मिल जाने पर उसका एकमात्र अवशेष! जाहिर है कि ऐसे छितवन की छाँह में सुख-सुकून उसी को मिल सकता है, जो उसकी प्रकृति से प्रेम की दीवानगी रखता है। 'छितवन की छाँह' में स्मृति की स्वच्छन्दता की रागात्मक शैली में प्रस्तुति के द्वारा छितवन के नैसर्गिक सौन्दर्य को उद्भाषित किया गया है।

पुस्तक की भूमिका में लेखक ने छितवन के सौन्दर्य को रेखांकित करते हुए लिखा भी है कि 'गन्ध-साधना, मैं बार-बार करता हूँ, जो सबसे चरम और कठिन साधना है। इस गन्ध-साधना का नन्दन वन यही छितवन है, जो जितना ही दूर रहता है, उतना ही मादक; जितना ही समीप, उतना ही सामान्य और निर्विशेष। ... छितवन पार्थिव शरीर के यौवन का प्रतीक है, उसकी समस्त मादकता का, उसकी सामूहिक चेतना का, उसके निश्शेष, आत्म समर्पण का और उसके निश्चल और शुभ्र अनुराग का। छितवन की छाँह में अतृप्ति की तृप्ति है, अरति की रति है और अथ की इति।' छितवन में सौन्दर्य का जो लालित्य लेखक को दृष्टिगोचर हुआ, कदाचित वही 'हरसिंगार' में भी, क्योंकि 'हरसिंगार है शिव के भालेन्दु का जावकमय शृंगार।' जैसे छितवन की छाँह मादक है, वैसे ही 'हरसिंगार की ढ़रन पाकर उत्कण्ठा और तीव्र हो जाती है, मन और बलवान हो जाता है और दर्द और नशीला।'

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

कहते हैं हरसिंगार में प्रतिदान की भावना होती है। अपने सौष्ठव से वह हर चाहने वाले को सम्मोहित करता है। आखिर वह प्रकृति का शृंगार जो ठहरा! कहते हैं, जब किसी का प्रेम खो जाता है, तब हरसिंगार की छाँह में ही आकर वह अपनी राह पा जाता है। एक से निराश होकर वह बहु का आशाप्रद हो जाता है। इस तरह एकोन्मुख प्रेम की मृत्यु को बहून्मुख प्रसार का जीवन देना, यही हरसिंगार का सन्देश है और जीवन के नीरव निशीथ में, विरह के अनन्त अन्धकार में और निराशा की विराट निःशब्दता में धीरज के ललौहें फूल बरसाना ही उसका काम है। हरसिंगार के बहुविध भाव-संसार को यहाँ लेखक ने अपनी रम्य शैली में प्रस्तुत किया है। कभी-कभी मैं सोचता हूँ कि क्या साहित्य केवल शब्दों में भाव-संसार का खुलना-खिलना ही है अथवा और कुछ भी है? विद्यानिवास मिश्र के इन निबन्धों को पढ़ते हुए मेरी यह धारणा पुष्ट होती है कि साहित्य आज भी अन्ततः और तत्त्वतः भाषा की साधना है, जो अभिव्यक्ति के कौशल को समृद्ध करता है। इस उक्ति के विनियोग के लिए 'गऊचोरी' निबन्ध की चर्चा की जा सकती है।

कभी-कभी सामान्य बतकही से भी असामान्य किस्से निकलने लगते हैं, ऐसा 'गऊचोरी' को पढ़ते हुए लगा। एक बार जब बाढ़ उतार पर थी, तो नाव से अपने गाँव जाते हुए यों ही बतकही के लिए लेखक ने माझी से पूछा—'कह सहती, गाँव-गड़ा के हाल-चाल कइसन बा?' जवाब में पता चला कि इन दिनों गाँव-ज्वार में गाय की चोरी बहुत हो रही है। फिर इस गऊचोरी के ब्याज से लेखक ने गाय-चोरी' के अलावे भूमि चोरी, राज्य चोरी, साहित्य चोरी तथा आँख या इन्द्रिय चोरी की ऐसी तार्किक गाथा बुनी कि उसके विश्लेषण-सौन्दर्य पर कौन न मुग्ध हो जाए! लेखक के अनुसार गऊचोरी का ही विकसित रूप है भूमि की चोरी, जिसके जनक पटवारी होते हैं। कहावत है कि सोने की चिड़िया को हलाल करने के लिए अँग्रेजों ने ही पटवारी प्रथा चलाई। भूमि चोरी का ही विस्तार है राज्य चोरी। बकौल लेखक 'पटवारी जो छोटे पैमाने पर हमारे गाँव में करता है, वही विराट पैमाने पर कर रहे हैं बड़े-बड़े स्वनामधन्य राजनीतिज्ञ। काश्मीर और कोरिया को चोरों की छीना-झपटी में श्मशान बना डालने वाली नीति क्या उससे कम श्लाध्य है? हाँ, दण्ड दोनों नहीं पाते। पटवारी के पास शासन का कवच है और राजनीतिज्ञ के पास सिद्धान्त का कवच है।' तो इसी भूमि और राज्य चोरी की राह उसकी अगली कड़ी में है साहित्य की चोरी, जहाँ रचना से लेकर पुस्तक तैयार करने का कुटीर उद्योग चलता है। साहित्य में चोरों के कई वर्ग होते हैं। पहले वर्ग में नवसिखुआ ग्रेजुएट आते हैं जो आदेश मिलने पर अपने हरबा-हथियारों से न जाने कितने वाणी-मन्दिरों में सेंध लगा-लगाकर माल इकट्ठा कर लेते हैं, जबकि दूसरे वर्ग में श्रीहितैषी जी आते हैं जो अपनी अलग प्रतिभा का चमत्कार दिखाते हैं। ये अपनी आलोचना के कुछ बँधे लच्छे, यहाँ-वहाँ जोड़ देते हैं

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

और बस साहित्य के आगे 'कुसुम, सुमन, सौरभ, पराग, चन्द्रिका, कमल, प्रकाश, आलोक और किरण जैसा कोई एक शब्द जोड़कर साहित्य के विकास में अभिनव श्रीवृद्धि करने का सुयश कमा लेते हैं।' साहित्य चोरी का तीसरा वर्ग है प्रकाशन, जो प्रायः इन पहले दो चोरों का भी गला काटने वाले होते हैं। साहित्य चोरी का चौथा वर्ग दलाल और पाँचवाँ वर्ग पाठ्य-पुस्तक समिति है। लेखक के अनुसार 'हाँ, इस गऊचोरी को सभ्य संसार बड़ी आदर-दृष्टि से देखता है, जो जितना ही चोरी करता है, वह उतना ही पण्डित और विद्वान समझा जाता है। बिना इस चोरी की कला में प्रवीण हुए किसी साहित्यकार को इतिहास में स्थान नहीं मिलता, कारण यह कि तत्कालीन इतिहास को लिखवाने वाले को भी इन चोरों के भाई-बन्धु ही होते हैं, जो छद्म रूप से इस व्यवसाय को प्रोत्साहन देते हैं, वैसे ही जैसे गाँव की पुलिस, हलका के कानूनगो या अन्तरराष्ट्रीय दार्शनिक अपने-अपने क्षेत्रों में चोरियों को बढ़ावा देते हैं।'

पाँचवीं गऊ है आँख या इन्द्रिय, जिसकी चोरी युगों-युगों से होती आई है। इस पाँचवीं चोरी की व्यवस्था करने वाले सांसारिक भाषा में 'चित्तचोर' कहे जाते हैं। जितने भी गऊचोर हैं, उसमें सबसे सांघातिक चित्तचोर ही माने जाते हैं। क्यों? क्योंकि 'बैल चोरी चले जाने पर गरीब की खेती खड़ी हो सकती है, जमीन की चोरी चले जाने पर बेवा की जिन्दगी बसर हो सकती है, राज्य छिन जाने पर राष्ट्र जी सकता है और अपनी कृति की चोरी के बाद साहित्यकार में भी प्राण-शक्ति बची रह सकती है, पर चित्त चुरा लिया गया तो प्राण नहीं रहते।' यह पाँचवीं चोरी सबसे अधिक दुर्दान्त होती है, इसलिए लेखक का मानना है कि 'चार गऊचोरियों को मूर्ख लोगों के लिए छोड़ दिया जा सकता है, पर यह जो पाँचवीं सिद्ध चोरी है, उसके लिए कोई देवी-देवता ही पूजनी चाहिए और इसके देवी-देवता हैं राधाकृष्ण।' इस ललित निबन्ध की रचना इतनी रम्य शैली में हुई है कि उसके प्रवाह में बहते चले जाने का अपना ही आनन्द है। पण्डित जी के इन ललित निबन्धों में विषय-दृष्टि, भाव-भंगिमा और स्वर, इन सबका सहज और प्रौढ़ समन्वय है। भाषा-शैली सहज ग्राह्य है, जिसका जीवन्त, उदाहरण के रूप में 'गऊचोरी' को देखा जाना चाहिए। पण्डित जी के निबन्ध प्रायः संस्मरणात्मक ही होते हैं।

'साँझ भई' में जीवन-यौवन की सन्ध्या का व्यंजनामूलक आख्यान है, तो 'बसन्त आवै' में बिछोह का मधुर क्रन्दन। ये दोनों ही निबन्ध मन की आकुलता को स्मृत्याभास से सन्तृप्त करते हैं। एक में 'सर्वे बभूवुस्ते तृष्णीं वयांसीव दिवात्यये' (अर्थात् दिन डूबने पर जैसे पंछी शान्त हो जाते हैं, वैसे ही सब लोगों ने मौन गह लिया।) का भाव-संसार है, तो दूसरे में 'प्रीतम मोंहि जो दरसावै' के दर्शन की कामना ललक के साथ की गई है। इसी तरह 'जमुना तीरे-तीरे' में यमुना किनारे फैले करील वन के व्याज से जीवन में प्रेम के सौन्दर्य की व्याप्ति की भाव-तरंगें हैं जो विकट क्षणों

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

में भी मन को सुकून देती हैं। यमुना तटों पर फैले जीवन के विस्तार में कुछ स्मृतियाँ ऐसी भी हैं जो थकान में भी ताजगी की मधुरता प्रदान करती हैं और जिससे जीवन का महमह कटूक्तियों को विस्मृत कर देता है; तभी तो लेखक मानता है कि जीवन की 'इस थकान में भी जमुना के तीरे चलते रहने का अपने-आप क्रम बना हुआ है। वह कम नहीं है। यों तो अपने नसीब के नाम पर कल्पना करना मानव स्वभाव है, उसके लिए मैं क्या करूँ?' व्यंजना व्याज से यह निबन्ध सन्ताप को सुकून में बदलता है, मसलन लेखक का यह कहना कि 'सुना है कि यमुना और यमराज में भाई-बहन का नाता है, शुभ-अशुभ और विधि-निषेध की थप् थप्, इसलिए इस धारा में एक क्षण भी बन्द नहीं होती, भाई इनके लेखा-जोखा के ठेकेदार जो ठहरे!'

पुस्तक में 'टिकोरा', 'होरहा', 'घने नीम तरु तले', जैसे निबन्ध भी हैं, जो स्वच्छन्द मन के प्रकृति-संस्कृति विचरण की श्रृंगार गाथा बताते हैं। टिकोरे का श्रृंगार और होरहा के स्वाद पर किसका मन न मचल उठे, ऐसी मादकता इन निबन्धों में है। 'काँची अमिया न तुरिहइ बलमु काँची अमिया' जैसे पूरबी गीत के बोल से मन के तार रसाल कानन की किन स्मृति-वीथिकाओं से जुड़ जाए, कोई नहीं जानता। लेखक का मन उसमें रचा-बसा, इसलिए 'कानन जोगू' पण्डित जी के लिए 'यह नए वर्ष का उदय है और मधुमास का चरम उत्कर्ष' भी। टिकोरा ऋतु-संस्कृति के जागने का पर्व है पण्डित जी के लिए, इसलिए देसी संस्कृति की धूम में उनका क्लान्त मन भी खिल उठता है। होरहा की सुगन्ध भी ऐसी ही होती है। होली के साथ ही होरहा का भी समय शुरू होता है, जब डण्ठल-पत्ती समेत बूट को भूनकर और छील-छालकर नए अधपके चने का बिना नमक-मिर्च के आस्वादन के साथ होरी-होरहा की संगति पूरे गाँव को मदमस्त कर देती है। लेखक ने इसका बड़ा रमणीय चित्रण किया है। गाँव में नीम, महुवा आदि के पेड़ अपने नैसर्गिक सौन्दर्य से लोगों को लुभाते हैं। पण्डित जी का मन भी नीम पर फिदा रहता है। क्यों भला! 'अब सोचिए, नीम में क्या मिलता है, गन्ध असह्य, स्वाद असह्य, यहाँ तक कि कुसुमित नीम का रूप भी असह्य, चारों ओर सफेद बुंदियाँ छिटकी हुई, पत्तियाँ इतनी दूर-दूर कटी-कटी कि पेड़ की जड़ बिचारी ओट के लिए तरसती रहती हैं। इसलिए आम में फसल न आए, महुवे में कूँचें न लगें, गुलाब में कली न आए और मधुमास सूना चला जाए, पर नीम बराबर फूलेगा, बराबर फरेगा और इतना फरेगा कि अकुला देगा, इतना बेशर्म कि वह कट जाने पर भी इसकी लकड़ी में घुन न फटकेगा। यदि कहीं नीम की शहतीर लग गई हो तो वर्षा होते ही जो आकुल दुर्गन्धि व्याप्ति है तो प्राण औंतियापात हो उठते हैं। पर हाय रे नियति का विधान कि घर-घर बिना जतन सेवा के नीम धरती की छाती का स्नेह छीन कर खड़ा मिलेगा।'

पण्डित जी के नीम प्रेम के कई कारण हैं। उनमें एक कारण है 'नीम तो सुनता हूँ लगता भर तीता है, पर अपने परिणाम में मधुर होता है, पर इसके प्रतिरूप मानव

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

जगत का सप्ततिक्त तो आदि से अन्त तक एकरस है।' व्याजस्तुति भाव से नीम की वन्दना करते हुए लेखक मानता है कि इस कड़ुवी दुनिया का इलाज नीम के पास ही है। एक अन्य निबन्ध 'धनवा पियर भइलें मनवा पियर भइलें' में खाद्य समस्या के व्याज से राजनीति और साहित्य की विरूपता पर टिप्पणी की गई है। देश में ग्रामों का विकास हुआ नहीं, क्योंकि ग्राम के देवता पाँच-पाँच सालों पर ही ग्राम की फेरी लगाते हैं। ऐसे में 'हंस पानी छोड़ देता है, उच्चवर्गीय साहित्यकार भी नीरस पानी साधारण लोगों के लिए छोड़ देता है, सरोवर के कमलों पर जीने वाला हंस इतनी दया तो दिखाता है; परन्तु आकाश के मेघ और धरती के 'परजन्य' जनता के शासक तो धरती का पानी उगाहकर, धरती का रक्त उगाहकर, धरती का रस उगाहकर, धरती का मधु उगाहकर और धरती का दूध उगाहकर पानी का एक बूँद भी नहीं देना चाहते। वे अपना संचित सम्भार निभृत कोनों या मन पियराये, इससे उसके ऊपर कोई असर नहीं पड़ता। उसके आस-पास मोर नाचते रहते हैं, वे उसी में आत्मविभोर रहते हैं, उन्हें कुररी का विलाप सुनाई नहीं पड़ता।' ग्राम्य जीवन का रूप तत्त्व कोई हो, उसके प्रति वाह्य संसार का प्रतिकूल रुख लेखक के मन को पीड़ित करता है, जिससे लोकपक्ष की संस्कृति की संरक्षा में वह सन्नद्ध हो जाता है। प्रकृति ग्राम की हो, लोक की, ऋतु की, पर्व की, संस्कृति की या फिर जन सामान्य की, सबकी संरक्षा एवं समृद्धि से ही लेखक ऊर्जा ग्रहण करता है, क्योंकि उसी की छाँह में वह पल्लवित-पुष्पित हुआ। अपने एक निबन्ध 'साँची कहौं ब्रजराज तुम्हें रतिराज किधौ रितुराज कियौ है' में लेखक रति, रितु और रितुराज के अन्तःसम्बन्धों पर अपने भाव विस्तार के क्रम में निष्कर्षतः लिखता है कि 'वसन्त और कला के बीच कौन-सा सम्बन्ध हो और उसका स्वरूप कैसा हो, इसका विचार करने के लिए भी कला के ऐसे विकास की आवश्यकता है जो वसन्त की कृपादान मात्र पर अवलम्बित न होकर अपने वितान से वसन्त को भी छतनार बनाने की क्षमता रखता हो, अन्यथा बसन्त की इतरान में कला विहँस न सकेगी, वह नीचे दुबकी रहेगी और संस्कृति का प्रवाह रुद्ध हो जाएगा; वह कुन्द हो जाएगा, जहाँ से उबरने का कोई मार्ग न रहेगा'।

'बसन्त न आवै', 'चन्द्रमा मनसो जातः', 'प्यारे हरिचन्द की कहानी रहि जायेगी', 'सखा धर्ममय अस रथ जाके', 'दीया टिमटिमा रहा है', 'ताण्डवं देवि भूयादभीष्ट्यै च नः' जैसे चारु निबन्धों में भी रितु, रीति, रति, पर्व, धर्म आदि के सौन्दर्य के व्याज से सामाजिक सरोकार का प्रीति संसार रचा गया है। धर्मनिरपेक्ष लोकतान्त्रिक जीवन-मूल्यों का प्रवाह ऐसे ही प्रीति संसार से प्रवाहित होता है। अपने निबन्धों में आचार्य हजारी प्रसाद द्विवेदी की भाव परम्परा को समृद्ध करने वाले पण्डित विद्यानिवास मिश्र विषय-विस्तार की रागात्मक स्वच्छन्दता की ऐसी सांस्कृतिकता की गाथा रचते हैं, जो अनूठी ललित शैली से सम्मोहित कर लेती है। पण्डित जी प्रायः

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

संस्मरणात्मक शैली में ही निबन्ध रचते हैं, जिसमें ग्रामीण संस्कृति के भी दर्शन हो जाते हैं और उनकी शैली से एक प्रकार की आत्मीयता उत्पन्न हो जाती है। उनके निबन्धों में कहीं भी पाण्डित्य प्रदर्शन नहीं; बल्कि उसके स्पर्श से वर्ण्य-विषय सामाजार्थिक पक्ष ही विश्लेषित होते हैं, जो पाठकों के दृष्टिकोण को उन्नत ही करते हैं। नगण्य-से-नगण्य विषय भी उनकी अनूठी शैली से जीवन्त हो उठते हैं, क्योंकि उनके निबन्धों में भाषा-भूगोल की लोक-संस्कृति पाठकों से बोलती-बतियाती नजर आने लगती है।

ललित निबन्ध में प्रायः शैली को ही प्रमुखता दी जाती है, इतना कि कभी-कभी वर्ण्य-विषय पर शैली तनकर खड़ी हो जाती है। इससे उसका चमत्कार तो प्रभावित करता है, किन्तु विषय का सौष्ठव क्षीण पड़ जाता है। पण्डित विद्यानिवास मिश्र के निबन्धों में शैली, भाषा, शिल्प आदि का शृंगार तो है, पर विषय का सौन्दर्य चमक उठने तक ही। आलोचकों का ध्यान इनकी अनूठी शैली के चमत्कार की ओर ही अधिक गया है। 'छितवन की छाँह' के 'आभार' में पण्डित जी ने लिखा भी है 'शैली को मैं साधन मानता हूँ, साध्य नहीं।' इसी तरह अपनी निबन्ध-भाषा के बारे में भी उन्होंने स्पष्ट किया है कि 'संस्कृत में जमकर अँग्रेजी का स्तन्यपान किया है, पर मुझे छाँव मिली है भोजपुरी के धानी आँचर में, सो इनसे मेरा अविलग भाव है।' इसी तरह अपने निबन्ध लेखन के प्रेरक स्रोतों का स्मरण करते हुए उन्होंने लिखा है कि 'निबन्ध कला में मुझे सबसे अधिक प्रेरणा दो फक्कड़ों से मिली है, वे हैं भैया साहब पण्डित श्रीनारायण चतुर्वेदी और आचार्य हजारी प्रसाद द्विवेदी।' यही नहीं, अपने भाषा एवं साहित्य संस्कार के गठन में प्रेरक स्रोतों का उल्लेख करते हुए पण्डित जी कहते हैं कि 'संस्कृत के पठन-पाठन की ही मेरे कुल में परम्परा रही है पर मैं रूद्री के 'गणनां त्वा' के आगे न जा सका और ए.बी.सी.डी. लिखने लगा। यूनिवर्सिटी में पहुँचते-पहुँचते संस्कृत अध्ययन की ओर मेरा प्रत्यावर्तन हुआ और तभी एक ओर रॉबर्ट लुई स्टीवेंसन, टामस डिक्वेंसी, चार्ल्स लैम्ब और स्विफ्ट की कलमनवीसी से प्रभावित हुआ। दूसरी ओर बाणभट्ट, भवभूति एवं अभिनवगुप्त पादाचार्य की भाषा-शक्ति का भक्त बना। मेरी तबीयत भी गुलेरी, पूर्ण सिंह, माधव मिश्र और बालमुकुन्द गुप्त की डगर पर चलने के लिए मचलने लगी और कागद-स्याही का मैंने काफी दुरुपयोग किया भी। भाषाडम्बर के पचीसों ठाठ बाँधे और उधेड़ दिए। ...साहित्य का अधकचरा अध्ययन, मित्रों का प्रोत्साहन, पूरबी का स्नेहांचल—वीजन और अपना बेकार जीवन, मेरे मध्यवित्तीय निबन्धों को यही दाय मिला है।' इन समस्त तथ्यों से पण्डित विद्यानिवास मिश्र के साहित्य-जीवन का गठन ही नहीं, उनके ललित निबन्धों के रचाव का भी बोध होता है।

14 जनवरी, 1926 ई. को गोरखपुर (उ.प्र.) के एक गाँव पकड़ीडीहा में जन्मे पण्डित विद्यानिवास मिश्र का निबन्ध लेखन 1956 ई. से ही आरम्भ हो गया था,

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

लेकिन उनके पहले ललित निबन्धों का संग्रह 'छितवन की छाँह' 1976 ई. में प्रकाशित हुआ। इस संग्रह के निबन्धों पर स्वाभाविक रूप में संस्कृत का प्रभाव अधिक है, किन्तु इससे रसोत्पादन में कहीं बाधा खड़ी नहीं होती। किसानी जीवन और कारीगरी संस्कृति की अन्तःसलिला जीवनधारा को फिर से अपने निबन्धों द्वारा प्रतिष्ठापित करने में उन्हें अद्भुत सफलता मिली। कहना चाहिए कि उनके ललित निबन्ध का लोकतन्त्र भारतीय समाज के किसानी-कारीगरी संस्कृति के पल्लवन से ही ऊर्जा ग्रहण करता है और जिसमें सामान्य जन के लिए करुणा, न्याय और प्रतिरोध का संग्राम है। लोकरंगों से अपने ललित निबन्धों में आत्मीयता का सघन भाव उत्पन्न करने वाले चितेरा लेखक पण्डित विद्यानिवास मिश्र का आकस्मिक निधन 14 फरवरी, 2005 ई. को एक कार दुर्घटना में क्या हुआ, मानो ललित निबन्धों से 'ललित' फुर्र हो गया!

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

भारतीय सेक्युलरवाद के मायने

निशीथ राय*

मौजूदा दौर में सेक्युलर, स्यूडो सेक्युलर या कम्युनल जैसी बातों पर खूब चर्चा हो रही है। संस्था, समूह और व्यक्ति हर किसी के सन्दर्भ में लगातार हो रही इस तरह की चर्चाएँ सेक्युलरवाद की एक नई परिभाषा गढ़ रही हैं। ऐसे में सेक्युलरवाद की वैचारिक आधारशिला का स्पष्टीकरण जरूरी समझा जाना चाहिए। जहाँ तक मेरा मानना है कि भारत न ही पश्चिमी देशों की तरह सेक्युलर है और न ही पश्चिम की तरह पन्थनिरपेक्ष या धर्मनिरपेक्ष। अब अधिकांश सन्दर्भों में सेक्युलर शब्द का हिन्दी अनुवाद धर्मनिरपेक्ष से जोड़ा जाता है या मान लिया जाता है, जबकि वास्तविक अर्थों में इसका तात्पर्य पन्थनिरपेक्ष से है। यह एक महत्त्वपूर्ण पहलू है, जिस पर गम्भीरता से विचार किया जाना आवश्यक है।

यहाँ धर्मनिरपेक्ष का तात्पर्य धर्म शब्द की व्यापकता से है, जबकि इस सन्दर्भ में सेक्युलर शब्द बहुत ही संकुचित अर्थ लिए हुए है। अगर हम धर्म शब्द की गहराई से पड़ताल करें तो अर्वाचीन समय में यह धारणा थी कि हमारा ब्रह्माण्ड 'ऋत' द्वारा स्थापित किया गया है और इस 'ऋत' की खोज में ऋषि-मुनि अपना पूरा जीवन लगा देते थे। उसके लिए बाकायदा धर्मानुसार आचरण और नियम बने हुए थे, जैसे सत्य का पालन करना, चोरी न करना, झूठ न बोलना इत्यादि। तत्पश्चात् जीवन काल को भी प्रकार्यात्मक आधार पर चार भोगों में बाँटा गया था। ब्रह्मचर्य, गृहस्थ, वानप्रस्थ और संन्यास। हर भाग के अपने अलग-अलग धर्म बताए गए थे। धर्म शब्द को कर्ता और कर्म से जोड़कर देखा जाता है अर्थात् धर्म वह जो धारण किया जाए और उसके अनुरूप कर्म किया जाए। इस प्रकार धर्म जीवन व्यतीत करने की नियमावली के रूप में परिलक्षित होता है। धर्म जीवन जीने का तरीका बताता है। उदाहरण के तौर पर शिक्षक का धर्म है पढ़ाना, विद्यार्थी का धर्म है पढ़ना या आग का धर्म है जलना तो

---

* डॉ. निशीथ राय, सहायक प्रोफेसर, मानव विज्ञान, महात्मा गाँधी अन्तरराष्ट्रीय हिन्दी विश्वविद्यालय, वर्धा, मो. 9545200077, ई. मेल. nisheeth.rai1@gmail.com

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

धर्मनिरपेक्षता का अर्थ हो जाएगा शिक्षक को पढ़ाने से अलग करना, विद्यार्थी को पढ़ने से अलग करना, आग को जलाने से अलग करना अर्थात् सबको उसकी नैसर्गिक प्रति से विलग करना। इस प्रकार धर्मनिरपेक्षता एक परस्पर विरोधी शब्द के रूप में दिखता है, जो कभी सम्भव नहीं हो सकता। धर्म के कई और उपयोग दिखते हैं, जैसे–विधिशास्त्र में धर्म का अर्थ कानून से होता है, जैसे चोरी किया तो धर्मानुसार सजा हो। नीतिशास्त्र में धर्म का अर्थ नैतिक आचरण से है, जैसे–पिता का धर्म है पुत्र का भरण-पोषण करना। तत्त्वमीमांसा में धर्म का अर्थ 'रिलीजन' होता है, जैसे–अल्लाह के लिए नमाज पढ़ना या ईश्वर की उपासना करना। व्यावहारिक दृष्टिकोण से अगर देखें तो धर्म का अर्थ न्याय, समानता और कर्तव्य होता है। इन्हीं सब कारणों से व्यक्ति/राज्य को धर्म से विरक्त करना सम्भव नहीं है। इस दृष्टि से धर्मनिरपेक्ष अपने-आप में परस्पर विरोधी शब्द है। शायद इसी बात को ध्यान में रखकर संविधान में जिस शब्द का उपयोग किया गया है वह पन्थनिरपेक्ष है। इसलिए सेक्युलरिज्म को हिन्दी में पन्थनिरपेक्ष कहना ज्यादा उचित है। हालाँकि वर्तमान में धर्मनिरपेक्ष के ज्यादा प्रचलन में आने से सेक्युलर शब्द को उसी से जोड़कर देखा जाता है।

भारतीय परिप्रेक्ष्य में पन्थनिरपेक्षता की अवधारणा पश्चिम से भिन्न है। इसे समझने के लिए हमें यूरोप में सेक्युलर शब्द के प्रचलन की ऐतिहासिक पृष्ठभूमि को गहराई से जानना पड़ेगा। इतिहास पर गौर करें तो ईसाई धर्म के अनुयायियों की शुरुआती दौर में काफी दुर्दशा हुई। शासक नीरो (Nero) के समय ईसाई धर्म को मानने वाले लोगों को बहुत प्रताड़ित किया गया। हालाँकि दियोक्लेशियन (Diocletian) द्वारा ईसाई धर्म को मान्यता देने के साथ ही इसके विकास की गति तेज हो गई। थियोदोसियो (Theodosiu) के समय तक तो ईसाई धर्म बहुसंख्यकों का धर्म बन गया था। लेकिन यह विडम्बना ही है कि जिस धर्म की आधारशिला संघर्षों की बुनियाद पर खड़ी हुई थी, उसने भी वही सब किया, जो बहुसंख्यक धर्मवाले करते आए थे। अल्पसंख्यक धर्मवालों को मारना, जलाना आदि-आदि। आगे चलकर ईसाई धर्म ने इतनी शक्ति हासिल कर ली कि वे कहने लगे कि ईश्वर ने अपनी शक्ति पादरी को दी, पादरी ने शासन की शक्ति राजा को दी और आध्यात्मिक शक्ति अपने पास रख ली यानी राजा को शक्ति पादरी ने दी। ईश्वर का जुड़ाव सीधे पादरी से है। इस सोच ने धीरे-धीरे न सिर्फ चर्च की शक्ति इतनी बढ़ा दी, कि उसे तानाशाह और निरंकुश बना दिया। यानी राजा क्या करेगा, किससे विवाह करेगा, किसको राजा बनाएगा इत्यादि सब पादरी द्वारा निर्धारित किया जाने लगा। समयानुसार इसमें बदलाव हुआ और पुनर्जागरण का दौर चला। नए छपाई कारखाने खुले, जिसमें बाइबिल का प्रकाशन वृहद स्तर पर हुआ। आम जनता ने जब बाइबिल पढ़ी तो यहाँ पाया कि पादरी द्वारा किया हुआ निर्वचन और बाइबिल में लिखी हुई बातों में बहुत भिन्नता है। लोगों में जागरूकता बढ़ी और ईसाई धर्म में दो पन्थ बन गए–कैथोलिक

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

और प्रोटेस्टैण्ट। पहले यूरोप में एक धर्म को मानने वाले थे अब अलग-अलग पन्थ के मानने वाले हो गए। इनकी जनसंख्या को ठीक से किस प्रकार रखा जाए, ऐसे प्रश्न उठने लगे तो अलग-अलग राज्य में अलग-अलग पन्थ के लोग यानी जनसंख्या का स्थानान्तरण शुरू हुआ। इसी समय सहिष्णुता का नियम भी आया, जो सेक्युलर का प्रमुख भाग बन गया।

आधुनिकीकरण की प्रक्रिया आरम्भ होने के साथ ही विज्ञान और तकनीकी का भी तेजी से विकास हुआ। धीरे-धीरे जिन घटनाओं को दैवीय प्रकोप समझा जाता था, उन्हें विज्ञान ने उनमें छिपे प्राकृतिक कारणों को बताकर समस्या का निदान किया। इस प्रकार यह माना जा सकता है कि सेक्युलरवाद की प्रक्रिया पुनर्जागरण, आधुनिकीकरण, विज्ञान और तकनीकी के साथ-साथ आगे बढ़ी। 19वीं शताब्दी के मध्य में सन् 1851 में एक दार्शनिक हुए जैकोब होल्योक (Jacob Holyoak) जिन्होंने पहली बार सेक्युलर शब्द का उपयोग किया। उनके मुताबिक राज्य और धर्म का सह-अस्तित्व हो सकता है। अगर राज्य और धर्म अपना-अपना अलग-अलग कार्य करें। यानी इन्होंने सेक्युलर के सह-अस्तित्व की परिभाषा दी। इसी परिभाषा का उपयोग अमेरिका, यूरोप जैसे देशों ने अपनाया। दूसरे दार्शनिक बैरिकोस्मिन (Barry Kosmin) के अनुसार धर्म, विज्ञान और विकास के लिए प्रतिकूल है। इसलिए राज्य में धर्म का कोई स्थान नहीं होना चाहिए। यानी इनका सेक्युलर का सिद्धांत धर्म-विरोधी था। इसका अनुसरण कम्युनिस्ट देशों जैसे चीन, रूस इत्यादि ने किया।

अब प्रश्न यह उठता है कि क्या भारत सही मायने में सेक्युलर है? अगर देखा जाए तो सेक्युलरिज्म की ऐसी कोई परिभाषा नहीं है, जिसमें हम भारत को रखकर कहें कि भारत सेक्युलर है। ऐसा इसलिए है कि भारत में सहिष्णुता को प्राचीन समय से ही अपनाया गया है और राज्य और धर्म का एक-दूसरे में पर्याप्त हस्तक्षेप रहा है। प्राचीन समय में राजा धर्म के संरक्षण के साथ मन्दिरों का निर्माण एवं दान देने का कार्य भी करते थे। मध्यकाल में भी नवाबों और मुगल शासकों द्वारा मस्जिद और मजारें बनवाई गईं और दान भी दिए गए। यहाँ राजा को धर्म से अलग नहीं रखा जा सकता। अँग्रेजों ने भी कई चर्च बनवाए और मन्दिरों का जीर्णोद्धार किया। आजादी के बाद भी राज्य पूर्णतः धर्म से अलग नहीं है, क्योंकि आज भी कुम्भ मेला लगता है या ताजिया का जुलूस निकलता है या हज की तैयारी होती है, जिसके व्यवस्थापन, संरक्षण एवं पोषण की सारी व्यवस्था सरकार ही करती है। अगर हम इसे आधार मानें तो भारत सेक्युलर कैसे हो सकता है। दरअसल, सेक्युलरिज्म को परिभाषित करना बड़ा मुश्किल है। इसके लिए सेक्युलर की तीन शर्तों को ध्यान में रखें, तो सेक्युलर है या नहीं यह स्थिति कुछ हद तक स्पष्ट हो सकती है। यह शर्तें तीन सम्बन्धों पर आधारित हैं–

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

1. राज्य धर्म के बीच सम्बन्ध
2. राज्य और व्यक्ति के बीच सम्बन्ध।
3. धर्म और व्यक्ति के बीच सम्बन्ध।

इन तीनों सम्बन्धों को समझकर ही हम सेक्युलर क्या है, इसे समझ सकते हैं :

1. राज्य धर्म के बीच सम्बन्ध—राज्य और धर्म दोनों अलग-अलग होने चाहिए, जैसा पश्चिमी देशों में पाया जाता है। अर्थात् राज्य का दायरा अलग और धर्म का दायरा अलग। दूसरे शब्दों में राज्य के मामलों में धर्म का हस्तक्षेप और धर्म के मामले में राज्य का हस्तक्षेप न हो। अमेरिका ने इस प्रकार सेक्युलर राज्य बनाने की कोशिश की, परन्तु वह पूरी तरह सफल नहीं हो पाया, क्योंकि आज भी वहाँ फौज में पादरियों की नियुक्ति होती है। हर शपथ ईश्वर के नाम पर ली जाती है इत्यादि। इस प्रकार हम देखते हैं कि धर्म और राज्य के बीच दीवार छिद्रित है। वह पूरी तरह दोनों को पृथक् नहीं कर पाती है। परन्तु दोनों के बीच तर्कसंगत दूरी बनाए रखने में वह सफल प्रतीत होती है। अर्थात यह नहीं लगता है कि धर्म से ही राज्य चल रहा है।

2. राज्य और व्यक्ति के बीच सम्बन्ध—राज्य और व्यक्ति के बीच का सम्बन्ध नागरिकता पर आधारित होता है। यह सम्बन्ध नागरिकता से निर्मित होता है अर्थात् क्या नागरिकता किसी धर्म पर आधारित है या नहीं। यदि है तो वह सेक्युलर नहीं होगा। भारत में किसी भी धर्म को मानने वाला कुछ शर्तों को पूरा कर नागरिकता प्राप्त कर सकता है। इस मायने से भारत सेक्युलर देश प्रतीत होता है।

3. धर्म और व्यक्ति के बीच सम्बन्ध—धर्म और व्यक्ति के बीच का सम्बन्ध स्वतन्त्रता का होना चाहिए। एक व्यक्ति जिस धर्म को चाहे उसे अपनाने की स्वतन्त्रता होनी चाहिए। भारत में यह स्वतन्त्रता है, इसलिए भारत सेक्युलर देश प्रतीत होता है।

सेक्युलरिज्म की तीनों शर्तों के आधार पर अगर हम भारत की स्थिति परखें तो यह देखेंगे कि भारत पर पहली शर्त लागू नहीं होती है। ऐसा इसलिए था, क्योंकि आजादी के बाद भारत में तरह-तरह के सामाजिक, आर्थिक और राजनीतिक परिवर्तन किए जाने थे। अगर राज्य अपने-आपको धर्म से अलग कर लेता तो समाज में वह सारी बुराइयाँ बनी रहतीं। धर्म के नाम पर बाल-विवाह, सती-प्रथा, देवदासी, अस्पृश्यता आदि कुप्रथाओं को समाप्त करना जरूरी था। अगर राज्य अपने-आपको धर्म से अलग कर लेता तो यह सारी चीजों से समाज मुक्त नहीं हो पाता। यही कारण था कि संविधान के निर्माताओं ने सेक्युलर शब्द को नहीं रखा, क्योंकि ऐसा करने पर संघर्ष पैदा होता। सेक्युलरिज्म की मदद लेकर लोग न्यायालय जाते और सरकार का काम करना मुश्किल हो जाता। के.एन. सहाय ने सेक्युलर शब्द जोड़ने की सिफारिश की थी, पर अम्बेडकर ने कहा कि इसे नहीं जोड़ा जा सकता, क्योंकि सेक्युलर पश्चिम की तरह राज्य और धर्म में अलगाव माँगता है और भारत में अभी बहुत तरह के

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

सामाजिक, आर्थिक और राजनीतिक परिवर्तन करने हैं। बाद में इन्दिरा गाँधी ने 42वाँ संशोधन कर सेक्युलर और सोसलिस्ट शब्द जोड़े। मजे की बात यह है कि जब से यह दोनों शब्द जुड़े हम सेक्युलर से दूर होकर कम्युनल हो गए (1984 के दंगे) और सोसलिस्ट से दूर होकर कैपिटलिस्ट की ओर बढ़ते हुए 1990 में उदारवादी और पूँजीवादी हो गए। संविधान के निर्माता इस बात से अवगत थे कि सेक्युलरिज्म शब्द एक निश्चित सन्दर्भ में होता है, अर्थात् राज्य का दायरा अलग और धर्म का अलग। हमारे यहाँ ऐसा नहीं था, इसलिए इस शब्द का प्रयोग नहीं किया जाता है।

जहाँ तक दूसरी शर्त की बात है तो भारत में नागरिकता धर्म के आधार पर नहीं होती है। तीसरी शर्त को हम देखें तो भारत ने हर व्यक्ति को अपने अनुसार धर्म चुनने उसका पालन करने और उसके प्रचार-प्रसार की स्वतन्त्रता दी है। परन्तु यह सारी स्वतन्त्रता अधिनियम 25 के द्वारा सीमाओं में बँध जाती है। इसके मुताबिक धर्म से सम्बन्धित सारी स्वतन्त्रता तभी तक है, जब तक जनता की नैतिकता, स्वास्थ्य और समरसता पर विपरीत प्रभाव नहीं पड़ रहा है। धर्म का अधिकार कुछ सीमाओं के अन्तर्गत मिलता है। इन्हीं कारणों से मूर्तियों का गंगा में विसर्जन विभिन्न उत्सवों में ध्वनि प्रदूषण इत्यादि पर रोक लगाई जाती है।

वर्तमान में अगर हम देखें तो जहाँ सेक्युलरिज्म की भावना धूमिल हो रही है, वहीं बहुसंस्कृति की धारणा विकसित हो रही है। इन्हीं कारणों से भारत की आजादी के बाद समांगीकरण, पृथक्करण और एकीकरण का कार्य किया गया। समांगीकरण के अन्तर्गत एक भारतीय संस्कृति का विकास करने का प्रयास किया गया तो पृथक्करण के अन्तर्गत हर व्यक्ति को अपनी अलग सांस्कृतिक पहचान बनाए रखने की स्वतन्त्रता दी गई। एकीकरण के अन्तर्गत बहुसंस्कृति की सह-अस्तित्व की भावना पर जोर दिया गया। इस प्रकार हम कह सकते हैं कि सेक्युजरिज्म को भारत में एक नया देशज रूप मिला है, जो उसकी परिस्थितियों से विकसित हुआ, जो पश्चिम देशों से पूर्णतया भिन्न था। इन अर्थों में अगर नागरिक अपने-अपने धर्म, संस्कृति, पन्थ को अपनाते हुए देश को जोड़ने तथा विकसित करने का प्रयास करें तो सही मायनों में भारत एक सेक्युलर राष्ट्र है।

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

अल्लामः इकबाल का एक रूप यह भी

कृपाशंकर सिंह*

इकबाल उर्दू के एक बड़े शायर और दर्शनशास्त्र के विद्वान के रूप में जाने जाते हैं। उनकी मशहूर नज्म 'सारे जहाँ से अच्छा...' अत्यन्त लोकप्रिय है। पर उनका एक दूसरा रूप भी था, जिसके बारे में कम लोगों को पता है। उनका वह रूप एक मुस्लिम नेता का है। मुस्लिम नेता के रूप में यदि हम उनका आकलन करें तो जो सबसे प्रमुख बात सामने आती है, वह यह है कि इकबाल अपने पूर्ववर्ती मुस्लिम नेता सैयद अहमद खाँ से कई बातों में समानता रखते थे। जैसे यह कि मुसलमान एक अलग नेशन हैं।

इलाहाबाद में 29 दिसम्बर, 1930 को 'ऑल इण्डिया मुस्लिम लीग' का वार्षिक सम्मेलन हुआ। इकबाल उसके अध्यक्ष थे। अपने अध्यक्षीय भाषण में इकबाल ने यह कहा कि "पश्चिमी देशों के विपरीत भारत में एक ही राष्ट्रीयता के लोग नहीं रहते हैं। ...भारत विभिन्न राष्ट्रीयताओं का देश है। जिनकी जाति, भाषा व धर्म सभी एक-दूसरे से अलग हैं। ...अतः यह किसी भी तरीके से उचित नहीं है कि इन अलग-अलग लोगों के वजूद पर ध्यान दिए बिना भारत में पश्चिम की तरह के लोकतन्त्र को थोप दिया जाए। अतः भारत के अन्दर एक इस्लामी भारत की मुसलमानों की माँग एकदम जायज है।"

आगे वे कहते हैं—"ऐसे देशों में जहाँ मुसलमान अल्पमत में हैं, सांस्कृतिक एकता के लिए स्वायत्तता प्राप्त करने की उनकी कोशिश पूरी तरह जायज होगी।"

इसके पहले दिल्ली में 'ऑल पार्टीज मुस्लिम कान्फ्रेंस' की बैठक 31 दिसम्बर, 1928 तथा 1 जनवरी, 1929 को आगा खान की सदारत में हुई। इस बैठक में जिन्ना को छोड़कर अधिकांश मुस्लिम दलों के नेताओं ने भाग लिया। खिलाफत नेता भी इसमें शामिल थे। इस ऑल पार्टीज मुस्लिम कान्फ्रेंस ने नेहरू रिपोर्ट को पूरी तरह नामंजूर कर दिया। उधर हिन्दू महासभा ने मार्च के अन्त में नेहरू रिपोर्ट द्वारा मुसलमानों के लिए प्रस्तावित कुछ रियायतों के खिलाफ निर्णय लिया। हिन्दू महासभा

*कृपाशंकर सिंह, डी-6 स्ट्राबेरी हिल, शिमला-171002 (हि. प्र.), मो. 09805476883

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

पृथक् साम्प्रदायिक मतदाता पद्धति के विरुद्ध और बिना किसी पूर्व शर्त के संयुक्त मतदाता पद्धति की समर्थक थी। महासभा का यह भी सोचना था कि प्रान्तों का साम्प्रदायिक बहुसंख्या के आधार पर पुनर्गठन नहीं किया जाना चाहिए।

अब्दुल लतीफ आजमी ने खुर्शीद के हवाले से कहा है कि 1928 के उस 'ऑल पार्टीज मुस्लिम कान्फ्रेंस' के समय इकबाल ने गुलाम रसूल मेहर तथा अब्दुल मजीद सालिक, जो 'इंकलाब' के सम्पादक थे, को बुलाकर कहा कि ''ज्यादातर मुस्लिम नेता मुस्लिम अल्पमत वाले प्रान्तों के रहने वाले हैं। वे दूसरी चीजों के मुकाबले अपने प्रान्तों में अधिक नुमाइन्दगी पाने के लिए जोर देते हैं। उसके कारण पंजाब एवं बंगाल के मुसलमानों को अपना बहुमत खोना पड़ता है। इन हालात में उत्तर-पश्चिम भारत के मुसलमानों को नई दिशा में अपनी राजनीति शुरू करनी पड़ेगी, और अपने लिए *एक अलग देश का निर्माण* करना पड़ेगा। अब हमें इस नई दिशा की ओर इशारा करना चाहिए।''

साफ है कि इकबाल भारत में एक इस्लामी भारत बनाने के पक्षधर दिखाई देते हैं। यहाँ यह जानना जरूरी है कि मुस्लिम नेताओं ने भारत में अपने को एक अलग और स्वतन्त्र सत्ता स्थापित करने के लिए मुसलमान एक अलग नेशन है, का हमेशा इस्तेमाल किया है। यह क्रम सैयद अहमद खाँ से शुरू होकर इकबाल और जिन्ना तक चला आया है। द्विराष्ट्र का सिद्धान्त पाकिस्तान की माँग को जायज बताने के लिए जिन्ना की ओर से पेश किया गया मुख्य मुद्दा था। 17 सितम्बर, 1944 को महात्मा गाँधी से जिन्ना ने कहा कि ''नेशन की किसी भी परिभाषा और टेस्ट से देखें तो मुसलमान और हिन्दू दो नेशन हैं।''

जबकि महात्मा गाँधी ने ''हिन्दू मुस्लिम दो राष्ट्र हैं, इसे कभी स्वीकार नहीं किया। इस पर उनका कहना था—''इतिहास में मुझे ऐसा कोई उदाहरण नहीं मिलता, जिसमें मत-मतान्तर को स्वीकार कर लेने वाले या उनकी सन्तानें अपने को अपने मूल से अलग राष्ट्र होने का दावा करें। इस्लाम के प्रचार के पहले यदि भारत एक राष्ट्र था, तो अपनी सन्तानों में से बहुत बड़ी संख्या में धार्मिक मत बदल लेने के बावजूद वह एक ही राष्ट्र माना जाएगा। भारत के हिन्दू और मुसलमान दो राष्ट्र (नेशन) नहीं हैं।''

(हिन्दुस्तान टाइम्स, गाँधी जिन्ना टाक्स, 11 सितम्बर, 1944)

यहाँ यह जानना प्रासंगिक होगा कि इकबाल और जिन्ना दोनों के पितामहों को हिन्दू से मुसलमान हुए बहुत लम्बा अरसा नहीं हुआ था। इकबाल के पूर्वज कश्मीरी ब्राह्मण रहे थे और जिन्ना खोजा परिवार के वंशज थे, जो गुजराती हिन्दू से इस्लाम में धर्मान्तरित हुआ था।

यहाँ यह बताना भी अप्रासंगिक नहीं होगा कि पाकिस्तान-माँग का दूसरा प्रमुख मुद्दा उर्दू जबान थी। और जिन्ना को उर्दू लिखना, पढ़ना बिल्कुल नहीं आता था।

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

बोलने का ज्ञान भी घर के नौकरों को आदेश देने तक ही सीमित था। हाँ, गुजराती वे जानते थे। डॉ. सच्चिदानन्द सिन्हा (जिन्ना-एज आई न्यू हिम), जो जिन्ना के घनिष्ठ मित्र थे, ने अपनी पुस्तक में लिखा है कि रफीउद्दीन के उर्दू की जानकारी से सम्बन्धित एक प्रश्न के जवाब में जिन्ना ने कहा था कि मैं उर्दू उतना ही जानता हूँ कि छोकरों और हम्माल से कुछ कह सकूँ। हाँ, गुजराती मैं ठीक से जानता हूँ।

दरअसल, द्विराष्ट्र को लेकर इकबाल और जिन्ना दोनों का मकसद फिरकापरस्ती को बढ़ावा देना, और इस तरह अपने को मुस्लिम कौम के नेता के तौर पर स्थापित करना था। वरना वास्तविक स्थिति यह थी कि अधिकतर बड़े और पारम्परिक रूप से स्थापित मुस्लिम संगठन द्विराष्ट्रवाद के सिद्धान्त के खिलाफ थे। उसका सबूत यह है कि जब अप्रैल, 1946 में मुस्लिम संगठनों के जो प्रतिनिधि कैबिनेट मिशन से मिलने गए थे, उनमें मौलाना हुसैन अहमद मदनी (ऑल इण्डिया मुस्लिम पार्लियामेंटरी बोर्ड), जहीरुद्दीन (ऑल इण्डिया मोमिन कान्फ्रेंस), हुसैनी भाई लाल जी (ऑल इण्डिया शिया कान्फ्रेंस), हिसामुद्दीन (ऑल इण्डिया अहरार सभा), अब्दुल मजीद (ऑल इण्डिया मुस्लिम मजलिस) जैसे नेता थे, जो सभी अपने-अपने संगठनों के अध्यक्ष थे। इन नेताओं में सबने दो नेशन के सिद्धान्त को नकारते हुए उसे अव्यावहारिक बताया। और इनमें से किसी ने भी पाकिस्तान की माँग का समर्थन नहीं किया।

9 दिसम्बर, 1930 को इलाहाबाद में 'ऑल पार्टीज मुस्लिम कान्फ्रेंस' की समिति, जिसकी अध्यक्षता जवाहरलाल नेहरू कर रहे थे, उसमें कान्फ्रेंस के अध्यक्ष इकबाल ने कहा कि "मेरी इच्छा है कि पंजाब, सीमाप्रान्त, सिन्ध और बलूचिस्तान को मिलाकर एक राज्य बना देना चाहिए।" यह प्रस्ताव उस वक्त यह कहकर अस्वीकृत कर दिया गया था कि प्रस्तावित राज्य इतना बड़ा हो जाएगा कि इसका शासन चलाना कठिन होगा।

पर इस पर टिप्पणी करते हुए नजीर अहमद (कलीद-उ-इकबाल, अहमद मलिक नजीर, पृ. 23) ने कहा है—"इस अध्यक्षीय भाषण में इकबाल ने पाकिस्तान योजना की पेशकश की थी।"

1934 के आरम्भ में थौम्पसन ने इकबाल को पत्र लिखते हुए उन्हें "उस योजना का नेता बताया है, जिसे पाकिस्तान कहते हैं।" इकबाल ने यह स्वीकार किया कि उन्होंने अपनी तकरीर (1930) में "भारत के उत्तर-पश्चिम में एक ऐसे प्रान्त बनाए जाने की सलाह दी थी, जिसमें मुसलमान आबादी बहुतायत से होगी।" (इकबाल, सैयद हसन अहमद)।

इस स्वीकारोक्ति के निहितार्थ को समझने के लिए विशेषज्ञता की जरूरत नहीं है कि इकबाल की यह योजना पाकिस्तान की अवधारणा के कितने निकट की थी। दूसरे शब्दों में कहें तो यह एक अलगाववादी बयान था, जो हिन्दू और मुसलमान दो अलग नेशन और रेस हैं, इस धारणा को पुष्ट करने वाला था।

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

'द बुक आफ नॉलेज' (सं. स्टीवेल तथा अन्य, 1959) में इकबाल के बारे में कहा गया है कि, 'एक मुस्लिम कवि एवं फिलॉसफर सर मोहम्मद इकबाल भारत में एक स्वतन्त्र मुस्लिम राज्य बनाना चाहते थे।''

26 जुलाई, 1934 को इकबाल ने थौम्पसन को पत्र लिखा, जिसमें उन्होंने अपनी दिली इच्छा को व्यक्त किया है। पत्र में उन्होंने लिखा है, ''मेरी दिलचस्पी तो इस्लाम की नैतिक राज्य-व्यवस्था में है, जिसने मेरा ध्यान राजनीति की ओर आकर्षित किया है।'' (इकबाल, सैयद हसन अहमद)

मतलब यह कि राजनीति में इकबाल का आना इस्लामी राज्य-व्यवस्था कायम करने के मकसद से था।

इकबाल ने इस आशय के पत्र जिन्ना को भी लिखे थे। उन्होंने 3 जून, 1936 को जिन्ना को जो पत्र लिखा। उसमें लिखा है कि ''भारत में शान्ति स्थापित करने एवं मुसलमानों को गैर-मुसलमानों के प्रभुत्व से बचाने का एकमात्र उपाय यही है कि मुस्लिम प्रान्तों के एक भिन्न संघ (फेडरेशन) में इस्लाम के उसूलों के मुताबिक सुधार लागू किए जाएँ। मौजूदा हालात में यह साफ दिखाई दे रहा है कि भारत में शान्ति की स्थापना जातीय (रेसल), धार्मिक और भाषायी सम्बन्धों के आधार पर देश के पुनः विभाजन (री-डिवीजन) पर निर्भर करेगी।''

30 अक्टूबर, 1937 के पत्र में इकबाल ने लिखा है—''जब तक पाँच प्रान्तों में मुसलमानों की सरकारें नहीं बन जातीं तथा बलूचिस्तान में सुधार लागू नहीं हो जाते, हमें चैन से नहीं बैठना चाहिए।'' (इकबालनामा, 20, 22)।

इकबाल ने मुसलमानों की गरीबी को समाप्त करने के लिए जो हल सुझाया है, वह भी इस्लामी हल है। अपनी मृत्यु (21 अप्रैल, 1938) के कुछ महीने पूर्व (20 मई, 1937) उन्होंने जिन्ना को एक पत्र लिखा था, जिसमें जवाहरलाल नेहरू पर यह टिप्पणी है कि ''जवाहरलाल का ईश्वरविहीन समाजवाद मुसलमानों पर असर नहीं कर सकता।''

''मुसलमानों को गरीबी से निजात दिलाने के लिए शरीअत (मुस्लिम धार्मिक कानून) को (हिन्दुस्तान में) लागू किया जाए तो हर इन्सान को जिन्दा रहने के लिए जरूरी चीजें मुहैया कराई जा सकती हैं।''

उनका मानना था कि मुसलमानों की गरीबी और भारत की शान्ति के लिए मैं इसे सबसे अच्छा हल मानता हूँ।

अगर ऐसा नहीं होता तो इकबाल के सामने एक ही विकल्प दिखाई देता है, और वह विकल्प गृहयुद्ध का है। उनके अनुसार ''पिछले कुछ वर्षों में हिन्दू-मुस्लिम दंगों के रूप में यह गृहयुद्ध शुरू भी हो चुका है।'' (इकबालनामा)

वैसे हिन्दू-मुस्लिम दंगों को गृह-युद्ध के रूप में आँकने को लेकर इकबाल जैसे कवि की सोच के बारे में इतना ही कहा जा सकता है कि उनकी यह सोच उस वक्त

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

के हालात की वास्तविक समझ के अभाव को सूचित करती है। वास्तविकता यह है कि पूरे अँग्रेजी राज के दौरान जितने हिन्दू-मुस्लिम दंगे हुए, उनमें लगभग सभी में अँग्रेजी प्रशासन के छिपे हाथ दिखाई देते हैं।

इसके सबूत के तौर पर बहुत से उदाहरण दिए जा सकते हैं, पर यहाँ 1931 के शुरू में काशी और कानपुर में जो भीषण दंगे हुए थे, उसे लेकर प्रेमचन्द ने जो कहा है, उसे दे रहा हूँ, उन्होंने कहा है–

"जो सरकार राजनीतिक आन्दोलन का दमन करने में इतनी तत्परता से काम ले सकती है, इतनी आसानी से गोलियाँ चलवा सकती है, वह इस अवसर पर इतनी अशक्त हो गई कि उसकी उपस्थिति में रक्त की नदी बह गई और वह कुछ न कर सकी...। साधारण बुद्धि जिस नतीजे पर पहुँची है, वह यह है कि सरकारी कर्मचारियों ने जान-बूझकर इस हत्याकाण्ड को रोकने की कोशिश नहीं की।" (प्रेमचन्द के विचार, मार्च 1931)।

एक जगह पर इकबाल ने लिखा है कि "हिन्दू नेशनलिज्म आखिर में हमें नास्तिकता की ओर ले जाएगा।" (रिकांस्ट्रक्शन ऑफ रिलीजस थॉट इन इस्लाम)।

इकबाल के इस बयान से कौन ऐसा भारतीय होगा, जिसे हैरत नहीं होगी। ये विचार वे उस समय व्यक्त कर रहे थे, जब महात्मा गाँधी, तिलक, मालवीय आदि के साथ बहुत सारे गणमान्य नेता जो भारतीय जनमानस के हृदय सम्राट थे, जिनकी राजनीतिक प्रतिबद्धता और शुचिता के साथ उनकी धार्मिक आस्था पर कोई प्रश्नचिह्न नहीं लगा सकता था।

इसी तरह की एक और अजीबोगरीब बात उन्होंने जिन्ना को लिखे एक पत्र में कही है। उनका मानना है कि "जवाहरलाल का समाजवाद हिन्दुओं में खूनखराबा पैदा कर देगा।" (इकबालनामा, भाग 2, पृ. 16-17)।

इस तरह के विचार के पीछे क्या कारण है, यह समझ में नहीं आता। उन्हें (उनकी तमाम विद्वत्ता के बावजूद) हिन्दुओं की सहनशीलता का ठीक अन्दाजा नहीं था। हिन्दू धर्म ने समय के साथ बाहरी और आन्तरिक अनेक परिवर्तनों को न केवल सहा है, वरन् उन्हें अपने अन्दर समाहित किया है। शताब्दियों पहले के चार्वाक से लेकर गौतम बुद्ध तक के विचार हिन्दुइज्म की मूल मान्यताओं पर ही प्रहार करते हैं। हिन्दू धर्म ने न केवल उन्हें मान्यता दी, वरन् उच्च आसन पर बिठाया है।

इकबाल के व्यक्तित्व की एक बात यह भी है कि **लोकतान्त्रिक व्यवस्था में उनका विश्वास नहीं था**। 26 जुलाई, 1934 को लिखे गए अपने एक पत्र में एडवर्ड थौम्पसन को वे लिखते हैं–"आपको मालूम ही है कि लोकतन्त्र में मेरा यकीन नहीं है। किन्तु लोकतन्त्र की ओर कदम बढ़ चुका है, जो मेरे खयाल से नुकसानदेह है।" (सैयद हसन अहमद, इकबाल)।

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

उनका यह भी खयाल था कि लोकतन्त्र आने के बाद "राजनीतिक गड़बड़ी एवं हिन्दुइज्म का विलीनीकरण सम्भव है।"

इस तरह की आशंका का आधार क्या था, इसे इकबाल ने साफ नहीं किया है। लेकिन इस कथन में दो तरह की बातें दिखाई देती हैं—पहली यह कि लोकतन्त्र यदि आया तो देश में राजनीतिक गड़बड़ी का माहौल पैदा होगा। इससे सम्भव है उन्हें यह लग रहा हो कि भारतीय समाज चूँकि विभिन्न धर्मावलम्बियों से बना हुआ मिला-जुला समाज है, जो धार्मिक स्तर पर एक-दूसरे के विरोधी हैं, इसलिए लोकतन्त्र की स्थिति में धार्मिक विरोध राजनीतिक विरोध का कारण बन सकता है। यह विचार वैसा ही है, जैसा काँग्रेस की स्वायत्तता आदि की माँगों के जवाब में ब्रिटिश हुकूमत की ओर से कहकर ठुकराया जाता था। यह आकस्मिक नहीं है कि हिन्दुस्तान को लेकर इकबाल की अनेक धारणाएँ अँग्रेजी सत्ता से मेल खाती थीं। उसी तरह जैसे उनके पूर्व के मुस्लिम नेता सर सैयद अहमद खाँ के विचारों की रही थी। आखिर अँग्रेजों ने उन्हें नाइटहुड की उपाधि ऐसे ही तो नहीं दी होगी।

ऊपर के कथन में जो दूसरी आशंका व्यक्त की गई है, वह यह है कि लोकतन्त्र आने से "हिन्दुइज्म का विलीनीकरण" सम्भव है।

यह कैसे? क्या लोकतन्त्र और हिन्दुइज्म एक-दूसरे के विरोधी हैं? जहाँ तक में समझता हूँ हिन्दू धर्म विश्व का सबसे अधिक उदारवादी धर्म है। इतिहास इस बात का गवाह है कि उसने समय-समय पर सभी तरह के मत-मतान्तरों से लेकर हर तरह की राजनीतिक परिस्थितियों को स्वीकार किया है। हर तरह के उठापटक को सहा है। यही नहीं हिन्दुइज्म की जड़ें इतनी गहरी हैं कि तमाम तरह के ऊँच-नीच को झेलते हुए भी अडिग रही हैं। अँग्रेजों ने जिन-जिन देशों में राज किया, उन देशों को ईसाई धर्मावलम्बी देश में तब्दील किया है। भारत ही एक ऐसा देश रहा, जिसे ईसाई धर्मावलम्बी देश बनाने में वे असमर्थ रहे। फिर धर्मशास्त्र के जानकार इकबाल ने इस तरह के विचार क्योंकर व्यक्त किए, इसे समझना मुश्किल है।

इकबाल 1930 में मुस्लिम लीग के अध्यक्ष थे। उस मुस्लिम लीग के, जिसकी नींव काँग्रेस की काट के लिए और हिन्दुओं के विरोध के लिए एक हथियार के रूप में इस्तेमाल करने के लिए रखी गई थी। एक अक्टूबर 1906 को आगा खान के नेतृत्व में वायसराय लार्ड मिंटो के सम्मुख जो मेमोरियल प्रस्तुत किया गया था, उसको लिखने वाला अलीगढ़ कॉलेज का अँग्रेज प्रिंसिपल था, और लिखने में मदद करने वाला वायसराय का प्राइवेट सेक्रेटरी डनलप स्मिथ था। अँग्रेजी राज के प्रति पूर्ण वफादारी इसके प्रमुख उद्देश्यों में एक थी। इसी मेमोरियल की माँगों में पृथक् मुस्लिम मतदाता मण्डल की वह कुख्यात माँग भी थी, जिसके कारण मुस्लिम राजनीति पर साम्प्रदायिकता पूरी तौर पर हावी हुई। इसी मुस्लिम लीग के 1930 में इकबाल अध्यक्ष रहे थे।

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

नवलेखन की चुनौतियाँ : अभिप्राय और आयाम

नन्दलाल मेहता 'वागीश'*

संवाद के एक सिरे पर वाक् और दूसरे सिरे पर श्रुति (श्रव्यता) होती है। ब्रह्मांडीय रचना के कारक तत्त्व-रूप में वाक् सर्वत्र व्याप्त है। समष्टि आकाश में ध्वनि-नाद और शब्द-रूप में वाक् समाहित है। वाक्, समष्टि अस्तित्व है तो श्रुति व्यष्टि-साधना है। वाक् के अनाहत नाद के सटीक श्रवण और उसके अन्तर्भूत अर्थ-तत्त्व को अधिगत कराना श्रुति की साधना है। पृथक् सत्ता के रूप में प्रतीयमान वाक् और श्रुति, तत्त्वतः एक रूप है। दोनों भेदाभेद सम्बन्ध में हैं।

संसार वाक् और श्रुति के इसी भेदाभेद सम्बन्धों की अभिव्यक्ति है। श्रुति के रूप में वाक् शब्द है, वाक् ही पद है। वाक् और पद को 'नाम' कहा गया है। पद का अर्थ ही पदार्थ है। पदार्थ को रूप कहा जाता है। अदृश्य-रूप विचार की पहचान भी नाम (शब्द) से होती है। स्थूल होकर वह द्रष्टव्य है और सूक्ष्म होकर भाव्य है। इस दृष्टि से इस सृष्टि को नाना नामरूपात्मक कहा गया है। वाक्-श्रुति की मनःशरीरी क्रिया का प्रत्यक्षकारी अंग है—दृश्यता। दृश्यता और दृष्टि एक हैं। दृश्यता को दार्शनिक शब्दावलि में 'रूप' कहा जाता है। नाम-श्रुति एक हैं तो दृश्यता-रूप भी एक ही हैं।

वाक्-श्रुति की युति अपनी रूपात्मकता सहित 'स्मृति' में परिणत हो जाती है। इस प्रकार वाक्-श्रुति-दृष्टि से 'स्मृति' का स्वरूप-आधान निर्मित होता है। इन तीनों अर्थात् वाक्-श्रुति-दृष्टि से मन बनता है। श्रुति की चर्चा में वाक् समाहित है। बिना श्रुति के वाक् कृतकार्य नहीं होती। इसीलिए समाहार में यह कहा जाता है कि श्रुति और दृष्टि से मन बनता है। मन ही मति है। दोनों की मूल धातु एक ही है। मति के पश्चात् चेतना में 'धृति' अवतरित होती है। मन की व्यापक शक्ति और प्रभाव के कारण 'मति' को मन की एक वृत्ति के रूप में लक्षित किया गया है। शास्त्रों में 'धृति'

---

*डॉ. नन्दलाल मेहता 'वागीश', पूर्व सीनियर फैलो संस्कृति मन्त्रालय, भारत सरकार; पता : शब्दालोक-1218, सेक्टर-4, अर्बन एस्टेट, गुड़गाँव (हरियाणा); मो. 9910431699

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

को भी मन की एक वृत्ति के रूप में निरूपित किया गया है। मन को लक्ष्य तक पहुँचाने वाली वृत्ति को 'धृति' कहा गया है। इस मनस्तर्कणा से स्पष्ट है कि मन के गठन में जिस षष्टक-समुच्चय की संयुक्त भूमिका है, वे हैं—वाक्-श्रुति-दृष्टि-स्मृति-मति-धृति।

मन का संवादन ही शब्द है। शब्द भाषा का सघोष बीजवपन है। शास्त्र-सम्मत और मनोवैज्ञानिक सत्य यही है कि जो कुछ हम देखते हैं, सुनते हैं, उसी से हमारे मन का निर्माण होता है। सारतः यह कहा जा सकता है कि मन की सक्रियता में श्रुति, दृष्टि और स्मृति की निर्णायक भूमिका है। श्रुति-दृष्टि का जैसा रूप होगा, तदनुरूप स्मृति का भी स्वरूप होगा। लेखन की विषय-वस्तु का चयन भी वैसा ही होगा। श्रुति बीज है, स्मृति मनःअंकुरण है और लेखन लिपित वास्तु-वृक्षण है।

इसी परिप्रेक्ष्य में लेखन और साहित्यिक सर्जन के मौलिक अन्तर को समझ लेना आवश्यक है। लेखन में लिख् धातु है अर्थात् लिपित होना लेखन की मूल पहचान है। साहित्य शब्द की मूल धातु 'धा' है, जो धारण करने के अर्थ में व्यवहृत होती है। यह 'धार्यता' साहित्य का स्वरूपगत गुण है। साहित्य की धार्यता में संवेदनाजन्य मूल्य-चेतना निहित है। वह देश-काल की सीमाओं में आबद्ध नहीं है, जबकि लेखन में लिपिबद्धता पर्याप्त है। कोरी विचारात्मक अभिव्यक्ति लेखन के अन्तर्गत आती है। इसमें बौद्धिक अभ्यास है। इस दृष्टि से मार्क्सवादी बौद्धिक गुलाम, भारतीय कम्युनिस्टों का कथित साहित्य-सर्जन प्रचारात्मक लेखन का उत्कृष्ट उदाहरण है। साहित्य-सर्जन इस प्रकार के लेखन से उच्चतर अवस्था में है। साहित्य की सर्जनात्मकता में मानवीय विवेक-प्रेरित हृदय की भावपूर्ण अभिव्यक्ति का सौन्दर्य लक्षित होता है। प्रकारान्तर से लेखन और साहित्य-सर्जन दोनों 'धृति मन' का विषय बनते हैं। मनोयोग दोनों में अपेक्षित है। सर्जनात्मक रचना तो मन की 'मधुमती' भूमिका में अवतरित होती है। यह साधना के साथ-साथ प्रतिभा का क्षेत्र है। सर्जन-प्रक्रिया में प्रतिभा मूल है, पर प्रतिभा के फलन के लिए व्युत्पत्ति (शास्त्र-पठन) और अभ्यास हेतुओं का समंजन भी आवश्यक है।

वस्तुतः जो लेखन की चुनौतियाँ हैं कुछ वैसी ही चुनौतियाँ नवलेखन का भी हैं। वरंच, नवलेखन में अभ्यास और मार्गदर्शन की अधिक आवश्यकता है। चुनौतियों को रेखांकित करने से पहले 'नवलेखन' पद के अभिप्राय और आयामों को समझ लेना जरूरी है। कारण, कई दशक पहले से नवलेखन की चर्चा होती रही है। यह छायावादोत्तर विभिन्न वादमूलक प्रवृत्तियों का लेखन-काल है। हिन्दी-जगत् में इस समय प्रवृत्तिमूलक ऐसे साहित्यिक लेखन का ज्वार थम चुका है। इसकी पृष्ठभूमि में साहित्य के समानान्तर अभिव्यक्ति-तकनीकों का सम्प्रसार है। ऐसे में आज नवलेखन की चर्चा किसी गुणमूलक धारणा के सन्दर्भ में नहीं हो रही है। यहाँ नवलेखन से अभिप्राय उस लेखन से है, जो एक पीढ़ी पहले से नवरचना के रूप में सामने आ रहा है। गणना-दृष्टि से यह काल किसी भी रूप में सन् 2000 से पहले का नहीं कहा जा

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

सकता। यद्यपि ऐसा नहीं है कि इससे पहले किसी विधागत-लेखन की गुणधर्मिता की चर्चा नवलेखन-विचारणा में वर्जित है। आज भी नवगीत संज्ञा पद की चर्चा काफी समय से हो रही है। हिन्दी गजल, हाइकू और इतस्ततः प्रकाशित लघु कथाएँ भी नवता का आकर्षण बनाए हुए हैं। इतना सब कुछ होते हुए भी मेरा यह मत है कि 'नवलेखन की चुनौतियाँ' का आज का सन्दर्भ निश्चित रूप से विशिष्ट कालबोधक रचना-कर्म से जुडा है। जिसके माध्यम से नई पीढ़ी अपनी सर्जनात्मक समझ को अभिव्यक्ति देने का प्रयास कर रही है।

नवलेखन की चुनौतियाँ दो प्रकार की हैं—(1) स्थूल (2) सूक्ष्म। स्थूल चुनौतियाँ अर्थ-साध्य हैं, साधन-साध्य हैं। अधिकतर चुनौतियाँ सांस्कृतिक कोटि की हैं। इन्हें सूक्ष्म के अन्तर्गत रखा जा सकता है। यद्यपि इन सूक्ष्म चुनौतियों के कारक स्थूल कोटि के हैं, जैसे आज की सांस्कृतिक चुनौतियों पूर्ववर्ती शासन के अबुद्ध राजनीतिक नेताओं द्वारा अनजाने या जान-बूझकर पैदा की गई हैं। उन्हें सम्भवतः यह बोध ही नहीं है कि सांस्कृतिक चुनौतियाँ राष्ट्रीय संकट की कारक होती हैं।

सभी समाजों का यह सार्वकालिक सत्य है कि साहित्य-लेखन अपने परिवेश से प्रभावित हुए बिना नहीं रहता। यह अलग तथ्य है कि साहित्य में प्रत्यक्ष परिवेश की अभिव्यक्ति भी परोक्ष रीति से होती है। यह साहित्य का नैतिक न्याय है, पर राजनीतिक परिवेश की भी अपनी कुछ मर्यादा होनी चाहिए। कम-से-कम आज के परिवेश में भारतीय राजनीति का स्वरूप सर्वग्रासी है। स्वाधीनता-प्राप्ति के पश्चात् सन् 1950 के आस-पास ऐसी सरकार सत्ता में आई, जो कहने को तो भारतीय थी, उसके अनेक नेता भी संघर्ष की आँच से निकले थे, उम्र का अनुभव भी था, किन्तु जिसके शीर्ष नेतृत्व की समझ विपथगामी थी। भारतीय मन, इतिहास, परम्परा, सहिष्णुता और समाज की वैविध्यपूर्ण एकता के सूत्र से वे अनभिज्ञ थे। भारत के 'आत्मवत् सर्वभूतेषु' और 'एकं सद् विप्राः बहुधा वर्दान्त' के शील-संस्कार का उन्हें बोध नहीं था। बीच के 5-7 वर्षों को छोड़कर अभी कुछ पूर्व तक भारत के शासन को उन्हीं नेता की वंशधरता हस्तगत किए हुए थी। जब जैसे-तैसे वोट पा जाना ही जिनके लिए लोकतन्त्र का अन्तिम मानक हो, उन्हें भारत राष्ट्र के शील-संस्कार से क्या लेना-देना?

'नवलेखन की चुनौतियों के रूप में जिन सूक्ष्म और स्थूल कारणों को इंगित किया जा रहा है, उन्हें राष्ट्रीय सन्दर्भ में इस प्रकार समझा जा सकता है, पर इन कारणों को तार्किक परिणति देने से पहले, एक बार फिर से यह समझ लेना आवश्यक है कि सूक्ष्म रूप में संस्कृति, भाषा, शिक्षा, जीवन-पद्धति, धर्म-सम्प्रदाय, आस्था, विश्वास और ऐतिहासिक दायित्वों के रूप में दिखाई देने वाली चुनौतियाँ कहीं-न-कहीं राजनीति की अनीतिमूलक विकृतियों और आचरण का परिणाम है। एवमृगते, इन चुनौतियों को कुछ विचारणीय बिन्दुओं में अंकित किया जा सकता है।

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

(1) संवैधानिक चिन्तन के छूटे हुए अंश।
(2) राजनीति की पतनशील व्यवस्थाएँ।
(3) दूरदर्शनजन्य विद्रूपताएँ।
(4) भारतीय समाज की अधूरी समझ।
(5) राष्ट्रीय श्रव्य-दृश्य नीति का अभाव।
(6) भारतीय भाषाओं के प्रति तिरस्कार।
(7) भारतीय धर्म-दृष्टि की समझ का अभाव।
(8) भारतीय इतिहास का विकृतीकरण।

भारतीय संविधान यद्यपि सम्पूर्ण सजगता-बोध और भविष्य-दृष्टि को लेकर निर्मित हुआ था तथापि कुछ पूर्ववर्ती प्रभाव और समय की ह्रस्वता के कारण भारत भाव के बहुत सारे अंश चिन्तन का विषय नहीं बन सके। आज यह प्रश्न सामान्य जन, विचारशील पुरुषों और नवोदित लेखकों के लिए चिन्ता का विषय बना हुआ है कि यदि भारत एक स्वतन्त्र राष्ट्र के रूप में संविधान में अंकित है तो इस राष्ट्र के 'राष्ट्रजन' कौन हैं? यह कौन नहीं जानता कि हजारों वर्षों से यहाँ रहने वाले राष्ट्रजन कौन थे? आज की विषाक्त राजनीति और सामाजिक असहनशीलता के वातावरण में यद्यपि हर कथन को विवादित कर लिया जाता है, तथापि हजारों राजनीतिक असहमतियों के बावजूद कौन इस सत्य को नकार सकता है कि वेदाश्रयी धर्म-चिन्तन की मूलधारा सहित शैव, शाक्त, वैष्णव, स्मार्त, बौद्ध, जैन, सिक्ख, आर्यसमाज, ब्रह्मसमाज, गुरुमतावलम्बी अन्यान्य मतमतान्तर तत्त्व-दृष्टि से जिस भारतधर्मी समाज के अंग-उपांग हैं, उसे ही 'हिन्दू धर्म' कहा जाता है। संविधान में नागरिक, प्रवासी, आगत और विधि-विरुद्ध घुसपैठियों का उल्लेख तो है, किन्तु राष्ट्रजन कौन है, इस पर ऐतिहासिक दृष्टि से विचार नहीं हुआ। इतना ही नहीं संविधान का प्रारम्भ 'इंडिया दैट इज भारत' से होता है न कि भारत दैट इज इंडिया से। सोए हुए व्यक्ति को सही नाम से जगाया जा सकता है। इंडिया जाग रहा है और भारत सो रहा है।

इस देश की पतनशील राजनीति का प्रभाव किस क्षेत्र पर नहीं पड़ा है? कानूनी कपड़ों से नग्नता नहीं ढकी जा सकती। जब वोट ही लोकतन्त्र है, कानून है तो फिर लोकाचार को कौन पूछेगा? वोट का अर्थ होना चाहिए लोकतान्त्रिक विवेक। मजहबी फतवों से जब लोकतन्त्र के भविष्य का निर्णय होगा तो संवैधानिक धाराओं का क्या होगा? यह सब कौन करा रहा है? भारत देश का परम्परागत लोकतान्त्रिक स्वभाव, फतवा वोट की राजनीति से कहीं क्षत-विक्षत न हो जाए, राष्ट्रीय स्वात्मबोध के लिए यह दुर्दान्त चुनौती है।

यद्यपि जनसंचार माध्यम विशेषकर दूरदर्शन 'टी.वी.' राष्ट्र निर्माण में आधिकारिक भूमिका निभा सकता है, किन्तु राष्ट्रीय 'श्रव्य और दृश्य नीति' के अभाव में उस पर कोई नियन्त्रण नहीं है। स्वतन्त्र प्रेस के नाम पर इस राष्ट्र के हितों को तो पशुबलि

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

नहीं बनाया जा सकता। भाषा, शब्द-अभिव्यक्ति के सम्बन्ध में कुछ तो निर्धारित होना ही चाहिए। भारतीय भाषाओं के प्रयोग में असावधानी और अँग्रेजी-प्रयोग पर विशेष अहम्मन्यता राष्ट्र के लिए शुभ नहीं है। अब तक की सरकारें मूढ़मना होकर 'श्रव्य और दृश्य' के सामाजिक महत्त्व को उपेक्षित करती रही हैं। इस अकाट्य सत्य को कौन नकार सकता है कि जो कुछ हम सुनते और देखते हैं उसी से हमारे मन का स्वरूप बनता है। अन्न और मन का चिन्तन तो बाद का है। 'दिखाने और सुनाने' वाले स्रोत ही झूठे विज्ञापनों से आपको चैन नहीं लेने देंगे तो फिर कहाँ अन्न और कहाँ मन। पदे-पदे अश्लीलता परोसने वाले इन कथित कला-माध्यमों को कैसे छूट दी जा सकती है। समाज पर दोष लगाना तो आसान है, पर क्या समाज का संचालन करने वाले यह नहीं जानते कि राष्ट्र के लिए 'श्रव्य और दृश्य' अधिष्ठान भी एक प्राथमिक धरोहर के रूप में प्रतिष्ठित होना चाहिए। सिने जगत् भी मानवीय मूल्यों के सम्प्रसारक के रूप में अपनी राष्ट्रीय भूमिका निभा सकता था। प्रारम्भ के कुछ दशकों तक वह इस तरफ सचेष्ट भी रहा, किन्तु दुर्भाग्य से कुछ ऐसे निर्माता, निदेशक और फिल्मकार राष्ट्रीय महत्त्व के इस संस्थान पर हावी हो गए हैं कि 'सेक्स बेचना' उनके लिए सबसे बड़ी कला और सबसे बड़ा मूल्य है। कुछ तो इसे पारिवारिक विरासत के रूप में चर्चित कर स्वयं ही महिमामंडित हो रहे हैं।

भारतीय समाज परिवार-संस्था पर खड़ा है। व्यक्ति स्वातन्त्र्य वहीं तक मान्य है, जिससे परिवार का स्वरूप विघटित न हो। कुछ राष्ट्र-विरोधी तत्त्व यह जानते हैं कि परिवार संस्था टूटेगी तो भारत भी टूटेगा। इसमें भीतर और बाहर के कई तत्त्व हैं। वयस्क बच्चों के अधिकारों के नाम पर 'युवा उत्तेजनाओं' को कानूनी संरक्षण मिल गया। सामाजिक समरसता के नाम पर थाने व्यभिचार को वैध बनाने के केन्द्र बना दिए गए। पूर्व सरकार की सोच ऐसे ही तत्त्वों से परिचालित रही। उद्देश्य यह रहा कि भेद न रहते हुए भी भेद पैदा करो। अनेक मीडिया घराने भी इसी दृष्टि से प्रभावित किए गए कि भारतधर्मी समाज के सभी अंगों को क्षत-विक्षत कर दो। पहले सिक्खों को, फिर बौद्धों को, फिर जैनियों को अलग करो, फिर आदिवासियों को। इससे भी उद्देश्य प्राप्त न हो तो भारत को जाति-समूहों, जातियों, उपजातियों और उप-उपजातियों में बाँटते रहो। इस खेल में भारतीय राजनीति के पतित पुरुषों और विदेशी शक्तियों ने खुलकर हाथ मिलाए हैं। महापुरुष पहले प्रदेशों में और फिर जाति-उपजाति में बाँट दिए गए हैं। कैसा भारतीय गौरव? अब कोई व्यक्ति समस्त भारतीय गौरव को धारण नहीं करता। बस सभी वोटर हैं। सभी की अँगुलियों पर निशान लगे हैं। भारत के लोकतन्त्र को इससे ज्यादा और क्या चाहिए?

वोटकामी राजनीति ने एक ही धर्म के विभिन्न पूरक सम्प्रदायों को रिलिजन की संज्ञा देकर एक-दूसरे के विरुद्ध खड़ा करने की नीति अपना ली। हिन्दू धर्म 'रिलिजन' नहीं, विशिष्ट जीवन-पद्धति है—भारत के सर्वोच्च न्यायालय के इस निर्णय के साथ

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

अब तो 'ऑक्सफोर्ड डिक्शनरी' में भी धर्म और रिलिजन को पृथक् मानकर दर्ज किया गया है। भारत में धर्म अन्तर्स्वभाव और कर्तव्य के रूप में आचरित किया जाता है। इसलिए यह कहा जाता है कि हर व्यक्ति और हर स्थिति और वस्तु का अपना-अपना धर्म होता है। जैसे कहा जाए कि अग्नि का धर्म जलाना है तो इसका अर्थ यह नहीं कि जलाना अग्नि का रिलिजन हो गया।

भारत की 'इतिहास दृष्टि' को कलंकित करने में इस देश के मार्क्सवादी बौद्धिक गुलाम सक्रिय रहे हैं। पाकिस्तान के बनाने में उन्होंने अपना सारा बौद्धिक समर्थन कट्टर इस्लामी ताकतों को दे दिया था। उन्होंने इस देश के सर्वमान्य नेता सुभाष चन्द्र बोस को 'तोजो का कुत्ता' तक कह दिया। महात्मा गाँधी, पंडित नेहरू तथा अन्य महानुभावों को भी उन्होंने नहीं बख्शा। इसलिए वे नितान्त निर्दय मुगल औरंगजेब और अन्य ऐसे अत्याचारी शासकों के कुकृत्यों में जनवाद ढूँढ़ते रहे। उनके इतिहास-कोश में मुश्किल से 15-20 शब्द हैं, जो दूसरे के प्रति तिरस्कार और गालियों के वाचक हैं।

यहाँ संक्षेप में 'नवलेखन' की वर्तमान चुनौतियों को ऐतिहासिक दृष्टि से प्रस्तुत किया गया है। अब प्रश्न यह है कि नवोदित लेखक अपने सर्जन से इनका प्रतिकार कैसे करे? यहाँ 'लेखक' शब्द का प्रयोग साहित्य-सर्जक के अर्थ में है अर्थात् ऐसा लेखन जो साहित्य की कोटि में आता है। यह स्पष्ट है कि उक्त स्थूल चुनौतियों का सीधे-सीधे उल्लेख साहित्य-सर्जन में नहीं किया जा सकता, किन्तु इनके दंश की अभिव्यक्ति और उसके निरसन के लिए साहित्य की जिन विधाओं का आश्रय लिया जा सकता है, सर्जनात्मक स्तर पर वे विधाएँ हैं—काव्य, महाकाव्य, कहानी, लघुकथा और व्यंग्य-लेखन। नाटक की परम्परा सीमित हो गई है। हाँ, सर्जनात्मकता के कुछ सूत्र पकड़कर नुक्कड़ नाटक और प्रहसन लिखे और खेले जा सकते हैं। काव्यात्मक पैरोडियाँ (विडम्बन) भी लिखी जा सकती हैं, कुछ पौराणिक पात्रों के आचरण-प्रतीकों को भी वर्तमान परिवेश की संगति देकर उन्हें साहित्यिक परिहास-कटाक्ष और प्रताड़न का विषय बनाया जा सकता है। भले ही विशुद्ध मुक्तक काव्य का शील-स्वभाव मूल्य-चेतना के आकर्षण में इन विकट स्थितियों का दिग्दर्शन न करा सके पर समर्थ कवि द्वारा महाकाव्य के कथात्मक रूप-विधान में ऐसी विद्रूप स्थितियों को साहित्यिक अभिव्यप्ति दी जा सकती है। व्यंग्य कविताओं, व्यंग्य निबन्धों, कहानी-लघुकथाओं और कुछ अन्य रचना-रूपों द्वारा इन चुनौतियों को संकेतित करते हुए इनके समाधानों को सर्जनात्मक प्रस्तुति दी जा सकती है। पहल नवलेखकों पर निर्भर है, मार्गदर्शन का कार्य पूर्व परम्परा स्वयं करेगी।

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

समीक्षा

"आध्यात्मिक आक्रमण और घर वापसी"**

एम.एल. खरे*

उपर्युक्त शीर्षक वाली पुस्तक हाल ही (2015) में प्रकाशित हुई है। पुस्तक में लेखकद्वय ने जो कुछ कहा है वह तथाकथित सेक्यूलरवादियों की बखिया उधेड़ता है। हिन्दुओं को कैसे भी ईसाई, मुसलमान या नास्तिक बनाने के जो प्रयत्न होते आए हैं और हो रहे हैं, उन्हें विद्वान लेखकों ने आध्यात्मिक आक्रमण की संज्ञा दी है। पुस्तक में जो जानकारी दी गई है, वह आँखें खोलने वाली है। हिन्दुओं का धर्मान्तरण कराने के सुनियोजित कार्यक्रम चलाए जा रहे हैं और शताब्दियों से चलाए जाते रहे हैं, उनका खुलासा इस पुस्तक में किया गया है। वर्तमान में यह आक्रमण तीन तरफा है। एक ईसाई मिशनरियों द्वारा, दूसरा इस्लाम के झण्डावरदारों द्वारा और तीसरा हमारे ही वामपन्थी बुद्धिजीवियों द्वारा।

पुस्तक का प्रथम अध्याय 'मिशनरी आक्रमण और म्यूनिख भावना' नाम से है। इसमें ईसाई मिशनरियों द्वारा हिन्दू देवी-देवताओं के बारे में कैसा अनर्गल और घृणास्पद प्रचार किया जाता है, इसका वर्णन है। देवताओं के लिए अश्लील भाषा का प्रयोग करके, उन्हें दलित विरोधी बनाकर हमारे दलितों को हिंदू-विरोधी बनाकर उन्हें लालच और जोर जबरदस्ती से ईसाई बनाने का षड्यंत्र चला आ रहा है। पाँचवें अध्याय में तमिलनाडु के 'सेवेन्थ एडवेंटिस्ट' चर्च के कारनामों का वर्णन है। लेखक कहते हैं कि सेवेन्थ एडवेंटिस्ट की नजर में गैर-ईसाइयों का धर्मान्तरण कराना ही ईसाई जीवन का केन्द्र बिन्दु है। ईसाई यान पालसिन के अनुसार स्कूल, अस्पताल चलाने जैसे विकास कार्यों में जब धर्मान्तरण उद्देश्य जुड़ता है, तभी वह मिशन है, नहीं तो बेकार।

---

*सम्पर्क : एफ-2, ऋषि अपार्टमेण्ट, ई-6/124, अरेरा कॉलोनी, भोपाल-462016

**आध्यात्मिक आक्रमण और घर वापसी, लेखक शंकर शरण, विजय कुमार, अक्षय प्रकाशन, नई दिल्ली, पृ. 211, मूल्य : 300

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

मिशनरी धर्मान्तरण फिर भी उतना उग्र और क्रूर नहीं है जितना हिन्दुओं को मुसलमान बनाने की जोर-जबरदस्ती। इस्लाम का एक ही आदेश है कि जो इस्लाम कबूल न करे, उसे मौत के घाट उतार दो। आज इसका बीभत्स रूप इस्लामी आतंकवाद के रूप में फैल रहा है। तालिबान, अलकायदा, बोकोहराम, मुजाहिद्दीन आदि अनेक नामों से यह आतंकवाद कहर ढा रहा है। इस्लामी आतंकवाद के मूल में जो मानसिकता है उसके मूल स्रोत का पर्दाफाश इस पुस्तक में बड़े तर्कसंगत ढंग से, सप्रमाण किया गया है। लेखकों ने बहुत अध्ययन मनन के पश्चात् तथ्यों का सटीक आकलन किया है। पुस्तक में यह उल्लेख भी है कि इस्लामी अत्याचार के विरुद्ध स्वर अब तो कुछ प्रबुद्ध मुसलमानों, विशेषतः मुस्लिम स्त्रियों द्वारा उठ रहे हैं, क्योंकि इस्लाम के नाम पर सर्वाधिक अत्याचार स्त्रियों पर होता है। पुस्तक पढ़ने से ऐसा लगता है कि मुसलमानों की कूप मण्डूकता यदि कोई दूर कर सकता है, तो मुस्लिम महिलाएँ ही। लेखकों ने ऐसी महिलाओं के प्रपत्रों-आलेखों का गहन अध्ययन किया है।

पुस्तक का शीर्षक आध्यात्मिक आक्रमण कुछ अटपटा-सा लगता है। किसी भी आक्रमण में कोई आध्यात्मिकता नहीं होती। इसे धार्मिक आक्रमण भी नहीं कह सकते। यह तो सीधा-सीधा हिन्दू धर्म पर आक्रमण है। किन्तु यदि शीर्षक 'हिन्दू धर्म पर आक्रमण' दिया जाता तो पुस्तक तथाकथित सेक्यूलरवादियों के लिए अस्पर्श्य हो जाती। इसमें उन्हें भगवा रंग दिखाई देता। शायद यह सोचकर विद्वान लेखकों ने आध्यात्मिक आक्रमण कहा। अस्तु।

घर वापसी के अध्याय में कुछ अस्पष्टता है। कहा गया है कि मुसलमानों को इस्लाम के आदेश नहीं मानना चाहिए, भले ही वे मुसलमान बने रहें, नमाज पढ़े, हज करें। किन्तु मुस्लिम शब्द का अर्थ ही है इस्लाम को मानने वाला। फिर यदि वे मुसलमान (उदार) बने रहते हैं, तो घर वापसी का क्या अर्थ है? सबसे बड़ा सवाल तो यह है कि घर वापसी हिन्दू जातिवादी ढाँचे में कैसे फिट हो? इस पर लेखकद्वय कुछ सार्थक सुझाव देते तो और अच्छा होता।

बहरहाल पुस्तक गहन अध्ययन, परिश्रम और शोध के पश्चात् लिखी गई है। लेखकों का साहस सराहनीय है जो फतवेबाजी से निडर होकर उन्होंने यह रचना की। इसके लिए वे वधाई के पात्र हैं। पुस्तक पठनीय है और सोचने को मजबूर करती है। यह प्रत्येक हिन्दू को अवश्य पढ़नी चाहिए तथा उन भारतीय मुसलमानों को भी जिन्हें पुस्तक में सीरियाई लेखिका डॉ. वफा सुलतान के हवाले से 'लेस डैमेज्ड' कहा गया है।

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

पुस्तक-समीक्षा

प्रेमचन्द साहित्य विशेषज्ञ : डॉ. कमल किशोर गोयनका**

कृष्ण वीर सिंह सिकरवार*

डॉ. मिथिलेश दीक्षित के सम्पादन में सद्यः प्रकाशित कृति का शीर्षक है "प्रेमचन्द साहित्य विशेषज्ञ : डॉ. कमल किशोर गोयनका"। यह पुस्तक अभी हाल ही में उत्कर्ष पब्लिशर्स एण्ड डिस्ट्रीब्यूटर्स, कानपुर से प्रकाशित हुई है। डॉ. गोयनका देश के एक ऐसे चिन्तक एवं आलोचक हैं, जिन्होंने अपनी उम्र का आधा हिस्सा प्रेमचन्द साहित्य की खोजबीन और प्रेमचन्द साहित्य के नए तथ्यों को उद्घाटित करने में लगा दिया एवं उनका प्रेमचन्द साहित्य की खोज का यह सिलसिला आज भी निरन्तर जारी है।

प्रस्तुत पुस्तक में देश के प्रतिष्ठित आलोचकों और चिन्तकों के 40 शोधात्मक, समीक्षात्मक आलेख प्रकाशित किए गए हैं। ये आलेख डॉ. दीक्षित ने वर्ष 2013 में डॉ. गोयनका के 75 वर्ष पूर्ण होने के उपलक्ष्य में हीरक जयन्ती वर्ष के रूप में याद करने हेतु विभिन्न विद्वानों और आलोचकों से लिखवाए थे। इन आलेखों में लेखकों ने अपने-अपने तरीके से डॉ. गोयनका के व्यक्तित्व एवं कृतित्व के रूप को बारीकी से समेटकर पाठकों हेतु प्रस्तुत किया है।

यह पुस्तक अपने तैयार होने के कई वर्षों बाद प्रकाशित हुई है। इस का प्रकाशन कई कारणों से टलता रहा। इस सम्बन्ध में पुस्तक की सम्पादिका डॉ. दीक्षित स्वीकार करती हैं कि "ग्रन्थ रूप में प्रस्तुति हेतु मेरे पास सामग्री आ गई थी, परन्तु

*कृष्ण वीर सिंह सिकरवार, आवास क्रमांक एच-39, राजीव गाँधी प्रौद्योगिकी विश्वविद्यालय, एयरपोर्ट वायपास रोड, भोपाल-462053 (म. प्र.), मो. 09826583363

**गोयनका सम्पादक : डॉ. मिथिलेश दीक्षित, प्रकाशक–उत्कर्ष पब्लिशर्स एण्ड डिस्ट्रीब्यूटर्स, ए-685, आवास विकास, हंसपुरम्, कानपुरम-21, मूल्य-595 (हार्डबाउण्ड संस्करण), प्रथम संस्करण-2015, पृष्ठ-216

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

में डॉ. गोयनका के समग्र अनुसन्धानिक और समीक्षात्मक साहित्य के साथ उनके जीवन एवं व्यक्तित्व से सम्बन्धित जानकारी, उनकी पारिवारिक पृष्ठभूमि, विभिन्न सन्दर्भों में लिए गए फोटोग्राफ्स आदि के साथ चाहती थी और इस ग्रन्थ को दो भागों में प्रस्तुत करना था, परन्तु डॉ. गोयनका जी की अत्यधिक व्यस्तता के कारण मैं सामग्री उपलब्ध नहीं कर पाई।'' (भूमिका)

शोध की दृष्टि से इस पुस्तक का महत्त्व कम नहीं है, क्योंकि जो सामग्री इस पुस्तक में दी गई है, वह अन्य जगह देखने को नहीं मिलेगी। इसके समस्त आलेख पठनीय और रोचक हैं, जो प्रेमचन्द साहित्य का विशद् विश्लेषण करते हैं।

शोधात्मक आलेखों के साथ-साथ डॉ. गोयनका की विभिन्न पुस्तकों की समीक्षा भी इस ग्रन्थ में शामिल कर ली गई है। डॉ. गोयनका के साहित्य और प्रेमचन्द साहित्य में जो पाठक रुचि रखता हो उसके लिए 216 पृष्ठों की यह पुस्तक अत्यन्त महत्त्वपूर्ण है। अतः पाठकों को एक बार अवश्य इस पुस्तक को देखना चाहिए।

इस पुस्तक के अन्त में डॉ. दीक्षित द्वारा डॉ. गोयनका का लिया गया एक लम्बा साक्षात्कार भी शामिल किया गया है, जो पुस्तक की गरिमा को और बढ़ाता है। इस साक्षात्कार में डॉ. गोयनका द्वारा दी गई कई महत्त्वपूर्ण जानकारी ऐसी हैं, जिनसे पाठक अभी तक अनभिज्ञ रहे हैं। अन्त में डॉ. गोयनका के व्यक्तित्व एवं कृतित्व का विशद् विश्लेषण दिया गया है, जो पाठकों हेतु अमूल्य निधि है। इसमें डॉ. गोयनका का जीवन परिचय, प्रेमचन्द सम्बन्धी उनका कार्य, प्रेमचन्द पर प्रकाशित उनकी पुस्तकें, प्रेमचन्द पर प्रकाशनाधीन पुस्तकें, संस्थाओं से डॉ. गोयनका का सम्बन्ध, मॉरीशस में हिन्दी साहित्य के विकास के लिए कार्य, अमेरिका, इंग्लैण्ड, चीन, जापान, सूरीनाम, फिजी, ट्रिनिनाद आदि देशों के हिन्दी साहित्य में विकास की योजनाएँ, डॉ. गोयनका को अभी तक मिले पुरस्कार एवं सम्मान का ब्यौरा आदि की जानकारी दी गई है।

पुस्तक की साज-सज्जा और गेट-अप अति उत्तम है। इसका आवरण पृष्ठ इसकी खूबसूरती को और भी बढ़ावा है। इसकी छपाई उम्दा और पेपर क्वालिटी भी बहुत बेहतरीन है। मुद्रण की अशुद्धियाँ भी न के बराबर हैं, इस कारण पाठक को पुस्तक पढ़ने में कठिनाई उत्पन्न नहीं होती है। अतः इसका सभी जगह स्वागत होना चाहिए तथा प्रेमचन्द साहित्य में जिज्ञासा रखने वाले समस्त पाठकों को इससे लाभ उठाना चाहिए।

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

पाठकीय प्रतिक्रिया

'चिन्तन-सृजन' ऐसी पत्रिका है, जो एक तरह से मेरा संदर्भ साथी है। क्या राजनीति साहित्य, क्या दर्शन, क्या सांप्रतिक जनतंत्र की समस्याएँ, क्या इतिहास सब इसमें समानिष्ट है।

कभी धनबाद से बाहर रहा तो इसे नहीं पढ़ने का मलाल रह जाता है। फिर मेरा उद्गार भी आप तक नहीं पहुँच पाता है।

मैं अभी तक जानता था विमर्श का अर्थ, Discourse, समीक्षा, आलोचना, मीमांसा; परंतु आपने 'विमर्श' की जड़ता पर संपादकीय क्या लिखा इस संबध में मेरी सारी जड़ता मिट गई। इस पर एक लेख भी दे दिया आपने। 'ब्युटिफुल ट्री' (धर्मपाल की शोध-कृति) ब्रिटिशपूर्व शिक्षा-व्यवस्था की गहरी पड़ताल करती है। इसमें स्कूलों में पढ़ने वाले छात्रों का जातिगत ब्यौरा है, जिससे यह स्पष्ट होता है कि शिक्षा का प्रकाश बंगाल एवं तमिल जिलों के विद्यालयों में फैला था, जिसमें तथाकथित ऊँची जातियों (ब्राह्मण, चेट्टियार एवं वैश्य जातियों के मात्र साढे पैंतीस प्रतिशत छात्र ही पढ़ते थे। भारत में हजार साल पहले आए अल-बेरूनी ने हिंदुओं की चार जातियों का उल्लेख किया है, जो एक साथ मिलकर भोजन करते थे। बाद में तुर्कों के आक्रमण के कारण जातियों की संख्या में अनपेक्षित बढ़ोतरी आई और अस्पृश्यता का व्यापक 'प्रचार प्रसार हुआ। जातिगत एकता, सौमनस्य, सौहार्द का उल्लेख विमर्श से गायब है। यही भेद, संघर्ष, द्वन्द्व और अलगावका कारण रहा। इस ओर ध्यान नहीं दिया गया कि अंग्रेजों ने इसे अपनी जमीन, बिरासत और मौलिकता से बेदखल करने के लिए हमारी कला, शिल्प को नष्ट कर दिया। डॉ. सूर्यनारायण रणसुभे ने विमर्श की शोधात्मक विवेचना की है। इसकी इतनी व्यापक विवेचना पढ़ने का सौभाग्य मुझे आज तक मिला नहीं था। नारी विमर्श, कविता में दलित विमर्श आदि पर मैं कई शोधोपजीव्य लेख लिख चुका हूँ। उन्होंने 'विमर्श' की तात्विक विवेचना करते हुए बताया है कि उसमें पाँच घटक वांछनीय हैं (क) संबंधित दर्शन, विचार की गंभीर चर्चा (ख) संदर्भित विषय पर विचार आलोचना (ग) व्यक्ति के मानवाधिकारों की माँग से प्रारंभ करना और (घ) विमर्श सामुदायिक अस्मिता से अवश्य जुड़ा हो। यह लेख लेखकों, व्याख्याकारों का दिशा दर्शक है।

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

डॉ. गोयनका का संस्मरण उनके शील सौजन्य, प्रकांड पांडित्य एक अनुसंधित्सु होने का प्रबल और ऐतिहासिक प्रमाण है। प्रेमचंद को विश्व के पटल पर स्थापित करने का श्रेय उन्हें है। मित्रवत्सल इतने हैं कि इलाहाबाद में मेरे आग्रह पर तत्काल रणजीत साह के 'प्रेमचंद संचयन' (उनके और निर्मल वर्मा द्वारा संपादित) की एक प्रति मुझे देने के लिए लिख दिया। गद्य में क्षण-क्षण मुझे दिशा-दर्शन कराता है। डॉ. माधुरी नाथ की कृतियों की डॉ. सूरिदेव ने भूरी-भूरी प्रशंसा की है। विदेश यात्रा का इतना रोचक वर्णन, प्रामाणिक भी, दुर्लभ है। डॉ. सूरिदेव मेरे गुरुतुल्य हैं। उनका वर्ण वर्ण मेरी प्रेरणा का श्रोत है। डॉ. विजय बहादुर सिंह ने स्वाधीनता आंदोलन के पहले पाठ का प्रारंभ चंपारण को माना है। वहाँ उन्होंने तत्कालीन कानूनों के आधार पर ही निलहे गोरों के खिलाफ सबूत जुटाए, मुकदमा लड़ा, जिसमें आर्थिक मदद बंबई के मित्रों और रंगून निवासी डॉ. प्राणजीवन मेहता ने की (पृ. 55) यह लेख स्वतंत्रता आंदोलन में गाँधी और चंपारण की भूमिका का मुकम्मल दस्तावेज है। आचार्य शास्त्री जी से कई बार मुझे मिलने का सौभाग्य मिला है। सचमुच वह गंगा की निर्मलता, पावनता, के प्रतीक मनीषी हैं, जिन पर इस देश को गौरव है। डॉ. गोयनका रमते हैं तो शैली रोचक, वह निकली और 'सद्यः फल पेखिय तत्काला।' हो जाती है।

- प्रो. मृत्युंजय उपाध्याय, बृन्दावन, राजेन्द्र पथ,
धनबाद-826001, झारखण्ड, मो. 82969875286.

प्राप्ति-स्वीकार

पिछले अंकों में सूचीबद्ध पुस्तकों/पत्रिकाओं के अतिरिक्त प्राप्त नयी पुस्तकें/पत्रिकाएँ:

पुस्तकें:

आधुनिक हिंदी गद्य में समकालीन सच, संपादकः प्रो. मृत्युंजय उपाध्याय, प्रकाशकः समीक्षा प्रकाशन, जे.के. मार्केट छोटी कल्याणी, मुजफ्फरपुर-842001 (बिहार), प्रथम संस्करणः 2012, पृष्ठः 176, मूल्यः 250.00 रुपये।

मुझे कुछ कहना है, संपादक : डॉ. रामनिवास साहू, प्रकाशक : अनन्य प्रकाशन, ई-17, पंचशील गार्डन, नवीन शाहदरा, दिल्ली-110032, प्रथम संस्करण : 2017, पृष्ठः 192, मूल्यः 395.00 रुपये।

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

केन्द्रीय हिंदी संस्थान

मानव संसधन विकास मंत्रालय, भारत सरकार

संपर्कः हिंदी संस्थान मार्ग, आगरा-282005, फोनः 0562-2530684,
वेवसाइटःwww.indisansthan.org, www.khsindia.org

संक्षिप्त परिचय

केन्द्रीय हिंदी संस्थान, आगरा मानव संसधन विकास मंत्रालय, भारत सरकार के शिक्षा विभाग द्वारा 1961 ई. में स्थापित एक स्वायत्त शैक्षिक संस्था है। इसका संचालन स्वायत्त संगठन केन्द्रीय हिंदी शिक्षण मंडल द्वारा किया जाता है। संस्थान का मुख्यालय आगरा में स्थित है और इसके आठ क्षेत्रीय केंद्रः दिल्ली, हैदराबाद, गुवाहटी, शिलांग, मैसूर, दीमापुर, भुवनेश्वर तथा अहमदाबाद में हैं।

संस्था के प्रमूख उद्देश्य

■ भारतीय संविधान के अनुच्छेद 351 के अनुपालन में अखिल भारतीय भाषा के रूप में हिंदी का विकास और प्रसार की दृष्टि से उपयोगी शैक्षणिक पाठ्यक्रमों की प्रस्तुति एवं संचालन। ■ विभिन्न स्तरों पर गुणवतापूर्ण हिंदी शिक्षण का प्रसार, हिंदी शिक्षकों का प्रशिक्षण, हिंदी भाषा और साहित्य के उच्चतर अध्ययन का प्रबंधन, हिंदी के साथ विभिन्न भारतीय भाषाओं के तुलनात्मक भाषा वैज्ञानिक अध्ययन को प्रोत्साहन और हिंदी भाषा एवं शिक्षण से जुड़े विविध अनुसंधान कार्यों का आयोजन। ■ अपने विभिन्न पाठ्यक्रमों में अध्ययनरत विद्यार्थियों के लिए परीक्षा आयोजन तथा उपाधि वितरण। ■ संस्थान की प्रकृति एवं उद्देश्यों के अनुरूप उन अन्य संस्थओं के साथ जुड़ना या सदस्यता ग्रहण करना या सहयोग करना या सम्मिलित होना, जिनके उद्देश्य संस्थान के उद्देश्यों से मिलते-जुलते हो और इन समान उद्देश्यों वाले संस्थाओं को संबद्धता प्रदान करना। ■ समय-समय पर विषयानुसार अध्येतावृत्ति (फैलोशिप) छात्रवृत्ति और पुरस्कार, सम्मान पदक की स्थापना कर हिंदी से संबंधित कार्यों को प्रोत्साहन आदि।

संस्थान के कार्य

शिक्षणपरक कार्यक्रम : (i) विदेशी विद्यार्थियों के लिए हिंदी शिक्षण, (ii) हिंदीतर राज्यों के विद्यार्थियों के लिए अध्यापक प्रशिक्षण पाठ्यक्रम, (iii) नवीकरण एवं संवर्द्धनात्मक कार्यक्रम, (iv) दूरस्थ शिक्षण कार्यक्रम (स्ववित्तपोषित), (v) जंनसचार एवं पत्रकारिता, अनुवाद अध्ययन और अनुप्रयुक्त हिंदी भाषाविज्ञान के सांध्यकालीन पाठ्यक्रम (स्ववित्तपोषित)

अनुसंधानपरक कार्यक्रम : (i) हिंदी शिक्षण की अधुनातन प्रविधियों के विकास के लिए शोध, (ii) हिंदी भाषा और अन्य भारतीय भाषाओं का तुलनात्मक व्यतिरेती अध्ययन, (iii) हिंदी भाषा और साहित्य के क्षेत्र में आधारभूत एवं अनुप्रयक्त अनुसंधान, (iv) हिंदी

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

भाषा के आधुनिकीकरण और भाषा प्रोद्योगिकी के विकास के उद्देश्य से अनुसंधान, (v) हिंदी का समाज भाषा वैज्ञानिक सर्वेक्षण और अध्ययन, (vi) प्रयोजनमूलक हिंदी से संबधित शोधकार्य। अनुसंधानपरक कार्यों के दौरा द्वितीय भाषा एवं विदशी भाषा के रूप में हिंदी शिक्षण के लिए उपयोगी शिक्षण सामग्री का निर्माण।

शिक्षण सामग्री निर्माण और भाषा विकासः (i) हिंदीतर राज्यों और जनजाति क्षेत्र के विद्यालयों के लिए हिंदी शिक्षण सामग्री निर्माण, (ii) हिंदीतर राज्यों के लिए हिंदी का व्यतिरेकी व्याकरण एवं द्विभाषी अध्येता कोशों का निर्माण, (iii) विदेशी भाषा के रूप में हिंदी शिक्षण पाठ्यपुस्तकों का निर्माण, (iv) कंप्यूटर साधित हिंदी भाषा शिक्षण सामग्री का निर्माण, (i) दृश्य-रव्य माध्यमों से हिंदी शिक्षण संबंधी पाठ्यसामग्री का निर्माण, (vi) हिंदी तथा हिंदीतर भारतीय भाषाओं के द्विभाषी/त्रिभाषी शब्दकोशों का निर्माण।

संस्थान के प्रकाशनः हिंदी भाषा एवं साहित्य, भाषाविज्ञान, अनुप्रयुक्त भाषाविज्ञान, तुलनात्मक एवं व्यतिरेकी अध्ययन, भाषा एवं साहित्य शिक्षण, कोश विज्ञान आदि के संबद्ध विभिन्न विषयों पर उपयोगी पुस्तकों का प्रकाशन। अब तक 150 से अधिक पुस्तकें प्रकाशित। विभिन्न स्तरों एवं अनेक प्रयोजनों की पाठ्यपुस्तकों, सहायक सामग्री तथा अध्यापक निर्देशिकाओं का प्रकाशन। त्रैमासिक पत्रिका - 'गवेषणा', 'मीडिया' और 'समन्वय पूर्वोत्तर' का प्रकाशन।

पुस्तकालयः भाषाविज्ञान, अनुप्रयुक्त भाषाविज्ञान, भाषा शिक्षण और हिंदी साहित्य के विभिन्न विषयों की पुस्तकों के विशेषीकृत संग्रह की दृष्टि से हिंदी के सर्वश्रेष्ठ पुस्तकालयों में से एक। लगभग एक लाख पुस्तकें। लगभग 75 पत्र-पत्रिकाएँ (शोधपरक एवं अन्य)।

पुस्तकालय 132248 गुरुकुल कांगड़ी विश्वविद्यालय

संस्थान से संबद्ध प्रशिक्षण महाविद्यालयः हिंदी शिक्षण-प्रशिक्षण के स्तर को समुन्नत करने तथा पाठ्यक्रम में एकरूपता लाने के उद्देश्य से उत्तर गुवाहाटी (असम), आइजोल (मिजोरम), मैसूर (कर्नाटक), दीमापुर (नागालैंड) के राजकीय हिंदी शिक्षक-प्रशिक्षण महाविद्यालयों को संस्थान से संबद्ध किया गया है।

योजनाएँः ■ भारतीय सांस्कृतिक केंद्र, कोलंबो में सिंहली विद्यार्थियों के लिए केन्द्रीय हिंदी संस्थान के पाठ्यक्रम की 2007-08 से शुरुआत। ■ अफगानिस्तान के नानहर विश्वविद्यालय (जलालाबाद) में संस्थान द्वारा निर्मित बी.ए. का पाठ्यक्रम 2007-08 से प्रारंभ। ■ विश्व के कई अन्य देशों (चेक, स्लोवानिया, यू.एम.ए., यू.के., मॉरिशस, बेल्जियम, रूस आदि) के साथ शैक्षिणिक सहयोग और हिंदी पाठ्यक्रम संचालन के संबंध जारी। ■ हिंदी के बहुआयामी संबर्धन के लिए हिंदी कॉर्पोश परियोजना, हिंदी लोक शब्दकोश परियोजना, भाषा-साहित्य सीडी निर्माण परियोजना, पूर्वोत्तर लोक साहित्य परियोजना, लघु हिंदी विश्वकोश परियोजना पर कार्य।

- डॉ. कमल किशोर गोयनका
उपाध्यक्ष, केन्द्रीय हिंदी शिक्षण मंडल
ई-मेलः kkgoyanka@gmail.com

- प्रो. नन्द किशोर पाण्डेय
निदेशक
ई-मेलः nkpandey65@gmail.com
directorofkhs@yahoo.co.in

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar